” जेंडर बराबरी और हजारो पूर्वाग्रह ”

जेंडर कार्यशाला

14–19 अप्रैल, 2014

आनंद ग्राम

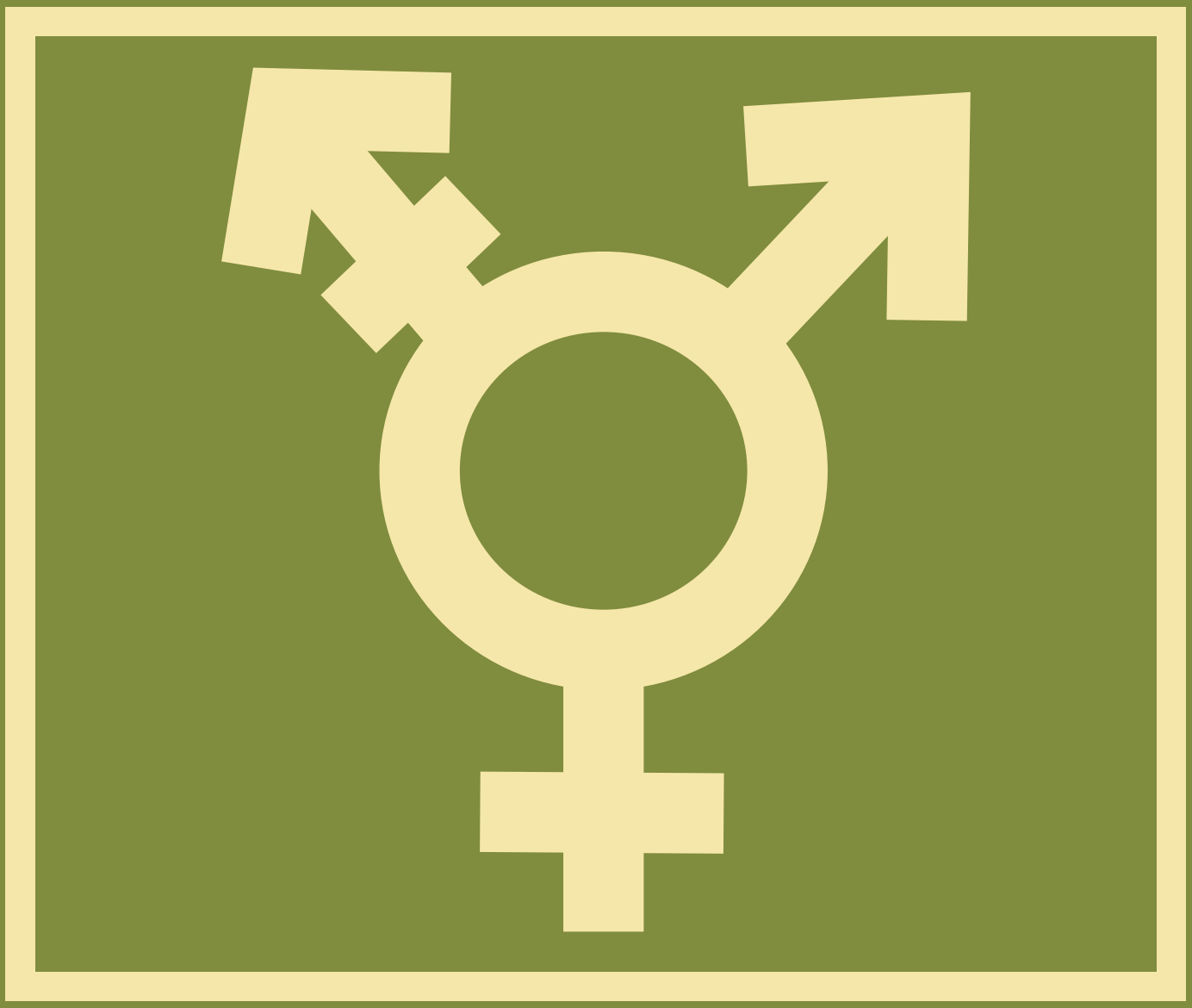

संकलन एवं प्रस्तुतिः जागोरी

Cover Design: Mahabir

जेंडर कार्यशाला
जागोरी
2014

इस संकलन के लिए उन सभी व्यक्तियों का आभार है जिन्होने अपने लेखों द्धारा मानव अधिकार और महिला आंदोलन को लोगों तक पहुँचाया है।

सहयोगपूर्ण आभारः ब्रेड फॉर द वर्ल्ड – प्रोटेस्टेंट डेवेलपमेंट सर्विस और मिज़ोरियोर

” जेंडर बराबरी और हजारो पूर्वाग्रह ”

जेंडर कार्यशाला 2014
जागोरी

विषय सूची

- महिला आंदोलन
- महिला हिंसा के विभिन्न आयाम
- यौनिकता के व्यापक आयाम
- यौनिकता औ Disability
- दलित महिलाओं के अधिकार और उनके सवाल

महिला आंदोलन

महिला आंदोलनों में गीतों का उपयोग

मूल अंग्रेजी : श्रीमती कमला भसीन
हिंदी अनुवाद : दिव्या जैन

गीत और गीत गाना अधिकतर लोगों के जीवन का अंतर्निहित हिस्सा है और विशेषकर उन लोगों का जो नजदीक से जुड़े हुए समुदायों में रहते हैं। ऐसे समुदायों की अधिकतर मौखिक संस्कृति और अशिक्षित जीवनशैली होती है। वे दूसरों का मनोरंजन करने के लिए नहीं गाते हैं, बल्कि वे उनकी खुशी, उनका दुःख, उनकी कुदरत या भगवान के प्रति को कृतज्ञता अभिव्यक्त करने तथा त्यौहारों को मनाने के लिए गाते हैं। गीत गाना उनके लिए सांस लेने के समान है, जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा । इन समुदायों में आज भी हम देख सकते हैं कि महिलाएं भोर होने से पहले गाना शुरू करती हैं, इसके अलावा अनाज पीसते हुए, खेतों में अनाज बोते हुए, फसल काटते हुए, बच्चे का जन्म होता है तब गीत गाती हैं तथा शादियों के वक्त और त्यौहारों और मेलों में भी ये महिलाएं गीत गाती हुई दिखाई पड़ती हैं।

इन समुदायों में गीत गाना एक सामूहिक गतिविधि है और यह समुदाय के तौर पर उनकी पहचान की अभिव्यक्ति है। साथ गाते हुए, एक दूसरों के साथ ताल-मेल बैठाते हुए उन्हें लगता है कि वे एक दूसरों के साथ जुड़े हुए हैं, बंधे हुए हैं और यही वजह है कि आधुनिक समूह भी समूह गीतों का उपयोग करते हैं। आज भी आधुनिक लोग चर्चों में, मंदिरों तथा आश्रमों में साथ मिलकर गाते हैं।

गीत हमेशा ही अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम रहा हे। इसके अलावा गीतों का उपयोग असामान्य सोचने के तरीकों एवं पारंपरिक बातों तथा विचारों को अभिव्यक्त करने में किया जाता है। समुदायों द्वारा रामायण और महाभारत के कुछ अंशों का गाया जाना अपने आप में महत्वपूर्ण है और इन्हीं समुदायों ने इन वीर गाथाओं को जीवित रखा है।

गीत गाने के साथ महिलाओं का रिश्ता :

मध्यम वर्गीय और अभिजात वर्ग के समुदायों की स्त्रियों के मुकाबले में आदिवासी, किसान तथा अन्य कामकाजी समुदायों की महिलाओं में गाना और नाचना काफी बड़े पैमाने पर होता है। सभी समुदायों में वैसे देखें तो पुरुषों के मुकाबले में महिलाएं हमेशा अधिक गाती और नाचती हैं। ऐसा लगता है कि विकास और शिक्षा लोगों के जीवन से नृत्य और संगीत को हटा देना चाहते हैं। संस्कृति का एक अलग अस्तित्व हो जाता है, अलग समय और जगह के साथ, ऐसे में उसका जीवन के साथ फिर समन्वयन नहीं रहता। चूंकि महिलाएं कम विकसित और कम पढ़ी-लिखी हैं और उन पर अपने समुदाय की संस्कृति और परंपरा को जीवित रखने की जिम्मेदारी है, इससे हमें यह पता चलता है कि कई समुदायों में पुरुषों ने गाना छोड़ दिया है लेकिन उनकी पत्नियां आज भी गाती हैं। उदाहरण के तौर पर शहरी मध्यम वर्गीय परिवारों में आज भी स्त्रियां इकट्ठी होती हैं और शादी या त्यौहार के मौकों पर वे गीत गाती हैं जबकि इन परिवारों में अधिकांशतः पुरुषों ने समूहों में गाने के अवसर और सामर्थ्य खो दिया है।

महिलाओं ने गीतों का उपयोग केवल प्रार्थना करने में या अपनी खुशी का इजहार करने के लिए नहीं किया है बल्कि अपनी पीड़ा, हताशा और दबे हुए गुस्से को बहार निकालने के लिए भी किया है। साउथ एशिया के कई लोकगीतों में हमें इसकी झलक देखने को मिलती है। जिसमें उनके दोयम दर्जे की तथा उनके घरविहीन होने की बातें भी होती हैं। कुछ गुस्से से भरे गीत भी हैं जिसमें उनके साथ होनेवाले अन्याय की बात है तो कुछ गीतों में दमनकारी सासों का भी वर्णन होता है। कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनमें महिलाएं अपने असंवेदनशील, शोषण करनेवाले पति और देवर आदि पर प्रहार करती हैं, उनकी भर्त्सना करती हैं। कुछ गीतों में औरतों की दबी हुई इच्छाओं का जिक्र होता है, तो कुछ गीतों में औरतों के प्यार, अपनी पहचान और अपने लिए जगह को लेकर जो उनके सपने अधूरे रह जाते हैं उसका भी जिक्र होता है।

हमारे इतिहास के पन्ने पलटकर देखें तो उसमें भी औरतों के गीत लिखने और गाने की परंपरा का जिक्र मिलता है। ये गीत एक साहित्य के तौर पर नहीं उभरे थे। ये गीत हमें बतलाते हैं कि 2500 साल पहले भी बुद्धिमान, सशक्त, दृढनिश्चयी और समर्थ महिलाएं थीं जो अपना घर छोड़कर बाहर निकलने में और उन्हें जो चाहिए वो पाने के लिए हिचकिचाई नहीं थीं। इसके बाद की सदियों में भी इसी प्रकार की महिलाओं की कविताएं और गीतों के उदाहरण हैं। मीराबाई के गीत आज भी लोगों की याददाश्त का हिस्सा हैं और मीराबाई के गीत उत्तर भारत में बहुत ही प्रचलित हैं।

महिला आंदोलनों में गीतों का उपयोग :

अन्य आंदोलनों जैसे स्वतंत्रता का आंदोलन या समाजवाद का आंदोलन आदि, भारत में गीत महिलाओं के आंदोलन का समग्र हिस्सा है। पूरे देश में महिलाओं द्वारा कई गीत लिखे और गाये गए हैं। मेरे अनुभव की बात कहूं तो हमारे गीतों की शुरूआत आमतौर पर हमारे संघर्ष और सहयोग की भावना से होती है। मैं पिछले कई सालों से महिलाओं और बच्चों के लिए गीत लिख रही हूं। मुझे संगीत का ज्ञान नहीं है, मतलब म्युजिकल नोट्स आदि के बारे में मैं कुछ नहीं जानती हूं। मुझे लोकगीतों की जानकारी है जो मैंने बचपन में सीखे थे और मैं नए लोकगीत भी लिख सकती हूं। मैं काफी समय से गीत लिख रही हूं जो प्रचलित लोक या फिल्मी गीतों की धून में फिट हो सकें। इन गीतों का विषय या कथ्य कोई भी हो सकता है, ये निर्भर करता है कि आप किस विषय, समस्या के साथ इसे जोड़ना चाहते हैं जैसे कि महिलाओं के खिलाफ हिंसा, अन्यायी कायदे-कानून और न्याय व्यवस्था, घर के कामकाज का बोझा आदि।

मेरे सभी गीतों के लिए विचार और प्रेरणा मुझे आंदोलन से ही मिले हैं। ये गीत कार्यशाला के उत्साह का ही परिणाम है, चर्चा की प्रबलता एवं संघर्ष की गर्माहट का ही नतीजा है, मैं भावनाओं और शब्दों को पकड़ती हूं जो आसपास तैरते हैं और उन्हें मैं गीत के रूप में रचती हूं, बस इसी तरह ये गीत तैयार होते हैं । मैं जटिल विश्लेषण को सशक्त कथन के फॉम में रखती हूं। जब गीत लिख लिया जाता है तब मैं इस गीत को दूसरों के साथ शेयर करती हूं और इस गीत में हमेशा ही परिवर्तन किए जाते हैं। महिलाएं अपनी आवश्यकताओं एवं वातावरण के अनुसार इन गीतों में या तो कुछ जोड़ती हैं या कुछ निकाल देती हैं।

मौखिक संस्कृति में जहां केवल याददाश्त ही सबसे अच्छी लाईब्रेरी है, गीतों का माध्यम बहुत प्रभावी हो सकता है। मेरे जैसे मध्यम वर्गीय लोग भी जिनके पास दोनों मौखिक और सुशिक्षित संस्कृति है, जिन्हें सैकड़ों गाने याद रहते हैं । मुझे जब अपने बचपन के गाने याद आते हैं तो मुझे बहुत ही

आश्चर्य होता है, मैं तब यह नहीं जानती थी कि वे मेरे दिमाग में विद्यमान थे। वैसे कुछ भी अब लिख पाना काफी मुश्किल है। चाहे वह लेक्चर हो, आंकड़े हों या फिर ऐसी कोई भी चीज हो। जब हम नए गाने कुछ दफा गाते हैं तो हमें वे कई सालों तक याद रहते हैं।

गीतों में जो संदेशे, विचार और मूल्य आदि होता है, उसे आगे बढ़ाया जा सकता है और उसे बिना ज्यादा मेहनत के दोहराया जा सकता है। लेकिन जो सबसे अच्छे गाने होते हैं वे भी तभी प्रभावशाली बनते हैं जब एक समुदाय होता है, मैत्रीभाव होता है और गीतों में जो विचार होते हैं उन्हें सभी द्वारा स्वीकृति मिली होती है। गीत उतने ही प्रभावशाली हैं जितने लोग, आंदोलन और संस्थाएँ जो ये गीत रचती हैं और उसका उपयोग करती हैं।

मैं जब कॉलेज में थी तब होली के लिए गीत लिखे थे, इसके अलावा फेर-वेल, टूर्नामेन्ट के दौरान कैंप-फायर के मौके पर भी मैंने गीत लिखे थे। ये गीत आम तौर पर पैरॉडी हुआ करते थे जो तुरत-फुरत में लिखे गये होते थे, जल्दबाज़ी में मित्रों को सिखाये जाते थे और सभी के मनोरंजन के लिए गाये जाते थे। एक साउथ एशिया वर्कशॉप जो मैंने बांग्लादेश में जी.के. में आयोजित किया था 1978 में, तब मेरे इस पहले गीत का जन्म हुआ था।

तोड़-तोड़के बंधनों को देखो बहने आती हैं,
ओ देखो लोगों देखो बहने आती हैं,
आएंगी जुल्म मिटाएंगी,
दो तो नया जमाना लाएंगी।

अब जब मैं इसके बारे में सोचती हूँ तो मुझे लगता है कि इस गीत की रचना तभी हुई होगी जब मैंने जी.के को इतने उत्तेजनापूर्ण और आश्चर्यजनक तरीके से ग्रामीण महिलाओं के साथ काम करते हुए देखा था। तब ऐसा महसूस हो रहा था कि ये महिलाएँ दुनिया का चेहरा बदल देंगी और यह गीत भी कुछ इसी प्रकार का था।

आगे जो गीत लिखे गए होंगे वे भी किसी वर्कशॉप, अभियान, संघर्ष एवं किसी विशेष मुद्दे को ध्यान में रखकर ही लिखे गए होंगे। उदाहरण के तौर पर 1979 में किसी विशेष मुद्दे को लेकर दिल्ली का एक महिलाओं का समूह काम कर रहा था, वह था दहेज मृत्यु। हममें से कुछ लोग स्ट्रीट थियेटर ग्रुप के साथ जुड़े हुए थे जिन्होंने एक नाटक तैयार किया और उसे कई जगहों पर दिखाया गया था । इसी दौरान दहेज के मुद्दे को लेकर भी कुछ गीत लिखे गये थे।

महिलाओं के खिलाफ हिंसा इस मुद्दे ने, हमने सेवा लखनऊ के कार्यकर्ताओं के साथ जब एक वर्कशॉप किया था उसमें हमें परेशान कर दिया था। इस वर्कशॉप में 35 प्रतिशत महिलाओं ने हमें दिल दहलादेनेवाली कहानियां बताई, जिसमें वे विभिन्न प्रकार की हिंसाओं की शिकार अपने पति और परिवारजनों के हाथों हुई। उस दौरान इस वर्कशॉप में तीन गीत उभरे एक के बाद एक। हम चूंकि लखनऊ में थे जहां कव्वाली और गजलों का माहौल था, तब मैंने कव्वाली की धून का इन गीतों को लिखने में उपयोग किया था। उनमें से एक गीत की पंक्ति यहां दृष्टव्य है।

"कौन कहता है जन्नत इसे, हमसे पूछो जो घर में फंसे।"

1984 में दिल्ली में सबसे बुरे नरसंहार को राजनीतिज्ञों ने दुष्प्रेरित किया था। 3000 से अधिक सिख लोगों को निर्दयतापूर्वक मार दिया गया था। हम सभी लोग तब धार्मिक कट्टरता तथा राजनीतिज्ञों द्वारा धर्म का उपयोग इस विषय को लेकर भिड़ गए थे। धार्मिक रूढ़िवाद का मुद्दा और महिलाओं

पर उसके जो परिणाम आए हैं, तब से महिला आंदोलन के एजंडा का यह हिस्सा बन गया है। इस मुद्दे के इर्दगिर्द कई गीत लिखे गये हैं। उदाहरण के तौर पर यह गीत दृष्टव्य है।

भले लोगों को बहकाया झूठे धर्मों ने
देश को बंटवा रहे हैं, राम तेरे नाम पे।

चूँकि हम में से कई लोग सजगता को बढ़ाने के तथा शिक्षा के काम में शामिल थे, बहुत सारे गीत महिलाओं की नई सजगता को सेलिब्रेट करने के लिए रचे गये थे। कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य है।

धीरे-धीरे आये हममें चेतना
अब रुकेंगे ना किसी भी हाल
आ गई चेतना,
अब पूछेंगे हम खूब सवाल,
आ गई चेतना।

कई सारे आंतरराष्ट्रीय महिला दिनों के मौकों पर महिलाओं की एकजुटता और मैत्रीभाव पर, हमारी आत्मविश्वास की भावना पर तथा समान परिवार और समाज के हमारे सपनों पर बहुत सारे खुशी भरे गीत लिखे गए हैं।

अपना दिन हम मनाएं तो बड़ा मज़ा आए,
इसे त्यौहार बनाएं तो बड़ा मज़ा आए।

महिला आंदोलनों द्वारा अन्य जो मुद्दे लिए गए थे और जिन पर गीत लिखे गये थे वे इस प्रकार हैं, बाल-किशोरी की स्थिति, पितृसत्तात्मक कायदे और न्याय व्यवस्था, महिलाएं और कामकाज, महिलाओं की राजनीति में सहभागिता, नई आर्थिक नीति, शराबखोरी, बालश्रम, पर्यावरण, महिला अध्ययन आदि। ये गीत हमारे सामूहिक विश्लेषण से उभरते हैं और यह विश्लेषण दूसरों तक पहुँचाया जाता है।

इन अधिकतर गीतों में महिलाओं को उत्पीड़ित या चुपचाप सहनेवालों के तौर पर नहीं देखा गया है बल्कि उन्हें लंबी उम्र पानेवाली महिलाओं के तौर पर, या जो तिरस्कारपूर्ण जीवन जीना नहीं चाहतीं या गरीबी का जीवन न जीते हुए अच्छी दुनिया का सर्जन करने के लिए संघर्ष कर रही हैं उन्हें ऐसे रूप में भी देखा गया है। मुझे यह लगता रहा है कि महिला आंदोलन में विनोदशीलता और खुशी की आवश्यकता है।

गीतों ने हमारी चुप्पी को तोड़ने में भी मदद की है। हममें से कुछ लोग ऐसे हैं जो अपनी कठिन परिस्थिति के बारे में मुँह जबानी बताने से ज्यादा गाकर बताना पसंद करते हैं। धीरे-धीरे जब हमारा आत्मविश्वास विकसित हुआ हममें समुदाय की भावन पैदा हुई, तब हमने हमारी खुशियाँ, दुख, सपने तथा महत्वाकांक्षाओं की बात एक-दूसरों के साथ शेयर की।

जब धुन तेज होती है और गीत खुशियों भरे तो महिलाओं को अपने शरीर और मन को नियंत्रण में रखना संभव नहीं होता है, वे नाचने से अपने आपको रोक नहीं पाती हैं। ऐसे में कई गाने के सत्र अपने आप नृत्य के सत्र में परिवर्तित हो जाते हैं जो हमें शक्ति प्रदान करते हैं और हमें एक साथ ले आते हैं। ये गाने के जो सत्र होते हैं वे हमारे लिए टॉनिक की तरह होते है क्योंकि वर्कशॉप में जो मुद्दे होते हैं वे न केवल गंभीर और जटिल होते हैं बल्कि बड़े दर्द भरे होते हैं। वर्कशॉप के दौरान इस प्रकार के सत्र बादल की तरह होते हैं और जब बरस पड़ते हैं तो कुछ देर के लिए

ही सही सारी गंभीरता और दर्द गायब हो जाता है। ये गीत और नृत्य के अवकाश ज्यादा ताजगी और शक्ति प्रदान करनेवाले होते हैं बनिस्बत चाय-कॉफी के अवकाश । हम इस बात को भी मानते हैं कि काम, मजा, सीखना और खुशी सब साथ-साथ होना चाहिए।

मीटिंग, वर्कशॉप, मोर्चा, महिला दिवस की मार्च या सामाजिक सभा के दौरान हम कई गीत गाते हैं (सेवा) लखनऊ की महिलाएं अपने दिन की शुरूआत तीन-चार प्रेरणादायी गीत गाकर ही करती हैं। उन्हें लगता है कि ऐसा करने से वे ज्यादा अच्छी तरह से काम कर सकती हैं।

गीतों के द्वारा दूसरों के साथ जुड़ाव

मुझे लगता है कि गीत गाना ही एक ऐसा माध्यम है जहां दूसरे लोग भी आपके साथ तुरंत जुड़ जा सकते हैं, जहां सारी आवाजें शक्तिशाली हो जाती हैं जो सभी को शक्तिशाली बनाती हैं और समुदाय की भावना का निर्माण करती हैं। यहां तर्कशील और भावनामय (व्यक्ति) दोनों मिल जाते हैं, शरीर और मन मिल जाता है, मजा और गंभीरता मिल जाती है। यहां कोई पदानुक्रम नहीं रह जाते हैं जब आप गाते हैं, विशेषकर जब मैं गाती हूं क्योंकि मैं एक अच्छी गायिका नहीं हूं। सभी समूहों में अच्छी गायिकाएं और नृत्यांगनाएं हैं और वे आगे आ जाती हैं।

हमारे गीत लिखने और गाने की प्रक्रिया ने हमें हमारे इतिहास में हमारी नारीवादी जड़ों को ढूंढने में मदद की है। हमने जब स्त्रियों के लोक-गीतों तथा स्त्री संतों द्वारा पिछली सदियों में लिखे गीतों की ओर देखना शुरू किया तो हमने उन गीतों को नारीवादी विरासत के रूप में पहचाना है।

चूंकि गीत और नारे लोगों के दिलो-दिमाग में रहते हैं इसलिए उन्हें जब्त करना, जला देना या सेंसर करना संभव नहीं है। हवा की तरह वे कहीं भी पहुंच सकते हैं और कथ्य बना सकते हैं। पाकिस्तान में राष्ट्रपति जिया-उल-हक के कार्यकाल के दौरान जब वहां राजनीतिक गतिविधियों या किसी भी प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति के लिए बहुत कम या बिल्कुल जगह नहीं थी तब कई लोगों ने अपनी अस्वीकृति को दर्शाने के लिए गीतों का अंतिम उपाय के तौर पर सहारा लिया। फैज अहमद फैज की क्रांतिकारी कविताएं तथा सुफी कवियों जैसे बुल्लेशाह और शाह हुसैन के गीत गाना तब राजनीतिक विरोध का सबसे ज्यादा प्रभावशाली तरीका बन गया था। चूंकि राजनीतिक प्रदर्शनियां और मीटिंगें करने की अनुमति नहीं थी, तब पाकिस्तान में महिलाओं के एक्शन फोरम ने महिलाओं के मेलों का आयोजन किया था, मनोरंजन, खाने और शॉपिंग के दिखावे के लिए। सत्ताधारियों ने इन कार्यक्रमों के लिए अनुमति दे दी बिना यह जाने कि इस मेले की सूची में मुख्य रूप से राजनीतिक प्रहसन और गीत ही थे। स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान भारतीय राष्ट्रवादियों ने कोर्ट, पुलिस स्टेशन आदि जगहों में गीत गाना प्रारंभ कर दिया था। इस प्रकार के गाने लोगों को विध्वंस के लिए प्रेरित करते हुए तेज आंधी की तरह हर जगह फैल गए।

"सरफरोशी की तमन्ना आज हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।"

मुझे लगता है कि यह एक उत्कृष्ट बात है कि महिला आंदोलन ने हमें जगह और मौका प्रदान किया है सृजनशीलता में डूबने का। मेरा ऐसा मानना है कि सभी लोग गा सकते हैं, नाच सकते हैं, कई लोग गीत लिख भी सकते हैं और उन्हें हमें लिखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

***

पुराने लोकगीतों को उद्‌बोधनात्मक गीतों से बदलने की जरूरत

- सुधा अरोड़ा

महिला आंदोलनों में धीरे-धीरे औरतों के हक में गीत रचे जाने का जो सिलसिला शुरू हुआ और जो बाद में एक अनमोल जखीरे में बदल गया, उसे जानने से पहले यह जानना जरूरी है कि इन गीतों से पहले हमारे समाज में औरतों की स्थिति क्या थी और वे किस तरह के परिवेश में जी रही थीं।

जिस हिंदुस्तानी समाज में हजारों बरसों तक औरतों के लिए शिक्षा की मनाही हो, जहाँ औरतों का काम ही अपने पति की और उसके माँ-बाप यानी सास-ससुर की सेवा करना, वंशबेल बढ़ाने के लिए पुत्र रत्नों को जन्म देना (ताकि वह कुल का नाम रौशन करें और देश समाज की प्रगति में अपना योगदान दें), बेटी पैदा होने पर मातम मनाना, ससुराल की दहलीज पर घूंघट काढ़े हुए जाना और वहाँ से नाती पोतों की फौज से लैस होकर अपनी आखिरी शोभायात्रा पर मांग में सिंदूर सजाए ससुराल की दहलीज से अर्थी पर उठ जाने में ही अपने समूचे जीवन की सार्थकता और सिद्धि समझ लेना हो, ऐसे समाज में शादी, तीज त्यौहार, बेटे के जन्म, मुंडन, अन्नप्राशन या जनेऊ पर किस तरह के गीत रचे गये और उन्हें लोकधुनों में सजा संवार कर गाया जाता रहा, इसे समझ पाना मुश्किल नहीं है।

किसी भी समाज के कस्बों, गांव-खेड़ों में किसी भी उत्सव या सामाजिक जमावड़े में लोकधुनों को आधार बनाकर जो गीत गाए जाते हैं, वह अपने समय के जीवन और व्यवहार का आईना होते हैं। आज से कुछ दशक पहले औरतों के लिए जो गीत थे, उसमें औरतों के साज सिंगार, चूड़ियाँ और कानों के बुंदे यानी लटकन, पायल और हंसुली लाने का आग्रह उनमें प्रमुख था। एक गीत है-

भूसा बिकाय मोहे ला: देयो लटकन
पति पूछता है - भूसा बिकैहैं तो ढोर का खइहैं?
नायिका कहती है- ढोर बिकाय, मोहे लाय देयो लटकन।

यानी किसी भी औरत की सबसे बड़ी प्राथमिकता उसकी रूप सज्जा और पति से गहनों की फरमाइश करना हुआ करता था। औरत को उसकी सुंदर सजी धजी देह से ही जाना जाता था, उसका काम अपने पति के लिए सजना संवरना और फिर भी पुरुष दूसरी औरत ले आए तो रोना कलपना और उलाहने देना था । कुछ उदाहरण देखें-

मैं तो चंदा जैसी नार, राजा क्यों लाए सौतनिया?
मेरी हिरनी जैसी चाल, राजा क्यों लाए सौतनिया?

यानी अपने पति पुरुष को रिझाने और बांधकर रखने के लिए एक पत्नी का चंदा जैसा चेहरा और हिरनी जैसी चाल की ही जरूरत है, इससे ज्यादा न औरत की कोई अपेक्षा है, न आकांक्षा और न जरूरत।

कुछ फिल्मी गीत भी इन लोकधुनों पर बनाए गए और बहुत लोकप्रिय भी हुए-
गोरे-गोरे हाथों में मेहंदी लगा के, नैनों में कजरा डाल के,
चलो, दुल्हनिया पिया से मिलने, छोटा सा घूंघट निकाल के....
इसमे आगे यह पंक्ति भी आती है-
सबकुछ सहना, कुछ भी न कहना, अपने आंगन को रखना संभाल के...!!
भारत की हर भाषा में इस तरह के गीत मिल जाएंगे जहां औरत के चुप रहने को उसका सबसे कीमती गहना माना गया और सहते-सहते मर जाने को उसकी नियति!(एक मुहावरा ही है- एक चुप, सौ सुख)

पंजाबी का एक लोकगीत सुनें-
लट्ठे दी चादर, उत्ते सलेटी रंग माइया,
आवो सामने, कोलों दी रुस के ना लंघ माइया।
या फिर
सारी रात तेरा तक्कनी हां राह, तारेयां तो पुच्छ चन्न वे!
वे मैं तेरे पिच्छे होइ हां तबाह, सारेयां तो पुच्छ चन्न वे!
पति के परदेश जाने पर सारी-सारी रात एक विरहिणी नायिका पति की राह तकती है, उसके लिए अपने को तबाह कर लेती है.... और पति के विरह में होना औरत को देवी के आसन पर आसीन कर देता है, उसे शहादत का दर्जा देता है।
एक और उत्सव की स्थिति तब आती है जब बेटे का जन्म होता है। बेटे के जन्म पर सोहर गाए जाते हैं, बधाई गीत रचे जाते हैं, और बेटी के जन्म पर...? पैदा करने वाली मां को कोसा जाता है जैसे लड़की पैदा करना कोई पाप है और उसके लिए अकेली वही जिम्मेदार है।

भारत में लाखों करोड़ों औरतों का चुप रहकर सहने और अन्ततः भवसागर से निस्तार पा जाने का लंबा इतिहास रहा है। बच्चे को जन्म देते समय, प्रसव पीड़ा झेलते हुए, शरीर में खून की कमी से, कम उम्र में गिरते स्वास्थ्य से औरतें असमय मरती रहीं, पर इसे हमेशा उनकी स्वाभाविक मृत्यु माना गया। पत्नी की मौत पर पुरुष के लिए दूसरी शादी के दरवाजे इतनी आसानी से और मुस्तैदी से खोल दिए जाते हैं कि पत्नी की मौत का मातम मनाने का उसके पास वक्त ही नहीं होता। यह सब एक प्राकृतिक प्रक्रिया के तहत लिया जाता रहा। औरत हमेशा चुप रही। संयुक्त परिवारों में घर के सारे सदस्यों की देखभाल करना, सबके लिए खाना पकाना और खुद बचा-खुचा खा लेना आखिर उसकी सेहत पर प्रभाव डालता था। उसकी सहनशीलता की अंतिम परिणति होती थी उसकी असमय मौत।

महिला संगठनों के सलाहकार केंद्रो में हमने अक्सर देखा है कि औरतें जीवन भर पिटती रहती हैं और पति की पिटाई के बारे में न कहकर पैर फिसल गया, बाथरूम में गिरकर चोट लग गई जैसे बहाने बनाती हैं क्योंकि अपने पति की शिकायत करने से उनके अपने समाज को ठेस लगती है। पति की इज्जत के साथ वे अपनी इज्जत को जोड़ कर देखती हैं, इसलिए जब उम्र के आखिरी पड़ाव पर आकर देह जवाब दे जाती है, तब वे मजबूरी में सलाहकार केंद्रों का रास्ता ढूंढती हैं।

औरतों को मुंह खोलने का संदेश

ऐसे माहौल में, जब-जब औरतों पर होने वाले शोषण की पहचान के तहत किसी विरोध या मोर्चे का जन्म हुआ, नये उद्‌बोधनात्मक गीतों की जरूरत महसूस की गई। इन बदलते हुए गीतों और नये रचे गीतों में सबसे पहला स्वर था- औरतों को मुंह खोलने का संदेश देना। पढ़ी लिखी औरतों को "पर्सनल इज पॉलिटिकल" के तहत अपने निजी को सार्वजनिक करने का तर्क थमाया गया क्योंकि हर औरत का "निजी" कहीं न कहीं समाज के एक बहुत बड़े तबके से जा जुड़ता है, वहीं कम पढ़े लिखे और अशिक्षित तबके को "मैं चुप रहूंगी" और "सब कुछ सहना, कुछ भी न कहना" के विपरीत घर बाहर आकर अपने ऊपर होते जोर जुल्म को मुंह खोलकर कहने का उद्‌बोधन दिया गया-

सदियों से हम सह रही हैं और न सह पाएंगी,
ठान ली अब लड़ने की गर, लड़के ही जी पाएंगी।
चुप हैं लेकिन यह न समझो, हम सदा के हारे हैं,
राख के नीचे अभी भी जल रहे अंगारे हैं।

इन उद्‌बोधन गीतों की रचयिता सामाजिक कार्यकर्ता कमला भसीन ने शिक्षित अशिक्षित, हर औरत की जबान पर आसानी से चढ़ जाने वाले सार्थक गीतों की एक श्रृंखला ही रच दी-

देश में गर औरतें अपमानित हैं, नाशाद हैं,
दिल पर रखकर हाथ कहिए, देश क्या आजाद है!

औरतों के लिए रचे गए गीतों की एक विशेषता यह भी है कि कई बेहद लोकप्रिय गीत किसी एक की रचना न होकर सामूहिक रूप से बनाए गए। वर्कशॉप में एक लाइन किसी ने कही तो दूसरी पंक्ति किसी और ने।.... और देखते-देखते एक गीत तैयार हो गया। कव्वाली की धुन पर यह गीत हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की औरतों द्वारा एक वर्कशॉप में सामूहिक रूप से रचा गया और भारत के ज्यादातर महिला संगठनों का राष्ट्र गीत (नेशनल एन्थम) बन गया-

तू चुप रहकर जो सहती रही,
तो क्या ये जमाना बदलेगा,
तू बोलेगी, मुंह खोलेगी,
तब ही तो जमाना बदलेगा।

इन गीतों में सबसे ज्यादा जोर औरतों की चुप्पी तोड़ने और मुंह खोलने पर है। मुंह खोलना यानी अपने आप को बदलना- "तू खुद को बदल, तू खुद को बदल, तब ही तो जमाना बदलेगा।"

इन गीतों में ज्यादा असर तब पैदा हुआ, जब इन्हें पुराने प्रचलित लोकगीतों की धुनों पर रचा गया जिससे औरतों के लिए इन्हें गाना और उनके बदले हुए बोलों की तह तक पहुंचना बहुत आसान हो गया। जैसे- "भरी दुपहरी में न जाऊंगी, डोला पिछवाड़े रख दो" या "मैं ससुराल नहीं जाऊंगी, डोला रख दो कहारों"- उत्तर प्रदेश में गाये जाने वाले ये गीत अपने आकर्षक बोलों और खनकदार धुन के कारण उस अंचल के जनमानस में अपनी जगह बना चुके हैं इसलिए जब इन्हीं धुनों पर

महिलाओं में जागृति लाने वाले बोल लिखे गए तो उसने फौरन एक स्वीकृति भी पा ली और उसके भीतर छिपे क्रांतिकारी तेवर को बहुत आसानी से आत्मसात कर लिया-

मुंह सी के अब जी न पाऊंगी, जरा सब से ये कह दो....
मैया कहे बिटिया सीस झुकाना,
सर को मैं ऊंचा उठाऊंगी, जरा सब से...
अपने को अब न झुकाऊंगी, जरा सब से...

भैया कहे बहना, चौखट न लांघो,
चारदीवारी को गिराऊंगी, जरा सब से...
पिंजरों से पीछा छुड़ाऊंगी, जरा सब से...

शास्तर कहें पिता-पति है स्वामी,
अब ना गुलामी कर पाऊंगी, जरा सब से...
रिश्ते बराबर के बनाऊंगी, जरा सब से...

दुनिया कहे, मुनिया मन की न करना,
मन को न अब मैं दबाऊंगी, जरा सब से...
अपने ही सपने सजाऊंगी, जरा सब से...

यह गीत बहुत आसान शब्दों में औरतों का आवाहन करता है कि वे अपनी पारम्परिक सोच को बदलें। जो उपदेश उन्हें सदियों से मिलते आ रहे हैं, उसमें बदलाव लाएं। अपना मन को दबाकर जिन्दगी भर दूसरों के लिए न जिएं, अपने लिए भी जिएं, अपने सपने सजाएं, चारदीवारी को गिराएं और अपने आत्मसम्मान को ऊंचा उठाएं, सिर ऊंचा कर जीना सीखें।

महिला संगठनों का एक बेहद प्रिय गीत है जो आवाज-ए-निस्वां की कार्यकर्ता शहनाज शेख और गीता महाजन ने लिखा है जिसमें मर्द रोजगार के लिए दुबई गया है, उसकी बीवी मुंबई में है और आवाज-ए-निस्वां संगठन में महिलाओं की मदद करने जाती है पर कुछ लोगों ने उसकी शिकायत कर दी है इसलिए वह हर काम के लिए अपने पति की इजाजत चाहती है और किसी दूसरे से उसके नाम खत लिखवा रही है कि उसकी बहन का शौहर उसे पीटता है, वह उसकी मदद करे या नहीं, धर्म और मजहब के नाम पर खून खराबा हो रहा है, सबको आपस में भाईचारे और अमन से रहना है, यह बात अपनी बस्ती में समझाए या नहीं। हैदराबादी हिंदी में लिखे इस पूरे गीत की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह गीत के आखिर में अपने पति को भी औरतों के हक की लड़ाई लड़ने के लिए साथ देने को कहती है- तू भी आजा साथ देने को! इस गीत में एक औरत की मासूमियत दिखाई देती है, संगठन के कामों के प्रति उसमें लगन है और मन में इंसानियत का जज्बा है, तभी तो वह इतनी सहजता से सांप्रदायिकता के खिलाफ, धर्म के नाम पर होने वाले दंगों के खिलाफ हर दिल के भीतर जगह बना लेने वाला ऐसा संदेश दे पाती है-

पति के नाम एक संदेश

मैं अच्छा हूँ, घबराओ नको, ऐसा खत में लिखो।
कोणी मेल्याने तुझको लिक्खा, मै निकली रोडां पर
अगर तुझको शक है तो फिर नहीं निकलूंगी बाहर
पानी लेने को जाऊं क्या नको, ऐसा खत में लिखो ।

सौ रुपये का हिसाब मांगा, तो मैंने क्या घर में उड़ाई
लाइट के बीस दी, पानी के तीस दी, पच्चीस का राशन लाई
पच्चीस दूधवाले को दूं क्या नको, ऐसा खत में लिखो ।

बाबा को आया बुखार खांसी, प्रायव्हेट में गयी उसको लेकर
सौ रुपया दिया, इंजेक्शन लिया, असर नहीं हुआ बच्चे पर
मै जे.जे. को जाऊं क्या नको, ऐसा खत में लिखो ।

आवाजे- निस्वां है महिला मंडल, जाती मैं उस मीटिंग को
तेरी बहन को शौहर जब पीटता, जाती मैं धमकाने को
उसकी मदद मैं करूं क्या नको, ऐसा खत में लिखो ।

बेबी को मैंने स्कूल में भेजा खूब अच्छी पढ़ती है
औरतों को भी है लिखना-पढ़ना, आवाजे निस्वां का मत है
मैं पढ़ने को जाऊं क्या नको, ऐसा खत में लिखो।

जबसे गया तू, बिगड़ा है माहौल, फसाद का डर है मुझको
मजहब के नाम पे कैसे ये झगड़े, अमन से रहना है सब को
ये बस्ती में समझाऊं क्या नको, ऐसा खत में लिखो।

महंगाई इतनी, रोजगार भी नहीं, तेरे जैसे जाते दुबई को
घर भी कितने टूट जाते देखो, दुख होता मेरे मन को
तू आजा जल्द मिलने को, ऐसा खत में लिखो ।

कोणी मेल्याने तुझको लिक्खा, मैं ठुमकती रोडां पर
मीटिंग में जाती, मोर्चे पर जाती, हाथ में परचम लेकर,
तू भी आ जा साथ देने को, ऐसा खत में लिखो ।

शुद्ध रूप से महिलाओं का आवाहन करने वाले गीतों से अलग संगठनों में कुछ बेहद लोकप्रिय गीत ऐसे भी हैं जो जनजागरण के गीत हैं और इन गीतों को स्कूल के छठी सातवीं कक्षा के बच्चों से लेकर कामगार संगठनों और वामपंथी जनवादी मोर्चों पर भी भरपूर ख्याति मिली है। जागृति के इन आशावादी गीतों में एक प्रमुख गीत है जो जनकवि शंकर शैलेन्द्र का लिखा हुआ है, जिन्होंने बाद में फिल्मी गीतों के लिए भी खासी ख्याति अर्जित की-

तू जिन्दा है तो जिन्दगी की जीत में यकीन कर
अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला जमीन पर

ये गम के और चार दिन, सितम के और चार दिन,
ये दिन भी जाएंगे गुजर, गुजर गये हजार दिन,

कभी तो होगी इस चमन पे भी बहार की नजर,
अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला जमीन पर।

शैलेन्द्र के इस सदाबहार लोकप्रिय गीत की तरह ही कवि वशिष्ठ अनूप का एक गीत जनमानस के संघर्ष को एक दिशा देता है। यह गीत भी जनचेतना और जन आह्वान का एक जोशीला गीत है जो जनवादी संगठनों के साथ-साथ महिला संगठनों का भी एक बहुस्वीकृत गीत है-

इसलिए राह संघर्ष की हम चुनें,
जिन्दगी आंसुओं से नहाई न हो,
शाम सहमी न हो, रात हो न डरी
भोर की आँख फिर डबडबाई न हो।

कोई अपनी खुशी के लिए गैर की
रोटियाँ छीन ले, हम नहीं चाहते,
छींट कर थोड़ा चारा कोई उम्र की,
हर खुशी बीन ले, हम नहीं चाहते,
हो किसी के लिए मखमली बिस्तरा,
और किसी के लिए एक चटाई न हो।
इसलिए राह संघर्ष की-
जन संवेदना को आलोड़ित करने वाले इन रचनाकारों की कलम को हम सलाम करते हैं जिन्होंने इतने सरल, आसान शब्दों में जीने के इतने सकारात्मक संदेश दिए हैं।

अहमदाबाद के विनय महाजन और चारू ने सांप्रदायिक दंगों और हिन्दू मुस्लिम भेदभाव के खिलाफ ढेर सारे गीत लिखे जो जन-जन की जबान पर अपनी सरलता और सीधे संदेश के कारण इतनी आसानी से चढ़ गए। वोटों की राजनीति, धर्म के ठेकेदारों, सरकार की लूट के खिलाफ लिखे गये और हजारों लोगों की सभाओं में गाये जाने वाले गीतों को कैसे भूला जा सकता है जिसने इंसानियत को जनमानस में जिलाए रखने का अनूठा संदेश दिया-

मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर ने बांट दिया भगवान को
धरती बांटी, सागर बांटा, मत बांटो इंसान को

नेता ने सत्ता की खातिर, कौमवाद से काम लिया
धर्म के ठेकेदारों से मिलकर लोगों को नाकाम किया
भाई बंटे टुकडे-टुकड़े में नेता का है मान बढ़ा
वोट मिले और नेता जीता शोषण को आधार मिला
वक्त नहीं बीता है अब तो वक्त की कीमत जान लो
धरती बांटी.....

हमारे आंदोलनों के लिए गीत बहुत से लिखे गये हैं, लिखे जाते रहेंगे। इस बार 8 मार्च 2011 के दिन जिस तरह की दुर्घटनाएँ घटी और अखबारों में जैसे दर्दनाक हादसों ने महिला दिवस के नाम पर हमारे सामने एक काली तस्वीर रख दी कि आज भी महिलाएं न सुरक्षित हैं, न अपनी जिन्दगी का मोल समझती हैं। गीतों के माध्यम से यह संदेश दिया जाना चाहिए कि यह जीवन हमें एकबार ही मिला है और जीवन कोई फूलों की सेज नहीं है, कांटों भरी, अंगारों भरी लंबी राह है जिसमें से गुजर कर हमें जीकर दिखाना है। मौत को गले लगाना तो बहुत आसान है पर यह कायरता है। जी कर दिखाना, तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच जिन्दा रह पाना ज्यादा मुश्किल है। आज की पढ़ी लिखी लड़की अगर आत्महत्या करती है तो इससे ज्यादा अफसोसनाक और क्या हो सकता है? आज ऐसे गीतों को लिखे जाने की जरूरत है जो हमारी भारतीय लड़कियों में जीने का हौसला भरें, उनमें लड़ने की ताकत जगाएं, अपने आत्मसम्मान को बचाए रखकर अपनी शर्तों पर जीना सीखें और पुरुष सत्तात्मक समाज को चुनौती दें कि वे अगर जिम्मेदारी से भागते हैं तो हम अपने बच्चों के लिए, उनकी कमी भी, अपने बूते पर पूरी करेंगे। यह हमारी जिन्दगी है और इसे छीनने का अधिकार किसी व्यक्ति, किसी समाज को नहीं है।

*****

नारी इतिहास की तलाश में.....

नारी आंदोलन पर नृत्यनाटिका

- डॉ. विभूति पटेल

"चलो री चलो बहनों, अपने इतिहास की तलाश में चलो री चलो....
अतीत का क्या है अपना ? भविष्य का क्या सपना ?
चलो री अस्मिता की खोज में ....."

इन पंक्तियों से शुरू होनेवाली नृत्यनाटिका के करीब 50 शो हुए थे। 1986 से 1990 के दौरान नारीवादी कार्यकर्ताओं ने दिल लगाकर, सामूहिक प्रयासों से यह नृत्यनाटिका तैयार की थी जिसकी स्क्रिप्ट और गाने मैंने लिखे थे, संगीत की धुन सोनल शुक्ल ने तैयार की थी और दिग्दर्शन मधूश्री दत्ता ने किया था। इस नृत्यनाटिका की प्रेरणा "खूब लड़ी संग्रामी वो तो झांसीवाली रानी थी" इस गीत से मिली थी । नारी आंदोलन की झलक दिखलाना हमारा लक्ष्य था।

हमारा ध्रुवपद इस प्रकार था -

"संगठित हो संघर्ष करने में, उनकी श्रद्धा न्यारी थी,
खूब लड़ी संग्रामी वह तो मुक्तिवादी नारी थी।

महंगाई के राक्षस ने घर में हाहाकार किया, अनाज, तेल, दूध, दवाई पाना भी दुश्वार हुआ। आसमान को छूने लगे काले-बाजार में दाम, क्या पकाएं, क्या खिलाएं, राशन हुआ खतम, गोदामों में, काले-बाजारों में खूब तेल-राशन भरा, बहनों के घेरावों से गोदामों को खुलना पड़ा, डंटी रही, डरी नहीं, बेलन -थाली बजाती वे तो महाराष्ट्र की नारी थी, संगठित हो संघर्ष.....।

विकास के नाम विनाश तेहरी की वादियों में होने लगा, कांट्रेक्टरों, कुल्हाड़ियों ने जंगल का विनाश किया, बहनों, बूढ़ों, बच्चों और गांवों को भी उजाड़ दिया। लकड़ी के ठेकेदारों ने मर्दों को शराबी बना दिया, नदियां सूखी, बारिश कम हुई, हरियाली भी चली गई, पानी ईंधन न पाने पर, बहनों की जानें चली गईं, चिपको का नारा देकर बहनें पेड़ से लिपटी थीं, पर्यावरण की रक्षा करती, हिमालय की बेटियां थीं। खूब लड़ी संग्रामी वो तो गढ़वाल की नारी थी। 1976 में गौरादेवी के नेतृत्व में तेहरी गढ़वाल की बहनों ने कहा था-

"पौधों को बड़ा पेड़ बनाने,
खून, पसीना पानी सींचा,
पेड है सच्चा हमारा बच्चा,
जंगल ही है हमारा जीवन,
उसी से पाएं पानी, ईंधन,
पड़ने दूं ना कुल्हाड़ी उस पर,
बहनों झट से पेड़ को चिपको,
पहले हमारे शरीर पर कुल्हाड़ी मारो।"

1980 में राष्ट्रव्यापी बलात्कार विरोधी आंदोलन को इस नृत्यनाटिका में इन शब्दों द्वारा दर्शाया गया है।

नारी शरीर को उपभोग की चीज, समाज हमारा माने है,
बलात्कार और छेड़खानी, इसीलिए पनपते हैं
रक्षक बन जाते हैं भक्षक, जबरदस्ती नारी पर करे हैं,
रास्ते, ऑफिस, पुलिसथाने पे अनाचार नारी से करे,
आदिवासी बाला मथुरा पर अत्याचार पुलिस ने किया,
गांवों, शहरों, नगरों की बहनों ने हल्ला बोल दिया,
कानून बदले, न्यायतंत्र को ललकारा, खूब लड़ी, लड़ती ही रही,
सन् 1980 में..... सारे भारत की नारी थी।

नारी शरीर पर अत्याचार के खिलाफ महिलाओं की जंग 1977 से जारी है। महिलाओं की सामूहिक शक्ति का परिचय निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया गया है।

"हिंसा की ज्वाला ने जब आग में नारी को लपटा,
दहेज प्रथा का शैतान जब नारी जीवन पर आ झपटा,
पत्नी ताड़न नहीं चलेगा, नारी-समूह ने सोच लिया,
निजी बात बाहर लाने का तब उन्होंने ठान लिया,
बदली परिभाषा राजनीति की, सबने समाज को ललकारा,
नए कानून जारी करवा के, नारी शक्ति को उभारा,
आगे बढ़ी वो, पीछे न हटी, बहादूर संग्रामी थी,
खूब लड़ी महिला दशक में, मुक्तिवादी नारी थी।"

1980 के दशक में विभिन्न धर्म की औरतों ने अपने निजी कानूनों के अन्यायी पहलुओं के खिलाफ अदालत के द्वार खटखटाए थे। मेरी रॉय ने सिरियन ईसाई कानून के असमान संपत्ति हक को ललकारा था, जो औरत को सिर्फ रु.5000/- या उसकी बराबरी की चीज का ही हक देता था। शहनाज शेख ने शरियत के असमान पहलुओं और औरत को जबानी तलाक की परेशानी, दुःख, यातना से मुक्त कराने के लिए उच्च न्यायालय में सार्वजनिक हित की याचिका दर्ज की थी। लता मित्तल और उसकी बहन ने हिंदू बेटियों का वंश परंपरा की संपत्ति में हक के बारे में सुप्रीम कोर्ट में जनहित याचिका दाखिल की थी। इस प्रकार काफी सारे केस निम्न, उच्च और सर्वोच्च अदालत में, निजी कानून के विभिन्न पहलुओं जैसे कि शादी, तलाक, बच्चे का पालन-पोषण पति और पिता के घर में रहने का हक इत्यादि के बारे में न सिर्फ दाखिल किये गये किन्तु उसके बारे में महिला संगठनों ने जबरदस्त रूप से अभियान शुरू किया। नृत्यनाटिका में इसे इन शब्दों में ढाला गया है।

धर्म धर्म के कानूनों ने नारी से अत्याचार किया,
शादी, तलाक, संपत्ति हक से नारी को दुत्कार दिया,
बच्चों का पालन-पोषण करके भी, माता नहीं है पालक,
नैतिकता की दोहरी नीति, औरत की विपदा भयानक

"लता मित्तल, मेरी रॉय, शहनाज अन्याय के खिलाफ ख़ूब लड़ी आवाज उठाई एक साथ सब धर्मों की नारी थी।" 1987 में देवराला में उच्च मध्यम वर्गीय, शिक्षित परिवार की जवान, नवपरणित रूपकुंवर के सती हो जाने की घटना ने सारे देश में कोहराम मचा दिया। पितृसत्ता, व्यापार वृत्ति, तथा स्थानिक स्थापित हितों ने सती के नाम पर पैसा बनाने की नई रणनीति बनाई। इस प्रक्रिया से पर्दाफाश करने के मकसद से नृत्यनाटिका ने सवाल जवाब की पद्धति में संघर्षशील औरत का पितृसत्ता के प्रभाव को ठुकराने की बात उभारी है। लोककला की शैली में सती प्रथा के अर्थकारण, राजकारण और पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था की साजिश का पर्दाफाश किया है।

"हम तुझे देवी बनाएंगे, झटपट सती बन जा रे....
औरत : मुझे वेदी पर नहीं चढ़ना रे, जमीन पर मैं ठीक हूं जी
समाज : तुझे स्वर्ग में स्थान मिलेगा रे, झटपट सती बन जा रे...
औरत : मुझे जलकर नहीं मरना रे, मुझे सती नहीं बनना जी
समाज : तेरे नाम भजन -किर्तन होंगे, झटपट सती बन जा रे...
औरत : मुझे पूजा नहीं रोटी चाहिए, पढ़ूंगी, नौकरी कर लूंगी...
समाज : तू देश में नाम कमाएगी, झटपट सती बन जा रे...
औरत : मेरे नाम से तुम ही कमाओगे, मुझे सती नहीं बनना जी
समाज : तुझे स्वर्ग में स्थान मिलेगा रे, झटपट सती बन जा रे...
औरत : मुझे इज्जत से है जीना रे, धरती पर ही ठीक हूं जी ।"

"नारी इतिहास की तलाश" में इस नृत्यनाटिका में यह बात दिखाई गई थी कि इतिहास 'जर, जमीन, जोरू' के लिए आदमियों की तलवारबाजी, युद्धखोरी और कत्लेआम से नहीं बनता, किन्तु इतिहास व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से समाज के सत्ता संबंध में परिवर्तन लानेवाले आम लोग, मेहनतकश औरतें, पद दलित समाज, खून-पसीने से राष्ट्र निर्माण करनेवाले लोग बनाते हैं। औरतों ने इतिहास निर्माण में योगदान दिया है, उसे अदृश्य रखा गया है। या तो मर्दानी झांसी या तो मर्दानी रजिया सुलतान या तो मर्दानी इंदिरा गांधी तक को पुरुष सत्तात्मक मूल्यों से ही देखा गया है। नारी मुक्ति आंदोलन का नारा है।

हर जोर जुल्म की टक्कर में, संघर्ष हमारा नारा है।
समानता से जिएं तो, भावि इतिहास हमारा है।

आज इस नृत्यनाटिका को पुनःजीवित करके इसमें लिंग जांच परीक्षण के बाद, बेटी के गर्भपात के खिलाफ संघर्ष, संसद-विधानसभा में महिला आरक्षण के लिए महिला संगठनों की जंग, कृषि से जुड़ी महिलाओं का संघर्ष , लश्कर के अत्याचार के खिलाफ जेरोम शर्मिला के अनशन जो गत 20 साल में उभरे हैं, उसे भी जोड़कर एक अच्छी नृत्यनाटिका बन सकती है। इसमें हम भारत की लोककला, लोकसंगीत और लोकनृत्य को समाविष्ट करके नारी की बहुमुखी, संपूर्ण और आधुनिक छवि उभार सकते हैं। भविष्य की पीढ़ी के लिए आदर्श समान, नारी मुक्ति आंदोलन के सबल पहलुओं को उभारना हमारा कर्तव्य ही नहीं किन्तु अनिवार्य आवश्यकता है।

***

आदिवासी महिलाएँ : स्थिति और संघर्ष

संघर्षरत आदिवासी महिला मंच की ओर से प्रस्तुत : प्रमुख पत्र

यह पेपर (पर्चा) भारत के पूर्वी, दक्षिणी तथा अन्य भागों में रहने वाली आदिवासी महिलाओं की स्थिति और उनके संघर्ष को चित्रित करने का एक प्रयास है। पुर्वोत्तर के ज्यादातर राज्यों में आदिवासी आबादी आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए संघर्ष कर रही राष्ट्रीयताओं का रूप ले चुकी है। इसलिए इस पेपर में हमने पूर्वोत्तर की उन आदिवासी महिलाओं की स्थिति और उनके संघर्ष को शामिल नहीं किया है जिन्हे सरकार ने अनुसूचित जनजाति (एस.टी.) का दर्जा दे रखा है।

इस पेपर के तीन खंड हैं। पहले खंड में आदिवासी महिलाओं की उनके पारंपरिक समाजों में स्थिति पर रोशनी डाली गई है। दूसरे भाग में औपनिवेशिक शासकों तथा मौजूदा सरकारों द्वारा बनाए गए कानूनों और अपनाई गई नीतियों का आदिवासी महिलाओं पर पड़े प्रभावों की पड़ताल की गई है। तीसरा भाग आदिवासी महिलाओं द्वारा छेड़े गए अलग-अलग तरह के संघर्षों पर विचार करता है।

आदिवासी समुदाय को आम तौर पर जो समस्याएं झेलनी पड़ती है उसका असर पुरुष और महिला दोनों पर होता है। गरीबी, शोषण, विस्थापन, भूस्वामित्व का हनन, अशिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव आदि ऐसी ही समस्याएँ हैं। हालांकि इन सभी समस्याओं का लैंगिक पहलू भी है (महिला होने के नाते आदिवासी महिलाओं पर इन सभी समस्याओं की मार पुरुषों के मुकाबले थोड़ी ज्यादा तीखी पड़ती है), लेकिन फिर भी इनका सामान्य प्रभाव पूरे आदिवासी समुदाय पर होता है। इसलिए इन समस्याओं को सिर्फ महिलाओं के दृष्टिकोण से देखना अगर ठीक नहीं होगा, तो इन्हें 'सामान्य समस्याएँ' करार देकर अनदेखा करना और सिर्फ पितृसत्तात्मक तथा लैंगिक पूर्वाग्रहों को भी महिलाओं की समस्या मानना भी गलत होगा। इसलिए इस पेपर में हम आदिवासी समाज की स्थिति और संघर्ष का खाका पेश करते हुए उन परिस्थितियों में महिलाओं की अवस्थिति पर विशेष रूप से गौर करेंगे। इस प्रकार हम आदिवासी समाजों की पितृसत्तात्मक परंपराओं तक सीमित न रहते हुए आदिवासी महिलाओं के मौजूदा हालात और उसमें बदलाव के उद्देश्य से छेड़े गए उनके संघर्षों का लगभग समग्रता में चित्रण कर पाएंगे- ऐसी उम्मीद है।

1. परिस्थितियां

आदिवासी समाज देश के सबसे शोषित, पीड़ित और वंचित समुदायों में है। लिंग आधारित पूर्वाग्रहों और अत्याचारों के संदर्भ में आदिवासी महिलाएँ निश्चित रूप से, देश के सबसे ज्यादा पड़ित समूह के रूप में उभरती हैं। देश की समूची आदिवासी आबादी 8.4 करोड़ है। अफ्रीका महाद्वीप से बाहर रहने वाली यह दुनिया की सबसे बड़ी जनजातीय आबादी है। कई जनजातियों की जनसंख्या कम हो रही है और कुछ तो विलुप्त होने की स्थिति में आ गई है।

हालांकि सेक्स अनुपात की बात करें तो जनजातीय समाज बेहतर स्थिति में नजर आते हैं। 1991 की जनगणना के मुताबिक अनुसूचित जनजातियों (एस.टी.) में यह अनुपात 972 था जब कि आम आबादी में यह महज 927 था। लेकिन, गिरावट की प्रवृत्ति इसमें भी है। 1971 की जनगणना में इस समूह का सेक्स

अनुपात 982 था, जो 1991 तक 972 पर आ गया वैसे इसके कारण महिलाओं की अधिक मृत्यु दर और स्वास्थ्य सेवाओं तक उनकी सीमित पहुँच में खोजे जा सकते हैं, फिर भी इससे आदिवासी महिलाओं की स्थिति में गिरावट और इस मुद्दे पर अधिक ध्यान दिए जाने की जरूरत तो रेखांकित होती ही है।

अनुसूचित जनजाति में गरीबी का स्तर भी बहुत ज्यादा है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक 1999-2000 में शहरी क्षेत्रों में 34.75 फीसदी और ग्रामीण क्षेत्रों में 45.86 फीसदी एस.टी. आबादी गरीबी रेखा से नीचे थी। आम आबादी में यह अनुपात 23.62 (शहर) और 27.09 (ग्रामीण) फीसदी था। प्रति व्यक्ति आय के मामले में भी आदिवासी समुदाय लगातार देश के सभी समुदायों से नीचे खड़ा है।

अर्थव्यवस्था में भूमिका :

आदिवासी महिलाएँ अपने समाज की अर्थव्यवस्था के केन्द्र में होती हैं। वे कृषि उत्पादन कार्यों में शामिल होती हैं। जंगल से फल, लकड़ियाँ वगैरह लाती हैं, उपलब्ध हो तो मजदूरी करती हैं (जंगल विभाग से मिलने वाला कार्य या सरकारी परियोजनाओं के कार्य, तेंदू पत्ता, सड़क निर्माण आदि के कार्य) और इन सबके अलावा बच्चों की देखभाल से लेकर पशुओं को चारा देने और बाजार से सामान खरीदने तक का सारा घरेलू कार्य भी खुद ही करती हैं। एक वाक्य में कहें तो जो कार्य उनके लिए निषिद्ध है, उसे छोड़कर आदिवासी महिलाएँ सारे काम करती हैं।

आदिवासी महिलाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों में क्षेत्रों के अनुसार अंतर हो सकते हैं, लेकिन उनकी केन्द्रिय भूमिका सर्वत्र असंदिग्ध है। कई आदिवासी समुदायों में पुरुष एक से अधिक शादियाँ करते हैं ताकि उनकी पत्नियाँ रात-दिन खटते हुए सारा काम निपटाएँ और वे खुद इतमीनान से वैसे जिंदगी गुजार सकें।

हजारीबाग की बिरहौर महिलाएँ खेती से जुड़ा सारा काम करती हैं, पेड़ काटने और जमीन जोतने का भी। वे कंद, मूल, फल-जो खास ऋतुओं में उनका मुख्य भोजन होता है इकट्ठा करने और छोटे जानवरों का शिकार करने में भी पुरुषों का साथ देती हैं। रस्सी बनाना और बाजार से खरीदारी करना भी उनका काम होता है।

मध्यभारत की गोंड जनजातियों जैसे कई समुदायों में महिलाएँ खेती स्थानांतरित करने के लिए पेड़ काटने में तो शामिल होती ही हैं, छोटे पेड़ों को काट कर जमीन साफ करना, खेत जोतना और फसल इकट्ठा करना भी उनकी जिम्मेदारियों में शामिल होता है।

गरीब आदिवासी महिलाएँ सर पर बोझ ढोने के लिए भी जानी जाती हैं। वे कठिन स्थितियों में भीलों पैदल चल कर लकड़ियाँ इकट्ठा करती हैं, चारा एकत्र करती हैं, पत्तियाँ चुनती हैं, शराब बनाती हैं। एकरसता, कड़ा शारीरिक श्रम, परेशानी और शोषण- जैसे इनके दैनिक कार्यों की सामान्य विशेषता नजर आती है। आदिवासी क्षेत्रों में शराब व्यवसाय में महिलाओं की भागीदारी काफी ज्यादा है। यह स्थिति पहली नजर में विरोधाभासी प्रतीत हो सकती है, खासकर तब जब हम आदिवासी महिलाओं को मर्दों की शराबखोरी से उपजी समस्याओं से त्रस्त पाते हैं। लेकिन, अगर इन महिलाओं के सामने उपलब्ध अजीविका के सीमित साधनों तथा उनके अस्तित्व के सवाल पर गौर किया जाय तो यह बात आश्चर्यजनक नहीं लगती कि आदिवासी महिलाओं ने शराब के व्यापार को अपना ही नहीं लिया बल्कि उस पर कब्जा कर लिया है। कुछेक मामलों

में जहाँ आदिवासी महिलाओं को रोजगार मिला हुआ है, वहाँ भी लिंग आधारित भेदभाव के चलते उनकी आर्थिक स्थिति कमजोर बनी रहती है। ऐसे भेदभाव सिर्फ निजी ठेकेदार ही नहीं करते, सरकारी विभाग में भी पुरुषों के मुकाबले महिलाओं को कम मजदूरी देते हैं।

सभी जनजातियों में खेतों में थोड़ा अनाज छोड़ दिए जाने की प्रथा है। ये छोड़े गए अनाज अविवाहित लड़कियाँ इकट्ठा करती हैं। इस अनाज से होने वाली पूरी आमदनी इन लड़कियों की होती है। खुद इकट्ठा किए गए जंगली उत्पादों से होने वाली आय भी उस व्यक्ति की अपनी होती है।

आदिवासी महिलाएँ शहरों में असंगठित क्षेत्र में मजदूरी करती हैं। भवन निर्माण, उद्योग, खदानों के पास के सहयोगी उद्योग, स्टील प्लांट वगैरह के पास-पड़ोस के लघु (सहयोगी) उद्योग में भी उनका शोषण होता है। महिला होने के नाते वे यौन शोषण की शिकार बनती हैं। बड़े चाय बगान, कॉफी व रबड़ प्लांटेशन (वृक्ष रोपन) में भी आदिवासी महिलाएँ काम करती हैं।

भूमि अधिकार :

आदिवासी आबादी के आधे हिस्से के पास कोई जमीन नहीं है, है भी तो नाम मात्र की। 1991 की जनगणना के मुताबिक एस.टी. आबादी का 42 फीसदी हिस्सा मुख्यत: श्रमिक है। इसका 54.5 प्रतिशत कृषक हैं और 32.7 प्रतिशत खेतिहर मजदूर। इस प्रकार मूलत: मजदूर एस.टी. आबादी का 87 प्रतिशत हिस्सा कृषि पर निर्भर है। एस.टी. समुदाय के जिस हिस्से के पास अपनी भूमि है, उसका 42.9 प्रतिशत सीमांत किसानों का है। 24.1 प्रतिशत हिस्सा छोटे किसानों की श्रेणी में आता है, जिसके पास एक से दो हेक्टेयर जमीन होती है। एस.टी. समुदाय के सिर्फ 2.2 प्रतिशत लोग ऐसे हैं जिनके पास 10 हेक्टेयर से अधिक जमीन है। लेकिन, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्यादातर क्षेत्रों में, अधिकांश जनजातियों में आदिवासी महिलाओं को जमीन पर मालिकाने का अधिकार हासिल नहीं है। आदिवासी परिवार मुख्यत: महिलाओं के श्रम से चलते हैं, लेकिन फिर भी, जमीन और अन्य संसाधनों पर पहला अधिकार परिवार के पुरुषों का होता है। वैसे रिवाजों के रूप में प्रचलित परंपरागत कानूनों ने आदिवासी महिलाओं को कुछ हद तक अधिकार प्रदान किए हैं। ब्रितानी शासक गौरजर द्वारा 1922 से 1935 के दौरान संथाल परगना पर तैयार की गई एक रिपोर्ट के मुताबिक (जिसे गौरजर सेटलमेंट रिपोर्ट कहते हैं) संथाली आदिवासी कानून भूमि के उत्तराधिकार का हक केवल पुरुषों को देता है। पिता की मृत्यु के बाद जमीन पर बेटों का संयुक्त अधिकार होता है। अविवाहिता बेटी का अचल संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं बनता। अगर पुरुष रिश्तेदार हैं तो किसी विधवा का अपने मृत पति की संपत्ति पर कोई दावा नहीं बनता है। हाँ, अगर कोई विधवा दोबारा शादी नहीं करती तो गुजारा भत्ता पाने का उसका हक बरकरार रहता है। संथाल आदिवासियों के परंपरागत कानूनों में भी एकरूपता नहीं है। विभिन्न क्षेत्रों ही नहीं, गाँवों के आधार पर भी इनमें काफी अंतर देखा जा सकता है।

कुछ संगठनों की मांग है कि हिंदू पर्सनल लॉ को आदिवासियों पर भी लागू किया जाए ताकि बहुपत्नी प्रथा गैरकानूनी हो जाए और महिलाओं को उत्तराधिकार में संपत्ति पर अधिकार हासिल हो । मगर, मौजूदा राजनीतिक हालात में यह मांग अंतत: आदिवासियों के हिंदूकरण अभियान का ही एक हिस्सा बन उसे मजबूती प्रदान करेगी। आदिवासी महिलाएँ अपने समाज की परंपराएँ बदलने की लड़ाई लड़ रही है और इसी प्रक्रिया में उन्हें अधिकार हासिल होगा।

शिक्षा: सर्वशिक्षा अभियानों, आश्रम स्कूलों, मिड डे मील स्कीमों (मध्यान भोजन योजना) आदि संबंधी तमाम प्रचारों के बावजूद स्कूल जाने और कम से कम प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर लेने वाले आदिवासी बच्चों की संख्या काफी कम है। स्कूल जाने वाली एस.टी. लड़कियों की संख्या तो और कम है। 1991 की जनगणना के मुताबिक आदिवासी समाज में महिला साक्षरता का स्तर (18.2%) पूरे देश में महिला साक्षरता के स्तर(39.2%) से कहीं नीचे था। 2001 की जनगणना में आदिवासी समाज में महिला साक्षरता का स्तर बढ़ कर 28.36% तक पहुँच गया। महिला साक्षरता के साथ ही पूरे आदिवासी समाज का साक्षरता स्तर भी बढ़ा है, लेकिन इसकी वृद्धि दर देश की आबादी के साक्षरता स्तर तथा महिला साक्षरता स्तर में हो रही बढ़ोतरी की दर से कम है। 11 राज्यों (अब 13) के चिह्नित किए गए 136 जिलों में आदिवासी महिला साक्षरता 1991 की जनगणना के एक तरफ पूर्वोत्तर के राज्य हैं जहाँ एस.टी.महिला साक्षरता का स्तर काफी ऊँचा है तो दूसरी तरफ ऐसे राज्य हैं जहाँ यह स्तर बेहद नीचे है। उदाहरण के लिए राजस्थान के जालोर जैसे जिलों में आदिवासी महिला साक्षरता स्तर 0.6 फीसदी है जबकि मिजोरम के ऐजवाल जिले में यह स्तर 85.7 प्रतिशत है। (1991 की जनगणना)

उच्च शिक्षा प्राप्त करने या व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेने वाली आदिवासी महिलाओं की संख्या नगण्य है। 2001 में पूरे भारत में स्नातक आदिवासी महिलाओं की संख्या थी- एक लाख 20 हजार।

1990-91 से 1999-2000 के दौरान एस.टी. बच्चों (बालक और बालिकाएँ दोनों) के स्कूलों में नामांकन के मामले में तेजी की रफ्तार काफी अच्छी रही। हालांकि बाद में स्कूल छोड़ने की समस्या एस.टी. और सामान्य दोनों श्रेणियों के बच्चों में आम रही। इसमें भी एस.टी. श्रेणी में यह समस्या ज्यादा गंभीर रूप में है।

केन्द्र सरकार तथा कई राज्य सरकारों का आदिवासियों के प्रति रवैया इस बात से समझा जा सकता है कि आदिवासी भाषाओं में प्राथमिक शिक्षा की भी शुरुआत नहीं की जा रही है, जबकि संस्कृत की शिक्षा पर करोड़ों खर्च किए जा रहे हैं। गोंड, संथाल, भील जैसे आदिवासी समुदायों की आबादी लाखों में होने के बावजूद राज्य सरकारें आदिवासी भाषाओं में शिक्षण की व्यवस्था नहीं कर रही है जिससे इन समुदायों के लोगों को मजबूरन उस राज्य की अधिकारिक भाषा में ही शिक्षा लेनी पड़ती है।

स्वास्थ्य:

स्वास्थ्य किसी भी-समुदाय की स्थिति दर्शाने वाला महत्त्वपूर्ण कारण है। आमदनी और मानव संसाधन दोनों लिहाज से गरीबों में भी सर्वाधिक गरीब समुदाय होने के कारण आदिवासी आबादी को सस्ती, सुगम और कुशल स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया कराए जाने की जरूरत स्वतः सिद्ध है। लेकिन वास्तविकता एकदम अलग है।

भारत में आदिवासी महिलाओं की स्वास्थ्य दशा पर ठीकठाक दस्तावेज भी उपलब्ध नहीं है। ज्यादातर अध्ययन आधे-अधूरे ढंग से किए गए हैं। इनमें आदिवासी महिलाओं के स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले कई महत्त्वपूर्ण कारक जैसे सेक्स अनुपात, महिला साक्षरता, विवाह प्रथाएँ, विवाह की उम्र, पहली बार माँ बनने की उम्र, औसत उम्र आदि गायब हैं।

उदाहरण के लिए आंध्र प्रदेश में आदिवासी आबादी के 50 फीसदी को पेय जल उपलब्ध नहीं है, 70 फीसदी के पास बिजली कनेक्शन नहीं है और 75 प्रतिशत तक सड़कें नहीं पहुँची है। हालांकि आदिवासी शिक्षा और स्वास्थ्य के नाम पर निजी ठेकेदारों को 50 करोड़ रुपये आबंटित किए गए, लेकिन हजारों

आदिवासी भूख, कुपोषण और बीमारियों के शिकार हैं। उड़ीसा में आदिवासी विकास के लिए आवंटित 680 करोड़ रुपये खर्च नहीं किए गए।

गरीबी लाचारी और अब स्वास्थ्य सुविधाओं में हो रही लगातार कटौती के नतीजों की झलक आदिवासी महिलाओं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की दयनीय स्थिति में दिखती है। 21वीं सदी में भी गर्भधारण आदिवासी महिलाओं की जिंदगी के लिए एक खतरनाक घटना है। एनीमिया (रक्त की कमी) इन महिलाओं के लिए साधारण बात है और कुपोषण तो आम है। 2005 में कुपोषण से हुई मौतों पर महाराष्ट्र में हुए बवाल से यह तथ्य सामने आया कि आदिवासी क्षेत्रों में शिशु मृत्यु दर (आई एम आर) प्रति एक हजार जन्मों पर 80 थी और इन मौतों में 50 फीसदी नवजात बच्चों की थी। रिपोर्ट में बताया गया कि सिर्फ महाराष्ट्र के आदिवासी क्षेत्रों में हर साल 23500 बच्चे अकाल मौत के शिकार हो जाते हैं। आंध्रप्रदेश में भी आईटीडीए क्षेत्रों में 80 प्रतिशत प्रसूति घरों में कराई जाती है। शिशु मृत्यु दर प्रति 1000 जन्मों पर 165 थी, जबकि आम आबादी के लिए यह दर 92 प्रति 1000 है। आईटीडीए क्षेत्रों के 55 फीसदी बच्चे कम वजन वाले हैं। केरल जैसे कथित अग्रणी राज्य में भी पलक्काड जिले के एक आदिवासी प्रखंड में शिशु मृत्यु दर प्रति 1000 जन्मों पर 66 है। उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले में सिर्फ एक माह में 19 एस.टी. बच्चे कुपोषण से मौत का शिकार हो गए। सीधे शब्दों में कहें तो वे भूख से बिलबिला कर मर गए। उन मृत बच्चों को जन्म देने वाली महिलाओं के दुख का अंदाजा लगाया जा सकता है। ये तथ्य मीडिया के एक हिस्से द्वारा उठाए गए हैं, लेकिन हम यहाँ जिस बात पर जोर देना चाहते हैं वह यह है कि ऐसी स्थिति किसी और वजह से नहीं बल्कि सरकारी नीतियों की वजह से बनी है। आंगनवाड़ी के जरिए खिचड़ी खिलाने जैसी योजनाएँ शुरू करवाने जैसे छिटपुट प्रयास आदिवासी क्षेत्रों की सामाजिक, आर्थिक स्थितियों में खास बदलाव नहीं ला सकते। (कहने की जरूरत नहीं कि इन योजनाओं में भी भ्रष्टाचार का बोलबाला रहता है।)

आदिवासी आबादी के स्वास्थ्य से जुड़े आँकड़े बताते हैं कि यहाँ प्रसूति के दौरान होने वाली मौतों का प्रतिशत (8 से 25 प्रति 1000) अन्य विकसित क्षेत्रों के मुकाबले दोगुनें से भी ज्यादा हैं। हालांकि विभिन्न आदिवासी समूहों में प्रसूति मौतें ज्यादा होने की सूचनाएँ होने के बावजूद कोई सटीक आँकड़ा उपलब्ध नहीं है। इन मौतों का मुख्य कारण प्रसूति की प्राचीन और अस्वास्थ्यकर विधि को पाया गया है। अपरिपक्व मृत्यु दर (क्रूड डेथ रेट्स) भी काफी ऊँची है। इन हालात के लिए जो दो मुख्य कारक जिम्मेदार हैं वे हैं पर्याप्त स्वास्थ्यप्रद भोजन का अभाव और स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुँच न होना। गर्भधारण की अवधि में और प्रसूति के बाद बरती जाने वाली सावधानियाँ तो नदारद ही रहती हैं। ग्रामीण और आदिवासी महिलाओं पर काम का बोझ बहुत ज्यादा होता है। ऐसे में एनीमिया उनके शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य पर गहरा असर डालता है। चिकित्सकीय अध्ययन बताते हैं कि आदिवासी महिलाएँ साँस फूलने (दमा) आँत में खराबी तथा अन्य अनेकानेक स्त्री रोगों से पीड़ित रहती हैं। स्त्री जननांगों में संक्रमण की शिकायतें भी व्यापक हैं। ये संक्रमण प्रसूति, गर्भपात और मासिक धर्म के दौरान बरती जाने वाली असावधानियों तथा अस्वास्थ्यकर दशाओं से संबंधित हैं।

अंडमान और निकोबार द्वीप समूह की अनेक लुप्तप्राय जनजातीय आबादी के कुछ हिस्सों में हेपेटाइटिस बी इन्फेक्सन का बढ़ा हुआ स्तर चिकित्सकीय तथा सामाजिक हलकों में चिंता का कारण बना हुआ है। भारत की सामान्य आबादी में जहाँ इसका स्तर चार से पाँच फीसदी है, वहीं इन आदिवासी आबादियों

में यह स्तर 20 प्रतिशत से भी अधिक है। कालाहांडी-बोलंगीर-कोरापुर (केबीके) क्षेत्रों में कुपोषण से हुई मौतों के मुख्य कारण हैं सार्वजनिक वितरण प्रणाली की दरों से भोजन खरीदने लायक शक्ति न होना और संपूर्ण सरप्लस खाद्यान्न की बिक्री। पश्चिम बंगाल में कोयला खानिया गरीब संथाली आदिवासी पुरुषों तथा महिलाओं को नियुक्त कर उनसे खुली खदानों से अवैध तौर पर कोयला निकलवाते हैं। इससे स्वास्थ्य पर गंभीर दुष्प्रभाव पड़ते हैं। दुर्घटनाएँ और असामयिक मौतें यहाँ आम हैं।

टीपीडीएस के जरिए खाद्यान्न आपूर्ति का अभाव तो आदिवासियों की दु:स्थिति के लिए जिम्मेदार है ही, रही-सही कसर यह तथ्य पूरी कर देता है कि जंगल पर उनका शिकार नहीं रहा। जंगल से उन्हें तरह-तरह के भोजन मिल जाते थे। शिकार पर प्रतिबंध का मतलब है स्वास्थ्यप्रद मांस की आपूर्ति कम हो जाना और नकदी फसलें लगाने का मतलब है कि खाद्यान्न की उपलब्धता कम हो जाना। निहित स्वार्थी तत्वों द्वारा बड़ी संख्या में पेड़ काटे जाने से जंगल विरल तो हुए ही हैं, इसका एक परिणाम यह हुआ है कि अब आदिवासी महिलाओं को ईंधन तथा अन्य जंगली उत्पादों के लिए पहले के मुकाबले काफी ज्यादा दूरी पैदल तय करनी पड़ती है। गर्भ के आखिरी महीनों में भी उन्हें कड़ी मेहनत करनी पड़ती है और काफी पैदल चलना पड़ता है। इस प्रकार उनके काम का बोझ बढ़ गया है। भूख और कुपोषण की समस्या इन क्षेत्रों में फैली विषमता और आजीविका पर मंडराते खतरों से साफ तौर पर जुड़ी है। काम के बदले भोजन और मुफ्त भोजन जैसी योजनाएँ तात्कालीक राहत तो दे सकती है, लेकिन ये समस्या का स्थायी समाधान नहीं है।

आंध्रप्रदेश की आदिवासी महिलाओं का मुद्दा सभी पिछड़े वन क्षेत्रों का प्रतीक बन चुका है। यहाँ के एकीकृत आदिवासी विकास एजेंसी (आई.टी.डी.ए) क्षेत्रों में हर महीने 312 आदिवासी असामयिक मौत का शिकार होते हैं। इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन मलेरिया नि:संदेह इन मौतों का एक बड़ा कारण है। अगर एक बीमारी से कोई बच जाता है तो दूसरी बीमारी उसका इंतजार कर रही होती है। पहली बीमारी से उपजी कमजोरी से जो थोड़ी बहुत कसर रह जाती है, उसे गरीबी और कुपोषण पूरी कर देते हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसे में शरीर की प्रतिरोध क्षमता आनेवाली बीमारी के कीटाणुओं से लड़ने लायक नहीं रह जाती।

गरीबी के कारण वे बीमार होने पर भी डॉक्टर के पास नहीं जा पाते। प्रसूति के दौरान होनेवाली मौतों की दर करीब 25 फीसदी है और शिशु मृत्यु दर (आई.एम.आर.) प्रति 1000 पर 165, जो कि पूरे राज्य के औसत (प्रति 1000 पर 95) से कहीं ज्यादा है। पाँच साल से कम उम्र के शिशुओं की मृत्यु दर भी बहुत ज्यादा है, करीब 50 प्रतिशत । 80 फीसदी बच्चे एनीमिया से पीड़ित होते हैं और 55 प्रतिशत का वजन कम होता है। लगभग सभी आदिवासी लड़कियों का मासिक धर्म शुरू होने की उम्र तक विवाह हो जाता है और वे बहुत कम उम्र में माँ बन जाती हैं।

माँ और शिशु के स्वास्थ्य को लेकर बरती जानेवाली सावधानियों की दृष्टि से विभिन्न आदिवासी समूह (जैसे-बस्तर आदिवासी समूह, उड़ीसा के कुटिया कोध, संथाल, जॉनसरी, खरिया आदि) काफी लापरवाह दिखते हैं। गर्भधारण के दिन से लेकर प्रसूति तक महिलाएँ किसी प्रकार का खास स्वास्थ्यप्रद भोजन नहीं लेती। इसके विपरीत कुछ गर्भवती आदिवासी महिलाएँ (जैसे-दुधखरिया संथाल) तो गर्भधारण के बाद खाना कम कर देती हैं। कारण एक तो उल्टी का डर और दूसरा यह सोच कि अगर वे खाना कम खाएंगी तो शिशु छोटा होगा और प्रसूति आसान होगी। आदिवासी समूहों में शिशु टीकाकरण का प्रचलन भी कम है। सिकलसेल और एनीमिया जाति तथा जनजाति के लोगों (पुरुष तथा महिला दोनों) में बड़े पैमाने पर पाई जाती है।

समुदाय के अंदर पितृसत्तात्मकता

हालांकि जातिवादी सामंती भारतीय समाज के मुकाबले आदिवासी समाज की महिलाएँ अर्थव्यवस्था में अपनी केन्द्रीय भूमिका के कारण कई दृष्टियों से बेहतर स्थिति में हैं, फिर भी यह किसी भी प्रकार से आदर्श स्थिति नहीं है। वास्तव में आदिवासी पितृसत्तात्मक प्रथाएँ और व्यवहार महिलाओं का इतना शोषण करते हैं कि मध्य भारत के बस्तर तथा गड़चिरोली में कई महिलाओं ने इस शोषण से तंग आकर आत्महत्या कर ली, जबकि आत्महत्या की प्रवृत्ति आदिवासियों के बीच आम नहीं है। इतना ही नहीं उन्हें बाहरी समाज के पितृसत्तात्मक प्रभावों का भी शिकार होना पड़ता है। व्यापारी, ठेकेदार, सरकारी कर्मचारी और पुलिस जैसे 'बाहरी तत्व' आदिवासी महिलाओं का यौन शोषण करते हैं। मध्य भारत के क्षेत्रों की जो आदिवासी महिलाएँ आत्महत्या को प्रवृत्त होती थीं, अब क्रांतिकारी आंदोलन और अन्य जनआंदोलनों के प्रभाव में आकर वे जान हथेली पर लेकर जहाँ अपने समाज के पितृसत्तात्मक ढांचे को बदलने का प्रयास कर रही है, वहीं 'बाहरी प्रभावों' का मुकाबला करते हुए अपने पुरुषों को भी उन बुराईयों से बचा रही है।

पितृसत्ता के स्वरूप :

चूंकि आदिवासी अलग-अलग जनजातियों के होते हैं और वे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे रहते हैं। इसलिए उनके रस्म-रिवाज और प्रथाओं में भी अंतर होता है। इसलिए पितृसत्ता के स्वरूप भी अलग-अलग हो सकते हैं। मूलतः भूस्वामित्व से वंचित रखा जाना और सामुदायिक गतिविधियों तथा धार्मिक अनुष्ठानों में सीमित भूमिका दिया जाना अधिकतर जनजातियों में महिलाओं के प्रति भेदभाव का प्रमुख रूप है। पितृसत्तात्मक का एक और आम रूप है गोदना। इसके अलावा डायन घोषित करने, अनेक पत्नियाँ रखने और शराब का सेवन करने जैसी समस्याएँ भी प्रायः सभी समुदायों में हैं।

झारखंड के बिरहोर समुदायों में जंगली जानवरों का शिकार और घने-जंगल में जाना महिलाओं के लिए मना है। मासिक धर्म के दौरान महिलाएँ शिकार के औजारों को नहीं छू सकतीं। मुंडा हो, सांव, खड़िया जनजातियों में पुरुष घर की सफाई करने, खाना बनाने ओर बच्चों की देखभाल करने जैसे घरेलू कामकाजों में नियमतः शरीक नहीं होते। वे काम ये तभी करते हैं जब महिला बीमार हो या किसी अन्य कारण से काम करने में असमर्थ हो तथा मुंडा समुदायों में महिला हल को छू भी नहीं सकती। गलती से कहीं कोई महिला उसे छू न दे, इसलिए हल को घर से बाहर रखा जाता है। संथाल, उरांव और खसिया जनजातियों में ऐसी रोक नहीं है। अक्सर इन जनजातियों की महिलाएँ हल, लेकर खेतों तक जाती हैं पर वे इसे कंधे पर नहीं रखतीं। (महिलाओं को कंधे पर बोझ ढोने की इजाजत नहीं है। वे 'कैरींग पोल' का इस्तेमाल भी नहीं कर सकतीं- मुंडा को छोड़कर) मुंडा समुदाय की महिलाएँ 'कैरींग पोल' का इस्तेमाल कर सकती हैं, लेकिन वे बैलों से लगे हल को नहीं छू सकती। संथाल और अन्य आदिवासी महिलाएँ छतों पर छप्पर नहीं डाल सकती। वे न धनुष बाण चला सकती हैं, न रेजर का इस्तेमाल कर सकती हैं और न कुल्हाड़ी चला सकती हैं। यहाँ तक कि वे काँटे से मछली भी नहीं मार सकतीं। न वे कपड़ा बुन सकती हैं और न खाट में रस्सी लगा सकती हैं।

मुंडा समुदाय में महिलाओं को हथियार छूने या उनका प्रयोग करने में कोई रोक नहीं है। हालांकि वे इन्हें पैर नहीं लगा सकतीं। लेकिन, ज्यादातर जनजातियों में महिलाओं के हथियार संचालन पर किसी-न-किसी प्रकार की रोक है। प्रायः उन्हें खास आयोजनों के दौरान ही हथियार रखने की छूट होती है। पितरों

को चढ़ाने वाले बलि के मांस भी उन्हें किंतु-परंतु के साथ उपलब्ध हो पाते हैं। वे आयोजन के कुछ हिस्सों में शरीक हो सकती हैं और मांस का भी कुछ हिस्सा उन्हें खाने को दिया जाता है, पर सबसे महत्त्वपूर्ण भाग खानी सार महिलाओं के लिए निषिद्ध होता है। पारंपरिक मुंडा परिवार में रस्सियों की टोकरी बनाना, उनमें अनाज भरना और फिर निकालना मर्दों का ही काम होता है। संथालों में मासिक धर्म के दौरान महिलाएँ सब्जियों के बाग में नहीं जा सकतीं, न ही आचार बना सकती हैं।

आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र के गोंड समुदाय में शिकार किये गये जानवरों के खास हिस्से और अण्डे खाना महिलाओं के लिए निषिद्ध है। महिलाएँ हल जोतने सहित खेती से जुड़ा सारा काम करती हैं, लेकिन अनाजों के भंडार घर में प्रवेश नहीं कर सकतीं। मगर उनकी सबसे गंभीर समस्या है, जबरन विवाह। शराब के आदी पिता अक्सर बेटियों को विवाह में देना मंजूर कर लेते हैं। इसके अलावा कई बार युवक उनका अपहरण करके भी उनसे शादी कर लेते हैं। कुछ लड़कियाँ भाग जाती हैं, लेकिन उसके बाद उनकी जिंदगी कठिन हो जाती है। मासिक धर्म के दौरान उन्हें तरह-तरह के भेदभाव और अपमान का सामना करना पड़ता है। उन्हें गाँव के बाहर छोटे झोपड़े में रखा जाता है जहाँ उन्हें टूटे बर्तनों में खाना बनाना पड़ता है।

बेटियों की बजाय बेटे पाने की उत्कट लालसा न होने का यह मतलब नहीं है कि बेटे और बेटी में कोई भेदभाव नहीं होता। भोजन के मामले में भेदभाव न होता हो, लेकिन लड़कों को खेलने का ज्यादा वक्त मिलता है, जबकि लड़कियों को छोटी उम्र से ही पारिवारिक श्रम में अपना योगादान देना पड़ता है। यह भेदभाव शिक्षा के मामले में सबसे स्पष्ट नजर आता है। बाहरी समाज से संपर्क की प्रक्रिया में सांस्कृतिक टकराव भी होता है। सिंहभूम की हो महिलाएँ नियमित यौन संबंध को विवाह के रूप में लेती हैं जबकि गैर आदिवासी उन्हें रखैल मानते हुए उनका यौन शोषण कर रहे होते हैं। ऐसी महिलाएँ जब अपने गाँव लौटती हैं तो बहिष्कृत हो जाती हैं खासकर तब जब पूर्ण संबंध की निशानी के रूप में उनके साथ बच्चा भी हो। अपने समाज में बहिष्कृत महिला न तो खेत जोतने में किसी की मदद ले पाती है न छप्पर डलवाने में। (दोनों कार्य महिलाओं के लिए निषिद्ध हैं।) उसे आवश्यक रस्में निभाने में भी मदद नहीं मिलती। यहाँ तक कि अकाल की स्थिति में उसे अनाज लोन भी नहीं मिलता।

आदिवासी समाज खासकर इसका ऊपरी हिस्सा जो हिंदू जातिवादी समाज के संपर्क में आता है, अपना स्तर ऊँचा करने के प्रयासों के तहत इसके मूल्यों को अपनाने की कोशिश करता है। हालांकि आज भी वैवाहिक बातचीत के दौरान दुल्हन मूल्य (ब्राइड प्राइस) एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा होता है; लेकिन दहेज का प्रचलन भी बढ़ता जा रहा है। ऐसे संक्रमणों का दुष्प्रभाव विवाहित महिलाओं की स्थिति पर भी पड़ता है। तलाक और पुनर्विवाह पहले की तुलना में ज्यादा मुश्किल हो जाते हैं। विवाहेत्तर संबंधों से हुए बच्चे अब 'नाजायज' समझे जाने लगते हैं। हिंदू किसान परिवारों की तरह आदिवासी मर्द भी अपनी बहू-बेटियों को घर की चहारदीवारी के अंदर रखना ही बेहतर मानने लगे हैं। बहु पत्नी का प्रचलन आज भी बहुतायत में है। संथाली पारंपरिक नियमों के मुताबिक कोई पुरुष एक साथ पाँच पत्नियाँ रख सकता है। अगर वह किसी भी रूप में अपनी किसी पत्नी से असंतुष्ट है तो उसे आसानी से घर के बाहर फेंक सकता है। चूंकि उस पत्नी के अपने नाम से कहीं कोई जमीन नहीं होती, घर से निकाले जाने पर उसकी स्थिति बहुत कमजोर हो जाती है। बच्चों पर उसका अधिकार भी पूर्ण नहीं है। कुछ जनजातियों में अगर कोई महिला दोबारा शादी करती है तो वह अपने बच्चों को साथ नहीं ले जा सकती है।

हाल के वर्षों में जमीन की भूख के चलते पुरुष रिश्तेदारों द्वारा उन महिलाओं की जमीन पर जबरन

कब्जे की घटनाएँ बढ़ी हैं जिनका कोई भाई नहीं। देवरों द्वारा विधवा भाभियों को घर से निकाले जाने के मामले भी बढ़े हैं।

काम की खोज में पुरुषों के बाहर जाने की घटनाएँ, एक से अधिक पत्नी रखने का विकल्प, महिलाओं का जमीन तथा अन्य संसाधनों पर अधिकार न होना- ये तमाम कारक मिल कर ऐसी परिस्थितियाँ बनाते हैं, पत्नियों को छोड़ा जाना एकदम सामान्य हो गया है। साफ है कि आदिवासी महिलाओं के लिए भूमि पर अधिकार सिर्फ आर्थिक मुद्दा नहीं है। इसके गहरे सामाजिक निहितार्थ हैं।

डायन बताना

डायन बताए जाने के पीछे असली मकसद उस महिला को खत्म कर उसकी जमीन हथियाना होता है। संथालों में जमीन पर विधवाओं का दावा अपेक्षाकृत मजबूत होता है, इसलिए वहाँ डायन सिर्फ महिलाएँ होती हैं। मुंडा, उरांव और हो जनजातियों के बीच डायन महिला और पुरुष दोनों हो सकते हैं।

डायन करार देना वर्गीय और लैंगिक उत्पीड़न का औजार है। इसके जरिए भोले-भाले आदिवासियों का इस्तेमाल संपत्तिवान तबका अपने घृणित स्वार्थों की पूर्ति के लिए करता है। हालांकि जादू-टोना करने के संदेह में कभी-कभी पुरुषों पर भी हमले होते हैं, लेकिन आम तौर पर इसका शिकार महिलाएँ वह भी गरीब, आदिवासी, अविवाहित, विधवा, अपाहिज, निःसंतान ही ज्यादा होती हैं। अध्ययन बताते हैं कि डायन बताये जाने की घटनाओं के साथ प्रायः निरपवाद रूप से कोई न कोई महत्त्वपूर्ण आर्थिक कारण जुड़ा होता है। यह आर्थिक कारण ज्यादातर भूमि स्वामित्व से संबंधित होता है। जब भी परिवार के किसी पुरुष या समुदाय के अन्य पुरुषों की नजर किसी विधवा की जमीन पर गड़ती है तो ओझा उस महिला को डायन घोषित कर देते हैं। ओझा की बातों में आकर भीड़ उस कथित डायन पर हमला करती है या तो उसे मार डालती है या उसकी ऐसी गत बना देती है कि अगले कुछ दिनों तक वह कुछ करने की स्थिति में नहीं रह जाती। हमले में कथित डायन के कपड़े उतारने, परेड कराने, मुँह पर कालिख पोतने, चाकू से वार करने, दाँत तोड़ने और जिंदा दफना देने तक की घटनाएँ होती हैं। हमले के बाद होने वाला सामाजिक बहिष्कार और ज्यादा मारक होता है।

ओझाओं की शक्ति के कारण सिर्फ अंधविश्वास नहीं है। उन्हें स्थानीय निहित स्वार्थों का तगड़ा समर्थन हासिल रहता है। इसके अलावा सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ भी उनकी ताकत बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध न होने की वजह से बीमारियों के चंगुल में फंसे आदिवासियों को ओझाओं के पास ही जाना पड़ता है।

बीमारियों के असली कारणों की जानकारी न होने के कारण वे ओझा की बातों को आसानी से यकीन कर लेते हैं, खासकर तब जब वह ओझा किसी असहाय विधवा की ओर उंगली उठाता है। पुलिस भी ओझाओं तथा भू-स्वामियों का ही पक्ष लेती है। प्रशासन की भूमिका नाम मात्र की होती है।

केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने इस बुराई पर अंकुश लगाने के लिए करीब-करीब कुछ नहीं किया है। महिला तथा लोकतांत्रिक संगठनों के दबाव के चलते बिहार में झाड़-फूंक, तंत्र-मंत्र आदि पर रोक लगाने के लिए 'प्रिवेंशन ऑफ विच प्रैक्टिसेज एक्ट 1999' पारित किया गया। (इसीसे अंदाजा लग जाता है कि यह समस्या कितना गंभीर रूप ले चुकी है। सिर्फ झारखण्ड में हर साल 200 महिलाएँ इस प्रकार मारी जाती हैं। आंध्रप्रदेश, असम और अन्य आदिवासी बहुल राज्यों से नियमित रिपोर्ट आती है।)

दूसरी तरफ 22 सितंबर 2003 को पटना में एक समारोह में तत्कालीन केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री संजय पासवान ने 51 ओझा-गुनियों को सम्मानित किया। उन्होंने यह घोषणा करने की भी हिम्मत की कि वे ओझा-गुनियों के अनुभवों पर आधारित पाठ्यक्रम स्कूलों में शुरू कराने पर गंभीरता से विचार कर रहे हैं क्योंकि 'वही लोग हैं जो बुरी आत्माओं से गांवों को बचाते हैं।' बेशक राजग सरकार को यह स्थिति काफी सुविधाजनक लगी कि ये अंधविश्वास बने रहे ताकि आदिवासी क्षेत्रों में भगवाकरण की प्रक्रिया तेज करने में राजग की प्रमुख घटक भाजपा को आसानी हो।

1991 के बाद से एक के बाद दूसरी सरकारों द्वारा अपनाई गई उदारीकरण नीति के चलते स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति बद से बदतर होती गई। इसलिए यह दावा गलत नहीं होगा कि इन हालात के लिए शासक वर्ग प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार है।

कानून, नीतियां और उनके प्रभाव

आदिवासी संसाधनों की दृष्टि से समृद्ध ऐसे क्षेत्रों में रहते हैं जो प्रशासनिक तौर पर उपेक्षित रहे हैं। ये क्षेत्र जंगल, पानी खदान और उर्वर भूमि से भरपूर हैं। देश के कुल वन का 70 प्रतिशत, कोयले का 90 प्रतिशत और खदानों का आधे से भी ज्यादा हिस्सा इन्हीं क्षेत्रों में स्थिति है।

आदिवासियों का उत्पीड़न और शोषण तथा वन संसाधनों का दोहन ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दिनों से ही हो रहा है। जो आदिवासी जंगल को अपना प्राकृतिक अधिकार समझते थे, उन्हीं के वन संसाधनों के इस्तेमाल पर पाबंदियां लगा दी गई। ब्रिटिश शासकों ने जंगल को अपनी संपत्ति समझकर हर चीज पर कर लगा दिया। जमीन, पानी, टिंबर और अन्य जंगली उत्पाद कुछ भी इससे न बचा। ब्रिटिश शासनकाल में ही गैर आदिवासियों का बड़े पैमाने पर आदिवासी क्षेत्रों में जाना शुरू हुआ। चूंकि भू-राजस्व नकदी में देना होता था, इसलिए आदिवासी नकदी जुटाने के लिए सूदखोर महाजन पर निर्भर करने लगे। उनका श्रम एक उत्पाद बन गया जिसे वे ब्रिटिश सरकार के हाथों या खदानों में सड़क तथा रेलवे की परियोजनाओं में बेचने को मजबूर हो गए थे। इससे भी बुरी बात यह हुई कि कुछ आदिवासी समुदाय अपराधी करार दिए गए। 'क्रिमिनल ट्राइब्स' (अपराधी जनजातियों) शब्द का प्रयोग उन्हीं दिनों से शुरू हुआ जिसे हमारे शासक आज भी पूरी बेशर्मी से जारी रखे हुए हैं।

जंगल का मुद्दा भारतीय औपनिवेशिक सरकार के एजेंडे पर सबसे पहले 1860 ई. में तब आया, जब अंग्रेजों को इस बात का भान हुआ कि जंगल की राजस्व वसूली क्षमता कितनी अधिक है। जहाज निर्माण और रेलवे की जरूरतों के मद्देनजर वन कटाई बड़े पैमाने पर शुरू हो चुकी थी। इसके अलावा 'वेस्ट लैंड' यानी बेकार जमीन (राजस्व वसूली के अर्थ में) का एक बड़ा हिस्सा साफ करवा कर कृषकों, पूंजीपतियों और बसने वालों को लीज पर दे दिया गया। यहां से वह प्रवृत्ति शुरू होती है जिसमें 'जंगल को आदिवासियों से बचाने' यानी जंगल तक इनकी पारंपरिक पहुँच को रोकने की कोशिश कहा जा सकता है। जंगल और लोगों के अधिकार दोनों में कटौती की झलक विभिन्न औपनिवेशिक तथा उपनिवेशोत्तर वन नीति से जुड़े कानूनों में देखी जा सकती है। सबसे महत्त्वपूर्ण कदम था 1878 की भारतीय वन नीति जिसके जरिए जंगल तथा इसके उत्पादों पर आदिवासियों तथा अन्य वनवासियों के ऐतिहासिक अधिकार समाप्त कर दिये गये। इसमें आदिवासियों की सम्पूर्ण जीवन शैली व 19वीं शताब्दी में जनजातीय विद्रोहों की जो लहरें उठीं वे आदिवासियों के गुस्से का इजहार थीं जिनका अस्तित्व ही बाहरी लोगों (दिक्कुओं), जमींदारों और औपनिवेशिक कानूनों

से खतरे में पड़ गया था। इसलिए आदिवासियों और उनके अधिकारों की रक्षा के जो भी उपाय कानूनों में किए गए वे सशस्त्र संघर्ष का ही परिणाम है। ये उपाय आदिवासियों के तुष्टिकरण का ही प्रयास थे, उनकी समस्याओं का हल नहीं। इसलिए औपनिवेशिक शासन के दौरान आदिवासी विद्रोह कभी पूरी तरह शान्त नहीं हुआ।

1947 में जो सत्ता का हस्तांतरण बड़े जमींदारों और बड़े बुर्जुआ वर्गों का हुआ उससे साम्राज्यवादियों द्वारा उनके शोषण में और मदद ही मिली। शासक वर्गों ने जो नीतियां अपनाई और कानून बनाए वे या तो अमल में नहीं लाए गए या आदिवासियों की स्थिति और बदतर बनाने में ही मददगार हुए। अदालतों ने भी इन कानूनों की व्याख्या करते हुए जमींदारों, बड़े बुर्जुआ वर्गों और साम्राज्यवादियों का पक्षपोषण किया।

1980 के वन संरक्षण अधिनियम ने देश की 22 फीसदी जमीन वन संरक्षण के लिए जब्त करवा दी। इसमें वे इलाके भी थे जो सरकारी फाइलों में जंगल के रूप में दर्ज थे। इसका यह मतलब था कि वर्षों से स्थानीय आबादी के काम आ रही राजस्व भूमि अचानक वन-विभाग के कब्जे में आ गई और इस भूमि से जुड़ी सभी आजीविकाएं स्थानीय आबादी की पहुंच से बाहर हो गईं। इस जमीन पर लोगों के दावे और गांव के आसपास के जंगल के सामुदायिक प्रबंधन उपेक्षित हो गए। खास तौर पर आदिवासी इस कानून के दुष्प्रभावों से कम शिकार हुए। चूंकि आधे से ज्यादा आदिवासी आबादी यों भी भूमिहीन है, यह समझना मुश्किल है कि उन्हें कैसे वन भूमि में कमी के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। स्थिति यह है कि देश भर के आदिवासी और अन्य वनवासी समुदाय आज भी उस जमीन का पट्टा पाने के लिए संघर्ष ही कर रहे हैं जिसे वे 1980 में यह कानून बनने से पहले से ही जोत रहे हैं।

5वां और 6ठा शेड्यूल भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आदिवासी स्वशासन के संरक्षण का दावा करता है (5वां शेड्यूल जहां पूरे देश के आदिवासी इलाकों पर लागू है, वहीं छठे शेड्यूल के तहत् पूर्वोत्तर के असम, मेघालय, मिजोरम और त्रिपुरा राज्य आते हैं), लेकिन केन्द्र सरकार देश की एकता के नाम पर जिला तथा क्षेत्रीय आदिवासी परिषदों द्वारा बनाए गए कानूनों को रद्द करने का अधिकार सुरक्षित रखती है जिससे आदिवासी स्वायत्तता की बात एक मजाक बन कर रह गई है। छठे शेड्यूल के प्रावधानों की विफलता का सबसे बड़ा सबूत तो यही है कि पूर्वोत्तर के जिन क्षेत्रों में कथित स्वायत्त आदिवासी जिला परिषदें बनाई गई हैं, उन्हीं इलाकों की आबादी आत्मनिर्णय के अधिकार और अलगाव की मांग को लेकर संघर्ष कर रही है। केन्द्र सरकार ने भूरिया समिति (1995) के कई सुझाव स्वीकार किए, लेकिन इसकी एक प्रमुख सिफारिश उसने नामंजूर कर दी जो यह थी कि 5वें शेड्यूल के अंतर्गत आने वाले (यानी पूरे देश भर में फैले) इलाकों में भी स्वायत्त जिला परिषदें बनाई जाएं। पंचायती राज संस्थाओं की ही तरह, संवैधानिक दर्जा दिए जाने के बावजूद, जमींदारों तथा स्थानीय अभिजनों के हाथों में आ जाने के कारण ग्राम सभाएं भी आदिवासियों के लिए बेकार ही साबित हुई।

आंध्रप्रदेश के शेड्यूल इलाकों में, आदिवासी भूमि गैर आदिवासियों को हस्तांतरित किए जाने पर प्रतिबंध लगाने वाला 1 ऑफ 70 एक्ट पारित होने के बावजूद सरकारी आंकड़ों के मुताबिक आधे से अधिक कृषि भूमि गैर आदिवासियों के कब्जे में जा चुकी है। (1 ऑफ 70 एक्ट 60 के दशक के आखिरी वर्षों में श्रीकाकुलम में हुए सशस्त्र आदिवासी संघर्ष के गदेनजर पास किया गया था) इससे पहले ए बी शेड्यूल एरिया लैंड ट्रांसफर रेगुलेशन एक्ट 1959 था जो आदिवासी से गैर आदिवासी को भूमि हस्तांतरण प्रतिबंधित करता है। ऐसे कानून अन्य राज्यों में भी लागू किए गए। लेकिन नतीजा वही ढाक के तीन पात। बहुत से मामले दर्ज

हुए और अदालतों ने भी आदिवासी जमीनें हथियाने वाले गैर आदिवासियों का साथ दिया। 1874 के बाद से बने तमाम सरकारी कानूनों की यही हकीकत है।

कुछ कानूनों ने तो आदिवासियों का शोषण और तेज कर दिया। खदान अधिनियम, भू-अधिग्रहण कानून (विभिन्न परियोजनाओं के लिए सरकार द्वारा), वन्य जीवन संरक्षण अधिनियम, उत्पाद (एक्साइज) अधिनियम आदि ने आदिवासियों को न केवल उनकी परंपरागत आजीविकाओं और जमीन पर अधिकार से वंचित किया, बल्कि उन्हें उनके परंपरागत निवास स्थानों से विस्थापित कर उनकी अपनी जीवन शैली को भी छिन्न-भिन्न कर डाला। शेड्यूल इलाकों में भी गैर आदिवासी आबादी को जाकर बसने की तेज प्रक्रिया आदिवासियों का दमन और शोषण बढ़ाती है। स्थानीय जनप्रतिरोध से ही यह प्रक्रिया जब-तब थमी है।

इतना ही नहीं, साम्राज्यवादियों के हक में बनाए गए नियमों को सर्वोच्च वरीयता देने के चक्कर में सरकार अपने ही बनाए अन्य नियमों की ऐसी-तैसी होने देती है। निजी कंपनियों को लीज पर खदानें दिए जाने से आदिवासियों की सुरक्षा के लिए बनाए गए तमाम कानूनों की धज्जियाँ उड़ी। इन कंपनियों ने उदाहरण के लिए पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1986 और वन संरक्षण अधिनियम 1980 का उल्लंघन किया। जब आदिवासियों ने विरोध किया तो उन्हें गिरफ्तार किया गया, अवैध तरीके से बंद किया गया या घरों से खदेड़ दिया गया। कंपनियों ने पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन करवाए बगैर और राहत व पुनर्वास की तथा आपदा प्रबंधन की उपयुक्त व्यवस्था किए बगैर ही खदानों में काम शुरू करवा दिया। इन कंपनियों ने आदिवासियों की आजीविका की रत्ती भर परवाह नहीं की।

मई 2002 में वन एवं पर्यावरण मंत्रालय ने सभी राज्यों को एक सर्कुलर जारी कर निर्देश दिया कि सभी 'अतिक्रमणकारी' तत्काल बाहर निकाले जाएं। इसके बाद अतिक्रमण हटाने का एक बड़ा अभियान शुरू हुआ जिसने जंगल में रहने वाले जनसमुदायों को निशाना बनाया और वन संपदा के नुकसान के लिए वास्तव में जिम्मेदार व्यावसायिक तथा माफिया स्वार्थों को छुआ भी नहीं। इस अभियान ने पहले से ही दयनीय स्थिति में जिंदगी गुजार रहे लोगों को विस्थापन का दंश झेलने को मजबूर किया। लाखों की संख्या में लोग बेघर हो गए- 40 हजार परिवार सिर्फ असम में- और अत्यधिक हिंसा के कई मामले दर्ज किए गए। मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात और आंध्र प्रदेश में आदिवासियों की बस्तियां सामूहिक रूप से आग के हवाले कर दी गई। महाराष्ट्र और असम में तो हाथियों का इस्तेमाल कर पूरे के पूरे गांवों को उजाड़ दिया गया। अभी पिछले ही साल अप्रैल में मध्यप्रदेश के खंडवा में वन-विभाग ने एक आदिवासी प्रदर्शनकारी को मार गिराया और 180 झोपड़ियां (ड्वेलिंग) जला दी। 'सभी' अतिक्रमणकारी हटाने के घोषित इरादों के बावजूद टिंबर व्यवसायी, भू-माफिया और कॉमर्शियल प्लांटर्स की गतिविधियां बेरोक टोक चलने दी गई जबकि दरसियों हजार हेक्टेयर वन-भूमि तहस-नहस करने के लिए यही लोग जिम्मेदार हैं। 2004 में भी अतिक्रमण विरोधी यह अभियान जोर-शोर से जारी रहा। जवाब में हुए व्यापक विरोध प्रदर्शनों के मद्देनजर और अपने चुनावी वायदे के अनुरूप संप्रग सरकार शेड्यूल ट्राइब्स एंड फॉरेस्ट ड्वेलर्स (रिकॉगनीशन ऑफ फॉरेस्ट राइट्स) बिल 2005 लेकर आई।

लेकिन उससे पहले राजग सरकार ने आदिवासियों पर राष्ट्रीय नीति का प्रारूप तैयार किया था। इस प्रारूप में 'मुख्य धारा' जैसे शब्द इस्तेमाल करते हुए 'एसिमिलेशन' एवं आत्मसातीकरण की बात की गई है। इसका साफ मतलब है कि आदिवासी समाज तथा संस्कृति के अनूठेपन के प्रति सम्मान का पूर्ण अभाव। इसने इन्हें हिंदू के रूप में श्रेणीबद्ध करने का भी दुस्साहस किया। साथ ही इस प्रारूप ने आदिवासी

महिलाओं तथा लड़कियों की समस्याओं को संबोधित नहीं किया। इसने आदिवासियों के विस्थापन की समस्या यह कहते हुए खारिज कर दी कि 'जनहित' में विस्थापन की अनुमति दी जा सकती है।

1991में नई आर्थिक नीति अपनाए जाने के बाद से ही जंगल से संबंधित विभिन्न परियोजनाओं तथा योजनाओं पर विश्व बैंक का नियंत्रण एकदम स्पष्ट है। इनका एकमात्र मकसद प्राकृतिक संसाधनों तक निर्बाध पहुंच सुनिश्चित करना है, हालांकि इन्हें संयुक्त वन प्रबंधन, वन संरक्षण, जैव विविधता संरक्षण जैसे आकर्षक नाम दिए गए हैं। संयुक्त वन प्रबंधन के तहत गठित की जाने वाली वन सुरक्षा समितियां वास्तव में वन-विभाग द्वारा नियंत्रित हैं क्योंकि उनके सचिव वन-विभाग के रेंजर होते हैं। आंध्र प्रदेश में तो संयुक्त वन प्रबंधन (जे.एफ.एम.) से निजीकरण को इस कदर बढ़ावा मिल रहा है कि ऐसा लगता है उद्योग इसका तीसरा साझेदार है। इसके अलावा पर्यटन को प्रोत्साहन देने के नाम पर जंगल निजी उद्यमियों के लिए खोले जा रहे हैं। आदिवासी क्षेत्रों में राज्य सरकारें 'इको टूरिज़्म' को बढ़ावा दे रही है। यह न केवल पारिस्थिति की (इकोलॉजी) के लिए खतरा बन रहा है और स्थानीय संस्कृति को नष्ट कर रहा है बल्कि सेक्स टूरिज़्म का खतरा भी बढ़ा है। आदिवासियों को अपनी जमीन से बेदखल होने में पर्यटन की भी भूमिका होती है। आंध्रप्रदेश की बोर्रा गुफाएं जब सरकार ने अपने कब्जे में ले ली तब वहां के आदिवासी समुदायों के लोग महज ठेका मजदूर बन कर रह गए।

संप्रग सरकार द्वारा लाया गया विधेयक प्रारूप 25 अक्टूबर 1980 से पहले वन भूमि रखने वाले प्रत्येक आदिवासी परिवार को 25 हेक्टेयर वन-भूमि वितरित करने की बात कहता है। कुछ बुद्धिजीवियों ने इसी वजह से इस विधेयक को प्रगतिशील करार दिया है क्योंकि यह आदिवासियों को जमीन देने का प्रस्ताव करता है, लेकिन पिछली आधी शताब्दी से भी ज्यादा का अनुभव कुछ और ही संकेत करता है। सभी 'प्रगतिशील' विधेयक अंततः बड़े पूंजीपतियों, साम्राज्यवादियों को ही फायदा पहुंचाते हैं, आदिवासियों की स्थिति पहले से भी बुरी हो जाती है। संघर्ष और प्रतिरोध की वजह से ऐसे अधिनियम बन जरूर जाते हैं, लेकिन वे अमल में लाने के लिए नहीं होते। पिछला दशक विभिन्न उद्योगों तथा परियोजनाओं के जरिए प्राकृतिक संसाधनों की लूट के खिलाफ अनेकानेक आदिवासी संघर्षों का गवाह रहा है। इन संघर्षों को विभिन्न सरकारों ने (चाहे कोई भी राजनीतिक दल सत्ता में रहा हो) जिस तरह से दबाया है- उनके प्रदर्शनों पर फायरिंग करना, लोगों को मार गिराना, बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां करना, लाठी चार्ज करना, बलात्कार तथा यौन उत्पीड़न का सहारा लेना और ऐसे ही दमन के अन्य क्रूर उपायों का प्रयोग करना उससे एक बात तय है कि ये सरकारें जंगल पर बड़े जमींदारों, बड़े पूंजीपतियों और साम्राज्यवादियों का कब्जा स्थापित कराने पर तुली है, किसी भी सूरत में ये आदिवासियों का जंगल पर स्वाभाविक हक मंजूर नहीं करेगी, भले विधेयक में ऐसा दावा किया गया हो।

विस्थापन, राहत व पुनर्वास

आजादी के बाद से विभिन्न विकास योजनाओं के तहत लाखों लोग विस्थापित हुए हैं। इन विस्थापित और प्रभावित होने वालों का एक बड़ा भाग आदिवासियों का है।

एक अनुमान के मुताबिक 1951-90 की अवधि में बांध, नहर, खदान, उद्योग, थर्मल इकाइयां, अभ्यारण्य और रक्षा प्रतिष्ठान आदि विकास परियोजनाओं के कारण दो करोड़ 60 लाख लोग विस्थापित हुए हैं। हालांकि आदिवासी देश की कुल जनसंख्या का सिर्फ 8 प्रतिशत है, लेकिन सभी योजनाओं के कुल

विस्थापित लोगों में 85 लाख 40 हजार 40 प्रतिशत आदिवासी हैं। इनमें अभी तक सिर्फ 21 लाख 20 हजार (24.8 प्रतिशत) आदिवासियों का ही पुनर्वास किया जा सका है। आदिवासी क्षेत्रों के तीव्र औद्योगिकरण की वजह से 30.3 लाख लोग खदान गतिविधियों के तहत विस्थापित हुए हैं। कुल 13.3 लाख आदिवासी अपने पुरखों की जमीन छोड़ने को बाध्य हुए। इस प्रत्यक्ष विस्थापन के अतिरिक्त खनन गतिविधियों ने हजारों अन्य लोगों की आजीविका को भी प्रभावित किया जलचक्र गड़बड़ाया, कृषि योग्य जमीन पर बोझ बढ़ गया और जंगल काट दिए गए।

1947 के बाद से ही विभिन्न विकास योजनाओं के कारण बड़े पैमाने पर लोगों के विस्थापित होने के बावजूद देश के पास राहत तथा पुनर्वास की एक सम्यक नीति नहीं है। 1993 में आकर ग्रामीण विकास मंत्रालय ने एक राष्ट्रीय पुनर्वास नीति तैयार की। भारत के संघात्मक ढांचे में पुनर्वास राज्य का विषय है, लेकिन कुछ ही राज्य सरकारें परियोजना प्रभावित लोगों के पुनर्वास के लिए सम्यक राहत व पुनर्वास नीति लेकर सामने आई हैं।

गुजरात के गिर जंगलों से लाए गए पांच से आठ एशियाई शेरों (एशियाटिक लायंस) के लिए अभ्यारण्य बनाने के खातिर पश्चिमोत्तर मध्यप्रदेश के 24 गांवों के 1,545 परिवारों (मुख्यत: सहारिया आदिवासी) को जंगल से बाहर बसाया गया था। ये छः साल उनके लिए घोर गरीबी और कठिनाईयों से भरे रहे। शेर अभी भी यहां लाए नहीं जा सके हैं, लेकिन हजारों विस्थापित ग्रामीण भूखों मरने की स्थिति में हैं।

लिंग आधारित पूर्वाग्रह मुआवजे में भी दिखता है। कई मामलों में जमीन महिलाओं के स्वामित्व वाली होती हैं। जिस पर काम भी वे ही कर रही होती हैं, फिर भी मुआवजा परिवार के मुखिया यानी पुरुष को मिलता है। इस प्रकार एकीकृत राज्य निर्धारित पितृसत्तात्मकता विभिन्न संस्कृति वाले समाजों पर थोप दी जाती है। विस्थापितों के मामले में मुआवजा भू-स्वामी तक सीमित होता है, यानी उस व्यक्ति तक जिसके नाम से जमीन है। इसमें भी एकल परिवार को आधार बनाया गया है। आदिवासी समुदाय के संयुक्त परिवारों में घर प्राय: एक व्यक्ति के नाम से पंजीकृत रहता है। इस प्रकार परिवार के अन्य सदस्य, (महिलाएं भी) मुआवजे से वंचित रह जाते है। साथ ही, आदिवासियों की एक बड़ी समस्या ऐसी भी निकल आती है जो खेती करने के बावजूद जमीन पर कानूनी अधिकार नहीं जतला सकती।

उड़ीसा में 1951 से 1995 के दौरान 1.5 लाख लोग राष्ट्रीय विकास के नाम पर अपनी आजीविका से वंचित किए गए हैं। उनमें 42 फीसदी आदिवासी हैं। कुल विस्थापितों के 32 प्रतिशत और आदियासी वंचितों के 25 प्रतिशत हिस्से का ही पुनर्वास हो पाया हे, वह भी आंशिक तौर पर। बाकी बदहाली में हैं और बंधुआ मजदूर बन गए हैं। वैश्वीकरण प्रक्रिया के चलते अधिकाधिक लोग अपनी भूमि से बेदखल कर बर्बादी की ओर धकेले जा रहे हैं। मगर ताजा प्रवृत्तियां बताती हैं कि अगले दशक में उड़ीसा में सिर्फ उद्योगों के चलते 200,000 एकड़ जमीन अधिगृहीत की जाएगी।

आदिवासी महिलाओं का अवैध व्यापार और पलायन

कठिन आर्थिक स्थितियां-बाहरी भू-स्वामियों द्वारा भूमि पर अवैध कब्जा, रोजगार के अवसरों का अभाव, विस्थापन और गरीबी-आदिवासी पुरुषों और महिलाओं को शहरी क्षेत्रों तथा रोजगार वाले अन्य क्षेत्रों की ओर चले जाने को बाध्य करती है। उत्तर बिहार के ही करीब 40-45 लाख गैर आदिवासियों ने झारखण्ड में न केवल गैर कानूनी ढंग से जमीन हथिया ली बल्कि अपना स्थायी आवास बना लिया है, उद्योग-व्यापार

पर कब्जा जमा लिया और ऊपर से नीचे तक सरकारी नौकरशाही को मार दिया। 18वीं और 19वीं शताब्दी में आदिवासियों को इसलिए अपना घर-बार छोड़ कर दूर जाना पड़ता था, क्योंकि अंग्रेज आदिवासी श्रमिकों को असम और उत्तर बंगाल के चाय के बगानों में काम पर लगाते थे। 1950 से 1980 के बीच वे बिहार और पश्चिम बंगाल जाते थे। खेतिहर मजदूर के रूप में काम करने। 1980 के बाद वे बड़े शहरों की ओर जाने लगे।

पहले सिर्फ पुरुष शहरों का रुख करते थे, लेकिन अब हर क्षेत्र से अकेली महिलाएं बड़ी संख्या में शहरों की ओर जा रही हैं। गरीबी से जूझता आदिवासी परिवार अविवाहित बेटियों को शहर भेजने को बाध्य हो रहा है। ये अकेली महिलाएं और आदिवासी लड़कियां नियोक्ताओं के शोषण का शिकार होती हैं। वे असामाजिक तत्त्वों के हमलों का भी शिकार होती हैं।

सुंदरगढ़ जिले की आदिवासी लड़कियां दिल्ली के वेश्यालयों में 8000 से 20,000 रुपये तक की कीमतों में बेची जा रही हैं। इसके सामाजिक परिणाम विनाशकारी साबित हो रहे हैं। यहां आ जाने वाली आदिवासी लड़कियों के लिए अपने समाज में शादी करना कठिन हो जाता है क्योंकि लोगों को डर होता है कि कहीं वह एच.आई.वी. पॉजिटिव न हो, जिसे शिष्टतावश 'दिल्ली वाली बीमारी' कहा जाता है। छोटी-मोटी बीमारियों को भी यही बीमारी मान लिया जाता है जिससे लड़की सामाजिक रूप से बहिष्कृत हो जाती है और परिवार को भी सामाजिक अलगाव झेलना पड़ता है। कुछ मामलों में परिवार लड़की स्वीकार करने से भी इन्कार कर देता है क्योंकि वह अनुमति लिए बगैर चली गई थी। आदिवासी लड़कियों के अपहरण की भी काफी शिकायतें दर्ज होती हैं और उनमें से ज्यादातर की यात्रा अंततः दिल्ली तथा मुंबई के वेश्यालयों में समाप्त होती हैं। सुंदरगढ़ जिला लड़कियों को बड़े शहरों के सेक्स बाजारों में भेजने का 'होलसेल मार्केट' बन गया है।

अब प्लेसमेंट एजेंसियां भी आ गई हैं। रोजगार पाने से पहले लड़कियां अत्यंत दयनीय स्थिति में रहती हैं। 15-20 लड़कियां एक छोटे से अंधेरे कमरे में एकदम अस्वास्थ्यकर स्थितियों में रहने को मजबूर होती हैं। नौकरी के बाद भी शोषण जारी रहता है क्योंकि उन्हें कभी पूरा वेतन नहीं मिलता। अक्सर आधा वेतन प्लेसमेंट एजेंसी ले लेती है। ये एजेंसियां गैर आदिवासियों द्वारा चलाई जाती हैं और पंजीकृत नहीं होती। उड़ीसा की कुछ आदिवासी युवतियां मसाज पार्लरों में काम करती पाई गई हैं। भयंकर शोषण, यौन उत्पीड़न, तरह-तरह का अपमान, खराब स्वास्थ्य और खतरनाक बीमारियां इस तरह के प्रवासन का क्रूर परिणाम है।

हाल की एक रिपोर्ट बताती है कि झारखण्ड, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल की करीब दो लाख युवतियां मध्यवर्गीय परिवारों में घरेलू नौकरानी के रूप में काम कर रही हैं। 61000 दिल्ली में, 42000 कोलकाता में 36000 मुंबई में, 13000 बेंगलूर में और 26000 गोवा में। युवा झारखण्डी पुरुष और महिलाएं एजेंटों द्वारा फांसे जाते हैं, फिर उन्हें पशुओं की तरह झारखण्ड से बाहर ठेकेदारों तथा ईंट भट्ठी मालिकों तक पहुंचा दिया जाता है। हैदराबाद के अनेक मध्यवर्गीय और उच्च मध्यवर्गीय घरों में 9 और 10 साल की बच्चियां भी नौकरानी के रूप में काम करती हैं जो पास के तेलंगाना क्षेत्र की लंबाड़ा, गोंड और अन्य जनजातियों की होती हैं। घर से और बड़ों की प्यार भरी परवरिश से दूर ये बच्चियां सामने पड़े काम के असहनीय बोझ तले अपना बचपन भूलती चली जाती हैं। समाचार-पत्र जब-तब मालिकों मालकिनों की क्रूरता के किस्से (लोहे के गर्म सलाखों से दागना, भोजन के बगैर बंद कर के रखना, बुरी तरह पीटना आदि) छापते रहते हैं, लेकिन प्रशासन की कुंभकर्णी नींद पर इनका कोई असर नहीं होता।

जहां इसाई मिशनरियों ने आदिवासियों के बीच काम औपनिवेशिक शासन के दौरान ही शुरू कर दिया था, वहीं हिंदुत्वकारी व्यक्तियों की आदिवासी इलाकों में सक्रियता पिछले दो दशकों में ही बढ़ी है। मिशनरियों के काम की बदौलत बहुत से आदिवासी धर्मांतरित हो इसाई बन गए। अब हिंदुत्ववादी शक्तियां दावा करती हैं कि सभी आदिवासी हिंदू ही हैं। इसी आधार पर वे आक्रामक ढंग से सबको फिर हिंदू धर्म में दीक्षित कराने का आग्रह रखती हैं। वे आदिवासियों के बच्चों के लिए स्कूल बनवा रही हैं, शबरी कुंभ मेले आयोजित करवा रही हैं, स्वास्थ्य केन्द्र और आस्था केन्द्र खुलवा रही हैं। इतना ही नहीं, उनके बीच कैलेंडर बंटवाए और बिकवाए जा रहे हैं। हनुमान की तस्वीरें, लॉकेट, स्टिकर आदि भी आदिवासियों के बीच प्रचलित करवाने के प्रयास लगातार जारी हैं। राजस्थान में एक गौके पर 4000 कार्यकर्ता हर आदिवासी परिवार के साथ सात दिन तहरे और हर घर में हिंदू देवता की एक फोटो लगाने का इंतजाम कर लिया। हर व्यक्ति को हनुमान का लॉकेट बतौर उपहार दिया गया और लॉकेट, कैलेंडर और झंडे के लिए हरेक परिवार से पांच-पांच रुपये लिए गए। हनुमान को आदिवासी देवता बताया जाता है। पूरे राजस्थान में हनुमान की मूर्तियां/मंदिर बनवाए गए। हनुमान के नाम पर सरकारी जमीन हड़पी जा रही है। दलित ईसाई महिलाओं को घरों से खींच कर सार्वजनिक रूप से उनका सर मुंड़वा दिया जाता है और उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। कुछ गांवों में उन्होंने बाड़ लगाकर हिंदू आदिवासियों को ईसाई आदिवासियों से अलग कर दिया है बहुत से आदिवासी ईसाई गांव छोड़ गए हैं। जो हैं वे काफी डरे हुए रहते हैं। गुजरात के डांग जिले में बड़ी संख्या में ईसाईयों के घरों में तोड़-फोड़ और लूटपाट की गई और चर्च तथा प्रार्थना सभाएं भी नष्ट कर दी गई। स्कूलों को भी नुकसान पहुंचाया गया। तमाम आध्यात्मिक गुरुओं के आश्रमों के नाम पर वन भूमि के बड़े-बड़े क्षेत्र हथिया लिए गए हैं, लेकिन प्रशासन उसकी अनदेखी करता है। छत्तीसगढ़ के बस्तर स्थित इन आश्रमों में तो बलात्कार और यौन उत्पीड़न के भी आरोप लग चुके हैं। ईसाइयत और हिंदूत्व दोनों धर्म आदिवासियों को उन अन्यायों के खिलाफ विद्रोह न करने की प्रेरणा देते हैं जिसका सामना उन्हें अपने दैनिंदिन जीवन में करना पड़ता है। उन्हें मिल रहे फंड और उनका उद्देश्य दोनो संदिग्ध हैं। मगर, मौजूदा हालात में हिंदुत्ववादी संगठनों की आक्रामकता, ईसाई मिशनरियों पर हो रहे घातक हमले और ईसाई आदिवासियों के खिलाफ चलाए जा रहे अभियानों के मद्देनजर उन्हें (हिंदूत्ववादी शक्तियों को) आसन्न खतरा मानते हुए उनका तत्काल कड़ा विरोध करना जरूरी है। सबसे खतरनाक प्रवृत्ति जो गोधरा कांड के बाद हुए, मुस्लिम विरोधी हमलों में दिखी वह है आदिवासियों को उन हमलों में शामिल किया जाना। आदिवासियों के बीच मुफ्त शराब बांट कर उन्हें हमले करने को उकसाया गया। कुछ आदिवासी मारे गए और बहुत से बतौर अपराधी गिरफ्तार कर जेल भेज दिए गए।

संपूर्णता में बात करें तो समूची आदिवासी संस्कृति में बदलाव की जो प्रवृत्ति दिख रही है, उसमें महिलाओं का हिंदुत्व अपनाने का मतलब है उनकी उस आजादी का कम होना जिसका इस्तेमाल वे आज कर रही हैं। यानी वे सीधी सादी 'सीता' में परिणत हो जाएगी।

बजरंग दल और विश्व हिंदू परिषद जैसी आक्रामक हिंदुत्ववादी शक्तियों द्वारा आदिवासियों को हिंदू करार देने के उग्र प्रयासों की प्रतिक्रिया में कुछ आदिवासी समुदायों में छोटे समूह सक्रिय हुए हैं। खासकर

नगाड़े पर शब्दों की चोट

-सुधा अरोड़ा

मुंबई में 16 जनवरी से 21 जनवरी 2004 के पाँच दिवसीय अभूतपूर्व आयोजन में जिन्होंने विश्वभर से आकर भागीदारी निभायी, वे सभी कार्यकर्ता मुख्य मैदान के विशालकाय स्टेज से लेकर एन.एस.सी. ग्राउंड की सड़कों और नुक्कड़ों पर बजते झारखंड के आदिवासियों के नगाड़ों को कभी भूल नहीं पायेंगे। भारत के तमाम गाँवों-कस्बों से जुटे हुए लोगों में सबसे अधिक तादाद में उपस्थिति 'जोहार झारखंड. जय जलगुलान'.के नारों के बीच पारंपरिक वेशभूषा में अपना लोकनृत्य प्रस्तुत करती और रंग-बिरंगी छटा बिखेरती झारखंडी आदिवासी महिला और पुरुषों की थी।

इस रंगीन छटा के पीछे का एक बदरंग हिस्सा एकाएक सामने नहीं आता लेकिन सच यह भी है कि छोटा नागपुर और संताल परगना में आदिवासी महिलाओं ने अंग्रेज शासकों के खिलाफ किये गये जन-आन्दोलनों में पुरुषों के साथ बराबर का हिस्सा लिया, आज उन्हीं जांबाज़ महिलाओं की स्थिति पुरुष वर्चस्व की सत्ता तले हाशिए पर धकेल दी गयी। पूरे झारखंड आन्दोलन में एक भी महिला नेतृत्व को उभरने का अवसर नहीं दिया गया। झारखंड राज्य में उन मेहनतकश आदिवासी औरतों की बहादुरी के कारनामे, पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर किये गये उनके संघर्ष की कहानियाँ जितनी पुरानी है, उतना ही पुराना आदिवासी औरतों की त्रासदी का एक लम्बा इतिहास भी है।

आदिवासी संताली कवयित्री निर्मला पुतुल की कविता को हम झारखंड के इतिहास और उसके जनजीवन से अलग करके नहीं समझ सकते क्योंकि इन कविताओं में उनका इतिहास हर पंक्ति में नगाड़े की चोट पर बोलता है।

साहित्य की सभी विधाओं में सम्भवतः कविता ही एकमात्र ऐसी विधा है जो बहुत सहज और अल्पतम शब्द रचना में भी एक समूची भीड़ को उद्वेलित करने की क्षमता रखती है। पिछले बीस वर्षों में कविता की शब्दावली और संरचना में हम एक सकारात्मक परिवर्तन देख रहे हैं- कविताएँ दिन-पर-दिन सहज हो रही हैं और अपनी सरलता के चरम सौंदर्य में हमें रोमांचित ही नहीं करती, रुलाने का सामर्थ्य भी रखती हैं।

दलित और आदिवासी कविता जब गैर-दलितों के प्रतिनिधित्व को नकारते हुए अपना स्वर ऊँचा करती है तो एक अपराध बोध हमारी कलम को आगे बढ़ने से रोकता है। तहारु सोनवणे की एक कविता है- 'स्टेज'- हम स्टेज पर गये ही नहीं/ और हमें बुलाया भी नहीं/ उंगली के इशारे से/ हमारी जगह हमें दिखायी गयी/ हम वहीं बैठे/ हमें शाबाशी मिली/ और वे स्टेज पर खड़े हो/ हमारा दुख हमें ही बताते रहे/ हमारा दुख हमारा अपना ही रहा/ कभी उनका हुआ ही नहीं।

उनका-एक दलित आदिवासी का- 'दुख' क्या है- पुतुल की हर कविता इसकी एक प्रामाणिक बानगी है क्योंकि पुतुल की सारी कविताएँ उस 'दुख' की ही सन्तानें है। वह अपने- एक स्त्री के-निज के दुख से शुरू होती है और तमाम आदिवासी स्त्रियों की ज़बान बन जाती हैं। वह एक अकेले नाम को सम्बोधित करते हुए पूरे समुदाय तक जाती हैं-बाबा- मुझे उतनी दूर मत ब्याहना/ जहाँ मुझसे मिलने जाने खातिर/ घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हें/ मत ब्याहना उस देश में/ जहाँ आदमी से ज्यादा/ ईश्वर बसते हों। ब्याहना हो तो वहाँ ब्याहना/ जहाँ सुबह जाकर/ शाम तक लौट सको पैदल/ मैं जो कभी दुख में रोऊँ इस घाट/ तो उस घाट नदी में स्नान करते तुम/ सुनकर आ सको मेरा करुण विलाप.....

यह 'करुण विलाप' हर समाज, हर तबके की स्त्री के साथ जुड़ा है-लगभग उसकी 'नियति' के रूप में। उदयप्रकाश की लम्बी कविता (औरतें) मंगलेश डबराल की (एक स्त्री) कुमार अंबुज की (खाना पकाती

औरतें) कात्यायनी की (घर और औरत) नीलेश रघुवंशी और निर्मला वर्ग की ढेरों कविताएँ अपनी-अपनी तरह से इस करुण विलाप का बखान करती हैं। मुझे नहीं लगता, 'अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी' से अलग या लकड़ी सीली, तबियत ढीली, घर की सबसे बड़ी पतीली, घर-भर भात पकाने वाली स्त्री के दुख का 'करुण विलाप' के यथार्थ ने आज के कवित-समय से पहले कभी इस तरह, इतनी शिद्दत से रचनात्मक संसार को आच्छादित किया है।

इसका कारण है स्वयं स्त्री का अपनी पूरी मुखरता और आक्रोश के साथ उठ खड़े होना। आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल की कविता जब आक्रोश में मुखर होती है तो नगाड़े पर जैसे शब्दों की चोट बजती है लगातार। मनाहियों और वर्जनाओं में हर तबके की औरत को रहने और जीने के लिए बाध्य होना पड़ा है। शिक्षित और उच्चवर्गीय ब्राह्मणों ने जिस तरह सुसंस्कृत वर्ग की स्त्रियों को वेद पाठ से वर्जित किया, आदिवासियों ने स्त्रियों के हल जोतने और छप्पर छाने पर मनाही लगा दी। हर तबके के घोषित महत्त्वपूर्ण या सम्मानजनक काम घोषित रूप से पुरुषों के जिम्मे हैं। क्योंकि-वे भूल गये/ संथाल विद्रोह के समय/ जब छोड़ गये थे तुम पर सारा घर बार/ तुम्हीं ने किये थे तब हल जोतने से लेकर/ फसल काटने तक के सारे कार्य व्यापार।/ तब नहीं गिरी थी उनकी पगड़ी/ धरती नहीं पलटी थी तब/ कटी नहीं थी किसी की नाक।/ इन गूंगे-बहरों की बस्ती में/ किसे पुकार रही हो सजोनी किस्कू?/ कहाँ लगा रही हो गुहार?

पुतुल की हर कविता में सवाल हैं। हर कविता में प्रश्नचिह्नों की भरमार है। चाहे वह 'माया' के लिए हो या बुधन हांसदा के लिए, सजोनी किस्कू के लिए हो या ढेपचा सोरेन के लिए.... पर ये प्रश्नचिह्न पूर्णविराम के पर्याय हैं। सवालिया निशान पर उनकी कविताएँ शुरू नहीं होतीं, समाप्त हो जाती हैं-दिल्ली की गणतंत्र झांकियों में/अपनी टोली के साथ नुमाइश बनकर कई-कई बार पेश किये गए तुम/ पर गणतंत्र नाम की कोई चिड़िया/ कभी आकर बैठी तुम्हारे घर की मुँडेर पर?

कविता विधा के तथाकथित समीक्षक इसमें सौन्दर्यशास्त्र ढूँढने की कोशिश करेंगे और वह पूरी तरह अनुपस्थित होगा क्योंकि यहाँ प्रेम, प्रकृति और बिम्ब एक सिरे से नदारद हैं। उसकी जरूरत ही रचनाकार महसूस नहीं करता। कविता में कविता की अनुपस्थिति ही इसकी सबसे बड़ी ताकत है। यहाँ कविता, कविता के दायरे से बाहर चली जाती है और बयान बन जाती है और बयान का कोई सौंदर्यशास्त्र नहीं होता। पर सोचकर देखें तो क्या बयान या वक्तव्य इस तरह आँखों में उँगली डालकर सोये हुए को जगाने की सामर्थ्य रखता है? कविता का जामा पहनने के बाद ही शब्दों में यह ओज पैदा होता है- कैसा बिकाऊ है तुम्हारी बस्ती का प्रधान/ जो सिर्फ एक बोतल विदेशी दारू में रख देता है पूरे गाँव को गिरवी/ और ले जाता है लकड़ियों के गट्ठर की तरह/ लादकर अपनी गाड़ियों में तुम्हारी लड़कियों को.../ इस पेंचदार दुनिया में रहते/ तुम इतने सीधे क्यों हो चुड़का सोरेन?

इन कविताओं में अर्थ ढूँढना नहीं पड़ता। अर्थ पहले से खोलकर रख दिये गये हैं। कविताएँ-थोड़ी दबी-ढकी हो तो कविता जैसी लगती हैं पर ये तो जरूरत से ज्यादा मुखर हैं। इस मुखरता में अपार सम्भावनाएँ हैं। यह जानते हुए भी कि तारीफ में ज्यादा कशीदे पढ़ना सम्भावना को खत्म करना होता है और मैं कविता की समीक्षक हूँ भी नहीं, अनधिकृत रूप से यह टिप्पणी लिख गयी हूँ। निर्मला पुतुल पहले एक समर्पित सामाजिक कार्यकर्ता हैं, कवयित्री बाद में। चाहूँगी कि पुतुल मेरे लिखे को गम्भीरता से न लें और इतनी ही अनगढ़, सपाट, सवालिया कविताएँ लिखती रहें जो हजारों की भीड़ में नारों का काम करें, सजोनी किस्कू, बुधन हांसदा और चुड़का सोरेन की जमात के अनभिज्ञ भोलेपन को अपनी आस-पास की 'पेंचदार दुनिया' से परिचित करवाएँ, उन्हें उद्वेलित करें।

उलगुलान-बिरसा मुंडा विद्रोह (1890-1900)

-मीनाक्षी

मुंडा सरदार लोग जागीरदारों, ठेकेदारों, मालगुजारों और सूदखोर महाजनों के खिलाफ उनकी व्यवस्था को तोड़ने की कोशिशों के विरुद्ध 30 वर्षों से संघर्ष कर रहे थे। 1895 में बिरसा मुंडा ने यह कहकर एक धार्मिक अभियान शुरू किया कि उसने ईश्वर को देखा है। हजारों लोग उसके साथ जुड़े। यह धार्मिक आंदोलन सरदारों के प्रभाव में आकर अंततः खेतिहर समस्याओं और राजनीतिक सवालों से जुड़ गया। बिरसा ने शासन और 'दिकुओं' के खिलाफ जो आंदोलन छेड़ रखा था, उसका खास मुद्दा यह था कि जंगलों और जंगल के उत्पादों पर आदिवासियों के पारंपरिक अधिकारों और जंगलों तथा उनके आसपास की जमीनों पर उगने वाले घास पर खाद्य चारा के तौर पर आदिवासियों के जानवरों के सहज अधिकारों पर वन कानून VII (1878) के तहत सरकार की तरफ से कोई रोक न लगायी जाये। सरकार द्वारा थोपे गये जंगल-कर में रियाअत के लिए बड़ी संख्या में लोग इस आंदोलन में शरीक हुए, लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला।

बिरसा गाँव-गाँव के दौरे करते हुए, जुलूसों और सभाओं का आयोजन करके धार्मिक और राजनीतिक स्तर पर लोगों का समर्थन जुटाने लगा और अपने समर्थकों को एकजुट करके आंदोलन के लिए प्रेरित करने लगा। जनजातियों आदिवासियों के खोये सम्मान और स्वाभिमान को जगाने के लिए उन मंदिरों और जगहों पर आदिवासियों की खास रैलियां आयोजित की गयीं, जिनका निर्माण आदिवासियों के पूर्वजों ने किया था, लेकिन बाद में जिन पर 'दिकुओं' ने अपना कब्जा जमा लिया था। इन अभियानों में बड़ी संख्या में औरतों और लड़कियों ने बिरसा का साथ दिया।

1899 की क्रिसमस की पूर्व संध्या पर बिरसा ने 'मुंडा राज' की स्थापना के लिए ठेकेदारों, जागीरदारों, राजाओं और हाकिमों (शासकों) को जान से मार डालने की मुहिम चलायी। इस बात का ध्यान रखा गया गरीब और आदिवासियों पर हमले न हों।

आदिवासियों को शराब न पीने, चोरी न करने, झूठ न बोलने और बेवजह हत्या न करने की शपथ इस आंदोलन में दिलवायी गयी। बिरसा मुंडा के नेतृत्व में हुए इस 'उलगुलान' से महिलाएं बहुत प्रभावित हुई। शपथ अभियान में आदिवासी औरतों का जबरदस्त उत्साहपूर्ण सहयोग रहा। कई औरतों ने इस अभियान में बिरसा का साथ देने के लिए घर-परिवार छोड़ दिये। बरडीह की साली बोरटाडीह और सांकरा की दो औरतें तथा और भी कई । साली बहुत बहादुर थी। वह, उसकी सहेली माकी मुंडा, उसकी बहुएं और नातिनें बिरसा के विद्रोह में शामिल हुई। उसकी सभाओं में औरतें भारी संख्या में जुटती थीं। जब सरकार ने बिरसा को गिरफ्तार किया, तो चलकाड में 7,000 लोग जमा हो गये। उसे 30 नवंबर 1897 को रिहा कर दिया गया।

बिरसा-समर्थक महिलाओं ने पुलिस और फौज का सामना करने के लिए अलग से महिलाओं का एक उग्र संगठन बना रखा था। महिलाओं पर बिरसा का जबरदस्त प्रभाव कई कारणों से था। 'हूल' के हुए चालीस साल गुजर चुके थे और परिस्थितियां बहुत बिगड़ चुकी थीं। विद्रोह के लिए समय बिल्कुल पक चुका था। उग्र आंदोलन या विद्रोह को अधिक गहराई देने के लिए बिरसा संथाल समाज की भीतरी समस्याओं और कमियों-कमजोरियों को दूर करने पर बल देता था, ताकि विद्रोह की स्थितियों का सामना बेहतर तरीके से किया जा सके। समाज की भीतरी कमियों को दूर करने वाले अभियान में आदिवासी औरतों का आदिवासी मर्दों के ही द्वारा शोषण को रोकना भी शामिल था। आदिवासी मर्द एक से ज्यादा शादी न करें, विवाहेतर संबंध न रखें। आदिवासी औरतें बिना किसी खास दिक्कत के तलाक पा सकें। मर्द शराब छोड़े, क्योंकि शराब पीने

के कारण औरतों के साथ उनके संबंधों में अमानवीयता आ जाती है।

इस आंदोलन में औरतों की भागीदारी प्रत्यक्ष तौर पर बहुत प्रबल थी। उनकी वर्ग-चेतना और संकल्प की कठोरता पूरी तरह जाग्रत हो गयी थी। औरतों ने अपने कर्मठ और उत्पादक रूप को पहचान लिया था। उत्पादन में, उपार्जन में अपने महत्त्वपूर्ण योगदान को वह जान गयी थीं। उनके इस योगदान को समाज ने भी पहचाना-माना था। सामाजिक गतिविधियों और राजनीतिक हलचलों में औरतों को उल्लेखनीय स्वतंत्रता हासिल थी। हालांकि वे प्रमुख पदों पर तैनात नहीं थीं, लेकिन उनके पास सक्रिय भागीदारी की परंपरा थी। औरत होने और एक खास वर्ग की औरत होने के कारण उनका जो शोषण होता था, उसे वे पहचान गयी थीं। उन्हें जमींदारों के पास जबरदस्ती काम करना पड़ता था। वे यौन-उत्पीड़न का भी सहज शिकार थीं। अपने ही समाज के अपने ही मर्दों द्वारा उनका दमन-शोषण किया जाता था, खासकर तब, जब मर्द शराब के नशे में होते।

वर्ग और लिंग भेद के आधार पर होने वाले दमन-शोषण के संदर्भ इस आंदोलन में औरतों की भागीदारी की वजहों को समझा जाना चाहिये।

आंदोलन की शुरूआत ईसाइयों और चर्चों पर हमलों से हुई और पुलिस पर उग्र हमले तेज कर दिये गये। पुलिस जब गांवों पर हमला करती, तो जवाब में घर के सभी सदस्य, बच्चे और महिलाएं, जिसके हाथ जो लगता, लाठी, कुल्हाड़ी, उसी हथियार से पुलिस पर हमला कर देते। ऐसे हमलों में औरतें प्रमुखता से शामिल होतीं। औरतें जिस साहस और सख्ती के साथ लड़ीं, उससे उनके मन में अपने शोषकों और उनके अंग्रेज तथा भारतीय साथियों के खिलाफ जो घृणा थी, विरोध की जो उग्रता थी, वह समझी जा सकती है।

खूंटी के पुलिस स्टेशन और जमींदार पर आदिवासी मर्दों, औरतों और बच्चों के एक आक्रमण के बाद जब पुलिस ने गोलियां चलायीं, तो तीन महिलाएं शहीद हुईं। साली पूरे समय बिरसा की सुरक्षा में लगी रही।

महिलाएं हमेशा ही जनता को इस आंदोलन के उद्देश्य से जुड़ने का आग्रह करती रहीं। जो मुंडा अंग्रेजों के पिट्ठू थे, उन्हें 'जंगल छोड़कर अपने साहबों (अंग्रेज शासकों) के साथ रहने' को कहती रहीं। चूंकि विद्रोहियों के खूफिया अड्डों तक भोजन-कपड़े हथियार और खबरें औरतें ही पहुंचाती थीं, इसलिए एक मिशनरी ने प्रस्ताव रखा कि विद्रोहियों की सारी चल संपत्ति जप्त कर ली जाये, और विद्रोहियों की बीवियों का गांव से बाहर निकलने पर पाबंदी लगा दी जाये, जिससे विद्रोहियों को हर प्रकार की सप्लाई रुक जाये। उसने यह भी कहा कि 'भगोड़ी (विद्रोहियों) की बीवियां गांव की अमनपसंद गुंडारियों को धमकाती' भी हैं।

औरतों ने सैल रकब पहाड़ी पर अपने मर्द साथियों के साथ मिलकर किसानों द्वारा की जा रही आखिरी लड़ाई का साथ दिया। पुलिस फायरिंग में आदिवासी औरत-मर्द मिलाकर कुल दो सौ मुंडाओं की मौत हुई।

गांवों में अधिकारियों द्वारा ढाये जा रहे जुल्म और आतंक का सामना करने के लिए बड़ी संख्या में महिलाएं खुलकर सामने आयीं। पुलिस और फौज ने महिलाओं की आबरू लूटी। बहुत सी महिलाओं को कैद कर लिया गया और हथकड़ियां पहनाकर पहाड़ियों से जिला मुख्यालय तक पैदल चलने को मजबूर किया गया। कई महिला कैदियों की जेल में मौत हो गयी।

मर्दों को कैद, देशनिकाला और मौत की सजाएं सुनायी गयीं। विद्रोह में नेतृत्व की भूमिका निबाहने वाली गया मुंडा की पत्नी को दो साल की सश्रम कैद की सजा सुनायी गयी। दमन के सहारे आंदोलन को पूरी तरह तोड़ दिया गया।

*****

सरकार ने ज़ोर-जबरदस्ती से आदिवासियों को जंगल से खदेड़ने की कोशिश की। पुलिस ने गोलीबारी की। थाने में लोगों को बंद कर दिया पर संघर्ष नहीं रुका।

आदिवासियों ने हार नहीं मानी है। इस जंग में बच्चे, बूढ़े, औरतें सभी शामिल हैं। पुलिस ने जानू को भी हिरासत में ले लिया। उस पर दबाव डाले गए। अत्याचार किये गये, पर जानू मानती हैं कि हर संघर्ष हमें और हमारे इरादों को मज़बूत बनाता है। हमें सिखाता है कि अपने जीने का अधिकार पाने के लिए पुरज़ोर कोशिश करनी ही होगी। अपनी पैदाइशी ज़मीन को पाने के लिए हर तरह से विरोध करना होगा। सत्ताधारियों, माफ़िया की धमकियों को धैर्य से झेलना होगा। तभी आदिवासियों को ज़मीन पर अधिकार मिल पाएगा।

आज जानू ने आदिवासियों की समस्याओं को देश के सामने रख दिया है। उन पर दूसरे देशों का ध्यान भी खींचा है। उनका मानना है कि यह संघर्ष एक दिन रंग लाएगा।

आदिवासियों को ज़मीन पर अधिकार मिलेंगे। वे भी आम लोगों की तरह इज़्ज़त से जी पाएंगे। एक स्वाभिमान की ज़िंदगी खुद को और आने वाली पीढ़ियों को दे पाएंगे।

*****

जन जंगल ज़मीन संघर्ष

-जुही

"गोरे अंग्रेज़ों का मानना था कि काली चमड़ी वालों की आत्मा नहीं होती। पढ़े-लिखे लोग और जंगल के अफ़सर मानते हैं कि हम आदिवासी अपने फ़ैसले खुद नहीं ले सकते। केरल में कुछ ऐसे लोग हैं जो समझते हैं कि आदिवासी वनवासी हैं। हाथी, तेंदुए और जंगली भैंसे की तरह हम यह सोच बदलना चाहते हैं। पिछले कई सालों में यह सोच बदली भी है। यही हमारा मक़सद है और हमारी जीत है।"
-सी.के.जानू

विकट्टू करियन जानू केरल के आदिवासियों की नेता हैं। किसी भी राजनैतिक पार्टी से जुड़ी नेता नहीं। वैसे भी केरल के राजनैतिक माहौल में आदिवासी कोई महत्त्वपूर्ण वोट बैंक नहीं है। ये साढ़े तीन लाख आदिवासी केरल की जनसंख्या का केवल एक प्रतिशत हिस्सा हैं। फिर भी केरल की सामाजिक-राजनैतिक बिसात में जानू ने हलचल क्यों पैदा कर दी है ? इसलिए क्योंकि जानू के साथ खड़े हैं केरल के पूरे साढ़े तीन लाख आदिवासी -एकजुट और संगठित।

जानू का जन्म 1970 में वायनाड जिले के वेल्लामुंडा गांव में हुआ था। वह अदिया जाति से है। यह इरा इलाके की सबसे ग़रीब व पिछड़ी जाति है। सात साल की उम्र से ही गांव के एक टीचर के घर में जानू ने नौकरानी का काम शुरू किया। बारह साल की होते-होते उसने खेत मज़दूरी शुरू कर दी। रोज़ के दो रुपये काफी कम थे। फिर दर्ज़ी की दुकान खोली पर ग्राहक कहां से आते। सो वह काम भी बंद करना पड़ा।

जानू अपनी बदहाली से तंग थी। उसने गहराई से महसूस किया कि अनपढ़ आदिवासियों की हालत दिन-ब-दिन बदतर होती जा रही है। लिहाज़ा केरल के सर्वशिक्षा अभियान में जानू जी जान से शामिल हुई। उसने मलयालम लिखना और पढ़ना सीख लिया। साथ के लोगों को भी पढ़ने के लिए राज़ी किया। साथ ही कुछ स्थानीय भाषाएं और अंग्रेज़ी भी सीखी।

शिक्षा अभियान से जुड़कर जानू में जागरुकता आई । उसे अपनी व अपने जैसे आदिवासियों की हालत समझ में आने लगी। जैसे-जैसे विचार साफ़ होते गये वह अपने साथियों के साथ बातचीत करने लगी। साथ के आदिवासियों को उसकी बातें सच व सही लगने लगीं। उसकी आवाज़ उनकी आवाज बन गई।

जानू के जुझारूपन को पहचानते हुए कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने उसे अपना सदस्य बना लिया। मगर कुछ दिन बाद ही जानू को साफ़ हो चला कि उसकी और पार्टी की सोच एक नहीं है। उसने पार्टी छोड़ दी। अपनी अलग पहचान और अपने संघर्ष की बागडोर अपने हाथ में लेकर जानू जी-जान से जुट गई। उसने केरल के आदिवासी इलाक़ों का दौरा किया। लोगों से बातचीत करके उनके दुख-तकलीफ़ों को बांटने की कोशिश की। साथ ही उन्हें संगठित भी किया।

जानू का मानना है कि ग़रीब आदिवासियों के पास कोई ज़मीन नहीं है। इसलिए वे न तो खेती कर पाते हैं न ही वे अपने गुज़ारे के लिए जंगल से कंद-मूल फल इकट्ठे कर पाते हैं। पहले वे बंटाई पर ज़मीन जोतते थे। वह ज़मीन अब वह अधिकारियों या गुण्डों के कब्ज़े में है। उनके लिए खेतों या बागानों में भी कोई काम नहीं है। नतीजतन वे ग़रीबी, भुखमरी और संगीन बीमारियों से मर रहे हैं। सरकार कहती है कि देसी दारू व गंदे पानी से उनकी मौत हो रही है। असल वजह है भूख, बेरोजगारी और ग़रीबी।

जानू कहती हैं "आज से पचास साल पहले स्थिति थोड़ी बेहतर थी। हालांकि तब भी हम बंधुआ मज़दूरी करते थे। हमारे पास ज़मीनें नहीं थी। आज हम समझ गए हैं कि इस तरह दबकर रहने से काम नहीं चलेगा। अब हम संगठित होकर अपनी मांगें सरकार के सामने रख रहे हैं। राजनैतिक दल भी जान चुके हैं कि हम चुपचाप बैठने वाले नहीं हैं।

सरकार और राजनैतिक दलों ने हमारे हक व मांगे अपनाई नहीं हैं। वे हमारी मांगें दोहराते ज़रूर हैं पर यह किसी भी पार्टी का अहम् मुद्दा नहीं है।

हम आदिवासी आज जान चुके हैं कि बिना ज़मीन और जंगल पर हक़ लिए हम ज़िन्दा नहीं रह सकते। आम लोगों के पास जीने के काफ़ी रास्ते हैं। उनके साथ हमारी तुलना करना सरासर ग़लत है। वे शहर जाकर नौकरी कर सकते हैं। उन्हें साधन-सुविधाएं मुहय्या हैं, पर हमारे लिए ज़मीन खरीदने-बेचने वाली चीज़ नहीं है। वह हमारा जीवन है। हमारी रोजी-रोटी है। ज़मीन हमारी संस्कृति, रीति-रिवाजों का हिस्सा है। हमारे भोजन व दवाइयों का साधन है। पहले हम ज़मीन खोदकर पानी निकालते थे। आज इसी पानी के लिए हमें हड़ताल करनी पड़ती है। ऐसा इसलिए क्योंकि विकास परियोजनाओं व सरकारी नीतियों ने हमारी ज़मीन हमसे छीन ली हैं।

विकास के नाम पर हमें ठगा गया है। हमारे जंगल काटकर सड़क व इमारतें बनाई जा रही हैं। शहर खूबसूरत व साफ़ किया जा रहा है। और हमें इस कूड़े का हिस्सा बना दिया गया है, पर हम ऐसा नहीं होने देंगे। हम अपनी ज़मीनें वापस लेंगे। अपने जंगलों पर हक़ हासिल करेंगे। इसलिए हमने अपनी लड़ाई और मज़बूत की है।"

"संघर्ष के सबसे पहले दौर में शिरसिलेरी में जब ज़मींदारों ने आदिवारी श्मशान क्षेत्र में अपनी ज़मीन की सीमा बढ़ानी शुरू की तो हमने साथ मिलकर श्मशान भूमि पर घेराबंदी कर ली। ज़मींदार ने पुलिस बुलाई। पुलिस हमें उठाकर ले गई। तब हमारी औरतें बरछी, कुल्हाड़ी लेकर थाने पहुंची। अपने साथियों को छुड़वाया। तब से अब तक इस तरह के छोटे-बड़े संघर्षों की मदद से हमने अपनी काफ़ी ज़मीनें वापस ले ली हैं। उन पर अपना कब्ज़ा कर लिया है।"

अभी हाल में जानू के नेतृत्व में 'मुतंघा वन संघर्ष' एक मील का पत्थर साबित हुआ है। इस संघर्ष ने यह सिद्ध कर दिया है कि आदिवासी स्वराज वास्तव में कितना कारगर हो सकता है। इस संघर्ष के दौरान मुतंघा जंगल में आदिवासियों ने एक आदिवासी गांव की रचना की। इस इलाके में अपने झोपड़े बनाकर, जंगल की ज़मीन पर मिलकर खेती-बाड़ी की। तीन स्कूल, एक स्वास्थ्य केंद्र व एक राशन की दुकान खोली। साथ ही सूखी हुई मदीनाहल्ला नदी को जीवनदान दिया। वन प्राणियों को सुरक्षा दी व पर्यावरण संतुलन बनाए रखने के लिए योजना तैयार की। यह सही मायने में आदिवासियों की अपनी सरकार का बेहतरीन नमूना है।

हिन्दू कानून और आदिवासी महिलाएं

अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद-छवि टंडन

आर्यों की ग्राम्य जनजाति जब भारत में आई उसने देशी लोगों (रहिवासियों) और उनके असभ्य समाज पर दासप्रथा के साथ अपने पैतृक संस्कारों को लागू कर दिया और चतुवर्ण की स्थापना की। जब आर्य प्रजातियां आयीं तब उनके साथ स्त्रियां नहीं थीं। उन्होंने इस देश की आदिवासी महिलाओं से विवाह किया फलतः उनके पैतृक संस्कार और जाति व्यवस्था आदिवासी समाज में समाते चले गये और इस देश की महिलाओं की स्वतंत्रता में बाधक बन गये।

आदिवासी समाज में महिलाओं और पुरुषों का दर्जा समानता का है। गोंडुल आदिवासी प्रजाति में युवकों और युवतियों को अपना जीवनसाथी चुनने की पूर्ण स्वतंत्रता है और विवाह के बाद दोनों ही जीविकोपार्जन करके एक साथ सुखमय जीवन बिताते हैं। महिलाओं को पुरुषों की तरह ही तलाक और पुर्नविवाह करने का समानधिकार प्राप्त है। परित्यक्ता स्त्री आसानी के साथ पुनर्विवाह कर सकती है। आदिवासी समाज में तलाक और सती जैसी कोई बुरी प्रथा नहीं है।

रीतिरिवाज और परम्पराओं पर आधारित आदिवासी कानून समानाधिकार पर आधारित है और आदिवासियों को सुरक्षा प्रदान करते हैं।

हिन्दू कानून पैतृक सामाजिक व्यवस्था को समर्थन देता है। आदिवासियों पर हिन्दू कानून प्रभावी बनाने का अर्थ है, आदिवासी महिलाओं पर पैतृक कानून को प्रभावी बनाना। हिन्दू कानून स्त्रियों को अलग करके और आदिवासी कानून के वर्गीकरण में बाधक बनकर असामान्य स्थिति को बढ़ाता है।

भारतीय दंडसंहिता के अधिनियम 494 के अन्तर्गत द्विविवाह दंडनीय अपराध है। आदिवासी परम्परा और रीतिरिवाज द्विविवाह को मान्यता देते हैं इसलिये आदिवासी पुरुषों को कानून के दायरे में नहीं लाया जा सकता।

मनुस्मृति के अनुसार, स्त्रियों को कोई सामाजिक अधिकार नहीं है और उन्हें अपनी जिंदगी दूसरों की गुलामी में रहकर व्यतीत करनी है हिन्दू धर्मग्रन्थों के अनुसार बचपन में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र उसका संरक्षक होता है। मनु के अनुसार,(9.31) स्त्रियों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

समाज सुधारक महादेव गोविन्द रानाडे और गोपालकृष्ण गोखले ने संरक्षण व्याख्यायित किया और कहा कि स्त्री संरक्षण के योग्य है न कि गुलामी के। जबकि बाल गंगाधर तिलक ने 'नियंत्रित' अर्थ के रूप में रक्षा शब्द की व्याख्या की और कहा कि जब तक स्त्री पिता, पति व पुत्र के नियंत्रण में नहीं रहती है वह अविवेकी और पर पुरुषगामिनी हो जाती है।

आदिवासी सभ्यता में महिलाओं को समानधिकार से सम्मानित किया जाता है इस प्रकार की प्रथा आज भी आदिवासी 'पडस' जैसे कि कालोनी में पायी जाती है। फिर भी बाद में हिन्दू परम्पराओं के प्रभाव के कारण आदिवासी स्त्रियां सामानधिकार से वंचित हो गयीं कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

भारत अपनी स्वतंत्रता की स्वर्णजयंती मना रहा है, आजादी के पचास वर्षों के बाद भी किसी ने भी आदिवासियों के लिए अलग कानून व्यवस्था के बारे में नहीं सोचा। यह दुर्भाग्यपूर्ण है। आदिवासी आज भी कानून और न्याय से पूर्णतः उपेक्षित होते हुए भी अपना अस्तित्व बनाये हुये हैं। हिन्दू कानून उन्हें संरक्षण नहीं देता क्योंकि वह हिन्दू नहीं है और परम्पराओं को कानून रूप में स्वीकृति नहीं मिल सकती। परिणामस्वरूप परिस्थिति यह है कि जब आदिवासियों को संरक्षण की आवश्यकता होती है तो हिन्दू कानून के अनुसार एक ऊंगली परम्पराओं की तरफ उठती है और जब आदिवासी परम्पराओं और रीतिरिवाजों के अनुसार उन्हें न्याय की आवश्यकता होती है तो दूसरी ऊंगली हिन्दू कानून की ओर इशारा करती है। फलतः आदिवासी किसी

भी रूप में न्याय से वंचित रह जाते हैं। समय के परिवर्तन के साथ-साथ आदिवासियों के कुछ रिवाज अस्वीकृत हो गये हैं और उनमें उनकी रुचि नहीं रह गयी है। आदिवासी परम्पराएं जो अच्छी थीं अब बुरे रीतिरिवाज बन गयी हैं और पुरानी पड़ गयी हैं उनको दूर करना आवश्यक हो गया है नहीं तो वे आदिवासी कानून का रूप लेकर उनके हित को नुकसान पहुँचाएंगी।

उड़ीसा के गंजम जिले में गोडापट्टी जाति में कुछ क्षेत्रों में महिलाओं को बेचने की प्रथा है। स्त्रियों को बेचना और गिरवी रखना आदिवासी परम्परा में नहीं है परन्तु गरीबी के कारण भूख से बचने के लिए ऐसी घटनाएं भी घटित हो रही हैं। गोंडापट्टी महिलाएं 60 रु. और 400 रु. में बेची जाती हैं। जबकि राजस्थानी बिश्नोई जाति में आदिवासी पुरुष अपने बुरे समय में अपनी पत्नी को गिरवी रख देता है और ऋण चुका कर वापस ले आता है। निश्चित रूप से यह सारी परम्पराएं मूल आदिवासी सभ्यता की नहीं हैं परन्तु उनके शोषण का कारण स्वरूप हैं।

कुछ आदिवासी जातियों में मृत पति के छोटे भाई के साथ विधवा विवाह की प्रथा है। पति के किस भाई के साथ विवाह करना है यह उस महिला की इच्छा पर निर्भर करता है यदि कोई विधवा अपने मृत पति के अविवाहित भाई से शादी करना चाहती है तो उस भाई को पहले किसी और स्त्री से विवाह करना पड़ता है, तब वह उससे शादी कर सकती है।

मध्यप्रदेश के पश्चिमी क्षेत्र में बछरा जाति में बड़ी बेटी परिवार को सहारा देने के उद्देश्य से वेश्या बना दी जाती है। यहां तक कि आज भी कुछ पढ़ी-लिखी लड़कियां इस परम्परा का अनुसरण कर रही हैं उनमें से हर पांचवी लड़की खेलवाड़ी होती है। इस आदिवासी प्रजाति में खेलवाड़ी लड़की को काफी सम्मान दिया जाता है और उसे अपनी ही जाति में विवाह की अनुमति नहीं होती।

घाटी में रहनेवाली किनोरा आदिवासियों में संयुक्त परिवार की प्रथा है जिसमें यंकित नामक महिला के दो पति हैं जिनका नाम जोरीराम और ग्यालबो है, दोनों सगे भाई हैं, उनके तीन बच्चे हैं इस मातृक परिवार में छोटा भाई जोरीराम यदि किसी दूसरी लड़की से शादी करता है तो यंकित जोरीराम से अपने तीनों बच्चों का पालन-पोषण के लिए भत्ता मांग सकती है। जोरीराम इस मातृक संयुक्त परिवार में सबसे छोटी उम्र का पिता है। ऐसे में यह निर्णय करना मुश्किल हो जाता है कि इस समुदाय में हर बच्चे का पिता कौन है। इसी जाति में पलजोर, ज्ञान, उदय नाम के तीनों भाइयों की डोना नामकी एक ही पत्नी है सबसे छोटा पति अपनी पत्नी की उम्र से भी दस वर्ष छोटा है।

दापुर जिले में एक आदिवासी सरपंच की तेरह पत्नियां हैं और वह अभी भी चौदहवीं पत्नी के लिए प्रयासरत है। जब वह मुसीबत में होता है तो वह अपनी पत्नियों में से किसी एक को बेच देता है।

विदर्भ में आदिवासियों के बीच एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई है जो उनकी संस्कृति को नष्ट कर रही है। सरकारी अफसर, ठेकेदार, बिजनेसमेन दूर दराज के गांव में जा रहे हैं। वहां आदिवासी लड़कियां उनकी वासना का शिकार बन रही हैं। ये कुछ रुपयों का लालच देकर आदिवासी लड़कियों को उनके 'गोटुल' से ले जाते हैं। यह युवतियां अविवाहित मातृत्व धारण कर लेती हैं, इनके बच्चों के पास उनके पिता का नाम तक नहीं होता।

केवल एक जिले मयूरभंज से दो हजार आदिवासी लड़कियां बेच दी गयीं और वेश्या बना दी गयीं जबकि निजामाबाद जिले की दो हजार, आदिवासी लड़कियां योगिनी बन गयीं। योगिनी से तात्पर्य है हिन्दू मंदिरों में धार्मिक वेश्यायें ।

आदिवासी रीतिरिवाजों और परम्पराओं के रूप में इस तरह की कई समस्याएं हैं। ये समस्याएं पोखरन में हुये परमाणु विस्फोट के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं से भी ज्यादा जहरीली हैं और हिन्दू कानून ने उनको न्याय दिलाने की प्रक्रिया शुरू करने में कोई पहल नहीं की है। यहां तक कि आदिवासी न्याय पंचायत भी किसी प्रकार का न्याय देने में असहाय है। इस प्रजातांत्रिक देश में आदिवासियों की सबसे बड़ी

जगस्या है कि वे न्याय मांगने कहा जायें ।

गण पंचायत का न्यायिक प्रशासन

गण पंचायत के कानून यद्यपि लिखित रूप में नहीं हैं परन्तु परम्परागत रूप से आदिवासियों में वैध है। और आज भी आदिवासी समाज को बांधकर रखे हुये है। गण पंचायत आदिवासी समाज की उच्च न्यायिक सत्ता है जो इसके कानून का पालन नहीं करते उन्हें समुदाय से निष्कासित कर दिया जाता है। प्राचीन समय में दण्ड का प्रावधान - आंख के बदले आंख, हाथ के बदले हाथ, खून के बदले खून था परन्तु यह प्रावधान आदिवासी गण पंचायत में नहीं है। आदिवासियों का विश्वास है कि मृत्युदण्ड किसी व्यक्ति की हत्या के समान है। गण पंचायत द्वारा जो दण्ड दिये गए हैं वह इस प्रकार हैं जैसे समुदाय से निष्कासित कर देना, पूरे समुदाय को भोज देना, आधी मूंछ कटवा देना और कुत्ते पर बैठाकर गांव में जुलूस निकालना। सबसे अंत में विवर्णित दण्ड कई क्रूर अपराधों के लिए हैं क्योंकि कुत्ता या उस जैसा कोई जानवर आदिवासी गण का गणचिह्न है और गणचिह्न का अपमान एक गंभीर विषय है। उदाहरणार्थ आदिवासी नेतम, कुरमी या डोमा जनजाति कुत्ते की गणचिह्न रूप में पूजा करते हैं और इसके अपमान की अनुमति किसी को नहीं है।

अमेरिका में रेड इंडियन आदिवासियों में बेवफा महिला को पानी में डुबा कर मार दिया जाता है। कई अपराधों के लिए मृत्युदण्ड भी दिया गया था ऐसी दण्ड व्यवस्था भारत के किसी आदिवासियों में नहीं है।

6 अगस्त 1994 में मुंबई के शाहपुर में पाच सौ लोगों की उपस्थिति में कनही गोंडली नामक आदिवासी महिला की नीलामी की गयी। गांव पंचायत द्वारा लगाया गया 551 रुपये का जुर्माना उसकी सामर्थ्य के बाहर था इसलिए उसकी दस हजार रुपये में नीलामी कर दी गयी। आदिवासी गण पंचायत के नाम पर आदिवासी नीलामी की व्यवस्था प्रतिष्ठित नेताओं द्वारा आदिवासी महिलाओं के शोषण का तरीका है। यह बात यहीं पर खत्म नहीं होती। एक आदिवासी स्त्री को तब तक पीटा गया जब उसके सारे कपड़े फट नहीं गये। यद्यपि वह गर्भवती थी उस महिला को निर्वस्त्र किया गया उसके पेट पर लातों से ठोकर मारी गयी। ऐसे घृणात्मक कार्य मानव अधिकारों का उल्लंघन है और उन्हें मौजूदा हिन्दू कानून से जोड़ा नहीं जा सकता। पैतृक संस्कृति पाश्विक शक्ति के आधार पर आदिवासी महिला को गुलाम बना देती है।

आदिवासी विवाह के तौर तरीके (व्यवस्था) और आदिवासी उत्सव हिन्दूधर्म के विवाह और उत्सवों से पूर्णतः भिन्न है। विवाह के दौरान आदिवासी अपने रिश्तेदारों को विशिष्ट सम्मान देते हैं। साल वृक्ष का स्तम्भ विवाहोत्सव में महत्त्वपूर्ण समझा जाता है और जब तक साल और मोहा से बनी वेदी पर दुल्हा नहीं बैठता, विवाह पूर्ण नहीं माना जाता। उनमें कोई मंगलास्टक या सप्तपदी जैसे रिवाज नहीं हैं। सप्तपदी की आलोचना की गयी है जबकि हिन्दू कानून के अनुसार विवाह की कानूनी वैधता के लिए सप्तपदी अनिवार्य है।

आज भी आदिवासी 'पडस' में परम्परा और रीतिरिवाज अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। कुछ शहरी आदिवसी प्रगतिशील और पढ़े-लिखे लोगों के सम्पर्क में आकर अपनी परम्पराओं को नकार रहे हैं व हिंदुत्व की मुख्य धारा में शामिल हो रहे हैं। ऐसे सफेदपोश आदिवासियों को हिन्दू संस्कृति पर गर्व है और इसके साथ ही वे अपनी परम्पराओं के साथ अन्याय भी कर रहे हैं। यवतमाल शहर में 19 मई 1994 को श्याम सुन्दर कुमरे नामक युवा व्यक्ति ने मंगलास्टक और सप्तपदी के बिना विवाह किया इसे एक आदिवासी ऑफिसर जो उच्चाधिकारी था उसकी पत्नी ने बहुत अपमानजनक माना और तब से हम लोग इनके द्वारा निन्दित हो रहे हैं।

जो आदिवासी क्रिश्चियन बन गये हैं उनके विवाह ईसाई धर्म के अनुसार चर्च में होते हैं। उनकी मांग में सिंदूर नहीं भरा जाता और न ही शराब व नृत्य होते हैं। जबकि आदिवासी सामाजिक उत्सवों में नृत्य और संगीत को प्राथमिकता दी जाती है। गण पंचायत के अनुसार- बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत उनके जीवन का हिस्सा है। आदिवासी गीत एक विशिष्ट राग जैसे कि शास्त्रीय संगीत पर आधारित होते हैं।

*****

महिला हिंसा के विभिन्न आयाम

पारिवारिक हिंसा : सार्वजनिक स्वास्थ्य का एक मुद्दा

-प्रमिला नाईक
-रश्मि दिवेकर

1980 के दशक में वामपंथी और जनवादी महिला आन्दोलन ने औरतों पर होनेवाली हिंसा के सवाल को सार्वजनिक बनाया। लैंगिक शोषण, बलात्कार, दहेज जैसी समस्याओं को आन्दोलन का मुद्दा बनाया। सतीप्रथा, दहेजप्रथा और बलात्कार से संबंधित कानूनों में महिला आन्दोलनों के कारण बदलाव लाए गए। काम की जगह पर होनेवाले लैंगिक शोषण, लिंग परीक्षण, और लिंग चयन के खिलाफ कानून बने। इसी दौरान नारीवादी महिला आन्दोलन ने "पर्सनल इज पॉलिटिकल" का नारा बुलंद किया। पारिवारिक हिंसा के "निजी" मामले को सार्वजनिक बनाते हुए, इस खामोश दर्द को आवाज दी गयी और उसे सामने लाया गया। आन्दोलन में सक्रिय महिला कार्यकर्ताओं ने खुद अपने ऊपर होनेवाली पारिवारिक हिंसा के बारे में बोलना शुरू किया और एक दूसरों की मदद की। "हिंसा-मुक्त घर" महिला आंदोलन की मांग थी। महिला आन्दोलन की वजह से आज हम इस मुद्दे पर खुलकर बात कर सकते हैं।

'घर' औरतों के लिए आम तौर पर सुरक्षित जगह मानी जाती है, जहाँ प्यार, सुरक्षा और अपनापन महसूस होता है। लेकिन यही जगह 'असुरक्षित' तब बनती है जब घर में ही, अपने लोगों द्वारा उन पर बलात्कार होता है या उनकी हिंसा होती है। पारिवारिक हिंसा यानी ऐसा कोई भी व्यवहार जो औरत को शारीरिक, मानसिक या लैंगिक तौर पर चोट पहुँचाए, जिससे उसकी सुरक्षा खतरे में पड़ जाए। अत्याचार करने वाला उसका पति भी हो सकता है या फिर उसके ससुराल या नायके के लोग भी हो सकते हैं। यही वजह है कि औरत खुलकर बात नहीं कर सकती है और नजदीक के रिश्तेदार भी घर का मामला समझकर चुप्पी साध लेते हैं। पारिवारिक हिंसा किसी भी जाति, धर्म, वर्ग, पढ़ी-लिखी या अनपढ़ औरत पर हो सकती है। आंकड़ों से हमें पता चलता है कि हर पाँच औरतों में से एक औरत पर घरेलू हिंसा होती है। घरेलू हिंसा से परेशान होकर 26.3 प्रतिशत औरतें आत्महत्या करती हैं जिसमें गंभीर रूप से खुद को जला लेना या जहर पी लेने की घटनाएँ अधिक दिखाई देती हैं।

इस प्रकार की हिंसा की वजह से उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यह स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ मुद्दा है। औरतों पर होनेवाली हिंसा सिर्फ शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक, लैंगिक और आर्थिक तौर पर भी होती है। मारपीट, जला देना, बीगार होने पर इलाज न करवाना, गाली गलौज करना, बलात्कार, अनचाहा शारीरिक संबंध, पैसों की मांग आदि कई तरीकों से औरतों पर हिंसा होती है। 15 से 44 साल की आयु में जलकर मरने वाली औरतों के प्रमाण में महाराष्ट्र दूसरे स्थान पर है। आम तौर पर हिंसा की वजह से होनेवाली मृत्यु की चर्चा भी नहीं होती है, जबकि रास्तों पर दुर्घटना से होनेवाली मृत्यु के प्रमाण माना जाता है।

जलाने से होने वाली मृत्यु: 15.05 प्रतिशत,
आत्महत्या: 6.41 प्रतिशत
खून: 0.47 प्रतिशत

घरेलू हिंसा के कारण होनेवाली मृत्यु : 4.5 प्रतिशत

हिंसा के गंभीर परिणाम औरत के शारीरिक स्वास्थ्य पर होते हैं, जैसे सिरदर्द, बदन दर्द, हड्डी टूटना, पेट दर्द, एनीमिया, गर्भपात होना, एच.आय.पी., टी.बी. और गुप्त रोगों से ग्रसित होना है। एच.आय.वी., टी.बी. या गुप्त रोगों से पीड़ित होने पर, उन पर हिंसा और भी बढ़ जाती है। जैसे उनका इलाज न करवाना, उन्हें घर से निकाल देना आदि। मानसिक स्वास्थ्य पर होनेवाले कुछ परिणाम इस प्रकार हैं। जैसे आत्मविश्वास खो देना, डर लगना, नींद न आना, उदासीनता, वहम होना आदि। शुरू में हिंसा के प्रभाव इतने गहरे नहीं दिखाई देते, लेकिन दिन-ब-दिन हिंसा बढ़ती जाती है और जब वह औरत की सहनशक्ति से बाहर हो जाती है तब वह आत्महत्या करने की कोशिश करती है।

स्वास्थ्य की यही शिकायतें लेकर जब वह इलाज के लिए अस्पताल में आती है तो वहाँ उसका सम्पर्क नर्स, डॉक्टर, वॉर्डबॉय, आया बाई आदि से होता है। जब वह डॉक्टर को बताती है कि उसे चार दिन से बुखार है, उसके पति ने उसे पीटा है, तब डॉक्टर कहता है कि "तू क्या चार दिन से घर पे सोई थी ? पति ने मारा तो तूने भी कुछ किया होगा।" आम तौर पर डॉक्टरों एवं आरोग्य सेवकों का औरतों के साथ बातचीत का तरीका, उनकी तरफ देखने का नज़रिया कुछ इस प्रकार का होता है। डॉक्टर औरत की तकलीफ का कारण भी न पूछते हुए आम मरीज की तरह जाँच करके, दवा देकर उसे भेज देते हैं। वहीं औरत जब कुछ दिनों बाद गंभीर रूप से बीमार या मारपीट से बेहाल होकर आती है, तब भी उसे इसकी तकलीफ, पीड़ा का कारण पूछते हुए दवा देकर वापस भेज दिया जाता है। पारिवारिक हिंसा से पीड़ित महिला का आरोग्य सेवक सिर्फ शरीर का इलाज करते हैं लेकिन मानसिक परिणामों को पूरी तरह नज़रअंदाज करते हैं। हिंसा की वजह औरत को ही मानकर, उसे दोषी ठहराकर कोसा जाता है। आरोग्य सेवक भी यही सोचते हैं कि यह पारिवारिक मामला है, हम इसमें दखलंदाजी क्यों करें? यह देखना उनका काम नहीं, बल्कि पुलिस की जिम्मेदारी है।

पारिवारिक हिंसा सार्वजनिक आरोग्य का विषय है, इसलिए हिंसा को सामने लाने के लिए और इसे रोकने में आरोग्य सेवकों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। औरत पर हिंसा होने के बाद वह सबसे पहले आरोग्य सेवक के संपर्क में आती है। अस्पताल एक ऐसी जगह है कि जहाँ औरत बिना झिझक और बिना डर के अपने हिंसा के अनुभवों को व्यक्त कर सकती है। डॉक्टर और मरीज के बीच एक ऐसा रिश्ता होता है कि मरीज अपनी हर तकलीफ के बारे में खुलकर बात करता है। मामूली नोंक, घाव, जानबूझकर दी गई तकलीफ ये सारी बातें आरोग्य सेवक आसानी से पता लगा सकते हैं, क्योंकि उनको यह प्रशिक्षण दिया जाता है।

अस्पताल के अपघात विभाग में आनेवाले हर संदेहजनक केस को मेडिको लीगल केस के तौर पर दर्ज किया जाता है। इसके कारण गंभीर मारपीट, आत्महत्या, जलाना या जलाने की कोशिश, गिरना, दुर्घटना जैसे सभी मामले मेडिको लीगल केस के तौर पर ही दर्ज होते हैं। अस्पताल में मिलनेवाला मेडिको लीगल केसेस का रेकॉर्ड, हिंसा का बचाव करनेवाला एक दस्तावेज है, जो सिर्फ अस्पताल से ही मिलता है। अगर आरोग्यसेवकों को इस बारे में जागरूक किया जाए तो हिंसा से पीड़ित, महिला रुग्ण को तुरंत मदद मिल सकती है।

1996 में मुंबई के एक सरकारी अस्पताल में एक सर्वेक्षण हुआ था, जहाँ पर इमरजेन्सी वॉर्ड के पुलिस रजिस्टर में दर्ज हुए मामलों के बारे में अध्ययन किया गया है। इससे पता चला कि 833 औरतों को अस्पताल के इमरजेन्सी वॉर्ड में लाया गया था, जिसमें से 745 औरतों की उम्र 15 साल या उससे अधिक थी। इनमें से 22.4 प्रतिशत केसेस पारिवारिक हिंसा के थे।

डगा, 1996

आरोग्य सेवक की यह जिम्मेदारी है कि औरत के प्रति गलत धारणाओं को अपने मन से निकालकर हिंसा से पीड़ित औरतों के साथ अच्छा व्यवहार करें। हिंसा के कारण उनके स्वास्थ्य पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके बारे में गंभीरता से सोचें। उसकी पूरी बात अकेले में सुनें। उसे यह विश्वास दिलायें कि वह जो बात कहेगी, उसे गोपनीय रखा जाएगा। उसे अहसास दिलाया जाए कि हिंसा का कारण वह नहीं है और किसी भी स्थिति में हिंसा जायज नहीं है। पारिवारिक हिंसा विरोधी नए कानून के अनुसार अब आरोग्य सेवक की जिम्मेदारी बनती है कि हिंसा से पीड़ित महिला को मदद करें और पारिवारिक हिंसा की घटना के बारे में नजदीकी मजिस्ट्रेट को इसकी रिपोर्ट भी दें।

मुंबई के उपनगर बांद्रा में स्थित भाभा अस्पताल (बी.एम.सी.) में "दिलासा स्त्री अत्याचार" की शुरूआत सेहत संस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग की साझेदारी से हुई। इसके दो मुख्य उद्देश्य हैं, एहला आरोग्य सेवकों का हिंसा और आरोग्य के विषय पर प्रशिक्षण। दूसरा, औरतों को भावनात्मक, सामाजिक और कानूनी तौर पर मदद मिले। भारत में यह सबसे पहला प्रयास है। यहाँ आरोग्य सेवक से अपेक्षा करते हैं कि वह पीड़ित महिला के प्रति अपनी जिम्मेदारी को पहचानकर उन्हें उचित सेवा उपलब्ध कराने का दायित्व संभालें। अस्पताल के 882 कर्मचारियों में से एक समूह जिसमें सभी पदों के 40 आरोग्य कर्मचारी शामिल हैं, जिनको हिंसा और आरोग्य के विषय पर दिलासा संस्था प्रशिक्षण देती है।ताकि आगे चलकर वह प्रशिक्षित आरोग्य सेवक खुद अपने दूसरे कर्मचारियों को इन विषयों पर प्रशिक्षण दे सकें। इनमें डॉक्टर, नर्स, वार्डबॉय तथा आया बाई आदि शामिल हैं।

दिलासा में नारीवादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए परामर्श दिया जाता है। हिंसा से पीड़ित महिला को भावनात्मक आधार पर हिम्मत देना आवश्यक होता है ताकि वह खुद निर्णय ले सके और हिंसा का मुकाबला कर सके। औरत जब दिलासा में आती है तो पहले उसके अनुभवों को मान्यता देते हुए, उसके निर्णय का सम्मान करके, उसकी क्षमता पर विश्वास किया जाता है। इसके अलावा औरत को कानूनी मदद के साथ, पुलिस किस तरह से मदद कर सकती है इसका मार्गदर्शन दिया जाता है। हिंसा से पीड़ित महिला को यह सारी सेवाएँ एक ही जगह पर उपलब्ध करायी जाती हैं, ताकि उसे जल्द से जल्द मदद मिले।

सन 2001 से 2006 तक, इन छह सालों में 1500 से ज्यादा हिंसा से पीड़ित औरतों ने 'दिलासा' से मदद ली है। इस वजह से हम औरतों पर होने वाली हिंसा को शुरूआती चौर में ही रोकने में कामयाब हो पाए। यहाँ आनेवाली औरतों को अस्पताल सुरक्षित जगह लगती है, ऐसा हमें लगता है।

हिंसा से पीड़िता औरत के प्रति आरोग्य सेवक का संवेदनपूर्ण रवैया ही हिंसा को बढ़ने से रोक सकता है और यही हमारा 'दिलासा' में काम के दौरान का अनुभव रहा है।

*****

कामकाजी महिलाओं की स्वास्थ्य से जुड़ी समस्याएँ

-डॉ. विभूति पटेल

भारत में अधिकांश महिला कामगारों का स्वास्थ्य नाजुक और असुरक्षित है और असंगठित क्षेत्र की कुल श्रमजीवियों में से 94% महिला कामगारों के लिए तो यह समस्या और भी ज्यादा गंभीर है। महिलाएँ स्वरोजगार, घरेलू काम और खेती, खदान या ईंट भट्टी में काम, सड़क/इमारत निर्माण, कचरा इकट्ठा करना जैसे काम करती हैं। देश की 85% महिलाएँ कुपोषण की शिकार हैं। इसलिए महिला श्रमिकों की समस्याएँ भी विभिन्न हैं- दुर्घटना से अकस्मात और विकलांगता, बच्चे का गर्भावस्था में ही मर जाना, बच्चों में जन्म से विकार और बालमृत्यु भी औरत के स्वास्थ्य से गहरा ताल्लुक रखता है। विशेष आर्थिक क्षेत्र और अन्य उद्योगों में काम करनेवाली महिलाओं की भी कानून तक पहुँच नहीं होती तथा उनको रोजगार और पदोन्नति मिलने में समय, लिंग आधारित भेदभाव या अश्लील की समस्या का सामना करना पड़ता है। महिलाओं के वैयक्तिक और व्यावसायिक खतरों के बीच गहरा संबंध है। काम देनेवाले महिलाओं की बीमारी अपनी जिम्मेदारी नहीं मानते। व्यावसायिक बीमारियों के अपर्याप्त लिखित प्रमाण के कारण अधिकांश महिलाओं को उनके लिए कभी मुआवजा ही नहीं मिलता। अधिकतर महिलाएँ स्वरोजगार, दैनिक वेतनदर, मात्रा-आधारित दर (पीस रेट) और गृहआधारित काम में लगी हैं, इसीलिए उनकी एकत्रित आवाज़ नहीं सुनी जाती।

मजदूर संघों में ज्यादातर पुरुषों की प्रधानता होती है, इसलिए वे महिलाओं की विशेष आवश्यकताओं और उनके अधिकारों (जैसे पालनाघर, शौचालय, परिवहन आदि) के प्रति संवेदनशील नहीं होते। वैश्वीकरण के दबाव के कारण कई पुरुषों की स्थाई नौकरियाँ छूट गई हैं और इनके परिवार अब असंगठित घरेलू मजदूरी और गृह-स्थित लघुउद्योग व्यवसायों में काम कर रही महिलाओं द्वारा संभाले जा रहे हैं। महिलाओं को अक्सर पुरुषों से कम वेतन दिया जाता है, ज्यादा कठिन काम की स्थिति का उन्हें सामना करना पड़ता है, ज्यादा घंटे काम करना पड़ता है और इन सब का उनके स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है। सभी क्षेत्रों में कार्यस्थल पर यौनिक शोषण बेरोकटोक चल रहा है। काम के स्थल पर महिलाओं की छेड़छाड़, यौनिक प्रताड़ना और महिलाओं की व्यवसायलक्षी सुरक्षा से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण सवाल है और आज इसके प्रति जागरूकता भी बढ़ी है। सुप्रिम कोर्ट की विशाखा मार्गदर्शिका के तहत इसे गुनाह मानकर दंडनीय बताया गया है। लैंगिक प्रताड़ना के बारे में अब नया कानून बनाने की कार्यवाही शुरू हो गई है।

घर और खेतों में महिलाओं के श्रम को कोई आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यता नहीं दी गई है। इसके लिए महिलाओं को न तो वेतन मिलता है, न मातृत्व लाभ और निर्णय लेने में वे जिस समझ-बूझ का प्रयोग करती हैं, उस पर परिवार द्वारा विचार भी नहीं किया जाता। इसके अतिरिक्त महिलाओं का बाजार से कभी उस तरह का संपर्क नहीं रहता जैसा पुरुषों का रहता है और न तो महिलाओं के पास धन संपत्ति होती है। यह दुःख की बात है कि कृषि-भूमि संबंधित, महिलाओं की आत्महत्या को "किसान द्वारा आत्महत्या" नहीं माना जाता और उन्हें सरकार की ओर से

मुआवजा नहीं मिलता। वैसे तो आत्महत्या करनेवाले मृत किसान की विधवा को नौकरी, सामाजिक सुरक्षा और जमीन हक भी मिलना चाहिए।

धीरे-धीरे वेतन न कमानेवाली औरत को भी मातृत्व और स्वास्थ्य के लाभ मिलना शुरू हो गया है। शिशुपालन की सुविधा सामुदायिक रूप से मिलनी चाहिए ताकि लड़कियाँ स्कूल जा सकें, व्यवसायलक्षी तालीम हासिल कर सकें और उन्हें हर समय छोटे भाई-बहनों को संभालना न पड़े। औरतों द्वारा किया जानेवाला घरेलू काम, गर्भधारण और लालन-पालन आदि अर्थतंत्र के लिए उत्पादक कार्य हैं, इसलिए हर औरत को श्रमिक मानकर उसे स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।

महिला श्रमिकों के स्वास्थ्य से जुड़ी निम्नलिखित माँगों को व्यावसायिक संगठनों और महिला संस्थाओं ने आगे बढ़ाया है।

1. समान वेतन कानून के तहत हर महिला श्रमिक, कर्मचारी और अफसर को समान अवसर, सम्मान व्यवहार और समान काम के बदले में समान वेतन मिलना ही चाहिए। शादी हो जाने पर या बच्चे का गर्भाधान और प्रसूति होने पर उन्हें विशेष सुविधाएँ मिलनी चाहिए।
2. जो महिलाएँ गरीब तबको से आती हैं उन्हें पोषक आहार और दवाइयाँ भी मिलनी चाहिए।
3. बालिका-मजदूरी, बालविवाह और बालिका-औरतों का व्यापार आदि पर सख्त प्रतिबंध लगाना चाहिए। इससे संबंधित कानूनों का पालन होना चाहिए।
4. शिशुपालन सेवा और अन्य सामाजिक सुरक्षा सेवाएँ सामुदायिक स्तर पर उपलब्ध कराई जाए।
5. मातृत्व के लाभों के साथ-साथ सभी श्रमकानून सार्वभौमिक बनाए जाएँ।
6. व्यवसाय से जुड़ी बीमारियों और दुर्घटनाओं की रोकथाम के लिए पर्याप्त सुरक्षा प्रबंध किए जाने चाहिए।
7. महिला कामगारों के लिए कार्य-स्थल पर हानिकारक परिस्थिति या दुर्घटना के कारण आई बीमारी या चोट के लिए जल्द निदान, उपचार और पर्याप्त मुआवजा सुनिश्चित किया जाए।
8. यौनिक उत्पीड़न पर विशाखा मार्गदर्शिका का सभी कार्य-स्थलों, निजी, अनौपचारिक और गैरसरकारी क्षेत्रों में पालन किया जाए।
9. पर्याप्त रोशनी, हवा, पीने का पानी, शौचालय और पालनाघर जैसी सुविधाओं सहित कार्यदशा में सुधार लाया जाए।
10. काम देनेवाले मालिक, सरकार और लाभार्थी के संयुक्त योगदान से (कर लगा कर) सभी महिलाओं को प्रसूति छुट्टी देने की व्यवस्था की जाय।
11. सभी आंकड़ों में महिलाओं के आर्थिक योगदान से जुड़े काम और घर-परिवार आधारित श्रम के आंकड़े इकट्ठे किये जाएँ और इनका समावेश सरकारी दस्तावेजों में किया जाय।
12. असंगठित क्षेत्र को श्रमकानूनों के दायरे में लाया जाय और असंगठित क्षेत्र के सभी कामगारों के लिए स्वास्थ्य बीमा उपलब्ध कराया जाय।

*****

"श्रमजीवी महिलाओं का संगठन : महिला पैचवर्क"

- कु. रमावती वर्मा

1973 में अहमदाबाद की बाढ़ की स्थिति के कारण संकलित नगर जुहापुर क्षेत्र अस्तित्व में आया। इसके साथ ही "महिला पैचवर्क सहकारी संस्था" का जन्म भी हुआ। सरकार की ओर से 10,000 बाढ़ प्रभावित लोगों का सुरक्षित स्थानांतरण इस क्षेत्र में हुआ। यह जनसंख्या 2006 में बढ़कर 3,00,000 हो गयी। इस क्षेत्र के अधिकतर लोग दैनिक मजदूरी तथा जीविकायापन हेतु रिक्शा चलाना, पान की दुकान चलाना, सब्जी विक्रय, मछलीपालन का व्यापार, साइकिल मरम्मत इत्यादि करते हैं।

1973 के बाढ़ प्रभावित लोगों में रोशनबेन शेख भी शामिल थीं। यह प्राकृतिक आपदा उनके जीवन में मील का पत्थर साबित हुई। प्रभावित समुदाय का उन्होंने नेतृत्व किया एवं उनके सहयोग से पीड़ित लोगों के जीवन को सामान्य बनाने में सहायता मिली। इसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा और अपना जीवन लोगों को अधिकार दिलाने में लीन कर दिया। समुदाय ने निश्चित ही उनके इस समर्पण का आदर किया तथा उनका चयन समुदाय के परिषद सदस्य के रूप में किया।

रोशनबेन ने महिला पैचवर्क सहकारी संस्था की नींव 1978 में रखी और जीविका चलाने के लिए प्रशिक्षण कार्य के साथ ही संकलित नगर क्षेत्र की महिलाओं की मदद भी की। इस संस्था के जरिये उनका समुदाय के लोगों के प्रति अनुभव और गहराता चला गया और उन्होंने लोगों की शिक्षा, स्वास्थ्य तथा मानव अधिकार को अधिक महत्त्व दिया।

आरंभ में महिला पैचवर्क सहकारी संस्था का कार्यक्षेत्र संकलित नगर जुहापुर था किन्तु 2002 के दंगे के बाद इस संस्था का विस्तार हुआ और उसके कार्यक्षेत्र में बॉम्बे हॉटल, रामोल, वश्व इत्यादि शामिल हुए। ये तीनों औद्योगिक क्षेत्र थे। जिनमें बाम्बे हॉटेल क्षेत्र अब मुस्लिम समुदाय का निवासी क्षेत्र बनता जा रहा है। इन क्षेत्रों की महिलाओं को गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, रूढ़िवादी विचारधारा इत्यादि के कारण काफी आघात झेलना पड़ा। इन क्षेत्रों के लगभग 20,000 परिवारों में मुखिया की भूमिका महिलाओं को निभानी पड़ती है। समुदाय के लोगों को जीविका चलाने के मुद्दों के अतिरिक्त अन्य मुद्दों को भी सुलझाना आवश्यक है ताकि वे सम्मानपूर्ण जीवन जी सकें। इन क्षेत्रों में लोगों को पीने के पानी की समस्या, मनोरंजन के साधनों का अभाव तथा शिक्षा सुविधाओं की कमी है। इन क्षेत्रों में मात्र तीन से चार सरकारी स्कूल हैं, उनमें भी मूलभूत सुविधाओं का अभाव है। इस संस्था में लगभग 664 महिलाएँ, 140 किशोरियों, 350 बच्चे प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं। लगभग 3,00,000 लोग इसके विकास कार्यक्रम से जुड़े हैं।

कल्पना:-

महिला पैचवर्क सहकारी संस्था का लक्ष्य है समाज को शोषण, पक्षपात और अन्याय से मुक्ति दिलाना। समाज के लोगों को उनके मूलभूत अधिकारों के प्रति जागृत करना तथा उन्हें उनकी शक्ति का एहसास कराना ताकि वे अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर सकें। इस संस्था का लक्ष्य मानव भविष्य को उज्ज्वल बनाना है।

जाता है जिन्हें समाज में सरकारी अधिकारियों की ओर से अनदेखा किया जाता हो। इस संगठन के माध्यम से सरकार के समक्ष इन वर्गों के विकास हेतु सकारात्मक नीतियों का सुझाव रखा जाता है। समाज में मानव सुरक्षा हेतु मानव अधिकारों के प्रति लोगों को जागृत करने का कार्य किया जाता है। मानव सुरक्षा को बढ़ाने हेतु संगठन में अनेकों कार्यक्रम आयोजित किये जिसमें RTI के अंतर्गत 'पूछो सवाल' तथा अन्य कार्यक्रम प्रमुख हैं।

इस संगठन ने महिलाओं के लिए 'हेल्पलाइन' की शुरूआत की। जिसके द्वारा कोई भी महिला कभी भी किसी भी समय घरेलू हिंसा के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकती है।

इस संगठन की सहायता से जुहापुर में 'कानूनी सलाह केन्द्र' शुरू किया गया। जिसके अंतर्गत महिलाओं को उनके कानूनी अधिकारों के प्रति जागृत करने का प्रयास किया जाता है। इस दृष्टि से महिलाओं के लिए यह एक निकटतम एवं विश्वसनीय केन्द्र बन गया जहाँ वे अपनी समस्याओं का समाधान पा सकती हैं। वर्ष 2006 में इस केन्द्र में 62 केस दर्ज किये गये जिनमें प्रमुख घरेलू हिंसा से संबंधित थे। इसके माध्यम से दोनों पक्षों की आपसी बातचीत के द्वारा कोर्ट के बाहर ही समाधान का प्रयास किया जाता है।

"जानकारी केन्द्र" में सरकार ने लोगों के लिए जो योजनाएँ बनायी हैं उनके बारे में लोगों को जानकारी दी जाती है ताकि वे अपना विकास कर सकें। यह संगठन सरकार तथा लोगों के मध्य संबंध स्थापित करने का कार्य करता है।

यह संगठन यह विचारधारा रखता है कि समाज में सुधारात्मक बदलाव के लिए धार्मिक नेताओं का सहयोग लाभकारी हो सकता है। इस संगठन में "सद्भावना सम्मेलन" के जरिये दो समुदाय के लोगों के मध्य भाईचारा बढ़ाने के प्रयास किये जाते हैं।

'महिला पैचवर्क' सहकारी संस्था का प्रमुख कार्य लोगों को स्वस्थ बनाना है। इस संगठन के माध्यम से लोगों की बीमारी दूर करने तथा विशेषकर महिला रोगों से संबंधित बीमारियों को दूर करने के उपाय तथा इलाज किये जाते हैं। इसमें गर्भवती महिलाओं को पी.एच.सी. डॉक्टरों के पास जाने तथा उन्हें टी.टी. इंजेक्शन, आयरन टैबलेट लेने इत्यादि हेतु मार्ग सुझाये जाते हैं।

वर्ष 2006 में महिलाओं तथा बच्चों के लिए चार कैम्प आयोजित किये गये जिससे 666 लोगों का इलाज किया गया। महिलाओं के इलाज हेतु 'दाई प्रशिक्षण' भी दिया गया।

इस संगठन से बॉम्बे हॉस्पिटल में 258 लोगों को लाभ मिला, बी. वार्ड के 350 लोगों को लाभ तथा वश्व में 30 लोगों को स्वास्थ्य लाभ प्राप्त हुआ। इस संगठन के जरिये लोगों के मानसिक, शारीरिक, सामाजिक स्वास्थ्य में सुधार का कार्य किया जाता है।

उपरोक्त वर्णित श्रमजीवी महिला संस्था एक बहुत प्रेरक संस्था है जो महिलाओं की दशा एवं दिशा में सुधारात्मक एवं उत्साही परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार है। यह संगठन वर्तमान तथा भावी समाज में महिला विकास के लिए मार्ग उजागर करने का सराहनीय कार्य कर रहा है।

*****

स्रोत: महिला पैचवर्क की वार्षिक रिपोर्ट - 2006

सीडॉ

स्त्रियों के विरूद्ध सभी प्रकार के भेदभाव हटाने हेतु संविदा

महिलाओं के अधिकारों की पुनःस्थापना

प्रस्तुतिः

पार्टनर्स फॉर लॉ इन डेवलेपमेंट

सहायकः

युनाइटेड नेशन्स डेवलेपमेंट फण्ड फॉर विमेन,
दक्षिण एशिया क्षेत्रीय कार्यालय

© पार्टनर्स फॉर लॉ इन डेवलेपमेंट (पी.एल.डी.), नई दिल्ली 2006
यह प्रकाशन पी.एल.डी और यूनिफेम द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तक 'सीडॉ : रिस्टोरिंग राइट्स टू विमेन' का हिन्दी रूपान्तरण है।

इस किताब का प्रकाशन यूनिफेम के दक्षिण एशिया के क्षेत्रीय कार्यालय और जोता इन्टरनेशनल के सहयोग से मुमकिन हुआ है। इस प्रकाशन में व्यक्त किए गए मत लेखकों के हैं और यह जरूरी नहीं है कि यूनिफेम, संयुक्त राष्ट्र या उससे संबंधित किसी अन्य संस्था के मत का प्रतिनिधित्व करते हों।

पी.एल.डी. को आभार प्रकट करते हुए इस किताब का शैक्षिक और गैर- व्यावसायिक उपयोग का हम समर्थन करते हैं।

मूल लेखक :

मधु मेहरा

अमिता पुंज

अनुवाद :

मधु मेहरा

अमिता पुंज

अलका ओबरॉय

मुखपृष्ठ :

आनन्द नाओरेम

चित्र और डिजाइन :

विज्युल वाइब (www.visualvibe.net)

मुद्रक :

इंडिया प्रिन्टस

1

मानव अधिकार
सामान्य से विशिष्ट तक

मानवाधिकारों के मूल लक्षण

मानव अधिकार वे अधिकार हैं जो एक व्यक्ति को सिर्फ इसलिए प्राप्त हैं क्योंकि वह एक मनुष्य है। इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से हर परिस्थिति में इनका हकदार है। मानवाधिकार प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा को बरकरार रखने का प्रयास करते हैं। चूंकि प्रत्येक मानवाधिकार मानवीय गरिमा को बरकरार रखने के लिए अनिवार्य है इसलिए इनका बंटवारा नहीं किया जा सकता और न ही मानवाधिकारों में से कुछ को निबल दर्जा देकर तिरस्कृत किया जा सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति के जन्मसिद्ध अधिकार होने के कारण मानवाधिकारों को सामुदायिक स्तर पर एक नैतिक शक्ति के रूप में देखा जा सकता है कानूनी रूप देकर इन अधिकारों की नैतिक शक्ति को सुरक्षा और गारंटी प्रदान की जाती है। कानूनी गारंटी मिलने से मानवाधिकार राजनैतिक उतार चढ़ाव या अन्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहते।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र बनने के बाद मानवाधिकारों को कानूनी रूप मिला। मुख्य रूप से मानवाधिकार तीन अंतर्राष्ट्रीय संधियों में हैं :

- मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा, 1948 (Universal Declaration of Human Rights, UDHR – यू. डी. एच. आर.)
  नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, 1966 (International Covenant on Civil & Political Rights, ICCPR आई. सी. सी. पी. आर.)
  आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, 1966 (International Covenant on Economic, Social & Cultural Rights, ICESCR – आई.सी. ई एस. सी. आर.)

यू. डी. एच. आर. छीने न जा सकने वाले और उल्लंघन न किए जा सकने वाले अधिकारों की घोषणा करती है। ये अधिकार पांच श्रेणियों से संबंधित हैं – नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक। जीने का अधिकार, अभेदभावपूर्ण व्यवहार, घर और आश्रय, स्वास्थ्य, काम, शिक्षा और रहन–सहन का उचित स्तर आदि मानवाधिकार इनमें शामिल हैं। यू. डी. एच. आर. के अंतर्गत इनको पूरा करना अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों का दायित्व है। यू. डी. एच. आर. के सिद्धांतों को ही दो मानवाधिकार संधियों – आई. सी. सी. पी. आर. तथा आई. सी. ई. एस. सी. आर. में अधिनियमित किया गया है। घोषणा में सम्मिलित अधिकारों को संधियों के रूप में ढालने से इसके प्रति राष्ट्रों के दायित्व और प्रबल हुए हैं।

ये दो संधियां अधिकारों को अलग–अलग श्रेणियों में बांटती हैं। इसका एक राजनैतिक इतिहास है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दो तरह की राजनैतिक व्यवस्थाएं और सोच उभर कर आईं। अमरीका और पश्चिमी यूरोपीय देशों ने पूंजीवाद तथा प्रजातन्त्र का ढांचा अपनाया। इसके विपरीत रूस, चीन और अन्य पूर्वी यूरोपीय देशों ने समाजवाद यानी कॉम्यूनिज़्म अपनाया। इस अलग सोच ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर देशों के दो गुट बना दिए जिससे शक और विरोध की राजनीति का माहौल पैदा हुआ। यह माहौल 'शीत युद्ध' के नाम से जाना जाता है। ये संधियाँ इस राजनैतिक माहौल में पैदा होने के कारण इस माहौल से प्रभावित भी रहीं। लेकिन इन दोनों संधियों का मौलिक स्रोत एक (यू. डी. एच. आर.) है और संधि होने के कारण दोनों का कानूनी प्रभाव एक समान है।

इससे यह साफ है कि दोनों श्रेणियों के मानवाधिकारों का स्तर एक है और कानूनी प्रभाव भी एक है। परन्तु सवाल यह उठता है कि ये अधिकार बाकी अधिकारों से किस तरह अलग है ? मूल रूप से फर्क यह है कि मानवाधिकार जन्म सिद्ध अधिकार हैं जिनका स्रोत कानून, सरकार, समाज अथवा धर्म नहीं हैं जिनसे आम तौर पर अन्य अधिकार उभरते हैं। मानवाधिकार सभी मानवों में एक समान निहित हैं, इन्हें छीना नहीं जा सकता, इनका बंटवारा नहीं किया जा सकता तथा ये एक दूसरे से जुड़े होने के कारण एक दूसरे पर निर्भर भी हैं। ये विशेषताएं मानवाधिकारों को परिभाषित करती हैं तथा उनमें और अन्य अधिकारों में भेद दर्शाती हैं। इन विशेषताओं पर नीचे चर्चा की गई है।

सर्वव्यापक : जो सबको एक समान प्राप्त हैं

सार्वव्यापकता का सिद्धांत यह है कि सभी लोग प्रत्येक संदर्भ और परिस्थिति में बिना किसी भेदभाव के मानवाधिकारों के हकदार हैं। वंश, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनैतिक या अन्य विचार, राष्ट्रीय या सामाजिक मूल, सम्पत्ति, जन्म और अन्य किसी हैसियत के आधार पर किसी भी व्यक्ति को इन अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। अन्य शब्दों में मानवाधिकार हर समय सभी मनुष्यों को जहां भी वे रहते हैं समान अधिकार और सम्मान प्रदान करते हैं। सभी सरकारों को उनके द्वारा अपनाए मानवाधिकार आदर्शों को लागू करना चाहिए। सरकार को यह तय करने का हक नहीं है कि वह किस अधिकार का पालन करेगी और किसका नहीं। परिणामस्वरूप न तो सरकार मानवाधिकारों को चुनिंदा रूप से लागू कर सकती है और न इसमें स्वेच्छापूर्ण दृष्टिकोण अपना सकती है।

न त्यागे या छीने जा सकने वाले अधिकार

मानवाधिकारों का अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व पर निर्भर करता है न कि उस संदर्भ या व्यवस्था जिसमें व्यक्ति रहता है। इसलिए मानवाधिकार संस्कृति, कानून और राजनैतिक पद्धति की परवाह

किए बिना प्रत्येक व्यक्ति मे निहित हैं। इन अधिकारों को कोई छीन नहीं सकता, बेच या खरीद भी नहीं सकता। क्योंकि ये अधिकार मनुष्यों में निहित हैं इसलिए स्वयं भी वे इनका त्याग नहीं कर सकते और न ही इनकी सौदेबाजी कर सकते हैं।

इनका विभाजन नहीं किया जा सकता

मानवाधिकारों की गठरी में कई श्रेणियों के अधिकार समाए हुए हैं, जैसे नागरिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक। इस गठरी के सभी अधिकार एक दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक दूसरे पर निर्भर हैं तथा समान महत्त्व वाले हैं। इसी कारण इनमें से किसी भी एक अधिकार का हनन या कमी होने पर व्यक्ति बाकी मानवाधिकारों का भी पूर्ण रूप से इस्तेमाल या उपभोग नहीं कर सकता। उदाहरण के तौर पर बेरोजगारी का प्रभाव अन्य अधिकारों जैसे कि भोजन, शिक्षा, आश्रय, स्वास्थ्य, स्वतंत्र और ठोस जानकारी के आधार पर वोट देने तथा आखिरकार जीने के अधिकार पर पड़ता है। सभी अधिकारों की गारंटी होने पर ही एक व्यक्ति ठीक तरह से और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत कर सकता है। अधिकारों में जुड़ाव और निर्भरता के सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय कानून में स्वीकार किया गया है।[1] ये हैं – नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, 1966, विकास के अधिकार हेतु घोषणा, 1986 तथा वियना घोषणा, 1993।[2]

अंतर्राष्ट्रीय कानून में इन सिद्धांतों को अपनाए जाने के बावजूद इन्हें शीत युद्ध की राजनीति के तहत गहरी चोट पहुंची। अमरीका और अन्य पश्चिमी यूरोपीय देशों ने नागरिक, राजनैतिक अधिकारों को अन्य अधिकारों के ऊपर प्राथमिकता देकर तथा रूस और पूर्वी यूरोपीय देशों ने सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों को प्राथमिकता देकर मानवाधिकारों का बंटवारा कर दिया। यह बंटवारा मानवाधिकारों की समझ और उनके कार्यान्वयन दोनों में आज तक दिखाई देता है। इसलिए ये सिद्धांत दोहराना और इन पर अमल करना मानवाधिकारों को वास्तविक रूप मे साकार करने के लिए जरूरी है।

प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अन्दर महिलाओं के अधिकारों में रुकावटें[3]

मानवाधिकारों के इतिहास में अमरीका और पश्चिमी यूरोपीय देशों की प्रधान भूमिका रही है। उनकी राजनैतिक सोच मानवाधिकारों की परिभाषा और विस्तार में दिखाई देती है। यही कारण है कि नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों को प्राथमिकता मिली है तथा सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों को नजरन्दाज किया गया है। इसी तरह मानवाधिकारों के इतिहास में पुरुषों की प्रभावी भूमिका होने के कारण महिलाओं के अनुभव नजरअन्दाज हुए हैं। इसलिए महिलाओं के मानवाधिकारों को साकार करने में कई रुकावटें आई हैं। इन रुकावटों पर नीचे चर्चा की गई है।

मानवाधिकारों का बंटवारा

मानवाधिकारों के विभिन्न श्रेणियों में बंटवारे और एक श्रेणी के अधिकारों को दूसरी श्रेणी के अधिकारों पर प्राथमिकता के प्रभाव को महिलाओं के संदर्भ में देखते हैं। महिलाओं के पहनावे पर

[1] नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र, 1966 प्रस्तावना संख्या खंड 2।

[2] वियना घोषणा और कार्रवाई का कार्यक्रम 1993, मानवाधिकारों की अविभाज्यता और परस्पर निर्भरता को मान्यता प्रदान एवं घोषित करती है : सभी मानवाधिकार सार्वभौमिक, अविभाज्य, परस्पर निर्भर और परस्पर संबंधित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को मानवाधिकारों के साथ वैश्विक स्तर पर निष्पक्ष और समान तरीके आधार और महत्व से व्यवहार करना चाहिए। चाहे राष्ट्रीय और क्षेत्रीय विशिष्टताओं और विभिन्न ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमियों को ध्यान मे रखना चाहिए, फिर भी राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के बावजूद, सब राष्ट्रों का दायित्व है कि वे मानवाधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रता को सुरक्षा प्रदान करें और बढ़ावा दें'। पैरा 5।

[3] हिलेरी चार्लसवर्थ 'व्हाट आर विमेन्स इंटरनेशनल ह्यूमन राइट्स, 'ह्यूमन राइट्स ऑफ विमेन : नेशनल एंड इंटरनेशनल पर्सपेक्टिव्स' के संपादन में, सम्पादक रयेका कोकू, 58 – 84 (फिलाडेल्फिया : पेन्सिलवेनिया प्रेस, 1994)

सामाजिक रोक टोक या इस तरह के महिलाओं को चुनौती और सांस्कृतिक नियमों पर खुली चर्चा की मांग का उदाहरण लेते हैं, प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत देखा जाए तो इस मामले पर रामझ में अधूरी रहेगी और मामले का हल भी नहीं निकलेगा। पहले के की जाने वाली चुनौती को प्रमुख ढांचे में या तो स्वतंत्र रोक और बोलने के नागरिक अधिकार के रूप में देखा जाएगा या धर्म और संस्कृति के अधिकार के हनन के रूप में। इसके विपरीत ऊपर इन अधिकारों की दोनों श्रेणियों के आपसी जुड़ाव को समझकर इस मामले को महिलाओं के संदर्भ में देखें तो हल निकल सकता है।

अधिकारों को ऊंचा या नीचा दर्जा देना

शीत युद्ध के राजनैतिक माहौल में कार्यान्वित प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत कुछ मानवाधिकारों को अन्य मानवाधिकारों से ऊंचा और ज्यादा महत्त्व वाला माना जाने लगा। अधिकारों को एक दूसरे से असंबद्ध रूप में देखने या किसी अधिकार को दूसरों से ऊंचा या नीचा दर्जा देने से बहस का मुद्दा केवल यह बन गया कि कौन सा अधिकार ऊंचा है कौन सा नहीं या कौन सा अधिकार जरूरी है कौन सा गैर-जरूरी। प्रत्येक अवस्था या परिस्थिति के कारणों और नतीजों में एक से अधिक मानवाधिकारों का योगदान होता है। एक परिस्थिति को पैदा करने वाले या उसके नतीजों में दिखाई देने वाले अधिकारों को अलग-अलग दर्जा देना उस परिस्थिति पर सही समझ बनाने में बाधक होता है। गरीबी जो लोगों के जीवन के लिए घातक साबित हो सकती है, कई अधिकारों के हनन का नतीजा है, जैसे - भोजन, रोजगार, आश्रय आदि। चूंकि ये अधिकार आर्थिक तथा सामाजिक श्रेणी के हैं, इसलिए इनसे पैदा होने वाली गरीबी की परिस्थिति को विकास संबंधी समस्या माना जाता है, न कि मानवाधिकार का मुद्दा। महिलाओं के संदर्भ में यह कहा गया है कि प्रजनन संबंधी सेवाओं की कमी या अपर्याप्त सेवाओं[4] के कारण बच्चे को जन्म देते समय कई महिलाओं की मृत्यु हो जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रजनन संबंधी अधिकारों का महिलाओं के जीवन के अधिकार से गहरा संबंध है। इसके बावजूद इन्हें सांस्कृतिक रीति-रिवाजों या धर्म के विषय के रूप में देखा जाता है न कि जीवन के अधिकार के हनन के रूप में। इसके विपरीत पुलिस द्वारा गैर-कानूनी हत्याओं को स्पष्ट रूप से जीवन के अधिकार का हनन माना जाता है।

[4] लॉरी एन हाइडी "ह्यूमैन राइट्स टू हेल्थ : द इनोक्वेट ऑफ कंटेम्पररी अप्रोचेज" इन हिलेरी चार्लसवर्थ एंड कैथलीन वॉकर (एडिटर्स) ह्यूमैन राइट्स एंड कंटेम्पररी इंटरनेशनल लॉ, इन कैथलीन वाकर ह्यूमैन राइट्स : कंटेम्पररी चैलेंजेज इन द इंटरनेशनल कॉन्टेक्स्ट के संस्करण में (सिडनी ऑस्ट्रेलियन ब्रुक्स एड एंड पब्लिशर 238, 256 (सिडनी : ऑस्ट्रेलिया 1995)।

संदर्भ में देखें तो उनके अधिकारों के हननकर्ता आमतौर पर सरकारी लोग जैसे कि परिवार, समुदाय, कार्यस्थल के सदस्य होते हैं। चूंकि ये हनन गैर सरकारी व्यक्ति और संस्थाओं द्वारा किया जाता है, इसलिए इसे प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत मानवाधिकारों के हनन का दर्जा नहीं दिया जाता। महिलाओं के घूमने-फिरने, शिक्षा प्राप्त करने तथा बोलने की आजादी पर परिवार और समुदाय द्वारा रोक-टोक इसी प्रकार के उदाहरण हैं। घरेलू हिंसा भी ऐसा ही एक मामला है।[1] यह जेंडर आधारित भेदभाव का एक सबसे बड़ा सार्वभौमिक और व्यवस्थित प्रकार है। लेकिन इसके प्रति राष्ट्र की जिम्मेदारी को अभी हाल ही में मान्यता प्राप्त हुई है।

अधिकारों को सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित करना

सरकार और राजनीति वर्ग से जुड़ा मानवाधिकार का प्रधान ढांचा केवल सार्वजनिक क्षेत्र में हुए अधिकारों के हनन पर ध्यान केन्द्रित करता है। निजी क्षेत्र में अधिकारों के हनन जैसे कि परिवार, समुदाय या व्यापार में हनन को प्रधान ढांचा महत्व नहीं देता। चूंकि उच्च समाज के सार्वजनिक क्षेत्र में पुरुष अधिक संख्या में हैं और वे प्रधान हैं, इसलिए मानवाधिकारों जो केवल सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित करने से जेंडर से जुड़े निजी क्षेत्र में होने वाले भेदभाव नजरअन्दाज हो जाते हैं। सच तो यह है कि महिलाओं का अस्तित्व और उनकी भूमिका निजी क्षेत्र में निर्धारित होती है। उनकी नागरिक और राजनैतिक आजादियों जैसे कि बोलने, घूमने, शिक्षा आदि की आज़ादी पर रोक-टोक सबसे पहले और प्रबल रूप में परिवार और समुदाय द्वारा लगाई जाती है। इस रोक-टोक का असर सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं जो भूमिका में झलकता है। मानवाधिकारों को केवल सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित रखने का नतीजा महिलाओं के मानवाधिकारों के दायरे से बाहर रखना है।

केवल व्यक्तिगत अधिकारों को मान्यता

नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों पर जोर देने वाले प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत केवल व्यक्तिगत भेदभाव और अधिकारों के हनन को मान्यता दी जाती है। परन्तु हाल ही में विश्व समुदाय

[1] चार्लोट बंच, "कास्टिंग डिग्निटी एज ए ह्यूमन राइट्स क्वेश्चन", हयूमन राइट्स क्वार्टरली, खण्ड 8, नं. 4, नवम्बर 1986, पृष्ठ 486-330 एलिजाबेथ एम. सॉल्टजबर्ग द्वारा संपादित "द इंटरनेशनल बिल ऑफ ह्यूमन राइट्स" में पुनर्मुद्रित (बोल्डर, कोलोराडो: लिन रिनर पब्लिशर्स इंक., 1990)

के अधिकारों का हनन ज्यादातर जाति, जेंडर या गरीबी आदि के कारण होता है। इसलिए सामूहिक अधिकारों के हनन प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अन्दर नज़रअन्दाज़ हो जाते हैं।

केवल अधिकारों के उल्लंघन पर आधारित

नागरिक एवं राजनैतिक मुद्दों पर ज़ोर देने के कारण केवल अधिकारों के उल्लंघन और पीड़ितों के संदर्भ में ही मानवाधिकार परिभाषित हो गए हैं यह इसलिए हुआ क्योंकि नागरिक एवं राजनैतिक अधिकार एक तरफ तो हर व्यक्ति की आज़ादी और व्यक्तिगत सुरक्षा को स्पष्ट करते हैं और दूसरी तरफ राष्ट्र पर इन व्यक्तिगत आज़ादियों के दायरे में जाने पर रोक लगाते हैं। इस रोक के कारण प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत राष्ट्र का दायित्व केवल नकारात्मक [6] माना जाता है। इसके विपरीत आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक श्रेणी के अधिकारों को साकार करने के लिए राष्ट्र पर योजनाओं और कार्यक्रमों का दायित्व डाला जाता है। चूंकि योजनाओं और कार्यक्रमों के लिए संसाधनों की ज़रूरत होती है, इसलिए इन दायित्वों को सकारात्मक दायित्व [7] माना जाता है। अलग–अलग दायित्वों के कारण प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत दोनों श्रेणियों के अधिकारों को एक दूसरे से बिल्कुल अलग समझा जाता है। परन्तु सच तो यह है कि नागरिक एवं राजनैतिक आज़ादियों के इस्तेमाल के लिए हर व्यक्ति को स्वास्थ्य, शिक्षा, आश्रय और रोज़गार की ज़रूरत है। इसके साथ–साथ यह भी सच है कि आज़ादियों और सुरक्षा को बरकरार रखने के लिए भी राष्ट्र को संसाधनों की ज़रूरत पड़ती है जैसे कि पुलिस व्यवस्था के काम काज और उनके प्रशिक्षण के लिए।

हालांकि मानवाधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय कानून और चर्चा मानवाधिकारों को सर्वव्यापक, बंटवारा न किए जा सकने वाले और एक दूसरे पर निर्भर मानते हैं, परन्तु प्रमुख मानवाधिकार ढांचे के अंतर्गत इन सिद्धांतों को चोट पहुंची है। इसका असर महिलाओं तथा हाशिए पर स्थित अन्य समूहों पर पड़ता है जो ऐतिहासिक और वर्तमान भेदभाव के शिकार हैं नीचे दी गई तालिका इन सब रुकावटों को स्पष्ट करती है।

	अधिकारों की श्रेणी	उल्लंघनकर्ता	पीड़ित
सार्वजनिक	नागरिक, राजनैतिक अधिकार	सरकारी कर्ता	व्यक्तिगत अधिकार खासकर पुरुषों के जो मुख्यतः सार्वजनिक क्षेत्र में क्रियाशील होते हैं
निजी	आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार	गैर सरकारी कर्ता	सामूहिक अधिकार खासकर महिलाओं के जो मुख्यतः निजी क्षेत्र में क्रियाशील हैं।

महिलाओं को मानव का दर्ज़ा देना

मौलिक मानवाधिकार संधियों में लिंग के आधार पर भेदभाव की मनाही है। फिर भी महिलाओं के संदर्भ में इन मौलिक अधिकारों और आज़ादियों का स्पष्टीकरण नहीं हो पाया। जैसे सोचने, घूमने, बोलने की आज़ादी और जीवन की सुरक्षा आदि का महिलाओं के संदर्भ में क्या अर्थ है? जैसा कि पहले भाग में उल्लेख किया गया है प्रमुख मानवाधिकार ढांचा न केवल नागरिक, राजनैतिक अधिकारों को प्राथमिकता देता है बल्कि यह पुरुषों के अनुभवों और मानकों पर आधारित भी है। इसी कारण एक ऐसे कानून की आवश्यकता थी जो महिलाओं के अनुभवों और संदर्भों के अंतर्गत सामान्य अधिकार तथा आज़ादियों को स्पष्ट करे। स्त्रियों के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव हटाने हेतु संविदा (Convention on the Elimination of All Forms of Discrimination Against Women, CEDAW, सीडॉ) एक ऐसा ही विशेष कानून है। यह न केवल मानवाधिकारों को महिलाओं के संदर्भ में परिभाषित करता है, बल्कि उन क्षेत्रों पर भी प्रकाश डालता है, जिनमें उनके विरुद्ध बड़े पैमाने पर भेदभाव होता है जैसे रोज़गार, स्वास्थ्य, पारिवारिक ज़िंदगी, शिक्षा आदि।

सीडॉ बाकी मानवाधिकारों के दस्तावेज़ों (संधियां और घोषणाएं) से अलग है जो 'लिंग पर आधारित भेदभाव' को निष्पक्ष रूप से संबोधित करते हैं। सीडॉ यह स्पष्ट करती है कि महिलाएं सामूहिक तौर पर लिंग आधारित भेदभाव की शिकार हैं। यह इस ओर भी ध्यान दिलाती है कि महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव का वैचारिक आधार पितृसत्तात्मक सोच है। यही सोच परिवार के अन्दर, कार्यस्थल और सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की भूमिका तथा योग्यता निर्धारित करती है। सार्वजनिक और निजी दोनों क्षेत्रों में महिलाओं की असमानता का स्रोत लिंग आधारित पितृसत्तात्मक सोच है। इस तरह से सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के जुड़ाव स्थापित करना सीडॉ का विशेष योगदान है।

मौलिक मानवाधिकार संधियों से महिलाओं पर विशेष कानून सीडॉ तक के सफर के तहत मानवाधिकारों का दायरा सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र तक बढ़ गया है। यह सफर आसान नहीं था, परन्तु यह धीमी गति से बढ़ती हुई और मज़बूती से लड़ी हुई लड़ाई थी।

समानता का सफर

सीडॉ से पहले महिलाओं के संबंध में कई अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेज़ आए। इन दस्तावेजों ने केवल कुछ गिने–चुने क्षेत्रों में महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव को संबोधित किया। मुख्य रूप से नागरिक क्षेत्र में असमानता और सार्वजनिक क्षेत्र में हिंसा अंतर्राष्ट्रीय चिंता के विषय थे। कुछ क्षेत्रों में असमानता के संबोधन से आगे बढ़कर सभी क्षेत्रों में सभी प्रकार के जेंडर आधारित भेदभाव पर एक व्यापक संधि तक का सफर टुकड़ों में संपन्न हो पाया। इस सफर को आगे बढ़ाने में महिला अधिकारों के आन्दोलन का विशेष योगदान था।

विश्व के विभिन्न भागों में अलग–अलग समय और अलग–अलग संदर्भों में ये संघर्ष पनपे। इन संघर्षों ने महिलाओं की नई भूमिका के साथ समाज में बदलाव की नींव रखी और अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार के कानूनों को धीरे–धीरे प्रभावित किया। महिलाओं ने औपनिवेशिक शासन से आज़ादी, नागरिक अधिकार, श्रमिक अधिकार, समान वेतन जैसे विषयों पर दावा करके इनके संदर्भ में अपनी नई भूमिका की रचना की। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा यू. डी. एच. आर. 1948 में "पुरुषों और महिलाओं के समान अधिकारों" को शामिल किया गया। [8] उसके बाद 1966 में दो महत्त्वपूर्ण मानवाधिकार की संविदाएं बनीं। उन संविदाओं– नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र (आई. सी. सी. पी. आर.) तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र (आई. सी. ई. एस. सी. आर.) में लिंग आधारित भेदभाव पर रोक लगाई गई।

इससे आगे बढ़ते हुए कुछ संधियां बनीं जिनमें कुछ खास क्षेत्रों में महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव को दूर करने का दायित्व राष्ट्रों पर डाला गया। व्यक्तियों के अवैध व्यापार तथा अन्य लोगों की वेश्यावृत्ति के शोषण के दमन हेतु संधि, 1949 ऐसी पहली संविदा थी जिसमें एक गंभीर परिस्थिति को संबोधित किया गया; सीडॉ को अपनाने से पहले संयुक्त राष्ट्र ने विशेषकर संघर्ष की परिस्थितियों में महिलाओं पर होने वाले हिंसात्मक अत्याचारों पर ध्यान दिया था। इसलिए आपातकाल और राशस्त्र संघर्ष में महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा हेतु घोषणा, 1974 द्वारा इन परिस्थितियों में अमानवीय व्यवहार पर रोक लगा दी गई। इसी दौरान रोज़गार और राजनीति के क्षेत्रों में दो अंतर्राष्ट्रीय संधियों द्वारा महिलाओं के लिए कुछ अधिकार सुनिश्चित किए गए। अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (आई. एल. ओ.) ने 1951 में महिला और पुरुष श्रमिकों के लिए वेतन की बराबरी की घोषणा की। इसके अंतर्गत समान कार्य के लिए महिलाओं को पुरुषों के बराबर वेतन का अधिकार मिला। इसके बाद 1952 में महिलाओं के राजनैतिक अधिकारों पर संविदा ने महिलाओं को राजनीति में सहभागिता सुनिश्चित की।

सन् 1952 तक महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव को समाप्त करने की दिशा में ली गई कोशिशें केवल सार्वजनिक क्षेत्र तक सीमित थीं, निजी क्षेत्र में भेदभाव दूर करने का पहला कदम दास प्रथा को हटाने पर अनुपूरक संविदा, 1956 के रूप में उठाया गया। इसने उन सामाजिक प्रथाओं को समाप्त करने की पहल की जहां महिलाओं को वस्तु के रूप में दे दिया जाता था। उदाहरण के तौर पर शादी

8. अलोन एस क्रेनर, "ब्रेकिंग द ह्यूमन : द ओरिजन एंड डेवलपमेंट ऑफ विमेन्स राइट्स" विमेन, जेंडर एंड ह्यूमन राइट्स : ए ग्लोबल परस्पेक्टिव के संस्करण में, सम्पादक मार्जोरी एगोसिन, 15 – 64 (जिगाकु शावक पब्लिकेशन्स 2001) 18

है, कुछ पैसों के बदले या विधवा होने पर महिला का किसी दूसरे पुरुष को सौंप देना। निजी क्षेत्र में उत्तराधिकार के नियमों पर रोक लगाकर इस संविधान ने कुछ हद तक समाज के प्रत्येक क्षेत्र – परिवार में भेदभाव को संबोधित किया।

1957 में शादीशुदा महिलाओं की राष्ट्रीयता पर संविदा आई। इस संविदा के फलस्वरूप महिलाओं की राष्ट्रीयता शादी पर आधारित नहीं रही। अर्थात् इसके तहत पति की राष्ट्रीयता से अलग करके महिलाओं की राष्ट्रीयता को एक स्वतंत्र पहचान दी गई। इसने निजी क्षेत्र में भेदभाव के उस क्षेत्र को संबोधित किया जो सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं के अधिकारों को संकुचित कर रहा था। 1964 में शादी की सहमति, शादी की न्यूनतम आयु और शादी के पंजीकरण पर संविदा आई। इसने पहली बार महिलाओं को मिले मताधिकार वाले शादी से जुड़ी प्रथाओं को गंभीर मानते हुए संबोधित किया। इसने न सिर्फ महिलाओं को जीवन साथी चुनने का अधिकार दिया, बल्कि शादी में उनकी सहमति को जरूरी बताया।

अन्तर्निहित प्रत्येक संविदा महिलाओं के अधिकारों को सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र की ओर बढ़ाने वाला एक कदम था। इसी तरह महिलाओं के मानवाधिकारों का सफर कुछ मुद्दों से आगे बढ़कर सीधे जैसी एक विस्तृत संविदा तक पहुंचा।

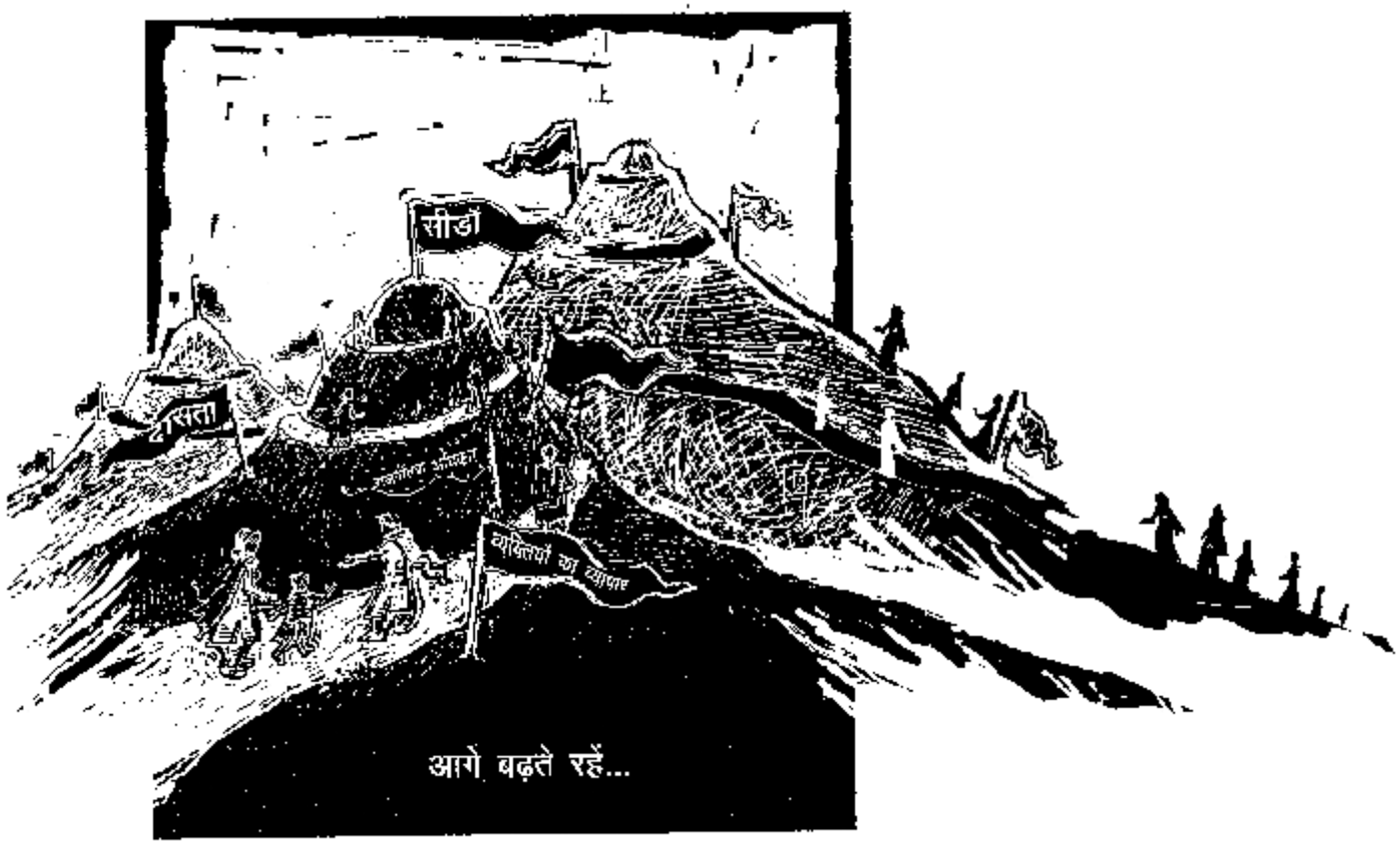

संयुक्त राष्ट्र में महिला अधिकारों की मान्यता का सफर

1	1949	व्यक्तियों के अवैध व्यापार और अन्य लोगों की वेश्यावृत्ति के शोषण के दमन हेतु संविदा
2	1951	एक समान वेतन पर अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (आई. एल. ओ.) की 100वीं संविदा
3	1952	महिलाओं के राजनैतिक अधिकारों पर संविदा
4	1956	दासता के उन्मूलन पर अनुपूरक संविदा
5	1957	शादीशुदा महिलाओं की नागरिकता पर संविदा
6	1962	शादी की सहमति, शादी की न्यूनतम आयु और शादी के पंजीकरण पर संविदा
7	1974	आपातकाल और सशस्त्र संघर्ष के दौरान महिलाओं और बच्चों के संरक्षण पर घोषणा
8	1979	स्त्रियों के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव हटाने हेतु संविदा का अंगीकरण
9	1981	सीडॉ का लागू होना[9]
10	2000	सीडॉ के लिए वैकल्पिक नयाचार / प्रोटोकॉल[10]

सीडॉ के अंग

आमतौर पर यह समझा जाता है कि संविदा केवल अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत बना दस्तावेज़ है। परन्तु सच्चाई यह है कि संविदा कानूनी दस्तावेज़ और उसके भीतर दिए गए अनुच्छेदों तक सीमित नहीं है। इसका सार और विस्तार अलग-अलग संदर्भों में अनुच्छेदों के प्रयोग और उनसे संबंधित विवादों से उभरता है। यही प्रयोग और विवाद संधि को एक गतिशील और जीवित दस्तावेज़ बनाते हैं। इसी तरह 1979 में जन्मी सीडॉ के स्थिर अनुच्छेदों को सामान्य संस्तुतियों यानी सुझावों और निष्कर्ष के तौर पर आने वाली टिप्पणियों ने गतिशील बनाया है। सामान्य संस्तुति और ये टिप्पणियां सीडॉ के कार्यान्वयन से उभरती हैं। इस प्रकार सीडॉ अन्य संधियों की तरह अनुच्छेदों, सामान्य संस्तुतियों और निष्कर्ष टिप्पणियों से मिलकर बनी है।

संविदा का दस्तावेज़

संविदा के दस्तावेज़ में एक उद्देशिका यानी प्रस्तावना तथा 30 अनुच्छेद हैं। प्रस्तावना में सीडॉ का उद्देश्य और आधार निहित है। अनुच्छेद 1 भेदभाव को परिभाषित करता है जबकि अनुच्छेद 2 से 4

9. बीसवें राष्ट्र सदस्य द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त होने के बाद तीसवें दिन सीडॉ लागू हुआ - अनुच्छेद 27 (1)। यह लागू होने के बाद ही सभी अनुसमर्थन करने वाले राष्ट्रों के लिए बाध्य हुआ।

10. शब्दावली देखें।

राष्ट्रों के दायित्व दिए गए हैं। अनुच्छेद 5 से 16 में मूल मुद्दों का समावेश है। इनमें उन क्षेत्रों का उल्लेख है जो विशेषकर महिलाओं को प्रभावित करते हैं जैसे कि शिक्षा,[11] रोज़गार,[12] स्वास्थ्य[13] और राजनैतिक सहभागिता।[14] इन क्षेत्रों के संबंध में ये अनुच्छेद राष्ट्र के दायित्वों को भी निर्धारित करते हैं। अनुच्छेद 1 से 4 में सीडॉ जेंडर भेदभाव की व्यापक समझ बनाती है। इस समझ को यह अनुच्छेद 5 से 16 में दिए गए क्षेत्रों में लागू करके उनमें जेंडर भेदभाव का उल्लेख करती है। ऐसा करके यह जेंडर भेदभाव को इन क्षेत्रों तक सीमित न रखकर इस समझ को अन्य क्षेत्रों में लागू करने का रास्ता दिखाती है। बाद के अनुच्छेदों 17 से 30 में सीडॉ को कार्यान्वित करने वाली कमिटी के संगठन, उसकी गतिविधियों और उसके द्वारा की जाने वाली पुनरवलोकन प्रक्रिया दी गई है।[15]

सामान्य संस्तुति

सीडॉ को कार्यान्वित करने के दौरान सीडॉ कमिटी के सामने कई नए मुद्दे तथा अलग–अलग संदर्भों से जुड़ी समस्याएं आती हैं। इन नए मुद्दों और समस्याओं की व्याख्या सीडॉ कमिटी इन्हें अनुच्छेदों के संदर्भ में देखते हुए और सीडॉ की समझ को उन संदर्भों पर लागू करते हुए करती है। यह व्याख्या ही सामान्य संस्तुति कहलाती है। इस तरह यह संविदा के कार्यक्षेत्र को स्पष्ट करती है तथा उसका विस्तार करती है। अब तक 25 संस्तुतियां दी जा चुकी हैं।[16] इनमें से कुछ महत्वपूर्ण संस्तुतियां हैं – 16, 17, 19, 20, 21, 23, 24। सामान्य संस्तुति 19 महिलाओं के विरुद्ध हिंसा पर है। यह "जेंडर आधारित सभी प्रकार की हिंसा चाहे वह निजी क्षेत्र में हो या सार्वजनिक, पर रोक लगाने के लिए उपयुक्त और प्रभावी तरीके" अपनाने की जवाबदेही राष्ट्र सदस्यों पर डालती है। सामान्य संस्तुति 21 शादी और पारिवारिक संबंधों में महिलाओं की समानता पर है। सामान्य संस्तुति 16 और 17 पारिवारिक उद्यम या व्यवसाय तथा लिंग आधारित घरेलू कामकाज के बंटवारे से उभरे भेदभाव को संबोधित करती हैं। सामान्य संस्तुति 23 का उद्देश्य राजनैतिक और सार्वजनिक जीवन में महिलाओं के विरुद्ध भेदभाव दूर करना और 24 का उद्देश्य स्वास्थ्य सेवाएं सुनिश्चित करना है।

निष्कर्ष टिप्पणी

सीडॉ के प्रत्येक राष्ट्र सदस्य को समय–समय पर सीडॉ कमिटी में रिपोर्ट जमा करनी पड़ती है। इस रिपोर्ट में राष्ट्र यह बताते हैं कि किस प्रकार और किस हद तक उन्होंने अपने देश में सीडॉ का पालन किया है। इन रिपोर्टों का पुनरवलोकन करना सीडॉ कमिटी का प्रमुख कार्य है। पुनरवलोकन के अंतर्गत सीडॉ कमिटी उन राष्ट्रों के संदर्भ में अपने विचार, निर्णय और सुझाव रखती है। ये निर्णय और विचार निष्कर्ष टिप्पणियां कहलाती हैं। ये सीडॉ के दस्तावेज़ को राष्ट्रों द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में लागू करने के तरीके दर्शाते हुए सीडॉ की समझ के दायरे को बढ़ाती है।

सीडॉ को एक पेड़ के रूप में देखा जा सकता है जिसमें सीडॉ दस्तावेज़ पेड़ का तना है और सामान्य संस्तुतियां उसकी शाखाएं हैं। ये शाखाएं अलग–अलग मुद्दों और परिस्थितियों के संबंध में संविदा के अर्थ को स्पष्ट करती हैं और उसका विस्तार करती हैं। निष्कर्ष टिप्पणियां विभिन्न देशों के संदर्भ में सीडॉ का कार्यान्वयन दर्शाती हैं। इस तरह से सीडॉ नए मुद्दों, चुनौतियों और चिंताओं के संदर्भ

11. स्त्रियों के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव हटाने हेतु संविदा, 1979, अनुच्छेद 10।

12 वही, अनुच्छेद 11।

13 वही, अनुच्छेद 12।

14 वही, अनुच्छेद 7।

15. सीडॉ के अन्तर्गत गठित समिति की संरचना और क्रिया के लिए शब्दावली देखें।

16. यह आंकड़ा 2004 तक की स्थिति है। सीडॉ के अनुच्छेद 2 के अन्तर्गत राष्ट्र के दायित्वों से संबंधित सामान्य संस्तुति 26 पर विचार – विमर्श अभी जारी है।

में अपना कार्य-पथ दो प्रकार से निर्धारित करती है : पहला, सामान्य टिप्पणियों द्वारा मुद्दों के संबंध में और दूसरा, निष्कर्ष टिप्पणियों द्वारा राष्ट्रों के संदर्भ में। यह निरंतर प्रक्रिया वर्तमान स्थितियों में भी मौलिकता सुनिश्चित करने के लिए सौदों को प्रासंगिक बनाती है। इसलिए सम्पूर्ण संविदा केवल संधि के दस्तावेज़ में नहीं बनती बल्कि राष्ट्रों की समीक्षाओं, सामान्य टिप्पणियों तथा निष्कर्ष टिप्पणियों से मिलकर बनती है।

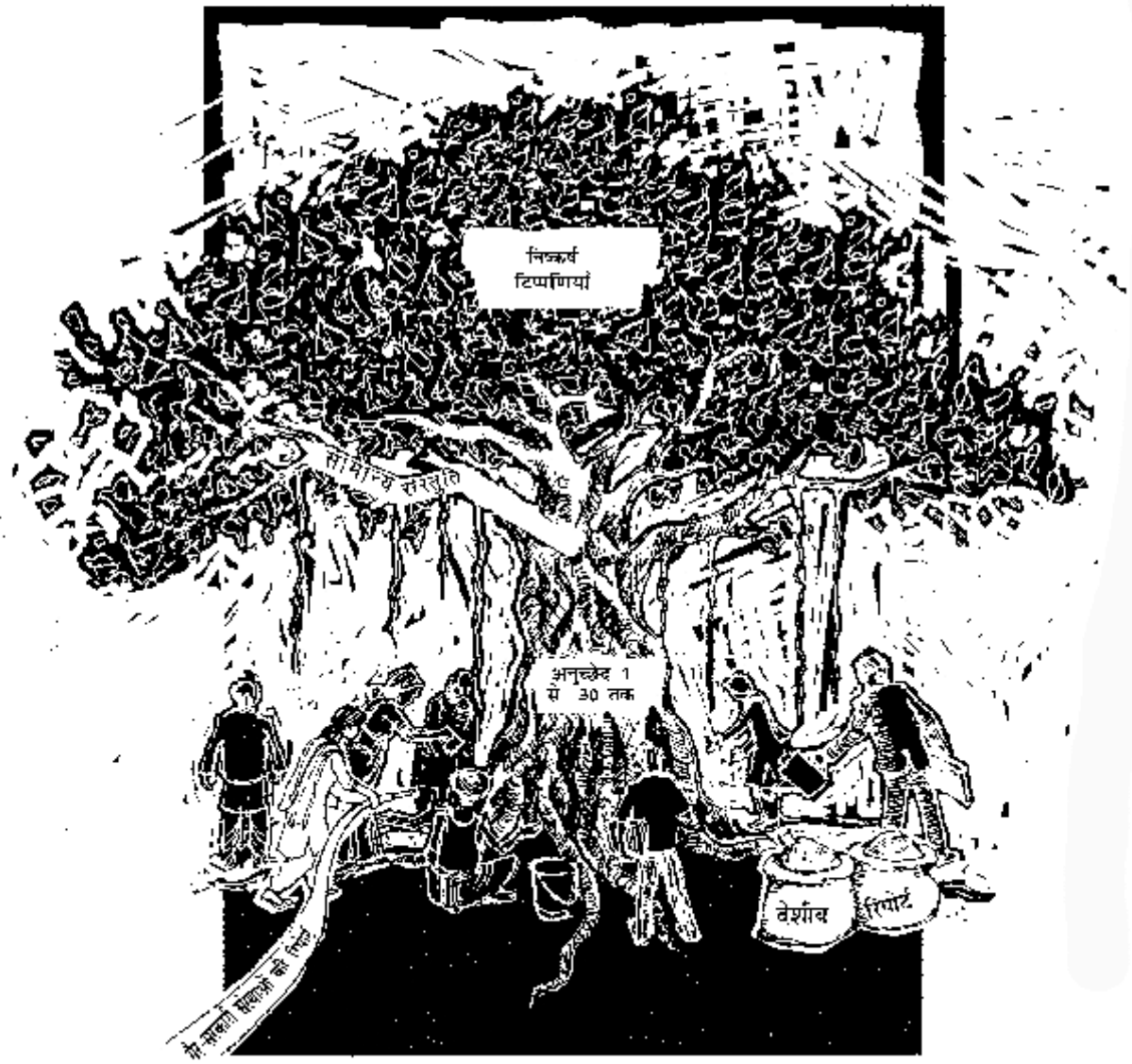

परिशिष्ट

शब्दावली

अनुसमर्थन (रैटिफिकेशन)

अनुसमर्थन (रैटिफिकेशन) राष्ट्र द्वारा दी गई एक लिखित सूचना है जिसके द्वारा राष्ट्र संधि की बाध्यता स्वीकार करता है। अनुसमर्थन के बाद ही कोई राष्ट्र संधि की पार्टी या सदस्य बनता है और 'राष्ट्र सदस्य' या 'संविद राष्ट्र' कहलाता है। बनने के बाद भी संधि तब तक लागू नहीं होती जब तक उसे कुछ देश अनुसमर्थन न दें। हर संधि में यह निर्धारित किया जाता है कि कितने देशों के अनुसमर्थन के बाद वह लागू होगी। सीडॉ को लागू होने से पहले कम से कम 20 राष्ट्रों को अनुसमर्थन चाहिए था। (अनुच्छेद 27)

अनुच्छेद पर शर्त

अनुच्छेद पर शर्त एक ऐसी घोषणा है जिससे राष्ट्र सदस्य संधि के कुछ अनुच्छेदों के दायित्व से अपने आप को बँधा हुआ नहीं मानता। अंतर्राष्ट्रीय कानून में राष्ट्र द्वारा वो शर्तें लगाई जा सकती हैं जो सद्भाव से बनाई गई हों और संविदा के उद्देश्य के विरुद्ध न हों।

कमिटी

अनुच्छेद 17 के अंतर्गत कमिटी स्थापित की गई है। इसमें राष्ट्र सदस्यों द्वारा चुने गए 23 विशेषज्ञ हैं। वे अपनी व्यक्तिगत क्षमता में कमिटी में कार्य करते हैं, न कि सरकारी प्रतिनिधि के रूप में। महिलाओं के संदर्भ में विशेष अनुभव/जानकारी होने के अलावा इन्हें उच्च नैतिक स्तर का होना चाहिए। इन विशेषज्ञों के चुनाव में विभिन्न संस्कृतियों, भौगोलिक क्षेत्रों तथा कानूनी पद्धतियों के समान प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जाता है। ये चार वर्षों तक कमिटी में कार्य करते हैं और दोबारा भी चुने जा सकते हैं। प्रत्येक दो वर्षों के बाद कमिटी के आधे सदस्य बदल जाते हैं।

घोषणा

घोषणा द्वारा राष्ट्र सदस्य एक अनुच्छेद के संदर्भ में अपने दायित्व को स्पष्ट करती है। घोषणा अनुच्छेद पर शर्त से भिन्न है। यह दायित्व के संदर्भ में राष्ट्र की स्थिति स्पष्ट करती है परन्तु दायित्व को सीमित नहीं करती।

जेंडर/ लिंग भेद

जेंडर भेद लिंग भेद से अलग है। लिंग भेद महिलाओं और पुरुषों के बीच शारीरिक भिन्नता पर आधारित है। जेंडर भेद शारीरिक भिन्नता से जुड़ी सामाजिक सोच और धारणाएँ हैं। यह सोच महिलाओं और पुरुषों को अलग-अलग प्रकृति से जोड़कर उनको विभिन्न भूमिकाओं और क्षमताओं के दायरे में बाँध देती है। ये धारणाएँ और इससे जुड़ी भूमिकाएँ पुरुषों को प्रधान मानकर महिलाओं को निचला दर्जा देती हैं।

नकारात्मक दायित्व

मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं को बरकरार रखने के लिए राष्ट्रों की शक्ति के ऊपर कुछ पाबंदियाँ लगाई जाती हैं। इन पाबंदियों और नियमों के मुताबिक राष्ट्र किसी व्यक्ति विशेष के अधिकारों और आज़ादी पर पूरी तरह रोक नहीं लगा सकता। राष्ट्र पर ऐसी पाबंदियों को नकारात्मक दायित्व कहा जाता है। ऐसा दायित्व कानून में होने से हर व्यक्ति अपनी बोलने, घूमने आदि की आज़ादी बरकरार रख सकता है। सरकार पर यह नकारात्मक दायित्व है कि वह व्यक्ति की इस आज़ादी के दायरे को न तोड़े।

राष्ट्रीय कानून

राष्ट्रीय कानून वह है जो किसी देश के भीतर लागू होता है।

राष्ट्र सदस्य

राष्ट्र सदस्य वे देश हैं जिन्होंने संविदा का अनुसमर्थन किया है।

विधितः (डि ज्योरे) और वस्तुतः (डि फैक्टो)

विधितः औपचारिक तौर पर कानूनी स्थिति दर्शाता है वस्तुतः वास्तविक हालात दर्शाता है। सीडॉ यह पहचानती है कि औपचारिक स्तर पर कानून होने के बावजूद भी वास्तविक स्थिति भिन्न हो सकती है। उदाहरण के तौर पर कानून में भेदभाव की मनाही के होते हुए भी वास्तविक तौर पर भेदभाव होना। इसलिए विधितः तथा वस्तुतः क्षेत्र में फर्क दूर करने के लिए सीडॉ सकारात्मक कार्रवाई पर ज़ोर देती है।

वैकल्पिक न्याचार (प्रोटोकॉल)

कुछ मानवाधिकार संधियों के साथ एक सहायक संधि भी बनाई जाती है जो मातृ संधि का कार्यान्वयन मज़बूत करती है। केवल वे राष्ट्र इसका अनुसमर्थन कर सकते हैं जो मातृ संधि के

सदस्य हों। सदस्य राष्ट्र द्वारा प्रोटोकॉल का अनुसमर्थन करना या न करना उनकी इच्छा पर निर्भर होता है। वैकल्पिक प्रोटोकॉल का अनुसमर्थन करने के बाद सम्बंधित राष्ट्र में रहने वाले लोग कमिटी को सीधे अपनी शिकायतें भेज सकते हैं। इसके तहत कमिटी किसी गम्भीर मानवाधिकार उल्लंघन के मामले में भी जांच कर सकती है। ये दो कार्यविधियां कमिटी की ताकत और कार्यक्षेत्र बढ़ाती हैं जो सीडॉ के अंतर्गत केवल राष्ट्र की रिपोर्टों की जांच तक सीमित है। ऐसा करने पर व्यक्तिविशेष की कमिटी तक पहुंच भी सुनिश्चित हो जाती है।

सीडॉ और कमिटी

इस किताब में सीडॉ के दस्तावेज़ को सीडॉ कहा गया है। सीडॉ के अंतर्गत बनाई गई समिति को कमिटी कहा गया है।

सकारात्मक दायित्व

सकारात्मक दायित्व वे हैं जो अधिकारों को साकार करने के लिए सरकार को ठोस कदम उठाने के लिए बाध्य करते हैं, जैसे योजनाएँ तथा कार्यक्रम बनाना, उन्हें लागू करने के लिए संसाधन निर्धारित करना। एक व्यक्ति और उसके परिवार के स्वास्थ्य और खुशहाली के लिए रहन सहन के समुचित स्तर का अधिकार सकारात्मक दायित्व का एक उदाहरण है।

संधि

व्यापक तौर पर संधि एक कानूनी दस्तावेज़ है। यह राष्ट्रों और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की इच्छा और सहमति से बनती है : घोषणाओं और सम्मेलनों के मुकाबले अंतर्राष्ट्रीय कानून में संधि राष्ट्रों को सबसे अधिक बाध्य करती है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र अपनी लिखित सहमति से संधि के सदस्य बनते हैं, इसके दायित्वों को पूरा करने के लिए अपने आप को बाध्य मानते हैं तथा कमिटी द्वारा राष्ट्र के पुनरवलोकन की सहमति देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत केवल राष्ट्र ही इसमें सदस्य बन सकते हैं न कि व्यक्ति विशेष। संधि संविदा या प्रतिज्ञापत्र के नाम से भी जानी जाती है।

संविदा की स्वीकृति

राष्ट्र किसी संविदा को स्वीकृति द्वारा भी अपना सकता है। संविदा की स्वीकृति का कानूनी प्रभाव अनुसमर्थन के समान ही होता है स्वीकृति के लिए भी राष्ट्र को लिखित रूप से संविदा को अपनाना पड़ता है जिससे वे संविदा को लागू करने के लिए बाध्य हो जाता है। ज्यादातर संधि लागू होने के बाद राष्ट्रों को उसे स्वीकृति देने का अवसर मिलता है।

हस्ताक्षर

संधि के दायित्व को कानूनी रूप से अपनाने से पहले राष्ट्र संधि के उद्देश्यों से सहमति उस पर हस्ताक्षर करके प्रकट कर सकते हैं। हस्ताक्षर करने पर राष्ट्र संधि के अनुच्छेदों का पालन करने के लिए बाध्य तो नहीं होते, परन्तु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यह उम्मीद बन जाती है कि वे संधि के उद्देश्य का उल्लंघन नहीं करेंगे। हस्ताक्षर करने पर राष्ट्र को अपने कानूनों की जांच व उनमें बदलाव लाने का मौका मिल जाता है जिससे वह संधि का अनुसमर्थन करने के काबिल हो जाए।

स्त्रियों के विरुद्ध सभी प्रकार के भेदभाव हटाने हेतु संविदा

इस संविदा के भागीदार राष्ट्र

संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र को ध्यान में रखते हुए मौलिक मानवाधिकारों, मानव मात्र की प्रतिष्ठा और महत्त्व तथा स्त्री–पुरुष समानता के अधिकार के प्रति दृढ़तापूर्वक पुनःआस्था व्यक्त करते हैं,

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के नज़रअंदाज़ भेदभाव की आग्राह्यता के सिद्धान्त के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त करते हैं और घोषित करते हैं कि सभी मानव स्वतंत्र पैदा होते हैं तथा प्रतिष्ठा और अधिकार में समान हैं; इसलिए जैसा कि इसमें कहा गया है हर प्राणी सभी तरह के अधिकारों और स्वतंत्रता का हकदार है। उनमें लैंगिक भेदभाव सहित किसी प्रकार के भेदभाव नहीं किए जा सकते,

मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र को स्वीकार करते हुए स्त्री – पुरुष के बीच आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक और सांस्कृतिक सभी अधिकारों के प्रयोग में समान अधिकार को सुनिश्चित करने का दायित्व लेते हैं,

स्त्री पुरुष के अधिकारों में समानता को बढ़ावा देने के लिए संयुक्त राष्ट्र और उसके विशिष्ट अभिकरणों के तत्वाधान में निर्धारित अन्तर्राष्ट्रीय संविदाओं को स्वीकार करते हैं,

स्त्री पुरुष के बीच समानता के अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए संयुक्त राष्ट्र और विशिष्ट अभिकरणों द्वारा अंगीकार किए गए संकल्पों, घोषणाओं और सिफारिशों को स्वीकार करते हैं, यद्यपि ये सभी स्त्री विरोधी सघन भेदभाव पर ये तमाम उपकरण मौजूद हैं पर इसके बावजूद भी भेदभाव का अस्तित्व कायम है, स्वीकार करते हैं, यह प्रत्याह्वान करते हैं कि स्त्री विरोधी भेदभाव मानव समानता के सिद्धान्त और मानव सम्मान के अधिकारों का उल्लंघन करता है; यह भेदभाव स्त्री–पुरुष समानता के सापेक्ष स्त्रियों के लिए अपने देशों की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन की भागीदारी में एक बड़ी बाधा है। इससे समाज और परिवार की समृद्धि का विकास बाधित होता है और अपने देश तथा मानवता की सेवा के लिए स्त्रियों की अंतःशक्ति के पूर्ण विकास में कठिनाई पैदा होती है,

यह मानते हैं कि गरीबी की स्थिति में महिलाओं को भोजन, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रशिक्षण, रोजगार के अवसर और अन्य जरूरतों की सुलभता अत्यन्त ही न्यून होती है,

यह स्वीकार करते हैं कि न्याय और समानता पर आधारित नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना स्त्री–पुरुष के बीच समानता को बढ़ावा देने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान देगी,

इस बात पर बल देते हैं कि प्रजाति पार्थक्य, सभी प्रकार के जातिवाद, नस्लवाद, जातीय भेदभाव, उपनिवेशवाद, नवउपनिवेशवाद, आक्रमण, विदेशी आधिपत्य और प्रभुत्व तथा राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में दखलअंदाजी का उन्मूलन स्त्री–पुरुष के अधिकारों के पूर्ण उपभोग के लिए आवश्यक है,

यह आस्था रखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की मजबूती, अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में कमी, सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों के भेदभाव के बगैर सभी राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग, आम रूप से पूर्णतः निरस्त्रीकरण और विशेष रूप से दृढ़ तथा प्रभावी अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के तहत नाभिकीय निरस्त्रीकरण, न्याय के सिद्धान्त, देशों के पारस्परिक संबंधों में समानता और आपसी लाभ, असंबद्ध उपनिवेशी प्रभुता तथा विदेशी संप्रभुता के देशों में जनता के आत्मनिर्णय, स्वतंत्रता, राष्ट्रीय संप्रभुता के प्रति सम्मान और प्रादेशिक अखंडता, सामाजिक प्रगति और विकास को बढ़ावा देंगे और इसके

परिणामस्वरूप स्त्री–पुरुष के बीच पूर्ण समानता प्राप्त करने में सहयोग देंगे,

इस बात से राहमत हैं कि देश के पूर्ण विकास, विश्व कल्याण और शान्ति के लिए सभी क्षेत्रों में पुरुष की समानता के आधार पर स्त्रियों की अधिकतम भागीदारी अपेक्षित है,

इस बात को ध्यान में रख रहे हैं कि परिवार–कल्याण और समाज–विकास में स्त्रियों का महत्वपूर्ण योगदान है मगर अभी तक उनको इसका श्रेय नहीं दिया गया है। बच्चों के मातृत्व की सामाजिक महत्ता और परिवार तथा बच्चे के विकास में माता–पिता दोनों की भूमिकाओं और स्त्रियों की सृजनशीलता को भेदभाव का आधार नहीं मानना चाहिए। बच्चों की देखभाल और विकास में स्त्री–पुरुष तथा पूरे समाज का साझा दायित्व अपेक्षित है,

यह जानते हैं कि स्त्री पुरुष के बीच पूर्ण समानता प्राप्त करने के लिए समाज और परिवार में स्त्री–पुरुष की पारम्परिक भूमिका में परिवर्तन अपेक्षित है,

'स्त्री विरोधी भेदभाव उन्मूलन' के घोषणा - पत्र में निर्धारित सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से सभी प्रकार के ऐसे भेदभावों को समाप्त करने के लिए अपेक्षित कदम उठाने की दृढ़ प्रतिज्ञा करते हुए,

निम्नांकित से पूरी तरह सहमत हैं.

भाग 1

अनुच्छेद 1

वर्तमान संविदा में 'स्त्री–विरोधी भेदभाव' का अर्थ लिंग के आधार पर ऐसी किसी भी तरह की भिन्नता, बहिष्कार या प्रतिबंध है जिसका परिणाम या मकसद महिलाओं के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, नागरिक या किसी और क्षेत्र में मानवाधिकारों या मौलिक आज़ादी की मान्यता, उपभोग या प्रयोग को हानि पहुँचना या समाप्त करना हो। यह परिभाषा स्त्री विरोधी भेदभाव को उनके वैवाहिक स्तर से पृथक करके देखती है और इस भेदभाव को पुरुषों के साथ बराबरी के मापदंड पर तोलती है।

अनुच्छेद 2

राष्ट्र सदस्य स्त्री–विरोधी सभी तरह के भेदभाव की निन्दा करते हैं। इसे समाप्त करने के उद्देश्य से ये सदस्य अविलंब भेदभाव उन्मूलन की नीति बनाने और समुचित तरीके अपनाने हेतु प्रयास करने के लिए राहमत हैं। इसके लिए ये राष्ट्र निम्न कार्य शुरू कर रहे हैं :

(क) अभी तक जिन राष्ट्रों के राष्ट्रीय संविधान या अन्य समुचित विधानों में स्त्री–पुरुष समानता का सिद्धांत समाविष्ट नहीं है तो उनमें शामिल करना और इस सिद्धांत के व्यावहारिक रूप को कानून और अन्य समुचित माध्यमों से सुनिश्चित करना,

(ख) स्त्री–विरोधी सभी तरह के भेदभाव को समाप्त करने के लिए आवश्यकतानुसार दंड विधान सहित समुचित विधान और अन्य दूसरे मानदंडों को अंगीकार करना,

(ग) स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर स्त्रियों के अधिकारों के लिए कानूनी सुरक्षा स्थापित करना और भेदभाव को किसी भी कार्रवाई के खिलाफ राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों और दूसरे सार्वजनिक संस्थानों के माध्यम से स्त्रियों को प्रभावी सुरक्षा सुनिश्चित करना,

(घ) स्त्री–विरोधी भेदभाव के किसी भी कार्य या व्यवहार से दूर रहना तथा यह सुनिश्चित करना कि

सार्वजनिक प्राधिकरण और संस्थान भी इस दायित्व के अनुपालन हेतु कार्य करेंगे.

(ङ) किसी व्यक्ति, संगठन या उद्यम द्वारा किए गए स्त्री–विरोधी भेदभाव के उन्मूलन हेतु सभी प्रकार के समुचित कदम उठाना,

(छ) स्त्री–विरोधी भेदभाव पैदा करने वाले मौजूदा कानून, अधिनियम, रीति – रिवाज और व्यवहारों को संशोधित या समाप्त करने के लिए विधान -- व्यवस्था सहित सभी समुचित मानदंडों को अपनाना.

(ज) स्त्री–विरोधी भेदभाव पैदा करने वाले सभी दंडात्मक प्रावधानों को निरस्त करना।

अनुच्छेद 3

राष्ट्र सदस्य स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर सभी क्षेत्रों -- विशेषतः राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक – में स्त्रियों के मानवाधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रता के कार्यव्यवहार और उपभोग की गारंटी के प्रयोजन से स्त्री विकास और प्रोन्नति को सुनिश्चित करने के लिए विधि – निर्माण सहित सभी आवश्यक कदम उठाएंगे।

अनुच्छेद 4

1 राष्ट्र सदस्य स्त्री–पुरुष के मध्य समानता को त्वरित करने के उद्देश्य से अपनाए गए अस्थायी विशेष मानदंड संविदा में परिभाषित भेदभाव की श्रेणी में नहीं माने जाएंगे। लेकिन इनके परिणाम किसी भी रूप में असमानता और पृथक स्तर के पोषक नहीं होने चाहिए। समान अवसर और व्यवहार के लक्ष्यों की संप्राप्ति हो जाने पर इन मानदंडों को स्थगित कर दिया जाएगा।

2 मातृत्व सुरक्षा के उद्देश्य से प्रस्तुत संविदा में समाविष्ट मानदंडों सहित राष्ट्र सदस्यों द्वारा अपनाए गए विशेष मानदंड भेदभावकारी नहीं माने जाएंगे।

अनुच्छेद 5

राष्ट्र सदस्य निम्नलिखित के लिए सभी समुचित मानदंड अपनाएंगे :

(क) लैंगिक दृष्टि से श्रेष्ठता या हीनता अथवा पारंपरिक रूप से निर्धारित स्त्री–पुरुष की भूमिकाओं के आधार पर समाज में व्याप्त पूर्वग्रह और रूढ़िगत तथा दूसरी सभी परंपराओं को मिटाने के उद्देश्य से स्त्री–पुरुष आचरण के सामाजिक और सांस्कृतिक तरीकों में संशोधन करना,

(ख) सामाजिक कार्य के रूप में मातृत्व और सभी मामलों में मूलतः बच्चों के हितों को समझते हुए उनके विकास और देखभाल में स्त्री–पुरुष (माता–पिता) के समान दायित्व की स्वीकृति से समाविष्ट परिवार शिक्षा को सुनिश्चित करना। साथ ही साथ यह स्वीकार करना कि हर मामले में बच्चों का हित सर्वोपरि है।

अनुच्छेद 6

राष्ट्र सदस्य सभी तरह के स्त्री – व्यापार और स्त्री – वेश्यावृत्ति के शोषण को कुचलने के लिए विधि – निर्माण सहित सभी समुचित मानदंड अपनाएंगे।

भाग 2

अनुच्छेद 7

राष्ट्र सदस्य अपने देश के राजनीतिक और सार्वजनिक जीवन में स्त्री–विरोधी भेदभाव को समाप्त करने के लिए सभी अपेक्षित कदम उठाएंगे; वे राष्ट्र खासतौर से निम्नलिखित मामलों में स्त्री–पुरुष के समान अधिकार को सुनिश्चित करेंगे –

(क) सभी चुनावों और सार्वजनिक जनमत संग्रह में मतदान करना और सभी सार्वजनिक निकायों में निर्वाचित की योग्यता रखना,

(ख) सरकार की नीतियों के निर्माण और उनके कार्यान्वयन में भागीदारी तथा सभी स्तरों पर शासकीय कार्यालय में बहाली और सभी प्रकार के शासकीय कार्यों का निष्पादन,

(ग) देश के सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन के सरोकार वाले गैर–सरकारी संगठनों और संस्थानों में भागीदारी।

अनुच्छेद 8

राष्ट्र सदस्य बिना किसी भेदभाव के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कार्य में पुरुष के समान स्त्री की भागीदारी और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने सरकार के प्रतिनिधित्व का अवसर सुनिश्चित करने के लिए सभी अपेक्षित कदम उठायेंगे।

अनुच्छेद 9

1. राष्ट्र सदस्य पुरुष के समान स्त्रियों को भी राष्ट्रीयता ग्रहण करने, बदलने या कायम रखने के लिए समान अधिकार की स्वीकृति प्रदान करेंगे। वे यह सुनिश्चित करेंगे कि न तो किसी विदेशी से विवाह करने पर और न ही शादी के दौरान पति द्वारा राष्ट्रीयता बदल लेने पर पत्नी की राष्ट्रीयता अपने आप बदल जाएगी, ना ही उसे राष्ट्रहीन कर दिया जाएगा अथवा पति की राष्ट्रीयता थोप दी जाएगी।
2. राष्ट्र सदस्य स्त्रियों को अपने बच्चों की राष्ट्रीयता के मामले में पुरुष के समान अधिकार की स्वीकृति देंगे।

भाग 3

अनुच्छेद 10

राष्ट्र सदस्य स्त्री–विरोधी भेदभाव को समाप्त करने के लिए सभी समुचित कदम उठाएंगे ताकि शिक्षा के क्षेत्र में स्त्री के लिए पुरुष के समान अवसर सुनिश्चित किये जा सकें। वे इस उद्देश्य से स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर निम्नलिखित दशाओं को विशेष रूप से सुनिश्चित करेंगे :

(क) शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में सभी वर्ग के शैक्षिक संस्थानों में अध्ययन और डिप्लोमा प्राप्त करने के लिए स्त्रियों को पुरुषों के समान ही जीवन–वृत्ति शर्तें और व्यावसायिक मार्गदर्शन सुनिश्चित किया जाएगा। यह समानता सभी प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण सहित पूर्व विद्यालय, सामान्य, तकनीकी, वृत्तिक और उच्च तकनीकी शिक्षा के लिए भी सुनिश्चित होगी,

(ख) समान पाठ्यचर्या, समान परीक्षाएं, समान योग्यता और स्तर के शिक्षक तथा समान गुणवत्ता के विद्यालय परिसर और उपस्कर की सुलभता,

(ग) सभी स्तरों पर स्त्री और पुरुष की भूमिकाओं की रूढ़िबद्ध अवधारणा का उन्मूलन और सभी प्रकार की शिक्षा में सहशिक्षा और दूसरे प्रकार की शिक्षा जो उस उद्देश्य को संप्राप्ति में मदद देगी को बढ़ावा देना। इसके लिए विशेष रूप से पाठ्यपुस्तकों और विद्यालयी कार्यक्रमों में संशोधन तथा अध्यापन विधियों का रूपान्तरण,

(घ) छात्रवृत्तियों और अन्य दूसरे अध्ययन अनुदानों के लाभ के समान अवसर,

(च) स्त्री–पुरुष के बीच मौजूदा शिक्षा के अंतराल को घटाकर समानता के लाभ को यथासंभव शीघ्रतापूर्वं सम्पन्न करने के उद्देश्य से प्रौढ़ और कार्यात्मक साक्षरता कार्यक्रमों सहित सतत शिक्षा के कार्यक्रमों की सुलभता और प्रवेश के लिए समान अवसर,

(छ) छात्राओं की विद्यालय छोड़ने (ड्राप आउट्स) की दरों में कमी लाना और शिक्षा पूर्ण किए बगैर स्थायी रूप से विद्यालय छोड़ने वाली लड़कियों और महिलाओं के लिए कार्यक्रम आयोजित करना,

(ज) खेल–कूद और शारीरिक शिक्षा में सक्रिय भागीदारी के लिए समान अवसर,

(झ) परिवार नियोजन संबंधी सूचना और सलाह सहित स्वास्थ्य और परिवार कल्याण को सुनिश्चित करने में मदद के लिए विशिष्ट शैक्षिक कार्यक्रमों की सुलभता।

अनुच्छेद 11

1 राष्ट्र सदस्य स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर रोज़गार के क्षेत्र में स्त्री–विरोधी भेदभाव को दूर करने के लिए सभी प्रकार के अपेक्षित कदम उठाएंगे। निम्नलिखित स्थितियों में स्त्रियों के समान अधिकार होंगे:

(क) सभी मनुष्यों के लिए जन्म का अहस्तांतरकरणीय अधिकार,

(ख) रोज़गार के मामले में चयन के समान मानदंड सहित समान अवसर का अधिकार,

(ग) स्वतंत्र रूप से वृत्ति और रोज़गार चुनने का अधिकार, समान प्रोन्नति, रोज़गार सुरक्षा तथा सेवा शर्तों और लाभ का अधिकार। प्रशिक्षुता, उच्च व्यावसायिक प्रशिक्षण और आवर्ती प्रशिक्षण सहित सभी प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण और पुनर्प्रशिक्षण का अधिकार,

(घ) कार्य की गुणवत्ता के मूल्यांकन मे समानता के साथ–साथ समान कार्य के लिए समान लाभ और समान आचरण सहित समान पारिश्रमिक का अधिकार,

(च) भुगतान अवकाश सहित विशेष मामलों – सेवानिवृत्ति, बेरोज़गारी, बीमारी, असमर्थता, बुढ़ापा और कार्य अक्षमता की अन्य स्थिति में सामाजिक सुरक्षा का अधिकार,

(छ) पुनरुत्पादन के कार्यकलापों की सुरक्षा सहित स्वास्थ्य की रक्षा और कार्य की दशाओं में सुरक्षा का अधिकार।

2 राष्ट्र सदस्य विवाह और मातृत्व के आधार पर स्त्रियों के विरुद्ध भेदभाव को रोकने और उनके कार्य के प्रभावी अधिकार को सुनिश्चित करने के लिए समुचित कदम उठायेंगे :

(क) गर्भावस्था या मातृत्व अवकाश के आधार पर स्त्रियों की बर्खास्त करने या दंडित करने और वैवाहिक स्थिति के आधार पर उनकी बर्खास्तगी के भेदभाव को रोकना,

(ख) पूर्व रोज़गार, वरिष्ठता या सामाजिक भत्तों की हानि के बगैर वेतन या समकक्ष

सामाजिक लाभों के साथ मातृत्व अवकाश की सुविधा देना,

(ग) विशेषकर शिशु देखभाल सुविधाओं के नेटवर्क की स्थापना और विकास को बढ़ावा देकर कार्य दायित्व और सार्वजनिक जीवन में माता – पिता दोनों को संयुक्त जिम्मेदारी निभाने के लिए सक्षम बनाने हेतु आवश्यक समर्थनकारी सामाजिक सेवाओं के प्रावधान को प्रोत्साहित करना,

(घ) गर्भावस्था में हानिकर प्रभाव डालने वाले कार्यों से स्त्रियों को विशेष सुरक्षा का प्रावधान करना।

3. वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी ज्ञान के प्रकाश में इस अनुच्छेद में आए संबंधित सुरक्षात्मक विधानों की समीक्षा की जाएगी। इसके आधार पर आवश्यकतानुसार उनका संशोधन, निरसन या विस्तार किया जाएगा.

अनुच्छेद 12

1. राष्ट्र सदस्य स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर स्त्री–विरोधी भेदभाव को समाप्त करने के लिए परिवार नियोजन सहित स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं को स्त्रियों के लिए निश्चित रूप से सुलभ कराने के उद्देश्य से इस क्षेत्र में सभी उपयुक्त कदम उठायेंगे।

2. राष्ट्र सदस्य इस अनुच्छेद के पैराग्राफ 1 के होते हुए भी गर्भावस्था और स्तन्यकाल के दौरान पर्याप्त पौष्टिक भोजन के साथ -- साथ आवश्यकतानुसार गर्भ, प्रसव और प्रसूति की दशाओं में निःशुल्क सेवाएं प्रदान करके स्त्रियों की उपयुक्त सेवाएं सुनिश्चित करेंगे।

अनुच्छेद 13

राष्ट्र सदस्य स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर आर्थिक और सामाजिक जीवन क्षेत्रों में समान अधिकार सुनिश्चित करने के उद्देश्य से इनसे संबंधित स्त्री विरोधी भेदभाव दूर करने के लिए सभी प्रकार के उपयुक्त कदम उठायेंगे। इसके साथ ही विशेषकर निम्नांकित अधिकारों में भी समानता लाने के लिए उपयुक्त कदम उठाए जायेंगे:

(क) पारिवारिक लाभों का अधिकार,

(ख) बैंक से कर्ज, गिरवी और दूसरे प्रकार के वित्तीय ऋणों का अधिकार,

(ग) मनोरंजक कार्यकलापों, खेलकूदों और सांस्कृतिक जीवन के सभी कार्यों में भागीदारी का अधिकार।

अनुच्छेद 14

1. राष्ट्र सदस्य ग्रामीण स्त्रियों के अनौद्रिक क्षेत्रों के कार्यों सहित पारिवारिक जीवनयापन की आर्थिक उत्तरजीविता में उनकी महत्वपूर्ण भूमिकाओं और उनके सामने आने वाली विशेष समस्याओं पर ध्यान देंगे। ग्रामीण स्त्रियों के लिए इस संविदा के प्रावधानों के अनुप्रयोग को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से ये राष्ट्र सभी उपयुक्त कदम उठायेंगे।

2. राष्ट्र सदस्य स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री–विरोधी भेदभाव दूर कर समानता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से सभी उपयुक्त कदम उठायेंगे ताकि स्त्रियां ग्राम – विकास में भागीदारी कर सकें और लाभ उठा सकें। इसके लिए विशेष रूप से निम्नांकित अधिकार सुनिश्चित किए जाएंगे:

(क) सभी स्तरों पर विकास योजना के विस्तार और कार्यान्वयन में भागीदारी,

(ख) परिवार नियोजन सेवाओं में सूचना, मार्गदर्शन सहित पर्याप्त स्वास्थ्य देखभाल सुविधाओं की सुलभता,

(ग) सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों से प्रत्यक्ष लाभ,

(घ) स्त्रियों की तकनीकी योग्यता बढ़ाने के लिए सभी सामुदायिक और विस्तार सेवाओं के लाभों के साथ–साथ सभी प्रकार के प्रशिक्षण और शिक्षा – औपचारिक और अनौपचारिक दोनों – तथा कार्यात्मक साक्षरता की प्राप्ति,

(च) रोज़गार या स्वरोज़गार के माध्यम से समान आर्थिक अवसरों को प्राप्त करने के लिए आत्म सहायता दल और सहकारिता की स्थापना,

(छ) सभी सामुदायिक कार्यकलापों में भागीदारी,

(ज) कृषि ऋण,व्यापार सुविधाएं और उपयुक्त प्रौद्योगिकी की सुलभता और भूमि पुनर्वास योजनाओं सहित भूमि और कृषि सुधार में समानता का व्यवहार,

(झ) विशेष रूप से आवास, साफ–सफाई, विद्युतीकरण, जलापूर्ति यातायात और चार – संप्रेक्षण में पर्याप्त जीवन दशाओं का समान उपभोग।

भाग 4

अनुच्छेद 15

1. राष्ट्र सदस्य कानून के सम्मुख स्त्रियों को पुरुषों के अनुरूप समानता प्रदान करेंगे।

2 ये सदस्य दीवानी मामलों में स्त्रियों को पुरुषों के समान कानूनी अधिकार प्रदान करेंगे तथा उनके प्रयोग के लिए समान अवसर भी देंगे। विशेषतः ये राष्ट्र स्त्रियों को अनुबंध करने और जायदाद की देखभाल तथा प्रबंध करने का समान अधिकार प्रदान करेंगे। ये राष्ट्र न्यायालयों और न्यायाधिकरणों में प्रक्रिया के सभी स्तरों पर स्त्रियों के साथ पुरुषों के समान व्यवहार करेंगे।

3 ये राष्ट्र इस बात पर सहमत हैं कि स्त्रियों की वैधानिक क्षमता को प्रतिबंधित करने वाले सभी अनुबंध और दूसरे सभी निजी प्रपत्र कानूनी प्रभाव से निरस्त कर दिए जाएंगे।

4 राष्ट्र सदस्य आवागमन, आवास और अधिवास के चयन की स्वतंत्रता से संबंधित कानून में स्त्री – पुरुष को समान अधिकार प्रदान करेंगे।

अनुच्छेद 16

1. राष्ट्र सदस्य विवाह और पारिवारिक संबंधों से जुड़े हुए सभी मामलों में स्त्री–विरोधी भेदभाव को समाप्त करने के लिए आवश्यक कदम उठायेंगे तथा स्त्री–पुरुष समानता के आधार पर इसे सुनिश्चित करेंगे,

(क) विवाह करने का समान अधिकार,

(ख) स्वतंत्रतापूर्वक जीवन साथी का चयन तथा उसकी स्वतंत्र और पूर्ण सहमति से विवाह करने का समान अधिकार,

(ग) विवाह के दौरान और विवाह भंग होने पर समान अधिकार और जिम्मेदारियाँ

(घ) बच्चों से जुड़े मसलों में माता-पिता की वैवाहिक स्थिति को महत्व न देते हुए उनके समान अधिकार और उत्तरदायित्व होंगे। सभी मामलों में बच्चों का हित सर्वोच्च होगा,

(ङ) स्वतंत्रता और उत्तरदायित्वपूर्वक बच्चों की संख्या और अंतराल तय करने का समान अधिकार और ऐसी सूचना, शिक्षा तथा साधनों तक पहुंच जो उन्हें इन अधिकारों के इस्तेमाल के योग्य बना दें,

(छ) संरक्षण, अभिरक्षा, न्यासिता और गोद लेना अथवा ऐसी ही किसी और व्यवस्था की अवधारणा जो राष्ट्रीय विधान में मौजूद हो, से संबंधित क्षेत्रों में समान अधिकार और उत्तरदायित्व होंगे। सभी मामलों में बच्चों का हित सर्वोच्च होगा,

(ज) पति–पत्नी के रूप में पारिवारिक नाम, व्यवसाय और रोजगार के चयन के साथ-साथ समान वैयक्तिक अधिकार,

(झ) संपत्ति के स्वामित्व, अधिग्रहण, प्रबंधन, प्रशासन, उपभोग और वितरण – मूल्य लेकर या बिना किसी मूल्य के – के संदर्भ में पति–पत्नी दोनों के समान अधिकार।

2 बच्चे की मंगनी और शादी के लिए न्यूनतम उम्र निर्धारित करने और पंजीकरण कार्यालय में अनिवार्य रूप से शादी का पंजीकरण कराने के लिए विधि–निर्माण सहित सभी प्रकार की आवश्यक कार्रवाई अनिवार्य होगी।

भाग 5

अनुच्छेद 17

1. प्रस्तुत संविदा के कार्यान्वयन की प्रगति पर गौर करने के उद्देश्य से 'स्त्री-विरोधी भेदभाव उन्मूलन समिति' (इसके बाद इसे केवल समिति कहा जाएगा) का गठन किया जाएगा। प्रारंभ में इस समिति के 18 सदस्य होंगे। जब 35वां राष्ट्र इस संविदा की पुष्टि करेगा या स्वीकृति प्रदान करेगा तो समिति की सदस्य संख्या 23 हो जायेगी। समिति के सदस्य उच्च नैतिकता वाले और संविदा में समाविष्ट क्षेत्रों के विशेषज्ञ होंगे। राष्ट्र सदस्य अपने नागरिकों में से इन सदस्यों का चयन करेंगे। ये सदस्य वैयक्तिक क्षमता के अनुसार अपनी सेवाएं प्रदान करेंगे। समिति के सदस्यों के चयन में समान रूप से भौगोलिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जाएगा ताकि प्रमुख न्यायिक प्रणालियों सहित विभिन्न सभ्यताओं की समान भागीदारी सुनिश्चित हो सके

2 राष्ट्र सदस्यों के मनोनीत व्यक्ति गुप्त मतदान द्वारा समिति के सदस्यों का चुनाव करेंगे। प्रत्येक राष्ट्र अपने नागरिकों में से एक व्यक्ति को नामित कर सकता है।

3. प्रस्तुत संविदा के लागू होने के छः माह बाद प्रारंभिक चुनाव होगा। प्रत्येक चुनाव के कम से कम तीन माह पहले संयुक्त राष्ट्र महासचिव राष्ट्र सदस्यों को पत्र भेजकर उन्हें दो माह के भीतर सदस्य नामित करने के लिए कहेंगे। महासचिव नामित सदस्यों की सूची वर्णानुक्रम में तैयार करेंगे। इस सूची में सदस्य के साथ नामित करने वाले राष्ट्र का भी उल्लेख होगा। यह सूची संविदाधीन राष्ट्रों के प्रस्तुत की जाएगी।

4 संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय में महासचिव द्वारा आयोजित संविदाधीन राष्ट्रों की बैठक में समिति के सदस्यों का चुनाव किया जाएगा। इस बैठक का कोरम राष्ट्र सदस्यों की दो तिहाई उपस्थिति

से पूरा होगा। समिति का सदस्य वही व्यक्ति चुना जाएगा जिसे सर्वाधिक मत प्राप्त हुआ हो और राष्ट्र सदस्यों के उपस्थिति और वोट डालने वाले प्रतिनिधियों का भी पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ हो।

5. समिति के सदस्य चार वर्षों के लिए निर्वाचित किए जाएंगे। फिर भी प्रथम चुनाव में चुने गए सदस्यों में से 9 सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष के बाद समाप्त हो जाएगा। प्रथम चुनाव के ठीक बाद इन नौ सदस्यों के नामों का चयन समिति के अध्यक्ष द्वारा ड्रा से किया जाएगा।

6 35वें राष्ट्र द्वारा संविदा की पुष्टि या स्वीकृति के बाद अनुच्छेद 2, 3 और 4 के प्रावधानों के अनुसार समिति के 5 अतिरिक्त सदस्यों का चुनाव किया जाएगा। इस अवसर पर चुने हुए अतिरिक्त सदस्यों में से दो सदस्यों का कार्यकाल दो वर्ष के अंत में समाप्त हो जाएगा। इन दो सदस्यों के नामों का चुनाव समिति के अध्यक्ष द्वारा ड्रा द्वारा करेंगे।

7 आकस्मिक रूप से सदस्यता रिक्त होने पर संबंधित राष्ट्र अपने नागरिकों में से दूसरा समकक्ष विशेषज्ञ समिति के अनुमोदन से नियुक्त करेगा।

8. महासभा से अनुमोदन लेकर, संयुक्त राष्ट्र संसाधनों से समिति के सदस्य सुविधाएं प्राप्त करेंगे। समिति के दायित्वों के महत्व को ध्यान में रखते हुए महासभा राष्ट्रों की सेवा शर्तें और दशाएं निर्धारित कर सकती है।

9 प्रस्तुत संविदा के अंतर्गत समिति के कार्यकलापों के प्रभावी कार्य निष्पादन के लिए स्टाफ (कर्मचारी) और सुविधाएं संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा प्रदान की जाएंगी।

अनुच्छेद 18

1 राष्ट्र सदस्य प्रस्तुत संविदा के प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए पारित विधेयक, उठाए गए कानूनी, न्यायिक प्रशासनिक या अन्य कदमों और प्रगति की रिपोर्टें समिति के अवलोकनार्थ राष्ट्रसंघ महासचिव को निम्न कालक्रम के अनुसार प्रस्तुत करेंगे :

(क) राष्ट्र में संविदा के लागू होने के एक वर्ष बाद, और

(ख) इसके बाद कम से कम हर चौथे वर्ष और जब कभी समिति अनुरोध करे।

2 प्रस्तुत संविदा में अन्तर्निहित दायित्वों की पूर्ति में आने वाली कठिनाइयों के स्वरूप और कारकों का उल्लेख इन रिपोर्टों में किया जा सकता है।

अनुच्छेद 19

1. समिति कार्यप्रणाली के अपने नियम अपनाएगी।

2. समिति अपने अधिकारियों का चुनाव दो वर्ष के लिए करेगी।

अनुच्छेद 20

1. प्रस्तुत संविदा के अनुच्छेद 18 के अनुसार प्रगति रिपोर्टों की समीक्षा के लिए समिति की साल में एक बैठक होगी। सामान्यतः यह बैठक अधिक से अधिक दो सप्ताह की होगी।

2. सामान्यतः समिति की बैठकें संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय पर या समिति द्वारा निर्धारित किए गए किसी अन्य सुविधाजनक स्थान पर होगी।

अनुच्छेद 21

1. यह समिति अपने कार्यकलापों से संबंधित वार्षिक रिपोर्ट आर्थिक और सामाजिक परिषद् के माध्यम से संयुक्त राष्ट्र महासभा को प्रस्तुत करेगी। इस रिपोर्ट में यह राष्ट्र सदस्यों से प्राप्त रिपोर्टों और सूचनाओं की समीक्षा करके अपने सुझाव और सिफारिशें भी भेज सकती है। अगर किसी राष्ट्र सदस्य से इस प्रकार के सुझाव और सिफारिशें प्राप्त होती हैं तो समिति अपनी रिपोर्ट में टिप्पणियों के साथ इन्हें शामिल करेगी.
2. महासचिव समिति की रिपोर्टें 'महिला अवस्थिति आयोग' को सूचनार्थ भेजेंगे।

अनुच्छेद 22

प्रस्तुत संविदा के प्रावधानों के क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञ अभिकरण इसके कार्यान्वयन की समीक्षा संबंधी कार्य में प्रतिनिधित्व के हकदार होंगे। समिति संविदा के प्रावधानों के क्षेत्र में कार्यरत विशेषज्ञ अभिकरणों को कार्यान्वयन की समीक्षा पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित कर सकती है।

भाग 6

अनुच्छेद 23

इस संविदा का कोई भी अंश उन प्रावधानों को प्रभावित नहीं करेगा जो स्त्री–पुरुष समानता की प्राप्ति में अधिक सहायक है। इनमें निम्नलिखित प्रावधान हो सकते हैं –

(क) राष्ट्र सदस्य के विधान में, अथवा

(ख) उस राष्ट्र में लागू कोई दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय संविदा, संधि या अनुबंध में।

अनुच्छेद 24

प्रस्तुत संविदा में निर्धारित अधिकारों की पूर्ण प्राप्ति के लिए राष्ट्र सदस्य राष्ट्रीय स्तर पर सभी प्रकार के आवश्यक कदमों की शुरुआत करेंगे।

अनुच्छेद 25

1. सभी राष्ट्रों के हस्ताक्षर के लिए प्रस्तुत संविदा को खुला रखा जाएगा।
2. संयुक्त राष्ट्र महासचिव द्वारा संविदा के अमानतदार अभिहित किए गए हैं।
3. प्रस्तुत संविदा अनुसमर्थन के लिए खुली है। अनुसमर्थन से संबंधित पत्रकों को संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास जमा किया जा सकेगा।
4. प्रस्तुत संविदा को सभी राष्ट्रों के प्रवेश के लिए खुला रखा जाएगा। संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास संविदा में प्रवेश हेतु स्वीकृति पत्र भेजने के पश्चात् ही प्रवेश प्रभावी होगा।

अनुच्छेद 26

1. इस संविदा के संशोधन हेतु कोई भी राष्ट्र सदस्य किसी भी समय अनुरोध कर सकता है। संशोधन संबंधी अधिसूचना लिखित रूप में संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास भेजनी होगी।
2. इस प्रकार के अनुरोध पर की जाने वाली कार्रवाई का निर्धारण संयुक्त राष्ट्र की महासभा में होगा।

अनुच्छेद 27

1. संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास संविदा की पुष्टि या स्वीकृति का बीसवां प्रपत्र पहुंचने के तीस दिनों के बाद प्रस्तुत संविदा लागू होगी।

2. प्रस्तुत संविदा की पुष्टि या स्वीकृति के लिए बीसवें प्रपत्र की प्राप्ति के बाद अगर कोई राष्ट्र उसकी पुष्टि या स्वीकृति का प्रपत्र भेजता है तो उसके प्रपत्र प्रस्तुत करने के 30 दिनों के बाद यह संविदा उस राष्ट्र में लागू होगी।

अनुच्छेद 28

1 इस संविदा की पुष्टि या स्वीकृति के समय राष्ट्रों की अपनी शर्तों से संबंधित दस्तावेज संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास भेजा जाएगा। वे यह दस्तावेज सभी राष्ट्रों को सूचनार्थ वितरित करेंगे।

2. यदि शर्त प्रस्तुत संविदा के उद्देश्य और प्रयोजन के अनुकूल नहीं है तो इसकी अनुमति नहीं दी जाएगी।

3. किसी भी समय संयुक्त राष्ट्र महासचिव को अधिसूचना भेजकर शर्तें वापस ली जा सकती हैं। शर्तों की वापसी के बाद महासचिव सभी राष्ट्रों को इसकी सूचना देंगे। इस प्रकार की अधिसूचना उस दिन से लागू मानी जाएगी जिस दिन महासचिव को प्राप्त होगी।

अनुच्छेद 29

1. दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच प्रस्तुत संविदा की व्याख्या य प्रयोग से संबंधित कोई विवाद उठता है और आपसी समझौते से उसका समाधान नहीं होता तो उनमें से किसी एक राष्ट्र के अनुरोध पर इसे मध्यस्थताकारी पंचाट के पास भेजा जा सकता है। मध्यस्थता के अनुरोध के छः माह के अंदर अगर ये राष्ट्र मध्यस्थता पंचाट के गठन पर सहमत नहीं होते तो इनमें से कोई एक राष्ट्र न्यायालय के सांविधानिक अनुपालन के अनुरोध के साथ इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भेज सकता है।"

2. प्रत्येक राष्ट्र सदस्य संविदा की पुष्टि या स्वीकृति पर हस्ताक्षर करते समय घोषित कर सकता है कि वह इस अनुच्छेद के पैराग्राफ 1 की बाधता स्वीकार नहीं करता। यदि कोई राष्ट्र सदस्य इस प्रकार की शर्त रखता है तो दूसरे राष्ट्र सदस्य उस पैराग्राफ से बाध्य नहीं होंगे।

3. यदि कोई राष्ट्र सदस्य इस अनुच्छेद के पैराग्राफ 2 की अनुरूपता में शर्त रखता है तो वह किसी भी समय संयुक्त राष्ट्र महासचिव को अधिसूचना भेजकर अपनी शर्त वापस ले सकता है।

अनुच्छेद 30

प्रस्तुत संविदा के अरबी, चीनी, अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी और स्पेनिश पाठ समान रूप से प्रामाणिक हैं और संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास रखे जाएंगे।

इस संविदा के लिए पूर्णतः प्राधिकृत अधोहस्ताक्षरी ने इसके साक्षी के रूप में हस्ताक्षर किया है।

अनुच्छेद 27

1. संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास संविदा की पुष्टि या स्वीकृति का बीसवां प्रपत्र पहुंचने के तीस दिनों के बाद प्रस्तुत संविदा लागू होगी।

2. प्रस्तुत संविदा की पुष्टि या स्वीकृति के लिए बीसवें प्रपत्र की प्राप्ति के बाद अगर कोई राष्ट्र उसकी पुष्टि या स्वीकृति का प्रपत्र भेजता है तो उसके प्रपत्र प्रस्तुत करने के 30 दिनों के बाद यह संविदा उस राष्ट्र में लागू होगी।

अनुच्छेद 28

1. इस संविदा की पुष्टि या स्वीकृति के समय राष्ट्रों की अपनी शर्तों से संबंधित दस्तावेज संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास भेजा जाएगा। वे यह दस्तावेज़ सभी राष्ट्रों को सूचनार्थ वितरित करेंगे।

2. यदि शर्त प्रस्तुत संविदा के उद्देश्य और प्रयोजन के अनुकूल नहीं है तो इसकी अनुमति नहीं दी जाएगी।

3. किसी भी समय संयुक्त राष्ट्र महासचिव को अधिसूचना भेजकर शर्तें वापस ली जा सकती हैं। शर्तों की वापसी के बाद महासचिव सभी राष्ट्रों को इसकी सूचना देंगे। इस प्रकार की अधिसूचना उस दिन से लागू मानी जाएगी जिस दिन महासचिव को प्राप्त होगी।

अनुच्छेद 29

1. दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच प्रस्तुत संविदा की व्याख्या या प्रयोग से संबंधित कोई विवाद उठता है और आपसी समझौते से उसका समाधान नहीं होता तो उनमें से किसी एक राष्ट्र के अनुरोध पर इसे मध्यस्थताकारी पंचाट के पास भेजा जा सकता है। मध्यस्थता के अनुरोध के छः माह के अंदर अगर ये राष्ट्र मध्यस्थता पंचाट के गठन पर सहमत नहीं होते तो इनमें से कोई एक राष्ट्र न्यायालय के सांविधानिक अनुपालन के अनुरोध के साथ इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में भेज सकता है।"

2. प्रत्येक राष्ट्र सदस्य संविदा की पुष्टि या स्वीकृति पर हस्ताक्षर करते समय घोषित कर सकता है कि वह इस अनुच्छेद के पैराग्राफ 1 की बाधता स्वीकार नहीं करता। यदि कोई राष्ट्र सदस्य इस प्रकार की शर्त रखता है तो दूसरे राष्ट्र सदस्य उस पैराग्राफ से बाध्य नहीं होंगे।

3. यदि कोई राष्ट्र सदस्य इस अनुच्छेद के पैराग्राफ 2 की अनुरूपता में शर्त रखता है तो वह किसी भी समय संयुक्त राष्ट्र महासचिव को अधिसूचना भेजकर अपनी शर्त वापस ले सकता है।

अनुच्छेद 30

प्रस्तुत संविदा के अरबी, चीनी, अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी और स्पेनिश पाठ समान रूप से प्रामाणिक हैं और संयुक्त राष्ट्र महासचिव के पास रखे जाएंगे।

इस संविदा के लिए पूर्णतः प्राधिकृत अधोहस्ताक्षरी ने इसके साक्षी के रूप में हस्ताक्षर किया है।

श्रम कानून एवं महिलाएँ

- डॉ. श्रीमती बीनू सिंह

भारतीय समाज की संरचना बेहद जटिल है। समाज के दोहरे मापदण्ड हैं। आचरण के स्तर पर यह समाज स्थिति विशेष में पूर्णतः आधुनिक दृष्टिकोण अपनाता है, जो उसके अनुकूल होता है। उसी स्थिति विशेष में अवसर आने पर वह बेहद दकियानूसी रवैया अपनाता है, क्योंकि उस समय वह उसके अनुकूल नहीं होता। जीवन में यह दोहरा मापदण्ड इस देश की स्त्रियों की समस्या का बुनियादी कारण है। भारत में महिला को वोट देने का अधिकार काफी समय पहले मिल गया था। लेकिन समाज में अब भी उसकी स्थिति दोहरे दर्जे की ही है। विद्रोह करने की स्थिति में उसे हिंसा का सामना करना पड़ता है। यह हिंसा किसी भी रूप में हो सकती है। शारीरिक हिंसा तो दिखायी पड़ती है, लेकिन जुबानी और भावनात्मक हिंसा या आर्थिक हिंसा अमूर्त रूप से उसको बेइज्जती, ताने देने, घर से निकाल देने, संपत्ति से वंचित कर देने, खर्च न देने के रूप में चलती रहती है। सामाजिक प्रतिष्ठा खोने का भय उसे हिंसा झेलने के लिए मजबूर करता है। हमारी राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटिल ने अपने एक भाषण में कहा है, "अगर हम अपने अतीत पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि भारत में गार्गी और मैत्रेयी जैसी प्रसिद्ध महिला दार्शनिक थीं जो पुरुषों के स्तर पर ही भाषण-प्रवचन तथा बहस-मुबाहिशों में हिस्सा लिया करती थीं। हमारे स्वाधीनता आंदोलनों में भी महिलाओं का योगदान पुरुषों से थोड़ा भी कम नहीं था। स्वाधीनता से जुड़ने के महात्मा गांधी के आह्वान पर ऐसे समय में महिलाओं ने उसमें हिस्सा लिया, जब सिर्फ 2 प्रतिशत महिलाएँ शिक्षित थीं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि महिलाओं के लिए घर से बाहर निकलना कितना कठिन था, परंतु तब भी वे बाहर निकलीं। आजादी के बाद भी संविधान सभा के सदस्य के रूप में महिलाओं ने स्वतंत्र भारत के संविधान का मसौदा तैयार करने के काम में हिस्सा लिया। यह गर्व की बात है कि डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर के प्रस्ताव पर संविधान ने शुरू से ही महिलाओं को वोट देने का अधिकार दिया, जिससे ऐसी व्यवस्था वाले चुनिंदा देशों की श्रेणी में भारत भी शामिल हो गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट "भारत में औरतें कितनी आजाद कितनी बराबर" के अनुसार महिलाओं की श्रमशक्ति में भागीदारी, अर्थात वयस्क महिलाओं का प्रतिशत जो वास्तव् में काम कर रही हैं, महिलाओं के दर्जे का संकेतक है तथा संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रमों की मानव विकास रिपोर्ट में जेंडर सशक्तीकरण मापक एक अहम घटक है। विश्व भर में 1.5 लाख व्यक्ति प्रतिदिन एक अमेरिकी डालर या इससे कम में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें महिलाओं का बहुमत है। इसलिए कहा जा सकता है कि गरीबी का महिलाकरण हो गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं के कार्यों को उचित सम्मान नहीं मिलता।

विश्व की कुल जनसंख्या में आधी जनसंख्या महिलाओं की है। वे कार्यकारी घण्टे में दो तिहायी का योगदान करती हैं, लेकिन विश्व आपका केवल 10 वां हिस्सा प्राप्त कर पाता है और उन्हें विश्व संपत्ति में सौवे से भी कम हिस्सा प्राप्त है। यद्यपि रोजगार में महिलाओं की संख्या में वृद्धि हो रही है, लेकिन उन्हें कम वेतन मिल रहा है और उनके कार्य की परिस्थितियाँ असंतोषजनक

हैं। विश्व में 550 लाख कार्यरत गरीबों में 80 प्रतिशत महिलाएँ हैं। महिलाएँ अधिकांशतः पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह करती हैं। वे बच्चों और बड़ों की देखभाल करती हैं, पारिवारिक भूमि के कामों में या व्यापार में सहयोग करती हैं। गाँवों में पानी, ईंधन और चारा लाने में जीवन व्यतीत करती हैं। उनके ये कार्य निःशुल्क तथा अप्रत्यक्ष होते हैं, जी.डी.पी. में इसकी गणना नहीं होती। समाज का दोहरा रवैया पढ़ायी-लिखायी के स्तर पर भी दिखायी देता है। लड़कियाँ विभिन्न परीक्षाओं में लड़कों से बेहतर परिणाम देती हैं। इसके बावजूद सक्रिय सामाजिक जीवन में इनकी उपस्थिति लड़को से कम है। यह स्थिति चिन्ताजनक है। इससे एक ओर तो गरीब देश के संसाधनों की बरबादी होती है, दूसरी ओर बड़ी संख्या में महिलाएँ अपनी क्षमता प्रदर्शित न करने के कारण कुण्ठा का शिकार हो जाती हैं। इसके साथ-साथ समाज को आगे बढ़ाने के लिए योग्यता की उतनी आँच नहीं मिल पाती, जितनी आवश्यक है। हमारे समाज के पिछड़ेपन का कारण यह भी है।

इस प्रकार जीवन का कोई भी क्षेत्र चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो, बैंक हो, चिकित्सा का क्षेत्र हो, खेल का मैदान हो, सामाजिक क्षेत्र हो, वकालत का व्यवसाय हो, राजनैतिक या प्रशासनिक क्षेत्र हो, यहाँ तक कि पुलिस एवं न्यायाधीश के पद पर यानि सभी मामलों में महिलाएँ भाग लेने लगी हैं। आज जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिनमें कि महिलाएँ हिस्सा नहीं लेती हैं। आज की नारी अब वह नारी नहीं है जो जागृत न हो अथवा अपने अधिकारों को पाने में सक्षम न हो। परन्तु पर्याप्त जानकारी के अभाव में एवं कानून अलग-अलग बिखरित होने से नारी को उसका यथोचित लाभ अद्यपर्यन्त नहीं मिल सका और आज भी हम देखते हैं कि नारी का सर्वत्र शोषण हो रहा है।

2001 की जनगणना के अनुसार भी महिलाओं के घरेलू कार्यों की गणना नहीं होती हैं। जापान की एक अदालत में एक दिलचस्प मामला आया था कि महिलाओं को उनके घरेलू कार्य का वेतन पति नहीं सरकार दे। क्योंकि महिलाएँ दिन भर दुहरे कार्यभार में व्यस्त रहती हैं। बच्चों व पति की देखभाल के कार्य में वे अपना समय व शक्ति लगाती हैं, सारा दिन शारीरिक रूप से थकने के बाद उनके पास खुद के लिए समय नहीं होता। यहाँ तक कि वे पौष्टिक भोजन, आर्थिक सुरक्षा व आराम से भी वंचित रहती हैं। उन्हें अपनी क्षमता के विकास के लिए दो विकल्पों -पारिवारिक दायित्व तथा कैरियर निर्माण में से एक के चुनाव का अवसर नहीं मिलता। नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री प्रो.अमर्त्य सेन भी स्वीकार करते हैं कि महिलाओं को घर के बाहर जो कार्य मिलते हैं, वे निचले दर्जे के होते हैं तथा उन्हें वेतन भी पुरुषों से कम मिलता है। ये उनकी सामाजिक हैसियत व हक को विपरीत रूप से प्रमाणित करते हैं।

15 अगस्त 1947 को देश आजाद हुआ। एक बार पुनः नारी को अपना खोया हुआ सम्मान प्राप्त करने का मौका मिला एवं नारी की स्थिति में काफी सुधार आया। राहुल सांकृत्यायन ने तो महिलाओं को यहाँ तक कहा, 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो।'

यानी औरतों को उन्होंने उठने एवं स्वयं संघर्ष कर अपने अधिकारों के लिए लड़ने की बात कही। किन्तु दुर्भाग्य से शिक्षा के अभाव में आज भी नारी को यह पता नहीं कि उसके क्या अधिकार हैं और आज भी जहाँ मौका आता है वह शोषण का शिकार हो जाती है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हमारे देश में कानून की कमी है अथवा नारी के पास कोई उपचार उपलब्ध नहीं है। बल्कि सत्यता यह है कि इस देश में कानूनों की भरमार है, किन्तु इसकी

[redacted] आम व्यक्ति के पास उपलब्ध नहीं है। विधि का यह प्रथम सिद्धांत है कि , Ignorance of [redacted]s no excuse अतः आज की सबसे बड़ी कमजोरी यदि मानव मात्र में है तो वह है उसके स्वयं [redacted]अधिकारों की जानकारी का अभाव। प्रश्न स्वतः ही उठता है कि वह व्यक्ति क्या कर सकेगा जिसे स्वयं यह पता नहीं कि उसके क्या अधिकार हैं ? स्वतंत्रता के 63 वर्षों में नारी से संबंधित अनेक श्रम कानून गए हैं, जिनकी सहायता से आज वह पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर चल सकती है तथा अपने अधिकारों के लिए लड़ सकती है।

कार्यकारी महिलाओं की बहुत छोटी सी संख्या को सरकारी आंकड़ों में स्थान मिल पाता है, ज्यादातर महिलाएं असंगठित क्षेत्रों जैसे कृषि, पशुपालन के कार्यों में संलग्न रहती हैं। सच तो यह है कि सर्वेक्षणों के दौरान ये महिलाएं अपने आपको घरेलू महिलाएं ही कहती हैं। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि 80 प्रतिशत महिलाएं कृषि क्षेत्र में कार्यरत हैं। केवल 6 प्रतिशत महिलाएं ही औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य करती हैं। इसमें उच्च पदों पर उनकी उपस्थिति अभी भी नगण्य है।

कृषि तथा मजदूरी वाले क्षेत्रों में, न्यूनतम मजदूरी लागू करने की कोई व्यवस्था नहीं है, यहीं अधिकतर महिलाएं कार्यरत हैं। भारत में एक भी ऐसा राज्य नहीं है, जहाँ महिलाओं तथा पुरुषों को समान कार्य करने के लिए समान मजदूरी मिलती है।

श्रम कानून

हमारे देश का संविधान हमारी सर्वोच्च विधि है। अतः इसे मानने के लिए हम सब बाध्य हैं। संसद के द्वारा समय-समय पर नीति-निर्देशक सिद्धांतों के क्रियान्वयन के लिए कानून बनाए गए। धारा 38 के अनुसार राज्य का यह दायित्व है कि यह ऐसी व्यवस्था करें, जिससे सभी को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त हो सके। धारा 30, 42 और 43 के अनुसार राज्य ऐसी विधियां पारित करेगा जिससे सभी को समान कार्य के लिए समान वेतन, कार्य की औचित्यपूर्ण तथा मानवीय परिस्थितियां एवं मातृत्व अवकाश प्राप्त हो। कार्य परिस्थितियां ऐसी हो जिससे स्तरीय जीवन व्यतीत किया जा सके। कार्यरत महिलाओं के संरक्षण के लिए बनाए गए कुछ महत्त्वपूर्ण कानूनों का उल्लेख निम्न प्रकार से है।

समान वेतन अधिनियम, 1976

संविधान का भाग चार नीति निर्देशक तत्वों के बारे में है। अनुच्छेद 39 (द) निर्देशित करता है कि राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन प्राप्त हो। प्रायः यह देखा गया है कि समान कार्य करने के बावजूद भी स्त्री और पुरुष को साधारणतया समान वेतन नहीं देता है। हमारी संसद ने इस गम्भीर समस्या के निदान हेतु एवं अनुच्छेद 39 (द) के उद्देश्य की पूर्ति हेतु तथा अनुच्छेद 14 जो कि समता के अधिकार के बारे में है कि सफल संचालन हेतु 1976 में एक कानून पारित किया जिसे समान वेतन अधिनियम 1976 नाम दिया गया। इस अधिनियम की धारा 4 के अनुसार नियोजक का यह कर्तव्य होगा कि वह पुरुष और स्त्री कर्मकारों को एक ही काम या समान प्रकृति के काम के लिए समान वेतन दे। इतना ही नहीं धारा 5 के तहत नियोजक पुरुष और स्त्री कर्मकारों की भर्ती करने

के समय भी किसी प्रकार का विभेद नहीं करने के लिए बाध्य है। किन्तु इसका अर्थ यही नहीं है कि नियोजन प्राथमिकता वाले मामलों, जैसे अनुसूचित जाति, जनजाति, भूतपूर्व सैनिक आदि के मामलों में आरक्षण नहीं कर सकेगा। धारा 6 के तहत महिला कर्मकारों के लिए अधिक से अधिक रोजगार उपलब्ध कराने हेतु सलाहकार समितियां गठित करने की बात कही गयी है, इसके अलावा सलाहकार समिति की आधी-सदस्य स्त्रियां ही होंगी। इस अधिनियम का उल्लंघन करने वाले नियोजक को धारा 10 "संशोधित अधिनियम 1987" के अनुसार 10, 000 रुपये का आर्थिक दण्ड एवं एक महीने तक की सजा दी जा सकती है। धारा 10 (2) के अनुसार अपराधी को तीन माह से एक साल तक के कारावास की सजा एवं 20, 000 रुपये तक जुर्माना अथवा दोनों एवं अपराध की पुनरावृत्ति पर दो वर्ष तक के कारावास की सजा दी जा सकती है। इसके अलावा महिला बराबर वेतन प्राप्ति हेतु न्यायालय में वाद तो दायर कर सकती ही है। नियोजक का यह भी दायित्व है कि वह कर्मचारियों के संबंध में रजिस्टर रखें, उनकी तनख्वाह आदि का उसमें वर्णन होना जरूरी है, अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसे 1,000 रुपये तक का अर्थ दण्ड भी दिया जा सकता है। इस कानून की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धारा 15 के तहत कुछ विशेष दशाओं में इस अधिनियम के लागू होने पर रोक लगायी गयी है, जैसे शीशे संबंधित फैक्ट्री में अथवा जहाँ रसायनिक जहरीली गैस निकलती हो आदि, ऐसी कंपनियों में स्त्रियों को रोजगार देने पर रोक हैं, इसी वजह से धारा 15 जोड़ी गयी है।

रणधीर सिंह बनाम यूनियन बैंक ऑफ इंडिया 1982 में न्यायाधीश चिन्नपा रेड्डी ने यह स्वीकार किया कि समान कार्य के लिए समान वेतन यद्यपि मौलिक अधिकार नहीं है, लेकिन यह एक संवैधानिक लक्षण हैं, विधियों की व्याख्या करते समय इसका ध्यान रखा जाना चाहिए। धारा 39 (डी) में निहित समान वेतन के निर्देश को धारा 14 एवं 190 के निहित मौलिक अधिकारों के साथ लिया जाना चाहिए।

मातृत्व लाभ अधिनियम 1961

औद्योगिक क्रान्ति के आधुनिक युग में महिला श्रमिकों की संख्या में भी भारी वृद्धि हुई है। कई उद्योगों में तो इनकी संख्या पुरुषों से भी अधिक है। हमारे संविधान के अनुसार केवल लैंगिक स्तर पर भेदभाव बरतना निषिद्ध है। हमारे संविधान में यह भी व्यवस्था है कि समान कार्य के लिए पुरुष तथा महिला को समान वेतन दिया जाएगा एवं दोनों के बीच किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं बरता जाएगा। किन्तु इस प्राकृतिक सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि नारी जाति की शारीरिक क्षमता पुरुषों की तुलना में कम है।

इस स्थिति में सारे अधिकारों के रहते हुए भी कुछ विशेषाधिकार महिलाओं को प्रदान किया जाना आवश्यक है, जो तर्क संगत, विधि संगत तथा न्याय संगत भी है। इसलिए हमारे संविधान में यह भी व्यवस्था दी गयी है कि महिलाओं के लिए विशेष कानून बनाना समानता के अधिकार के खिलाफ नहीं है, बल्कि युक्तिसंगत है। ऐसी स्थिति में महिलाओं के लाभ हेतु श्रम कानूनों में भी प्रावधान होना जरूरी समझा गया और समय-समय पर महिलाओं के लाभ हेतु कानून बनाए गए और ऐसा ही एक कानून है मातृत्व लाभ अधिनियम, जिसे तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू जी ने पारित किया।

नोट: यह अधिनियम ऐसी संस्थाओं में कार्यरत महिलाओं के लिए है जहाँ 10 या इससे अधिक व्यक्ति कार्यरत हैं। वे 12 सप्ताह के सवैतनिक अवकाश के लिए अधिकृत है। प्रतिदिन कार्य करने वाली महिलाओं के लिए भी मातृत्व अवकाश तथा अन्य भत्तों की व्यवस्था की गयी है। म्यूनिसिपल कार्पोरेशन ऑफ दिल्ली बनाम महिला कर्मचारी (मस्टर रोल) 2000 में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि जो महिलाएं दैनिक वेतन भोगी या मस्टर रोल पर हैं, वे मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 के अन्तर्गत मातृत्व लाभ प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं।

न्यूनतम मजदूरी अधिनियम 1968

हमारे संविधान के भाग चार में निहित नीति निर्देशक तत्वों पर नजर डालें तो पाएगें कि अनुच्छेद 39 (ए) यह निर्देशित करता है कि राज्य अपनी नीतियों का संचालन इस प्रकार करेगा कि पुरुष -स्त्री सभी को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध है, उसके स्वास्थ्य व शक्ति का भी दुरुपयोग न हो। अनुच्छेद 39 (डी) के अनुसार राज्य का यह भी दायित्व है कि वह ऐसी नीति का संचालन न करे जिसकी वहज से स्त्री अथवा पुरुष श्रमिक को आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर ऐसे रोजगार में जाना पड़े जो उसकी आयु अथवा शक्ति के अनुकूल न हो।

अनुच्छेद 43 कृषि उद्योग अथवा अन्य सभी प्रकार के कर्मकारों को काम निर्वाह, मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर तथा अवकाश का सम्पूर्ण उपयोग सुनिश्चित करनेवाली कार्य दशाएं उत्पन्न करने की बात करता है यानी कि संविधान स्पष्ट रूप से कहता है कि मजदूर की शोषण से मुक्ति हो एवं उसे कम से कम इतनी मजदूरी मिले, जिससे कि वह अपना व अपने परिवार का भरण-पोषण आसानी से कर सके। इस समस्या को अत्यधिक आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हुए आजादी के कुछ ही महीनों बाद न्यूनतम मजदूरी अधिनियम- 1948 पारित किया गया। जिसके द्वारा न केवल सरकारी बल्कि गैर सरकारी संस्थाओं जैसे गलीचा, दरी बनाने, शाल बुनने, चावल, आटा, दाल बनाने, भवन निर्माण, मोटर परिवहन आदि से संबंधित सभी प्रकार के मजदूरों को न्यूनतम मजदूरी देने की बात कही गयी है, ताकि एक मजदूर चाहे वह पुरुष हो या महिला अपना व अपने आश्रितों का जीवन-बसर एवं भरण-पोषण आसानी से कर सकें एवं उसका शोषण न हो। श्रमिक का वेतन अनुच्छेद 43 जो कि समान कार्य के लिए समान वेतन के बारे में है, यह इस सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए ही होगा कि 1976 के अनुसार समान पारिश्रमिक अधिनियम के अनुसार समान वेतन देने के लिए वह बाध्य भी है। 1981 में सुप्रीम कोर्ट के आदेशानुसार अगर एक श्रमिक को न्यूनतम मजदूरी नहीं मिलती है तो वह बन्धुआ मजदूर के समान है। न्यायालय का यहाँ तक निर्देश है कि सरकार का यह दायित्व है कि वह एक आदर्श नियोजक के रूप में आगे आए। न्यूनतम मजदूरी अधिनियम एवं समान पारिश्रमिक अधिनियम पारित होने से महिला श्रमिकों को अवश्य ही राहत मिली है एवं वे शोषण से काफी हद तक मुक्त हुई हैं।

जेंडर मेनस्ट्रीमिंग एवं जेंडर बजटिंग

भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश जस्टिस जे.एस.वर्मा के अनुसार आज मानव जाति के लिए सबसे बड़ी चुनौती गरीबी है। यह विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट 2003

के अनुसार महिला व पुरुषों की विभिन्न भूमिकाओं और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उनके लिए क्रियान्वित नीतियों और कार्यक्रमों का मूल्यांकन किया जाए जिससे कि असमानता का उन्मूलन किया जा सके तथा दोनों समान रूप से लाभान्वित हो।

केन्द्र सरकार द्वारा सभी मन्त्रालयों, विभागों को जेण्डर बजटिंग के लिए विस्तृत निर्देश दिए गए हैं कि सभी संसाधनों के वितरण में जेण्डर सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए नीतियों पर पुनर्विचार करें तथा योजनाओं को लागू करें। केवल सामाजिक क्षेत्र के विभागों जैसे- शिक्षा, स्वास्थ्य तथा ग्रामीण विकास में ही सार्वजनिक तथा नीतियों में जेण्डर दृष्टिकोण को सम्मिलित नहीं किया गया है, वरन सार्वजनिक व्यय के सभी क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया है, जिसमें वित्तीय नीतियां भी सम्मिलित हैं जैसे सार्वजनिक व्यय, मुद्रास्फीति, कर आदि जो महिलाओं के विकास को प्रत्यक्षतः प्रभावित करती हैं। राष्ट्रीय महिला सशक्तीकरण/अधिकारिता विनिमय 2001 में बजट बनाने की प्रक्रिया में जेण्डर दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया गया है। दसवीं पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नेशनल पॉलिसी 2001 को क्रियान्वित करने के लिए सकारात्मक आर्थिक और सामाजिक नीतियों द्वारा ऐसा वातावरण निर्मित करने पर जोर दिया गया, जिसमें-

* महिलाएं अपना पूर्ण विकास कर सकें।
* पुरुषों की भाँति महिलाएं भी मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं का कानूनी तथा वास्तविक उपभोग कर सकें।
* विकास प्रक्रिया में लैंगिक दृष्टिकोण को सम्मिलित किया जाए।
* स्वास्थ्य रक्षा, सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा और सार्वजनिक पदों पर स्त्रियों की समान पहुँच हो।

आज विश्व 21वीं शताब्दी में स्वतंत्रता के वातावरण में जी रहा है। ऐसी स्थिति में सदा से घर की चार दीवारी में रहने वाली भारतीय नारी भी पश्चिमी देशों की नारियों की भाँति पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही है, लेकिन आज भी स्त्री व पुरुष श्रमिकों के बीच भेद किया जाता है तथा उन्हें पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी प्राप्त होती है। आज पुरुष प्रधान समाज के स्थान पर मानवता प्रधान समाज का उदय हो रहा है और नारी को उनका यथोचित सम्मान प्राप्त हो रहा है परन्तु आज भी महिला श्रमिकों में श्रम कानून के संबंध में पूर्ण जानकारी का अभाव है। केवल कानून बना देने से ही समस्या का समाधान नहीं हो जाएगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि महिलाओं में इन कानूनों का व्यापक प्रचार, प्रसार करने के लिए अखबार, रेडियो और टेलिविजन के माध्यमों का प्रयोग किया जाए, ताकि कानून की जानकारी अधिक से अधिक महिलाओं तक पहुँचे। इस दिशा में यदि शिक्षित महिलाओं को छोड़ दिया जाए तो अधिकांश स्थानों पर महिलाओं का शोषण हो रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि नारी जाति में इन तमाम कानूनों की जानकारी द्वारा एक नयी चेतना का विकास किया जाए, जिससे वे विकास के पथ पर अग्रणी होकर अपने गाँव, जिले, राज्य और देश का गौरव बढ़ाएं।

***

संदर्भ ग्रंथ

1. Economis of Labour & Industrial Relations. By Dr. T. N. Bhadiwal. Published by Sahitya Bhavan Agra-1981.

2. असंगठित श्रमिक एवं श्रम कानून द्वारा डा. कैलाश सोडाजी, द्वारा शिवा पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, उदयपुर- 1993

3. भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएं- प्रमिला कपूर, राजकमल प्रकाशक, पटना, 1976

4. महिला एवं कानून द्वारा चेतना सिंह मेहता, प्रकाशक आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-1993

* योजना के विभिन्न अंक

* समाज कल्याण के विभिन्न अंक

* इंटरनेट की विभिन्न साइटस

***

सौंदर्य मिथक का निर्माण

• नाओमी वुल्फ

नाओमी वुल्फ ने अपनी पुस्तक ब्यूटी मिथ (सौंदर्य-मिथ) में पर्याप्त प्रमाणों के जरिए बताया है कि जब अस्सी के दशक में अमेरिकी औरत ने समाज की सत्ता में ढाँचे को थोड़ा तोड़ा तो दोनों किस्म की अर्थ-व्यवस्थाएँ एक दूसरे में समा गयीं। सौंदर्य जो पहले 'मनी' नहीं था अब 'मनी' बन गया। शादी के बाजार की मुद्रा अब कार्य-क्षेत्र मे आकर कानूनी बन गयी। शादी के बाजार में अपनी यौनता की बिक्री करने की जगह औरतें जब कार्यस्थल पर गयीं तो उनकी स्वतंत्रता को लगभग समांतर 'वस्तु विनिमय प्रणाली' से तय किया गया। इस दौरान औरत जितना आगे गयी उतना ही सौंदर्य के मिथ ने उसकी सत्ता को कमतर किया।

कामगार औरतों की संख्या बढ़ने से पहले औरतों के बीच सुंदर औरतों का ऐसा वर्ग बन गया था जिन्हें फैशन की मॉडलों और अभिनेत्रियों के रूप में और महँगी यौनकर्मियों के रूप में जाना जाता था। स्त्री-मुक्ति के आंदोलन के पहले तक कामकाजी औरतों की सुंदरता अज्ञात रही थी। ज्यों-ज्यों औरत ताकतवर होती गयी त्यों-त्यों प्रदर्शनकारी धंधों में ज्यादा मान और ज्यादा पैसा आया। यहीं वे अन्य महिलाओं के लिए मॉडल की तरह बनीं।

आज हर पेशे मे जिसमें औरतें काम करती हैं नये सिरे से वर्गीकरण हो रहा है। तमाम पेशे जिनमें औरतें होती हैं, प्रदर्शन के पेशे में बदले जा रहे हैं। पेशों में और व्यापार में सुंदरता को गुल पेशों से अलग श्रेणी की तरह बनाया जा रहा है। अमेरिका में सुंदरता अब पेशेवर कामों के लिए 'बोनाफाइड अर्हता' बनायी जाती है। इंग्लैंड में तो यही सच्ची 'अर्हता' है। सुंदरता एक पेशेवराना अर्हता है औरतों के लिए। किसी औरत का असुंदर होना या असुंदर हो जाना उसकी अयोग्यता मानी जाती है। इस तरह सुंदरता को एक वैध अर्हता बनाया गया है कानूनों में। कामकाजी औरतों के लिए ब्यूटी का मिथ उनके विकास की ठीक प्रतिक्रिया में नजर आता है। हर नारीवादी कदम के जवाब में ब्यूटी मिथ को उतना ही बढ़ाया जाता है। यह ब्यूटी मिथ दरअसल समाज के केंद्रीय संस्थानों के इस वास्तविक डर से पैदा हुआ है कि अगर औरत ने आजाद होकर आजादी से प्रगति की तो क्या होगा?

स्त्री-पत्रिकाओं में निहित कामना की विचारधारा इस प्रकार के डर और उससे उत्पन्न ब्यूटी मिथ का परिणाम है। वे पत्रिकाएँ सुंदरता की अर्हता प्राप्त करने के लिए और इस प्रकार सौंदर्य की पात्रता को प्राप्त करने के लिए पूरी विचारधारा देती हैं। सौंदर्य की पात्रता के सपने को दिखाने वाली भाषा अक्सर ही इन पत्रिकाओं में छपी होती है।

'जिस देह की आप हकदार हैं
उसे प्राप्त करें'
'आकर्षक देह बिना
यत्न के नहीं आती।'
'अपनी प्राकृत प्रतिभूतियों (असेट्स)
का लाभ उठाइए।'
'आप अपनी देह को फिर से
नया आकार दे सकती हैं।'

'आपकी झुर्रियाँ अब आपके
नियंत्रण में है।

ऐसे विज्ञापन स्त्री-पत्रिकाओं की विचारधारा हैं जो कामकाजी औरत को नये सौंदर्य के मिथक में बंद करती है। औरतें इन विज्ञापनों के जादू में बँध जाती हैं। उपभोक्ता समाज में वे इनके सहारे निजी बदलाव ला सकती हैं। एक ओर पत्रिकाएँ भरोसा देती हैं कि वे अपने सपने पूरे कर सकती हैं, वे निजी रूपांतरण कर सकती हैं, और ऐसा वे अकेले कर सकती हैं। यह सब अपील करता है। खासकर उस समय यह बात ज्यादा असर करती है जब हम देखते हैं कि कल तक उन्हें कुछ भी करने योग्य नहीं माना जाता था। लेकिन यह सपना अमेरिकी समाज के सौंदर्य-तंत्र के अर्थशास्त्र और राजनीति के अंदर नहीं झाँकने देता। यह सपना कहता है कि अगर व्यक्ति मेहनत करे, कोशिश करे तो कामयाब हो सकता है। इस तरह उद्यमी स्त्री के लिए बनाया गया सुंदरता का मिथ अंततः उसी के विरुद्ध काम करता है। पहले शादी के बाजार में सुंदरता का इनाम होता था, अब वह इनाम कैश में बदल गया है। धन के साथ सौंदर्य के संबंध को गहराई से नहीं जाना गया। सुंदरता यानी सुंदरता का धन औरतों को वैसी ही ताकत देगा जैसी कि सचमुच का धन पुरुष को देता है, ऐसा मानकर चला गया। इस तरह सौंदर्य की पात्रता का निर्माण होता गया। जिस तरह धन एक आदमी को हैसियत देता है वही भूमिका औरत के लिए सुंदरता की हो गयी है। सुंदरता की स्पर्धा ने एक समांतर स्फीति को जन्म दिया। सुंदरता ने जिन चीजों, जैसे-यौनता, प्यार, निकटता, आत्माभिव्यक्ति- का भरोसा दिया था- एक बंद अर्थव्यवस्था में ये सिर्फ स्वप्न-भर रह गये।

अमेरिकी समाज में सात के दशक के बाद ज्यों-ज्यों महिलाओं में शिक्षा आयी वे कामकाजी बनी, अकेली रहने लगीं। उस दौर में सुंदरता के मानकीकरण का परिणाम क्या हुआ? इसका आकलन करते हुए वुल्फ लिखती हैं कि एअर होस्टेस, मॉडल और किसी कंपनी की सेक्रेटरी का कमर्शियल यौनीकृत मिथक खूब बढ़ा। कामकाजी युवा औरत एक स्टीरियोटाइप में बदल दी गयी जिसमें सुंदरता का मानक अन्य मानवीय मानकों को नीचा करता था। हेलेन गर्ली ब्राउन जो 'कॉस्मोपॉलिटन' की संपादक बनीं ने 1962 में बहुचर्चित किताब लिखकर इस मिथक को मजबूत किया। किताब का नाम था: सेक्स एंड सिंगल वूमन। कामकाजी औरत अपने काम और अपनी आजादी को किस तरह प्राप्त करे, इसके नुस्खे यहाँ थे। यह एक मुहावरा बन गयी। इसके अनुसार काम करने वाली लड़की को सेक्सी दिखना था ताकि उसका काम और उसका अकेला होना कहीं गंभीर, खतरनाक और भूकंपीय न लगे। अगर काम करने वाली लड़की सुंदर है तो उसका रोमांसीकरण तो उसके काम का ही मजाक बन जायेगा; क्योंकि वह लड़की जल्दी ही माँ बन जायेगी। यह अंतर्विरोध इस मिथ में रहता था।

जिस साल अमेरिका में औरतों का आयोग बना उसी वर्ष एक एअर होस्टेस को किसी एअरलाइन ने सिर्फ इस अपराध पर नौकरी से निकाल दिया कि वह बत्तीस साल की हो गयी थी और उसने शादी कर ली थी। यह दौर अमेरिकी नारीवाद का गरम दौर था। तो भी 1971 में ऐसे कानून बने जो सुंदरता को औरत की पात्रता मानकर चलते थे। सेंट क्रॉस बरक्स प्लेबॉय पत्रिका का केस बताता था कि प्लेबॉय ने सेंट क्रास को इसलिए निकाला क्योंकि उस औरत की बनी-इमेज (खरगोशिनी-छवि) खत्म हो गयी थी।

प्लेबॉय क्लब में नियम थे। क्लब में परिचारिका की नियुक्ति के लिए निम्नलिखित सौंदर्य के माप के मानकक्रम को ध्यान में रखना होगा:

1. एक दोषरहित सुंदरता / चेहरा, देहयष्टि और पालन- पोषण सबमें यह जरूरी है ।
2. बेहद सुंदर लड़की होनी चाहिये ।
3. यदि लड़की का रूप 'ठीक करने' योग्य है तो उसे हाशिए पर माना जाएगा।

4. जिसकी 'बत्ती इगेंज' नहीं रह गयी है यानी जिसका रूप अब ठीक नहीं किया जा सकता है। वह किसी काम की नहीं।

सुंदरता के मानक इस तरह सजा देने वाले बने रहे और आज भी हैं। यद्यपि कानूनों ने कुछ राहत दी है। मर्द को ऐसे कायदे नहीं झेलने पड़ते जबकि औरत को हर वक्त परफेक्ट बॉडी चाहिये।

नये सौंदर्य का यह मिथक नया पूँजीवादी मिथक है। यह मिथक तब नया फला-फूला जब औरतों के भौतिक बंधन भयानक रूप से ढीले कर दिए गये। औद्योगिक क्रांति से पहले तक की आम औरत 'सौंदर्य के प्रति वैराग भाव नहीं रखती थी जैसा कि आधुनिक औरत रख सकती है, जो बड़े पैमाने पर प्रसारित दैहिक आदर्श छवि से लगातार तुलना महसूस करती है। बड़े पैमाने पर उत्पादन की तकनीक, जैसे फोटोग्राफी, आदि के पूर्व के काल में एक औरत छवियों को सिर्फ चर्च में ही देख पाती थी। परिवार एक उत्पादक इकाई थी। वेश्याओं और उच्चवर्ग की स्त्रियों को छोड़ कर आम औरत के गुण उसके पारिवारिक कमेरेपन, औलाद पैदा करने की उसकी क्षमता और आर्थिक होशियारी में निहित माने जाते थे। दैहिक आकर्षण की भी भूमिका थी लेकिन जिस अर्थ में आज हम सौंदर्य को समझते हैं उस अर्थ में सौंदर्य शादी के वक्त भी उस औरत का विषय या गुण नहीं था।

आज के अर्थ में सौंदर्य का मिथक औद्योगिक समाज की उथल-पुथल के दौर में बना है। परिवार की 'कार्य इकाई' टूट गयी है। शहरीकरण बढ़ा है और फैक्टरी व्यवस्था ने औरतों के लिए घरेलूपन के एक 'अलग क्षेत्र' की माँग पैदा की है जिसमें रोटी कमाने वाला घर छोड़कर बाहर जाया करता था। इस प्रक्रिया में मध्यवर्ग बढ़ा और साक्षरता बढ़ी। जीवन-स्तर उठा। परिवार का रूप छोटा हुआ। पढ़ी-लिखी औरतों का एक निठल्ला वर्ग पैदा हुआ जिनके जबरिया घरेलूपन सहने पर ही औद्योगिक पूँजीवाद निर्भर करता था। सौंदर्य के बारे में कोई भी विचार 1830 से पहले का नहीं है। उसके बाद घरेलूपन का फैशन चला।

नयी तकनीकें पहली बार औरत की छवि का पुनरुत्पादन कर सकती थीं कि वे कैसी दिखें। 1840 में पहली बार वेश्याओं के न्यूड फोटो लिए गये। पचास के आस-पास सुंदर स्त्रियों की छवियों वाले विज्ञापन छपे। मध्य वर्ग की स्त्री के घरेलू संसार में पहली बार सुंदर स्त्रियों की छवियों से युक्त पोस्टकार्डों, फोटो, कलाशिल्पों आदि का प्रवेश हुआ।

औद्योगिक क्रांति के जमाने से पश्चिमी दुनिया की मध्यवर्गीय औरत भौतिक नियमनों और परंपरागत आदर्शों में बँधी रही है। सुंदरता के मिथक का उभार उन अनेक सामाजिक कल्पना तरंगों में से एक है जो स्त्रीपन के क्षेत्र के एक हिस्सेदार के रूप में बनाक धरता रहा ताकि औरतों को इस क्षेत्र मे बंद किया जा सके। बहुत-सी कल्पनाएँ स्थिर हुईं: ऐसा बचपन जिसे माता के स्नेह की जरूरत रहे जिससे औरतें उन्माद और हाइपोकोंड्रिया यानी 'रोग भ्रम' की अवस्था में आ सकें। यह विचार कि सम्मानित औरतें सेक्स की नजर से 'असुंदर' होती हैं, और कामकाजी औरतों के दुहराव-भरे थका देने वाले काम स्वेटर बुनने जैसे होते हैं- ये तमाम विक्टोरियाई खोजें दुहरी भूमिका संपन्न करती थीं। एक ओर ये बिना किसी नुकसान के स्त्री की शक्ति और बुद्धि को बढ़ाने की बात करती थीं, दूसरी ओर औरतें इन अवसरों को अपनी रचनात्मकता और भावों को अभिव्यक्त करने के लिए इस्तेमाल करती थीं।

मध्यवर्गीय औरत द्वारा फैशन, कढ़ाई, सिलाई, बच्चों का लालन-पालन आदि कलाओं के विकास के बावजूद इन सामाजिक कल्पनाओं ने पिछली एक-डेढ़ सदी से अपना काम बखूबी किया है: पिछली एक-डेढ़ सदी के लंबे नारीवादी अंदोलन के दौरान इन कल्पनाओं ने मध्यवर्गीय औरतों के आराम, साक्षरता और भौतिक साधनों से जुड़ी आपेक्षिक स्वतंत्रता के बोध का बड़े प्रभावशाली ढंग से मुकाबला किया है।

दूसरे युद्ध के बाद ये कल्पनाएँ बार-बार आती रहीं। इस दौरान जब पत्रिकाओं ने घर बनाने के रोमांस, विज्ञान और एडवेंचर को आदर्श बनाया तो वे बना नहीं सकीं। साथ रहने का घरेलूपन का मिथ अपना अर्थ खो बैठा और मध्यवर्गीय औरत घर के मेन गेट से बहिर्गमन कर गयी। फिर एक बार इन कल्पनाओं ने खुद को दुरुस्त किया। सब छोड़कर उसने मुक्त स्त्री के चेहरे और देह की सीमाएँ बाँधनी शुरू कीं। सर्जनाएँ बतायीं। सजाएँ बनायीं। धार्मिक फतवे बनाये। पुनरुत्पादन की गुलामी दी जिसमें पर्याप्त ताकत नहीं थी। अतः घरेलू 'अनंत काम' की जगह 'अनंत सौंदर्य कर्म' ने ले ली। ज्यों-ज्यों अर्थव्यवस्था, कानून, धर्म, यौनाचरण, शिक्षा संस्कृति के क्षेत्र औरतों को शामिल करने के लिए खोले गये, एक निजी यथार्थ ने औरत की चेतना को उपनिवेश बना डाला। सौंदर्य के विचारों का उपयोग करके इसने एक वैकल्पिक स्त्री-दुनिया बनायी जिसमें उसके अपने कानून थे, अपना अर्थशास्त्र था, यौनाचरण था, शिक्षा थी, संस्कृति थी। ये तमाम तत्त्व उतने ही दमनकारी रहे जितने कि पहले वाले थे।

पश्चिम की मध्यवर्गीय औरत को भौतिक रूप से सबल लेकिन मानसिक रूप से निर्भर बनाये रखा गया। आज का 'सौंदर्य मिथक' तकनीकी कौशल-निर्भर एक प्रतिक्रियावादी मिथक है। यह आदर्श छवि का मिथक अनंत छवियों के औजारों को बनाया जाता है। इस हमले को सेक्सुअल फैंटेसी कहा जाता है जिसमें सेक्सुअल कुछ नहीं होता। औरतों की आजादी से खतरा महसूस करने वाले मर्द और उनके वर्चस्व के संस्थान उसे बनाते हैं। वे स्त्री-अपराध बोध और उसके मुक्ति के स्वप्न के कल्पित डरों को इस्तेमाल करते हैं : कहीं हम अति तो नहीं कर रहे- ऐसे हमारे डर वे हमारे खिलाफ इस्तेमाल करते हैं। छवि का ऐसा तीखा औसतीकरण उन मर्द-औरतों द्वारा इच्छित एक प्रतिक्रियावादी दुःस्वप्न है जो लैंगिक संबंधों के तेज बदलाव द्वारा चकित और उन्मूलित महसूस करते हैं: यह बदलाव को बाद के विरुद्ध एक मजबूत भरोसे की तरह है। आधुनिक औरत की छवि को सुंदरता की मिसाल की तरह पेश करना एक अंतर्विरोधी बात है। आधुनिक औरत जहाँ अपने व्यक्तित्व को बना रही है, अभिव्यक्त कर रही है वहाँ सुंदरता एक आभ्यंतरीकृत तत्त्व है, कालातीत है और प्रजातीय है। इसके बरक्स सुंदरता के मिथ के 'दुःस्वप्न' औरत की वास्तविक स्थिति के विपरीत हैं।

अवचेतनात्मक भ्रम और भी उग्र है क्योंकि बाजार अपना काम करता है। 33 करोड़ अरब डॉलर का खुराक उद्योग है। बीस अरब का कॉस्मेटिक्स उद्योग है। तीन सौ अरब का कॉस्मेटिक सर्जरी उद्योग है। सात अरब का पोर्न उद्योग है। ये उद्योग उन्हीं दुःस्वप्नों से पैदा हुए हैं और वे उन्हीं मतिभ्रमों को बढ़ाने का काम करते हैं।

एक बार फिर नाओमी वुल्फ का हवाला दिया जाये। वे अपनी उक्त किताब में ही सेक्स और ब्यूटी मिथक के बारे में कहती हैं कि यौन क्रांति भी औरत को छू कर निकल गयी। उसे उसके लाभ नहीं मिले। वह अंततः मर्द देह के लिए एक स्त्री देह की तरह ही रह गयी। धर्म ने जो अपराध-बोध दिया था उसके चलते औरत यौन-आनंद नहीं प्राप्त कर सकती थी। यौन-क्रांति ने इसे अपराध से मुक्त तो किया लेकिन उसे यौन-बराबरी नहीं दी। शोधों ने बताया कि स्त्री के यौनांग अनंत चरम सुख के काबिल होते हैं लेकिन उसे समानता नहीं मिली। नाओमी कहती हैं कि यौन-कामना दरअसल सामाजिक स्थिति से तय होती है।

नाओमी वुल्फ पश्चिमी मीडिया विज्ञापनों में औरत की बनायी गयी छवि का एक छोटा सा विवरण देती हैं : 'अगले पेज पर उसका मुँह खुला है। वह अपनी जीभ से लिपस्टिक को चूमने जा रही है। एक पेज बाद एक औरत बालू पर चौपाए की तरह उँकड़ू है। उसके नितंब हवा में हैं। उसके सिर पर तौलिया है। आँखें बंद हैं। मुँह खुला है। यह एक औसत अमेरिकी पत्रिका का हवाला है। फ्रांसीसी लाँजरी यानी औरतों के अंतर्वस्त्रों के ब्रांड लिली के एक विज्ञापन में एक औरत एक नंगी स्त्री-देह को देख रही है जिसकी आँखें बंद

हैं। ओपियम नामक परफ्यूम के लिए एक नंगी औरत जिसके नितंब और कमर खुले हैं, बिस्तर के किनारे से चेहरे के बल जमीन पर गिरती है। टाइटन फव्वारे के लिए एक नंगी औरत जिसकी कमर धनुषाकार उठी है, अपने हाथ ऊपर फेंकती है। जॉग ब्रांड की स्पोर्ट ब्रा के लिए एक नंगी स्त्री देह गेंदन से कटी है। यह कामुकता का निर्माण है; भावरहित कामुकता का निर्माण है। पाठक समझती कि अगर वह वैसा महसूस करेगी तो उसे वैसा बनना होगा।

नाओमी वुल्फ का मानना है कि ये छवियाँ इतिहास में बनी हैं। फैशन के आगे यौनता आती है और यौनता के आगे उसकी राजनीति।1960 के शुरू के वर्षों की लोकप्रिय जन-संस्कृति में केन्द्रीय पद प्यार था। सेक्स इसका इजहार- भर था। तब आदमी अपने बाल लंबे रख सकते थे। वे अपनी देह की पूजा करते थे। यह उनमें एक प्रकार का स्त्री-भाव था क्योंकि तब तक स्त्रियों ने अपनी आजादी के बारे में सोचना शुरु नहीं किया था।

तब पोर्नोग्राफी या नग्नता की कला मर्दों का इलाका थी। औरतों को मर्दों वाली पत्रिकाएँ ही नसीब थीं। लेकिन सत्तर के बाद ब्यूटी पोर्नोग्राफी अपने चरम पर पहुँच गयी। औरत ज्यादा आजाद हुई तो पोर्नोग्राफी भी आजाद हुई। प्लेबॉय 1958 में निकला। 1960 मे गर्भ- निरोधक गोली आ गयी। 1969 मे इग्लैण्ड में और 1973 में गर्भपात कानूनी हुआ। 1970 के बाद औरत का सबलीकरण बढ़ा। आंदोलन बढ़े। इस तरह साठ के आसपास की लोकप्रिय जन-संस्कृति बदल गयी क्योंकि ऐसी औरत सामने आने लगी जो बिना शर्म के 'स्वयं' हो सकती थी और बिना किसी हिंसा के अपना स्थान पा सकती थी। इससे खतरा था। जब औरत अपने बारे में राजनीतिक विमर्श करने लगी तो इस संस्कृति ने उसका रूप बदलना शुरु किया। अगर औरतें यौन-स्वतंत्रता प्राप्त करने जा रही हैं और दुनिया की सत्ता लेने जा रही हैं तो उन्हें मर्दों की तरह 'फक करना' सीखना होगा। डिस्को ऐसी ही कला-विधा बना जिसमें 'अनजान' को पॉवर मे लाना था 'फक' करना था। आदर्श स्त्री-देह को नंगा कर दिया गया। इस एक कदम ने स्त्री को अपने संपूर्ण ब्योरे मे पूर्णता का अहसास दिया जिसके माप से उसे बनना था। यह एक नया स्त्री-अनुभव था जिसमें अपनी देह की 'पूर्णता' की बारीक जाँच-पड़ताल करनी थी। यह माप और जाँच-पड़ताल मानो स्त्री देह से और उसके यौनानंद से जुड़ी हो। इस तरह स्त्री-देह की पूर्णता यौन कवच बन गयी। प्लेबॉय ने अस्सी के दशक में औरत के ऑर्गाज्मिक चेहरे बेचने शुरू किए। किसी अन्य छवि के अभाव में औरतों के ऐसे ही ऑर्गाज्मिक चेहरे आने लगे। यह प्लेबॉय छाप की पोर्न फोटोग्राफी ने किया।

स्त्री संस्कृति में दो प्रकार की चीजें पैदा हुई। एक स्त्री देह को वस्तु की तरह दिखाती थी दूसरी उस पर हिंसा करती थी। सारे अश्लीलता कानून इस बिना पर चलते हैं कि आप उस अश्लीलता की उपेक्षा करें। लेकिन पोर्न मे अश्लीलता का मानक लागू नहीं होता। समाज में नग्नता या अश्लीलता की बहसें विज्ञापनों में सुंदरता के पोर्न में शामिल होने से स्त्री को हुए नुकसान के बारे में नहीं बतातीं। स्त्री- पुरुष देह की एकरूपता एक भ्रम बनाती है। वह यौन-अलगाव पैदा करती है। नाओमी वुल्फ की सगस्या बाजार की शक्तियों द्वारा स्त्री-देह को एक 'आइरन केज' मे बदलने से पैदा होती है । लेकिन वे जब ब्यूटी मिथ के बारे में सोचती हैं तो कहती हैं कि ब्यूटी मिथ ने औरत की आजादी को गोड़ कर उसे चेहरे और देह में बदल दिया। अब स्त्री को यह सवाल पूछना चाहिये कि क्या वह स्वयं कभी अपनी देह में होती है ? युवा और सुन्दर दिखना क्यों जरूरी है? क्या हम स्त्री देह की अन्य अवधारणा और रूप की कल्पना कर सकते हैं? क्या सुंदरता वाकई सोकरा है? क्या एक स्त्री की यौनता उसके रूप में निहित है? क्या औरत की यौनता और उसकी बनायी छवि में कोई संबंध है? क्या यौनता को किसी भी चीज की तरह खरीदा या बेचा जा सकता है? इन सवालों का उत्तर इस बात में है कि हम पहले इस ब्यूटी मिथ को तोड़ें। हम इस मिथ को तोड़ सकती हैं और यौनता

पा सकती हैं। प्यार कर सकती हैं। आकर्षण पा सकती हैं। हमें उस सबको हटाना है जो हमें बुरा लगता है। जो अच्छा लगता है उसे रखना है। असल मुद्दा औरतों के लिए उपलब्ध 'चयन की क्षमता' का है, ब्यूटी के प्रसाधनों का नहीं। जब औरत को अधूरा बताया जाता है तो ब्यूटी मिथ शुरू होता है। कॉस्मेटिक आते हैं। कपड़े-लत्ते, फैशन उसकी पहचान के नाम पर आते हैं। ब्यूटी मिथ ने औरत को झूठी चयनशीलता दी है। 'मैं कैसी लगती हूँ '? का भाव दिया है। क्या मैं सेक्सी लगती हूँ या कि 'गंभीर लगती हूँ '? ये झूठी प्रस्तावनाएँ खारिज की जानी चाहिये। यह एक थोपी गयी स्थिति है। मर्द की यौनता को उसके 'गंभीर' होने में नियत किया गया है। यदि वह सेक्सी भी है तो पूर्ण है। यह एक गलत सौदा है और हमें इसे पलट देना चाहिये। ऐसा नहीं होना चाहिये कि हम एक चुनें तो दूसरे को खोना पड़े।

औरत को अपने को चुनने की आजादी चाहिये। हम अपने रूप का स्वयं चयन कर सकेंगे तो ब्यूटी मिथ से निकल पाएँगे। यही ब्यूटी के नये मानी होंगे। ब्यूटी मिथ के बाहर जाना आसान नहीं है। क्या स्त्री की स्त्रीवादी सौंदर्य की परिभाषा हो सकती है? यह पुनर्परिभाषा दरअसल सत्ता की पुनर्परिभाषा है।

*****

प्रस्तुतिः सुधीश पचौरी

वैश्वीकरण और नारी स्वास्थ्य

-रवीन्द्र रुक्मिणी पंढरीनाथ

वैश्वीकरण के आगमन के बाद भारत में स्वास्थ्य संबंधित सारी बहस सार्वजनिक स्वास्थ्य के दायरे से निकलकर निजी स्वास्थ्य तक सिमट गयी है और वह पूर्णरूपेण बाजार द्वारा संचालित है। इसलिए मलेरिया और डेंगू की महामारी के परिप्रेक्ष्य में सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं के टूटने की बात नहीं होती। यह कोई नहीं पूछता कि सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक प्रावधान क्यों निरंतर गिरता जा रहा है ? पहली योजना में वह कुल बजट के 3.3% था, जो कि नवीं योजना में महज 1.1% रह गया है। (वास्तविक खर्च तो बस 0.9% राशि स्वास्थ्य के लिए खर्च करते हैं) इस तथ्य को भी छिपाया जाता है कि 1998 के आँकड़ों के अनुसार माता मृत्यु की 62.8% घटनाएँ मलेरिया से संबंधित थी। सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा औरतों का स्वास्थ्य इस तरह से एक दूसरे से संबंधित है। इसीलिए वैश्वीकरण के सार्वजनिक स्वास्थ्य पर होने वाले असर को परिप्रेक्ष्य में न रखकर सिर्फ औरतों के स्वास्थ्य की बात करना या तो अज्ञानता है या फिर बौद्धिक बेईमानी।

मेडिकल टूरिज्म बनाम टूटते सरकारी अस्पताल : वैश्वीकरण से प्रभावित स्वास्थ्य सेवाओं के अध्ययन के लिए खुले दिमाग से सोचें तो एक तरफ मेडिकल टूरिज्म के नाम पर बड़े-बड़े अस्पतालों में फाइव स्टार सुविधाएँ मुहैया कराने में राज्य प्रयत्नशील है, जबकि गाँव के प्राथमिक आरोग्य केंद्र से लेकर मुंबई के बड़े सरकारी अस्पताल तक का सार्वजनिक स्वास्थ्य का पूरा ढांचा चरमरा रहा है। कहीं उस पर ताले पड़े हैं, या उसे (कम कीमत पर) निजी संस्थानों की भेंट चढ़ायी गयी है। जहाँ भी वह चल रहा है, वहाँ से डॉक्टर, नर्स या दवाईयाँ नदारद हैं। उन सेवाओं को जारी रखने के लिए अब लोगो को अधिकाधिक पैसा चुकाना पड़ता है। ऐसे में बीमार व्यक्ति के सामने दो ही विकल्प बचते हैं- प्राइवेट सेवाओं की शरण में जाएं या चमत्कार या मौत का इंतजार करें। सार्वजनिक सेवाओं के निजीकरण की बात भले ही चौकाने लायक न हो, लेकिन भारत में जिस स्तर पर यह प्रक्रिया हो रही है, वह चौकाने लायक जरूर है। भारत में स्वास्थ्य पर होने वाला 78.7% खर्च सीधा लोगों की जेब से जाता है। (2003-04 साल में यह आंकड़ा 1 लाख करोड़ तक पहुंच गया) इस मामले में सिर्फ म्यांमार, कंबोडिया, टोगो, भूटान, गियाना और बुरुंडी इन देशों में भारत से हालत बदतर हैं।

भारत का निजी स्वास्थ्य क्षेत्र विश्व में सर्वाधिक निजीकृत और सबसे कम नियंत्रित है। ग्रामीण क्षेत्र में ऋण के कारण किसानों की आत्महत्याएँ आम बात हो गयी है। याद रहे कि ऋण लेने का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण कारण खराब स्वास्थ्य है। दस साल पहले के आंकड़े बताते हैं कि 20% शहरी तथा करीब 25% ग्रामीण जनता बढ़ती कीमतों के कारण डॉक्टर की ट्रीटमेंट लेने में असमर्थ हैं। (आज हालत बदतर हो चुकी है)

स्वास्थ्य का सवाल सीधे पर्यावरण की सुरक्षा, रोजगार, अन्न सुरक्षा से जुड़ा हुआ है। इसलिए विकास की जनविरोधी धारणाओं के तहत घटते रोजगार, बढ़ते प्रदूषण, भुखमरी का सीधा असर लोगों के स्वास्थ्य पर होता है। हर तबके में सर्वाधिक शोषित होती हैं महिलाएँ, जिनको उसकी मार सबसे ज्यादा झेलनी पड़ती है।

ताजा हवा का झोंका

अर्थनीति या विकास की अवधारणा के अलावा भारत की महिलाओं के स्वास्थ्य पर गहरा असर करने वाले कई तत्त्व हैं, जैसे कि गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्यसेवा तथा पोषण के मामले में बरता जानेवाला भेदभाव, हिंसा, कम उम्र में शादी और मातृत्त्व का बोझ, सामाजिक कुप्रथाएँ, लैंगिक संक्रामक बीमारियाँ तथा एड्स का बढ़ता खतरा। जाहिर है इन तत्त्वों का सरोकार सीधा जेंडर (लिंग भाव) से है। पिछले दो दशकों से देश की स्वास्थ्य नीति की चर्चा में जेंडर का जिक्र बार-बार हो रहा है। विश्व भर में नारी आंदोलन के प्रभाव स्वरूप कैरो, बीजिंग सम्मेलनों का, अंतरराष्ट्रीय उद्घोषणाओं का कुछ न कुछ प्रभाव देश की स्वास्थ्य नीति पर, खासकर औरतों के स्वास्थ्य नीति पर पड़ा है। प्रजनन संबंधित तथा लैंगिक स्वास्थ्य की बात अब दबे स्वरों में नहीं, बल्कि खुलकर हो रही है, यह बात हौसला बढ़ाने वाली है। कुछ बढ़ते एड्स का खतरा है, कुछ फंडिंग एजेन्सी का तकाज़ा; लेकिन उनके परिणामस्वरूप कुछ कुण्ठाएँ टूट रही हैं। सैनिटरी नैपकीन या कण्डोम के इश्तहार हो या स्कूलों में लैंगिक शिक्षा की बात, समलैंगिक संबंधों की चर्चा हो या स्तन/गर्भाशय के कैंसर का जिक्र कुछ ताज़ी हवा हमारे कुण्ठाग्रस्त, रूढ़ीग्रस्त समाज में बह रही है, ऐसा कम-से-कम माध्यमों द्वारा पता चलता है।

दुर्भाग्य से ताजा हवा का यह झोंका नारी-स्वास्थ्य के अंतरंग तक नहीं पहुँचता, परिभाषाएँ लचीली बनी हैं, लेकिन व्यवहार ज्यों का त्यों है, बल्कि कुछ मामले में अधिक विकृत बन गया है। देश की परिवार कल्याण नीति से भले ही टारगेट्स हटाये गये हों, "औरतों का विकास यही सबसे कारगर गर्भनिरोधक" जैसे नारे अपनाये गये हों, व्यवहार में आज भी भारतीय नारी गर्भनिरोधन की सारी जिम्मेदारी ढो रही है। महाराष्ट्र, हरियाणा जैसे कई राज्यों में सरकारी नीतियों के तहत दो से अधिक बच्चे पैदा करना यह मानो अपराध बन गया है। मुखमरी और महंगी स्वास्थ्य सेवा के कारण बढ़ती असुरक्षितता से गरीब ज्यादा बच्चा पैदा करना चाहता है (ताकि उसमें से दो तो जीवित रहें) लेकिन तीसरे बच्चे के लिए न तो मुफ्त प्राथमिक शिक्षा है, न स्वास्थ्य प्रावधान, बल्कि पंचायती राज्य संस्थाओं में पंच/सरपंचों को तीसरा बच्चा होने पर इस्तीफा देना पड़ता है। इसका सीधा असर निम्नजाति तथा महिलाओ के राजनैतिक समीकरण पर हो रहा है।

किसी भी देश मे नारी स्वास्थ्य को मापने के जो पैमाने हैं, उनमें प्रमुख हैं माता मृत्यु अनुपात जो हर एक लाख प्रसूतियों में होने वाली माताओं की मृत्यु की संख्या दर्शाती है। 1983 में भारत सरकार ने निश्चय किया कि 2004 साल तक यह आंकड़ा 200 तक घटाया जाए। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के पहले दौर में पाया गया कि यह अनुपात 407 है। सर्वेक्षण के दूसरे दौर में (जो 2003 में समाप्त हुआ) वह 540 तक पहुँच गया है। आदिवासी, दलित तथा अन्य जनसंख्या में यह अनुपात क्रमशः 662,584 तथा 516 है। (विकसित देशों में यह अनुपात 20-40 के आस-पास है)

इसी सर्वेक्षण से पता चलता है कि उ.प्र. में हर वर्ष 40,000 औरतें प्रसूति संबंधित कारणों से मरती हैं। गर्भवती महिलाओं में से सिर्फ 4 प्रतिशत औरतें आवश्यक स्वास्थ्य जाँच का लाभ उठा पाती हैं। 7 प्रतिशत औरतें गर्भावस्था के दो महीनों में सरकारी नर्स से मिल पाती हैं तथा 80 प्रतिशत प्रसूतियाँ स्वास्थ्य केन्द्र / अस्पताल से बाहर बिना किसी वैद्यकीय सहायता से होती हैं। जागतिक स्वास्थ्य संगठन ने उसके इलाज स्वरूप दाईयों के संवारपन को निशाना बनाकर उन्हें स्वास्थ्य सेवा से बाहर कर दिया। लेकिन बेचारी गर्भवती महिला जाएं तो कहाँ जाएँ ? आस-पास जो टूटी-फूटी सरकारी स्वास्थ्य सेवा थी, वह भी खत्म होने में हैं, दूर-दूर तक डॉक्टर नहीं है, अगर है भी तो उसे देने के लिए पैसे नहीं हैं। इस कारण माता मृत्यु अनुपात में

वृद्धि हुई, तो उसमें आश्चर्य क्या है? इसके बजाय अगर दाइयों को प्रशिक्षित किया जाता (डॉ. आरोले से लेकर डॉ. बंग तक कई सारे कागधाब प्रयोगों की मिसालें हैं), तो शायद कुछ औरतों की जान बच पाती और गरीब दाइयों का सामर्थ्य कुछ कदम आगे बढ़ता।

नारी स्वास्थ्य को मापने का दूसरा पैमाना है लिंग-अनुपात, हालांकि यह अपने आप में नारी स्वास्थ्य को नहीं दर्शाता, यानी कि किसी देश या प्रदेश में स्त्री-पुरुष संख्या का संतुलन बना रहना इस बात का सबूत नहीं है कि वहाँ की औरतों का स्वास्थ्य अच्छा है, लेकिन लिंग अनुपात का कम होना कई लिंग जन्य भेदभाव का प्रतीक बन जाता है। भारत इसकी जीती-जागती मिसाल है। समूची लोकसंख्या में लिंग-अनुपात लिंग-भाव के अलावा विस्थापन जैसे अन्य कारणों पर भी निर्भर होता है। लेकिन जन्म के समय लिंग-अनुपात (Sex Ratio at Birth - SRB) स्त्री-गर्भ हत्या का पर्दाफाश कर सकता है, तथा बालक लिंग-अनुपात (0-6 वर्ष की जनसंख्या में लिंग-अनुपात (Child Sex Ratio-CSR) स्त्री-गर्भ हत्या तथा लिंग से संबंधित भेदभाव को उजागर करता है। दुनिया भर में जन्म के समय लिंग-अनुपात 93.4-95.2 (लड़कियाँ/ 100 लड़के) इतना होता है। हालांकि पूरे भारत के लिए सीधे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं विश्वसनीय रेकार्ड पर आधारित अध्ययन के अनुसार 2001 में यह अनुपात समूचे देश के लिए केवल 90.1 था। बल्कि लिंग-अनुपात के आंकड़े गाँव से लेकर देश तक 2001 की जनगणना की बदौलत दुनिया के सामने हैं। वे बताते हैं कि देश भर में हर 100 लड़कों के पीछे सिर्फ 92.7 +लड़कियाँ हैं। पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, गुजरात के कई जिलों में बालिकाओं की संख्या बालकों की तुलना में 80 प्रतिशत या उससे कम हो गयी है। देश का कोई भी सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक तबका या भौगोलिक चप्पा 'बेटीमारी' की इस बीमारी से अछूता नहीं रहा। एड्स से अधिक संक्रामक यह सामाजिक-सांस्कृतिक बीमारी तेजी से हर कोने में फैल रही है। विडम्बना यह है कि उच्च वर्ग-जाति-सुशिक्षित तबका इस प्रक्रिया की प्रमुख धरोहर रहा है। समाज का नेतृत्व करने वाले (और वैश्वीकरण की प्रक्रिया में बहुत मुख्य) इस समूह का अनुकरण अन्य तबके कर रहे हैं। देश भर के आंकड़े यही बताते हैं। वैश्वीकरण का सर्वाधिक लाभ उठाने वाला तबका गर्भलिंग जाँच का सबसे बड़ा उपभोक्ता है, यह तथ्य वैश्वीकरण और नारी स्वास्थ्य तथा नारी समाज के समीकरण को उजागर करता है।

हर चीज बिकाऊ

यह साम्राज्यवाद के नंगेपन का दौर है। इस एक ध्रुवीय विश्व में उसे कपड़े पहनने की जरूरत नहीं रही। निरंकुश सत्ता की इस अंधी दौड़ में दुनिया भर की राज्य संस्थाएँ (गिने-चुने अपवाद छोड़कर) शामिल हैं। इस दौड़ मे वे ही सबसे पहले कुचले जा रहे हैं जो सबसे अधिक वंचित तथा शोषित हैं। आँखें मूँदकर उस दौड़ में शामिल राष्ट्र या तबके (उदा. मध्यमवर्ग) नहीं जानते कि वे भी कुचले जाने वालों की कतार में शामिल हैं। तेजी से बदलते माहौल में जरूरी है कि हम तथ्यों को परखें, समझें, महसूस करें। तभी हम वैश्वीकरण से उपजे कथित अंतर्विरोधों के आंतरिक रिश्तों को समझ पाएंगे।

न्यू आर्लीन्स में बलि चढ़ाये कृष्ण वर्णियों के अधिकार के हनन को अनदेखा करने के लिए कोंडोलिझा राईस का राजनैतिक उत्थान जरूरी होता है औरतों में संतानहीनता का एक प्रमुख कारण टीबी है, जो कि गरीबी और कुपोषण के कारण बढ़ता जा रहा है। वैश्वीकरण के इसी दौर में सहायक पुनरुत्पादन तंत्र ज्ञान के बड़े चर्चे हैं। टेस्ट ट्यूब बेबी टेक्नोलॉजी का उपयोग कर 2-4 लाख रुपये खर्च कर चुनिंदा महिलाएँ बच्चा पैदा कर सकती हैं। स्त्री-पुरुष संख्या के असंतुलन से उपजी बहुओं की खरीदारी और बहुपतित्व का पुनरुज्जीवन समाज के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है और उसी वक्त सम्भ्रांत वर्ग औरत के 'चयन

के अधिकार' की दुहाई देकर गर्भलिंग जाँच तथा स्त्री भ्रूणहत्याओं का समर्थन कर रहा है मानो समूची नारी जाति की मिलकर कोई समस्या नहीं है।

हर समस्या निजी सरोकार है और उसका समाधान बाजार में है (जरूरत है आपके बटुए में पर्याप्त राशि की) हर चीज बिकाऊ है। स्वास्थ्य के माने हैं कोलेस्टेरोल कम करने वाली दवाएँ, बॉटल बंद पानी, हेल्थ रक्षा तथा जिम या खाद्य तेल का कोई ब्राण्ड, मातृत्व तक बिकाऊ है, इसीलिए 'सरोगेट मदरहूड' को प्रोत्साहित किया जाता है। वैश्वीकरण के अगले दौर में बढ़ावा मिलेगा 'मेल चाईल्ड पिल' (शर्तिया लड़का पैदा करने की दवा) तथा 'जीन मार्केटिंग' की नारीवादी परिभाषा उछाली जाएगी और औरत के चयन के अधिकार के नाम पर ऐसी टेक्नोलॉजी का समर्थन किया जाएगा।

पिछले 15 साल में भारत में आर्थिक विकास की गति भले ही तीव्र हुई हो, उसी दौरान मानव विकास की सीढ़ियों से भारत निरंतर गिरता जा रहा है। अगर हम सच्चाई समझकर इस प्रक्रिया का विरोध नहीं करेंगे, तो नारी-स्वास्थ्य का, भारत की नारियों का हश्र क्या होगा ?

*****

कहानी

दो औरतें...

सुचित्रा भट्टाचार्य
अनुवाद : सुशील गुप्ता

अतसी ने जब उसे देखा, तो पहले तो वह उसे पहचान नहीं पायी। खैर, पहचानना मुमकिन भी नहीं था। बीस साल पहले, कुल एक बार जिसका चेहरा देखा था; जिस चेहरे की महज एक तस्वीर भर, उसके अंदर छिपी पड़ी थी और जो चेहरा, हमेशा के लिए उसके दिल में घर कर गया था। इसके बावजूद, अचानक वह चेहरा देखकर ऐसा लगा, मानो वह कोई गरीब-दुखी औरत है, उसके पास शायद मदद मांगने आयी है। ऐसी औरतें उसके पास अक्सर आती रहती हैं। बिल्कुल उसी तरह का बेसहारा-लाचार, जीर्ण-शीर्ण चेहरा! आंखों तले गहरे-गहरे काले निशान! टूटा-फूटा लम्बोतरा चेहरा! रसहीन-रूखी त्वचा। कंठ-हड्डियां अजीब ढंग से ऊंची! घने बाल बेहद रूखे-सूखे; बेहद अस्तव्यस्त! जर्जर-कमजोर बदन पर, पीले रंग की किनारदार, सफेद साड़ी! तांत की उस साड़ी की दशा भी बेहद दीनहीन-दयनीय! इन सब के बावजूद, उस औरत के चेहरे-मोहरे पर मोहक आभिजात्य छाप! साफ जाहिर था कि किस्मत के बुरे फेर की वजह से, वह दर-दर भटकने को मजबूर हो गयी है।

अतसी ने कड़कती आवाज में दरयाफ्त किया! 'क्या चाहिए?'

उस औरत के रूखे-सूखे चेहरे पर मुस्कान झलक उठी, 'आपने मुझे पहचाना?'

अतसी किंचित सकपका गयी, 'ना... मतलब... कौन हैं आप? खुद ही बता दो।'

'मैं तंद्रा हूं...!'

तंद्रा! तंद्रा! छोटा सा बूंद भर नाम! कुल्लमकुल दो शब्द! फिर भी... आज भी... इतने अर्से बाद भी, कितना जहरबुझा नाम! अतसी को लगा, कोई फूत्कारता हुआ सांप, उसे नये सिरे से डंस गया हो। वह एकदम से कई कदम पीछे छिटक गयी। हैरत है! अब तक वह उस औरत को पहचान क्यों नहीं पायी? वही तो है! हां, बिल्कुल वही। वही नीलाभ आंखें। दिगन्त आसमान की तरह झुकी-झुकी! जानी पहचानी! मोहक जादुभरी! उसके समूचे अहंकार को कुचलते हुए पतले-पतले होंठ! होंठ की कोर पर, बादामी रंग का नन्हा-सा तिल! आज भी वह औरत बिल्कुल वैसी की वैसी।

अतसी की आवाज अपने आप ही सख्त हो आयी, 'तुम? क्यों आयी हो यहां?'

तन्द्रा ने गले तक आयी थूक निगल डाली।

लेकिन, उसके होंठों पर वही सूखी-सूखी-सी हंसी, ज्यों की त्यों टिकी रही, 'आपके पास, मैं जरा किसी काम से आयी थी।'

'तुम्हारी जुर्रत तो कम नहीं –'

तन्द्रा की आवाज में वही कातर अनुनय झांकता रहा, 'आप अगर थोड़ा-सा वक्त दें मुझे–'

'मेरे पास बिल्कुल वक्त नहीं है। तुम जा सकती हो।'

उसके मुंह पर ही दरवाजा बंद करने को, अतसी आगे बढ़ी। अचानक तन्द्रा का अन्दाज बदल गया। अतसी को स्तंभित करते हुए, उसने दरवाजे का अधखुला पल्ला, सख्त हाथों से थाम लिया।

'लेकिन मैं... वापस जाने को नहीं आयी। आपसे बात करने आयी हूं।'

'लेकिन मुझे तुमसे कोई बात नहीं करनी है–'

'कोई फायदा नहीं होगा–' तन्द्रा की आवाज बेहद शांत मगर उद्धत सुनायी दी, 'अगर आज आपने मेरी बात नहीं सुनी, तो मैं दुबारा आऊंगी। बार-बार आऊंगी और ऐसा आप हरगिज नहीं चाहेंगी। अगर जरूरत पड़ी, तो मैं आपके बेटे के पास भी जा सकती हूं–'

अब अतसी के निरुत्तर होने की बारी थी। तन्द्रा क्या अतसी को डराने आयी है? इतने दिनों की दबी-ढंकी बातें, पर्दाफाश कर देने का डर! ऐसी कौन-सी बात करने आयी है वह? इतने सालों बाद आखिर थी

कहां? उसने अपने को बमुश्किल संयत किया, लेकिन आवाज की रुखाई, अभी तक नहीं दबा पायी।

'तुम क्या मुझे ब्लैकमेल करने आयी हो?'

तन्द्रा के लहजे में, बिल्कुल अचानक जो दृढ़ता उभरी थी, उसी तरह बिल्कुल अचानक गायब भी हो गयी। कसकर दरवाजा थामे हुए, उसकी उंगलियां, धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगीं। दमे के मरीज की तरह, वह हांफने लगी। उसने हांफते-हांफते ही, जोर-शोर से दायें-बांये सिर हिलाया।

अतसी की निगाहें और तीखी हो उठीं, 'क्या चाहती हो तुम मुझसे?'

तन्द्रा ने दुबारा जोर-जोर से सिर हिलाया। दरवाजा छोड़कर, उसने बमुश्किल दीवार थाम ली। वह बेतरह पसीने-पसीने हो आयी थी। चैत के आखिरी दिन! ऐसी आग बरसाती धूप में, वह शायद पैदल चलकर ही यहां तक आयी थी. हाथ में कोई छाता भी नहीं। उसका गोरा चेहरा तपकर, बिल्कुल सुर्ख-लाल हो आया था।

'जरा मैं बैठ जाऊं? मेरा सिर घूम रहा है।'

'नहीं, हरगिज नहीं –' गले तक आया, यह जुमला, कहना चाहकर भी, अतसी अचानक अचकचा गयी। तन्द्रा वाकई लड़खड़ा रही थी। समूची देह हल्की-हल्की कांपती हुई। अतसी को लगा, वह गिर पड़ेगी। कोई भी इन्सान, वह चाहे कोई भी हो, उसी के दरवाजे पर बेहोश पड़ी रहे और वह निश्चिंत मन से, उसके मुंह पर दरवाजा बंद कर दे? तन्द्रा का चेहरा पढ़ते हुए, अतसी कुछेक पल, अपने खयालों में डूबती-उतराती रही। सोचते ही सोचते, उसने फैसला भी कर डाला।

विरस-सा चेहरा बनाते हुए, अतसी दरवाजे से हट आयी, 'आ जाओ! अन्दर आकर बैठो।'

कमरे में दाखिल होते ही, तन्द्रा सामने पड़े सोफे पर ढह गयी। वह बुरी तरह हांफ रही थी। कहीं उसे दमा... सांस की बीमारी तो नहीं? अतसी ने आगे बढ़कर पंखा ऑन कर दिया।

स्विच-बोर्ड के करीब खड़े-खड़े ही उसने पूछा, 'पानी पीओगी?'

तन्द्रा ने हामी जताते हुए, बेहद शिथिल अन्दाज में सिर हिलाया।

ड्रॉइंग रूम से निकलकर, अन्दर के कमरे में जाते हुए, अतसी के दिमाग में कई-कई खयाल तेजी से आते-जाते रहे। कुछ ही देर में, बेबी अपनी सास के साथ आती होगी। उनके साथ, आज शाम, उसे बाबला का रिश्ता पक्का करने जाना है। अगर कहीं, वे दोनों आ पड़े तो? तन्द्रा को देखकर, बेबी या उसकी सास, अगर कहीं, उसका परिचय पूछ बैठें, तो? अतसी उन्हें क्या जवाब देगी? क्या वह साफ मुकर जायेगी... कि वह उसे नहीं पहचानती? लेकिन, इस बीच तन्द्रा ही अगर सविस्तार अपना परिचय दे डाले, तो? यह सरासर मुमकिन है। तन्द्रा जैसी औरत के लिए कुछ भी असंभव नहीं।

फ्रिज से ठंडे पानी की बोतल निकालकर, अतसी ने थोड़ा पानी, खुद अपने ही गले में उड़ेल लिया। इस वक्त समूचा घर, हर रोज की तरह निर्जन, सुनसान। कामवाली नौकरानी ऊपर, छत की कोठरी में सोने जा चुकी है। इस वक्त अतसी, रोज की तरह ही अकेली। निपट अकेली। खैर, अकेली वह कब नहीं थी? पति-बच्चे, घर-गृहस्थी, सब कुछ होने के बावजूद, वह हमेशा, पल-पल निपट अकेली ही तो रही। जब उसका पति जिंदा था, तब भी! आज जब वह नहीं रहा, तब भी! रह गये बच्चे! बच्चे आखिर कितने दिनों, मां के अपने बने रह सकते हैं?

पानी की बोतल लिये-लिये, अतसी ड्रॉइंगरूप में लौट आयी। तन्द्रा लम्बे सोफे पर निरुपाय-सी पसरी हुई थी। उसकी आंखें बंद थीं। उसकी बीमार देह, सिमटकर, जाने कैसी तो सिकुड़ आयी थी। उस वक्त भी वह थर-थर कांप रही थी। अतसी ने गौर किया, तन्द्रा के लगभग सारे बाल सफेद हो चुके थे। उसके चेहरे पर उम्र की छाप साफ नजर आ रही थी। पल भर के लिए, अतसी बिल्कुल पत्थर हो आयी। क्या उम्र हो चुकी होगी तन्द्रा की? अतसी से तो काफी छोटी होगी वह! कम से कम पांच साल का फर्क तो जरूर होगा। हद से हद वह चौवालिस-पैंतालिस की होगी। इतनी जल्दी

वह इतनी बुढ़ा कैसे गयी? आखिर उसे किस बात की कमी है? रुपये-पैसे की या संजय की? अतसी को समझ में नही आया। चूंकि यह पहेली उसे बेतरह उलझन में डाल गयी थी, इसलिए उसका गुस्सा और बढ़ गया। संजय के बिना, वह इतनी बदहाल क्यों होगी? उस शख्स के अभाव में, अगर कोई तबाह हुई है, तो वह है अतसी। इसके बावजूद अतसी, पचास की उम्र में भी, खासी स्वस्थ और सबल नजर आती है। उसे देखकर कोई भी अन्दाजा नहीं लगा सकता कि उसकी बेटी का ब्याह हो चुका है और बेटे का ब्याह होनेवाला है।

अतसी ने पानी की बोतल, मेज पर रख दी और तन्द्रा को हल्के-से थपथपाकर पूछा, 'क्या हो गया है तुम्हें?'

तन्द्रा ने आंखें नहीं खोलीं। उसने दांतों से अपना निचला होंठ कसकर दबा रखा था।

'सुन रही हो? ये लो पानी'

तन्द्रा उसी तरह निश्चल। अतसी की घबड़ाहट बढ़ती। अचानक यह कौन-सी मुसीबत, उसकी छाती पर सवार हो गयी? वह तो तन्द्रा को कमोबेश भूल ही चुकी थी। कमोबेश ही नहीं, पूरी तरह, वह उसके दिमाग से निश्चिन्ह हो चुकी थी।

... जब तक संजय जिन्दा था, उसके साथ-साथ यह औरत भी, अतसी के खून की बूंद-बूंद में शामिल हो गयी थी। उसने पल-पल उसकी जिन्दगी मुहाल कर रखी थी। उस दौर में अतसी को जाने कितने तीखे अपमान और दर्द से गुजरना पड़ा था। उन दिनों संशय का कांटा, हर वक्त उसके सीने में चुभा रहता – शायद आज रात भी संजय घर न लौटे। टूर का बहाना बनाकर, शायद इस बार भी वह तन्द्रा के साथ रंगरेलियां मनाने गया है। उस दौर के हर दिन, हर रात की बेचैन यादें, जिन्दगी भर के लिए, उसके दिल में गहरा जख्म बनकर, जिन्दा है।

....आखिरी दौर में संजय अक्सर झल्ला उठता था, 'आज भी तुम एक ही बात, बार-बार क्यों रटती रहती हो, बताओ तो? तुमने जब, जो चाहा, मैंने सबकुछ तुम्हें दिया। घर-मकान, गाड़ी, सुख-सुविधा, ऐशो-आराम! इतना सब देने के बावजूद तुम मुझे जरा भी चैन नहीं लेने दोगी?'

....अतसी भी तीखी झुंझलाहट व्यक्त करती, 'तुम इसे 'एक ही बात' कहते हो? नहीं चाहिये मुझे घर-मकान, गाड़ी-घोड़ा। नहीं चाहिए मुझे सुख-आराम। तुम दोनों ने मुझे... मेरी समूची जिन्दगी... मेरे बच्चे... सारा कुछ जलाकर खाक कर डाला है। तुमने और इस राक्षसी ने...'

...'हद है!' संजय चीख पड़ता, 'तुम्हारा इरादा क्या है, खुलकर बताओ न? तुम क्या यह चाहती हो कि मैं यह घर छोड़कर चला जाऊं? जिन्दगी भर के लिए?'

...अतसी भी बुलंद आवाज में दहाड़ती रही, 'हां, हां, जाओ। चले जाओ। रोज-रोज का यह मानसिक अत्याचार, मेरी बर्दाश्त के बाहर है।'

अतसी की धड़कने तेज हो उठीं। क्या इसीलिए संजय इतनी जल्दी चला गया? कुल पचास की उम्र में कदम रखते न रखते, वह दुनिया छोड़ गया? उसके दफ्तर के कर्मचारी, उसकी बेजान बर्फ-सी देह, घर तक पहुंचा गये थे। दफ्तर में, अपने चेम्बर में बैठे हुए, काम करते-करते ही, उसके सीने में तीखा दर्द उठा और वह बेहोश हो गया। वहीं सब कुछ खत्म। पति की बेजान लाश को वह फटी-फटी आंखों से देखती रही। उसके सीने में भयंकर रुलाई घुमड़ती रही, मगर वह चाहकर भी रो नहीं पायी।

पन्द्रह सालों से जमा होते हुए, मान-अभिमान ने उसके दुनियावी अहसासों को कुचल-कुचलकर निश्चिन्ह कर डाला। बाबला ने उस वक्त इंजीनियरिंग पास किया था। बेबी हायर सेकंडरी की तैयारी कर रही थी। बाबला अपने पापा का कारोबार ठीक तरह चला सके, बेबी को लिखा-पढ़ाकर सयानी कर सके, इन्हीं सब चिन्ता-फिक्र में, तन्द्रा उसकी जिन्दगी से जाने कभी मिट चुकी थी। शायद संजय भी बेनिशान हो चुका था।

अपने खयालों में डूबी-डूबी अतसी की आंखें, पति की मौत के पांच साल बाद, दुबारा भर आयीं। संजय के लिए छटपटा रही थी। वह शख्स चाहे जैसा भी

था, चाहे जहां भी रहा, कम से कम जिन्दा तो था! अतसी के आस-पास तो था। वह इतनी जल्दी क्यों चला गया? उसकी अकाल मौत के लिए आखिर कौन जिम्मेदार है? अतसी? या वह औरत? उस औरत के लिए ही तो संजय...

अंजुरी में पानी भरकर अतसी ने तन्द्रा के चेहरे पर छींटे मारे। पानी का छींटा महसूस करते ही तन्द्रा के तन-बदन में हरकत हुई। उसने आंखें खोल दीं। उसकी खोयी-खोयी-सी नीली आंखें, कुछेक पल, अतसी के चेहरे पर गड़ी रहीं। धीरे-धीरे उन आंखों की भाषा लौट आयी।

अतसी ने पानी की बोतल उसकी तरफ बढ़ा दी, और मन ही मन बुदबुदा उठी – बहुत नाटक कर लिया। अब पानी पीओ और फूटो यहां से-'

तन्द्रा उठकर बैठ गयी और बोतल का सारा पानी गटागट, अपने गले में उड़ेल गयी। अगले ही पल उसने आंचल से अपनी गर्दन पोंछ डाली। यह भी साफ जाहिर था कि अभी भी, उसे सांस लेने में थोड़ी तकलीफ हो रही थी।

लेकिन अतसी के दिल में एक बूंद भी ममता या हमदर्दी नहीं जगी।

उसने कड़कती आवाज में दरयाफ्त किया, 'अब तबीयत ठीक हो गयी?'

जवाब में तन्द्रा ने भी बमुश्किल कुछ कहने की कोशिश की।

उसने बेहद कमजोर आवाज में रुक-रुककर कहा, 'तबीयत बिल्कुल ठीक नहीं है। बात-बात में सिर चकराने लगता है। सांस फूलने लगती है। डॉक्टर का कहना है, बदन में खून नहीं है। भयंकर एनीमिया...'

अतसी को ये बातें सुनने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। पानी की बोतल, सामने से हटाकर, शोकेस पर रखते हुए, उसने अगला वाक्य-बाण छोड़ा, 'पांच मिनट तो हो गये। अब क्या इससे भी ज्यादा आराम की जरूरत है।'

तन्द्रा उसकी बेरहमी पर एकदम से चौंककर ठिठक गयी। उसकी उदास मुर्झायी निगाहें, अतसी के चेहरे पर टिकी रहीं।

'ऐसे क्या देख रही हो?'

'लगता है मैंने आपको परेशानी में डाल दिया-'

'हां, परेशान तो किया ही – अतसी ने दो टूक जवाब दिया, 'मेरी बेटी और उसकी सास, बस, आती ही होंगी। बेहतर हो, इससे पहले, तुम यहां से दफा हो-'

लेकिन तन्द्रा ने उठने की कोई हड़बड़ाहट नहीं दिखायी। उसकी बेजान निगाहें, एकटक अतसी के चेहरे पर गड़ी रहीं।

'मैं बड़ी मुसीबत में पड़कर आपके पास आयी थी। भयंकर तकलीफ में दिन गुजर रहे हैं....'

यह पहला जुमला, कभी अतसी ने भी कहा था। सारा मान-अपमान एक किनारे रखकर, लाज-शर्म झटकते हुए, कभी वह भी, इस औरत की शरण में लाचार हो गयी थी। तन्द्रा की नीलाभ आंखें, उस दिन भी, इसी तरह उदास नजर आयी थीं।

...अतसी ने कहा, 'बड़ी मुसीबत में पड़कर, तुम्हारे पास आयी हूं। एक मात्र तुम्हीं, संजय को हमें वापस लौटा सकती हो। वादा करो, आज से तुम संजय से कोई वास्ता नहीं रखोगी-'

...ना, तन्द्रा ने ऐसा कोई वादा नहीं किया। उसकी भटकती निगाहें कहीं और जा लगीं।

...उस दिन अतसी भी बेतरह लाचार और निरुपाय थी। उसकी जान कुछ बह जाने की कगार पर था। जिन्दगी की सुख-शांति, पति-गृहस्थी, बेटे-बेटी, सपने, प्यार-सारा कुछ।

...'देखो, तुम्हारी तो अभी भी उम्र है। तुम खूबसूरत भी हो। अगर चाहो, तो अभी भी, कोई शरीफ-स्मार्ट साथी चुनकर, ब्याह कर सकती हो। किसी शादीशुदा मर्द के पीछे, अपनी जिन्दगी क्यों तबाह कर रही हो? उसने समझाने के लहजे में विनती की थी।'

...उस दिन भी तन्द्रा बेभाव रो पड़ी थी। कगार तोड़ती हुई, अजब-सी बेबस रुलाई!

...उसने रोते-रोते बस, इतना ही कहा था,

'अब यह नहीं हो सकता। नहीं हो सकता ऐसा–'

...'क्यों? हो क्यों नहीं सकता?'

...'इसका जवाब मैं नहीं दे सकती। आप उनसे ही पूछ लीजियेगा।'

बहरहाल, अतसी लौटकर, सोफे पर आ बैठी। तन्द्रा के बिल्कुल आमने-सामने।

तन्द्रा ने भी अपने को किसी तरह संयत किया, 'मुझे मालूम है, आप मुझे कभी भी माफ नहीं कर सकतीं। लेकिन, विश्वास करें, मैंने उन्हें बहुत समझाया था... बार-बार समझाया था।'

अतसी ने उसकी तरफ एक चुभती हुई निगाह डाली, 'पुरानी बातें छोड़ो। अब कौन-सी बात करने आयी हो, फौरन कह डालो। मेरे पास बिल्कुल फुर्सत नहीं।'

तन्द्रा की आवाज डूब गयी, 'बेटी का रिश्ता तय किया है–'

अतसी की जुबान से बरबस ही सवाल फिसला, 'किसकी बेटी?'

तन्द्रा ने अतसी की निगाहों से अपने को तोड़ते हुए जवाब दिया, 'मेरी बेटी।'

'ओऽ... यह तो अच्छी बात है। क्या उम्र है उसकी?' सवाल पूछते हुए, अतसी ने खुद ही, मन ही मन हिसाब लगा डाला। पन्द्रह और पांच... बीस। ना, शायद थोड़ा-सा कम! उन्नीस साल की होगी शायद।

'लड़का अच्छा है। किसी प्राइवेट कम्पनी में जूनियर अफसर है। इसी बैसाख में ही ब्याह है...'

'चलो, अच्छा है।'

'काफी बड़ा खर्च है। कोई भी जुगाड़ नहीं बैठा पा रही हूं। अगर आप...'

'अब जाकर तन्द्रा के आने की वजह, पानी की तरह साफ हो आयी।'

अतसी तमककर उठ खड़ी हुई, 'मैं? मैं क्या कर सकती हूं?'

तन्द्रा उठते-उठते भी दुबारा बैठ गयी, 'मुझे मालूम है, आप मुझे निहायत बेशर्म और भिखारिन समझ रही हैं। लेकिन, यकीन मानें, मेरे पास और कोई राह नहीं। निरुपाय होकर आयी हूं मैं।'

'क्यों? तुम्हारी नौकरी क्या हुई? अब नौकरी नहीं करती तुम?'

'नहीं नौकरी तो मैंने जाने कभी छोड़ दी। बेटी के जन्म के बाद ही। उसीने जोर देकर, मेरी नौकरी छुड़वा दी–'

'अच्छा? नौकरी छोड़ने की और कोई वजह नहीं थी? क्या यह सच नहीं कि तुम दुनिया को मुंह दिखाने के काबिल नहीं रहीं?'

'अब आप चाहे, जो समझ लें।' तन्द्रा ने अपने चेहरे पर उड़ते हुए बालों को हटाते हुए कहा, 'जब तक वे जिन्दा थे, मुझे कभी, कोई तकलीफ नहीं होने दी–'

'उस दौरान काफी सारा माल-मत्ता भी बटोर लिया था तुमने।' अतसी की आवाज में हिकारत भरा व्यंग्य झलक उठा।

उस चोट को नजरअंदाज करते हुए, तन्द्रा अस्फुट लहजे में बुदबुदा उठी, 'काश, मैंने ऐसा किया होता। उनके जाने के बाद, कितने खौफनाक गुजरे हैं ये पांच साल! कितनी तकलीफ उठाकर, बेटी को बड़ा किया...'

तन्द्रा की जुबान से संजय के संदर्भ में 'वे', 'उनका' जैसे सर्वनाम, अतसी के लिए असहनीय हो आया।

उसने तमककर, प्रसंग बदलने की कोशिश की, 'कितने रुपये चाहिए?'

तन्द्रा भी काम की बात पर लौट आयी। अतसी के सवाल पर, शायद उसे, कहीं हौसला भी मिला।

'खैर, रुपये तो बहुत सारे चाहिए। जेवर वगैरह कुछ भी नहीं है। कम से कम पचास हजार रुपये दे दें तो... आखिर मुन्नी का भी तो अपने बाप की जायदाद में थोड़ा-बहुत हिस्सा बनता है–'

बस, तन्द्रा का आखिरी जुमला, अतसी के सीने में तीर की तरह चुभ गया, 'अच्छा, तो तुम हिस्से की दावेदार बनकर आयी हो?'

जुबान से यह जुमला फिसल जाने के बाद, तन्द्रा को भी शायद अहसास हुआ कि उससे कहीं भूल

हो गयी।

इसलिए उसने अपनी आवाज में और ज्यादा विनय घोलकर कहा, 'ना! मैं सिर्फ आपकी शरण में आयी हूं–'

'और अगर मैं रुपये न दूं, तो?'

तन्द्रा चुप!

अतसी को लगा, तन्द्रा मन ही मन अपना हथियार, नये सिरे से पैना कर रही है। आज अतसी अगर उसके मुंह पर रुपये देने से इंकार कर दे, तो वह क्या कर सकती है? खेल की सन्तान, मुकदमा दायर करके, जायदाद में अपना हिस्सा मांगेगी? चारों तरफ बदनामी फैलायेगी? अगर ऐसा हुआ तो बाबला और बेबी भी अपने बाप का चरित्तर जान जायेंगे? अतसी अन्दर ही अन्दर सिहर उठी। अपने अन्दर की शर्म वह खुद अपने से भी हमेशा छिपाये रखने की कोशिश करती रही है। पिछले पन्द्रह सालों से, उसके सारे आंसू, सारा गुस्सा, मान-अभिमान.... सारा... सारा.... कुछ उस संजय के ही संदर्भ में था। इस बारे में अगर किसी गैर को खबर हुई भी, तो बाहर से हुई, अतसी खुद किसी के पास शिकायत लेकर नहीं दौड़ी। न वह अपने किसी आत्मीय-स्वजन के पास गयी, न बंधु-बांधव के पास। उसने तो अपने बाबला-बेबी को भी इस बात की खबर नहीं होने दी। उन बच्चों ने अपने मां-बाप को हमेशा झगड़ते हुए जरूर देखा है, झगड़े की वजह, उन्हें कभी मालूम नहीं हुई। अतसी ने भी कभी नहीं चाहा कि बच्चे अपने पापा को असम्मान या हिकारत की नजरों से देखें। आज अगर तन्द्रा उनके सामने...? वैसे तन्द्रा ने इस किस्म का कोई प्रसंग नहीं छेड़ा। अपनी रोहत से ही वह इस कदर टूट चुकी है कि दावा जताने जैसी ताकत, शायद उसमें बची ही नहीं।

कुछेक पल खामोश रहने के बाद तन्द्रा ने कहा, 'यह आपके सोचने की बात है।'

बाहर, सड़क पर कोई गाड़ी आकर रुकी। कहीं बेबी लोग तो नहीं आ गये? अतसी तेज-तेज कदमों से, बाहर दरवाजे तक चली आयी। नहीं, बेबी नहीं आयी थी। कोई और गाड़ी थी, किसी को छोड़ने आयी थी। चिलचिलाती धूप में सर्र से आगे बढ़ती हुई, एकदम से गायब हो गयी। अतसी की निगाहें तपती धूप पर गड़ी रहीं। सूरज की प्रखर किरणों में, चैत की दोपहरी, बेतरह तपती हुई! इन दिनों काल बैसाखी का आंधी-तूफान, जब-तब हहराने लगता है और समूची दुनिया को उलट-पुलट कर देता है।

अतसी अस्थिर कदमों से तन्द्रा की तरफ लौट आयी, 'तुमसे एक बात पूछूं?'

'पूछिये–'

'तुम क्या सिर्फ मेरे विचार जानने आयी हो या कानून की धमकी देने?'

काफी देर तक ठंडी-शीतल छाया में बैठकर, तन्द्रा काफी कुछ स्थिर हो आयी थी। काफी देर बाद, उसके होठों पर निर्विकार-सी हंसी खेल गयी। बेहद तटस्थ, लेकिन बेहद तीखी हंसी। हंसी का अन्दाज हूबहू पहले जैसा।

इन्सान का चेहरा पल बदल जाये, उसकी हंसी या रुलाई की मुद्रा शायद कभी नहीं बदलती। हर उम्र, हर हाल में, हंसी या रुलाई का अन्दाज वही का वही रहता है। तन्द्रा का जो हंसता-मुस्कराता चेहरा, आज भी अतसी के सीने में खुबा हुआ है, उसमें और इस हंसी में, कहीं कोई खास फर्क नहीं था। संजय की जेब में पड़ी, तन्द्रा की वह तस्वीर, एक दिन, बिल्कुल अचानक ही उसके हाथ लग गयी थी।

उस वक्त, उसके दिल को जरा खटका जरूर लगा था, लेकिन अपने भीतर के शक को, उसने खास तवज्जह नहीं दी थी। आखिर किसे पता था कि दस सालों की उसकी शादीशुदा जिन्दगी, कुल एक दिन की आंधी में, यूं तहस-नहस हो जायेगी? बेबी ने तो उन दिनों स्कूल जाना भी शुरू नहीं किया था और बाबला कुल सात या आठ साल का था।

उस दिन संजय, जब दफ्तर से लौटा, तो अतसी ने सहज भाव से ही पूछ लिया, 'यह तस्वीर किसकी है, जी?'

संजय एकदम ही चौंक गया, 'यह तस्वीर तुम्हें कहां से मिल गयी?'

उस पल संजय के चेहरे-मोहरे और आवाज में ऐसा कुछ था कि अतसी चौंक गयी।

उसने झटपट वह तस्वीर छिपा ली, 'तुम्हारी शर्ट की पॉकेट में पड़ी थी–'

संजय की भौंहें चढ़ गयीं, 'तुमने क्या आजकल मेरी शर्ट-पैंट की जेबों की भी तलाशी शुरू कर दी है?'

अतसी हत्‌वाक!

'तलाशी क्यों लूंगी? धोने के लिए देते हुए...'

'लाओ, वह तस्वीर मुझे दो–'

'पहले यह बताओ कि यह लड़की कौन है?'

'हमारे दफ्तर में नौकरी पर नयी-नयी आयी है...'

'उसकी तस्वीर तुम्हारी जेब में कैसे आयी?'

'तुम मुझसे जिरह कर रही हो?'

'नहीं, सिर्फ जानना चाहती हूं।'

'मैंने खुद रखी है–'

संजय हमेशा से ही इसी किस्म का स्पष्टवादी! चोरी-छिपे किये गये, अपने अनगिनत अपराध भी वह बेहद साफगोई से क़बूल करने में, कभी नहीं झिझकता था।

आजकल अतसी को अक्सर खयाल आता रहा है। काश, संजय इस हद तक सत्यवादी न होता। अगर वह इस कदर सच्चा न होता, तो अतसी को बहुत सारे दर्द से मुक्ति मिल जाती। जिन्दगी में कई निर्मम सच ऐसे भी होते हैं, जो अनकहे और अनजाने रह जायें, तो शायद बेहतर होता है।

अतसी ने सीधे-सीधे तन्द्रा की आंखों में झांका।

इससे पहले कि बेबी-चगैरह आ पहुंचे, वह उस औरत से कोई फैसला कर लेना चाहती थी।

'तुमने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया?'

तन्द्रा की हंसी बुझ आयी, 'क्या जवाब दूं, आप ही बतायें?'

'जो सच है, वही कहो–'

'जो सच है, उसे आप मान सकेंगी? है इतना हौसला आप में?'

'तुम्हारा मतलब क्या है, साफ-साफ कहो–'

तन्द्रा सकुचायी हुई मुद्रा में, सोफे से टिककर बैठ गयी। पंखे की तरफ अपना चेहरा उठाकर, चंद सेकंड उसने अपने सीने में भरपूर सांस भरी।

'अगर मैं यह कहूं कि मुझे आपसे दोनों ही चाहिये, तो? आपका विचार भी और कानूनी इन्साफ भी!'

'वो किस हिसाब से?'

'हिसाब-किताब मैं नहीं समझती। जो मन में आया, कह दिया। जिस तरह आप बाबला-बेबी की मां हैं, उसी तरह मैं मुन्नी की मां हूं, शायद उसी हिसाब से–'

अतसी के सब्र का बांध, अब टूट गया।

उसने खासी बुलंद आवाज में उसकी बात काटते हुए, दहाड़कर कहा, 'ना! ना! बाबला-बेबी के नाम के साथ, मुन्नी का नाम मत लो। मेरे बच्चे और तुम्हारी मुन्नी में कोई बराबरी नहीं है–'

तन्द्रा जरा भी उत्तेजित नहीं हुई, 'देखा न, आप सच को क़बूल नहीं कर पायीं।' इतना कहते हुए, उसने अपनी आंखें मूंद लीं।

आंखें मूंदे-मूंदे, जैसे अपने आप में बुदबुदा उठी, 'बहुत सारी घटनाएं, इन्सान के न चाहते हुए घट जाती हैं या कभी-कभी गलती से ही सही, काफी कुछ घट जाता है। कभी-कभी परिस्थितियों पर इन्सान का कोई दखल नहीं होता।' हठात् उसकी आवाज और धीमी हो आयी, 'किसी दिन मैंने आपसे कहा था, मेरे लिए और कोई राह नहीं, मैं सच ही निरुपाय हूं। मैं सच कहती हूं, सचमुच मैं निरुपाय थी। माटी अपने सीने पर लहलहाती फसल, क्या जानबूझकर, खुद उखाड़कर बर्बाद कर सकती है? आप.... आप.... ऐसा कर सकती थीं? बाबला-बेबी का मुंह देखकर, आपने भी तो...'

'मेरी बात यहां क्यों उठ रही है? इसका सवाल ही नहीं उठता।' अतसी बहस पर उतर आयी। 'मैं संजय की ब्याहता बीवी थी। मेरा एक सामाजिक परिचय था... एक पहचान थी...'

'हां, बस इतना-सा ही फर्क था, आप में और

मुझमें।'

तन्द्रा मानो किसी और से बातें न कर रही हो, बल्कि इन बातों के सहारे, वह धीरे-धीरे, अपने ही भीतर उतरती जा रही है।

'आप जानती हैं, वह शख्स आपको छोड़कर... आपके बिना, कभी मेरे पास नहीं आया! मुझे छोड़कर... मेरे बिना, आपके पास भी कभी नहीं लौटा। वह क्यों नहीं लौटा, कभी सोच देखा है आपने? ऐसा क्यों होता था कि आपकी बगल में लेटे लेटे, वह मेरे खयालों में खोया रहता था? या फिर क्यों वह मुझे छोड़कर, आपके बिस्तर पर चला जाता था?'

अतसी एकबारगी ठिठक गयी। तन्द्रा की यह कैसी खामखयाली है?

तन्द्रा की बातें, जैसे खत्म होने को ही नहीं आ रही थीं। उसकी बातों का सिलसिला उसी तरह जारी रहा।

अपने सवालों का जवाब, जैसे वह खुद ही दिये जा रही हो, 'पता है क्यों? मैं बताती हूं, क्योंकि उसकी नजरों में मैं और तुम, एक बराबर थे। मैं नहीं होती, तो कोई और होती या फिर आपकी जगह ही कोई और हो सकती थी।'

बस, जरा-सी सामाजिक पहचान के अलावा आपके या मेरे परिचय में, कोई फर्क... कोई अलगाव है क्या?'

तन्द्रा की आवाज धाराप्रवाह बहती रही, धीरे-धीरे समूचे कमरे में फैल गयी। आपकी जगह, कोई दूसरी औरत भी तो हो सकती थी। मेरे बजाय कोई दूसरी औरत हो सकती थी। ठीक? मैं ठीक कह रही हूं न?'

अनजाने में ही अतसी जाने कब इस कदर अनमनी हो आयी कि वह सोफा छोड़कर उठ खड़ी हुई। जाने कब तो, वह खिड़की के किनारे जा खड़ी हुई.. अतसी आखिर कौन थी संजय की? तन्द्रा ही भला कौन थी? किन्हीं मायनों में, मैं और वो, दोनों ही औरतें, अलग-अलग लहर भर थीं, संजय के लिए खिलती-लहराती! संजय की प्यास में ही तपकर निखरी हुई।

खिड़की के करीब खड़े-खड़े ही, अतसी अस्फुट आवाज में बुदबुदायी, 'मत बोलो। इससे आगे, कुछ मत बोलो। अब तुम चुप हो जाओ।'

वह घूमकर तन्द्रा के सामने आकर खड़ी हो गयी।

चढ़ी हुई धूप से निगाहें हटाकर, एकदम से अंधेरे में देखो, तो सारा कुछ कैसा धुंधला-धुंधला नजर आता है। अपने ही हाथों, अतसी की निगाहों के सामने, सजी-सजायी उसकी घर-गृहस्थी! साजो-सामान... एकबारगी अस्पष्ट, झुटपुटा हो आया। उस धुंधले अंधेरे में सिर्फ तन्द्रा का चेहरा नजर आता हुआ। यह तन्द्रा का चेहरा है या खुद अतसी का चेहरा।

अतसी की निगाहों में सारा कुछ गड्मड् हो आया। वह एक-एक कदम चलती हुई, तन्द्रा के बिल्कुल करीब आकर बैठ गयी। उसने तन्द्रा की हथेली पर अपना हाथ रख दिया।

'पता है, अन्दर ही अन्दर, मेरा कोई दर्द, बेतरह टीसता रहता है...'

'मेरा भी...'

'कभी-कभी मेरा मन होता है, मैं खूब-खूब, फूट-फूटकर रोऊं–'

'मेरा भी–'

अचानक दोनों औरतें बेतरह रो पड़ीं। छाती-तोड़ रुलाई! पांच साल बाद, आज पहली बार... संजय की मौत के बाद, पहली बार...

दोनों औरतें अपने-अपने अन्तस की छाया में निःशब्द बैठी, फूट-फूट कर रोती रहीं। बेबी और उसकी सास, जाने कब खुले दरवाजे पर आ खड़ी हुई थीं, इस तरफ, दोनों का ध्यान ही नहीं गया। दोपहर कब शाम में ढल गयी, उन दोनों को, इसकी भी सुध-बुध नहीं रही। वक्त, लम्हों में, लम्हे पलों में, घुलमिलकर बनता मिटता-गुजरता रहा...

❑❑❑

अकेले होने की जमीनी सच्चाइयां

- डॉ. दीप्ति गुप्ता

सृष्टि सृजन की मूल (प्रकृति और पुरुष के संयोग से नारी इस समूची सृष्टि की नींव स्वरूप मानी गई है) धर-परिवार की धुरी, जन्मदात्री होने के कारण धरती को जीवन से स्पंदित करने वाली, अनेक प्रकार की रचनात्मकता की शिलाधार "औरत" खुद कितनी निराधार और जमीन से उखड़ी हुई महसूस करती है जब उसे अकेले जीवन जीना पड़ता है।

सदियों से इस समाज के नियम कायदों से परे प्रकृति ने नारी और पुरुष को एक दूसरे के पूरक के रूप में कुछ सहज स्वभाव, गुण और प्रवृत्तियां प्रदान की और उनके आधार पर स्वतः दोनों का कर्तव्य विधान रूपाकार लेता गया। सृष्टि रचना के आरंभ से ही नारी स्वभाव से ही अधिक संवेदनशील, भावुक, करुणामयी और सहनशील रही तो पुरुष उसकी तुलना में अधिक व्यवहारिक, कठोर, कम संवेदनशील और कम भावुक रहा। नारी अबला की अवधारणा के कारण नहीं बल्कि अपने सहज, संवेदनशील, सुकुमार स्वभाव के कारण पुरुष पर अवलंबित होने को बाध्य होती है। उसके सान्निध्य से मिलनेवाला सुरक्षा, सुकून और सुख का अहसास उसके नारीत्व को पूर्णता देता है। यों तो पुरुष भी नारी के बिना अधूरा होता है, भले ही उसका अहंकार उसे यह मानने से रोके, लेकिन उसके जीवन को पूर्णता के चरमबिंदु पर पहुंचनेवाली नारी ही है, उसके बिना वह आधा-अधूरा है

किसी पुरुष को यदि किसी कारणवश अकेले जीवन जीना पड़े तो अकेलापन तो वह भी निश्चित रूप से महसूस करता है-आखिर वह भी इंसान है, लेकिन नारी की तरह वह उस अकेलेपन से टूटता नहीं, वरन् स्वयं को अनेक सही गलत तरीकों से सुख से सराबोर करने की जोड़-तोड़ में लग जाता है, यह उसकी प्रवृत्ति है, सहज स्वभाव है। उसकी आंतरिक प्रवृत्तियां उसे ऐसा करने पर मजबूर करती हैं।

यह सच है कि नारी में साहस, ऊर्जा और सुलझे सोच-विचार की कमी नहीं होती बल्कि जीवन के अनेक कगारों पर वह पुरुषों से भी अधिक साहसी और हिम्मतवाली सिद्ध होती रही है- चाहे वह दुःख, तकलीफ झेलने का साहस हो या पिता का घर छोड़कर पति के घर को संभालते हुए नया जीवन शुरू करने का साहस हो, या सुबह से उठकर एक साथ कई कामों को करने का साहस हो, या बदलते समय के साथ पत्नी और मां की जिम्मेदारियों के साथ नौकरी की जिम्मेदारी सम्हालने का साहस हो, या विपरीत परिस्थितियों में सबका मनोबल बनाए रखने का साहस हो, निर्विवाद रूप से यह साहस तत्व नारी में पुरुष की अपेक्षा कई गुना अधिक होता है। बल्कि पौरुष का प्रतीक पुरुष अक्सर घर परिवार से लेकर बाह्य जगत तक जरा सी परेशानी में भी खीझता, झुंझलाता, भावनात्मक असुरक्षा का शिकार हो, बच्चे की तरह चीखता चिल्लाता नजर आता है और उसके इस ऊबाल का शिकार होती रही है नारी-कभी मां के रूप में, तो कभी बहन, कभी बेटी और कभी अनंतिम, पत्नी के रूप में। औरत को पत्नी के रूप में पाकर तो जैसे पुरुष को उस पर कुरूप और नकारात्मक ज्वार को उगलने का लाइसेंस मिल जाता है। खैर, यदि दुर्भाग्य से पुरुष नारी विहीन है तो वह शराब और

सिगरेट के सहारे अपने अकेलेपन का विरेचन करता नजर आता है। उसका इस तरह बिफरना और बिखरना उसके पौरुष पर निश्चित ही प्रश्न चिन्ह लगाता है। जीवन के हर कगार, हर परिस्थिति में अदम्य धैर्य और साहस से ऊर्जित नारी जब प्रकृति द्वारा रचित नियम और प्रवाह के प्रतिकूल पुरुष के बिना, अकेले जीने की यातना से गुजरती है तो वह एक साथ आंतरिक, भावनात्मक वेदना और बाहरी दुनिया के झंझावातों से जूझने को विवश होती है, जूझती जाती है और जीती जाती है। नारी के सहज स्वभाव के विरुद्ध यह जूझारू जीवन शैली पग-पग पर उसे तोड़ती है, जैसे उसे तौलती है, उसकी परीक्षा लेती है। इस तरह उसका जीवन एक अनवरत संघर्ष बनकर रह जाता है। एक ओर पुरुष का अभाव उसे खलता है तो दूसरी ओर समाज उसे छलता है।

मैंने तलाकशुदा होने के कारण अकेलेपन के सन्नाटे और संघर्षों की त्रासदी को जिस तरह झेला है उसे शब्दों में ढालना मुश्किल ही नहीं, असंभव है। कहा जाता है कि विपरीत परिस्थितियां इंसान के अंदर छुपी क्षमताओं को उभार देती हैं, ऐसा ही कुछ मेरे साथ हुआ। अंदर से उपजी कतरा-कतरा हिम्मत के साथ-साथ संभवतः आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के कारण विकट हालातों में भी मेरा मनोबल बना रहा । फिर भी अक्सर मैं असुरक्षा के भंवर में डूबती उतराती रहती। अपने मासूम बेटे और बेटी को देखकर, उनकी सुरक्षा की भावना से सक्रिय हुई। मैं सबकुछ भूलकर सामने मुंह बाई समस्या से जंग करने में जुट जाती थी और समाधान होने पर ही चैन की सांस लेती। पर मानसिक और शारीरिक शक्ति खर्च होने पर, चैन के क्षणों में इतनी असहाय, निरीह और कमजोर महसूस करने लगती कि सुकून का, चैन का सुख भी न उठा पाती। एक खुश्क खालीपन मुझे घेरे रहता, लेकिन कुछ समय बाद फिर अपने को समेटती, अगली सुबह सहज ही उपजी शक्ति और ऊर्जा को संजोए दिन की शुरूआत करती। ऐसे में अकेलापन मुझे भयावह लगा।

संवेदनशीलता यदि एक ओर उदात्त गुण है तो दूसरी ओर यह रूलाता, झिकता भी बहुत है। इसने मुझे जीवन में हमेशा कमजोर बनाया, मूर्ख बनाया और धोखों से रूबरू करवाया। फिर धीरे-धीरे व्यवहारिक बुद्धि ने पाठ पढ़ाया और बीतते समय के साथ संवेदनशीलता व व्यवहारिक बुद्धि के संतुलित पहियों पर जीवन का सुघड़ ढर्रा बना। घर में बच्चों के खाने-पीने, उनके भावनात्मक और शारीरिक स्वास्थ्य से लेकर उनका एडमीशन कराने, उन्हें होमवर्क कराने तक के सारे छोटे-बड़े काम मैं बड़ी जिम्मेदारी और कुशलता से जरूर करती पर दिन के अंत में एक असुरक्षा और खालीपन फिर मुझपर हावी हो जाता। बेचारगी का भाव आंखों और चेहरे पर तिर आता पर बच्चों पर अपने ये भाव जाहिर न होने देने का भरसक प्रयत्न करती। उनकी मां होने के साथ-साथ उनका पिता भी बनती। पिता की भूमिका में उनके लिए अच्छे स्कूल का चयन, दाखिले की भागदौड़, उनकी रुचि के अनुसार विषयों के चयन में मदद, फिर कॉपी, किताब, स्कूल ड्रेस खरीदना, पढ़ाई के अलावा अन्य रचनात्मक गतिविधियों के लिए उन्हें प्रोत्साहित कर, उनका मनोबल बढ़ाना ये सब करते मैं जरा न थकती। फिर मां के खोल में घुसते ही मैं दोनों के लिए उनकी मनपसंद चीजें पकाने के साथ-साथ उन्हें चुमकारती-पुचकारती, अच्छे बुरे की पहचान करने की और साहसी व निर्भय बनने की सीख देती जाती। सोने से पहले कहानी सुनना दोनों का अटल नियम था। जैसे-जैसे वे बड़े होते गए, उनकी हर उलझन में मैं उनके साथ खड़ी हो जाती, जीवट से दोहरी भूमिकाएं निबाहती, वहीं मैं अपनी समस्याओं में उलझकर टूटने लगती, तितर-बितर होने लगती। विश्वविद्यालय की विभागीय राजनीति से अपना

[redacted] बचाने की चाणक्य कूटनीति मुझे कभी समझ न आ सकी। क्लास में जाकर, विषय में डूबकर [redacted] को पढ़ाने तक मेरी दुनिया सिमटी होती या फिर रचनात्मक गतिविधियों में उनके साथ लगी रहती। अगर कभी कोई साथी कहता कि विभाग में फलाँ के खिलाफ मुझे उसका साथ देना है तो मेरा दिल बैठने लगता, तरह-तरह की शंकाएं मुंह बाए मुझे डराती कि सच्चाई क्या है, कौन मक्कारी का मुखौटा लगाए है, कौन सच में निर्दोष है, इन सब पचड़ों में न पड़कर मैं अकेली होने के कारण अपनी शक्ति और ऊर्जा बच्चों के लिए संजोकर रखना चाहती थी। प्राचार्य, अध्यक्ष व साथियों के राजनीतिक चक्रव्यूह में न पड़कर ईमानदारी चाहती। एक अजीबो गरीब रस्साकसी होती थी मेरे लिए। मेरी इस जंग का सिलसिला तो विश्वविद्यालय से लेकर मंत्रालय तक की नौकरी में बराबर चलता रहा।

मैंने अकेले होने का सबसे अधिक खामियाजा झेला व्यक्तिगत और पारिवारिक स्तर पर। बाजार जाकर जांच परख करके महीने भर का सामान लाने में मेरी रूह कांपती थी। बिजली का फ्यूज उड़ने पर उसे ठीक करना या पड़ोसी की मदद लेना, मीटर खराब हो जाए, बिजली का गलत बिल आ जाए या भारी सामान उठाने -रखने के लिए दूसरों का मुंह तकना पड़े, कार से पेट्रोल लीक होने लगे, कार की डाउन बैटरी को रेज देनी हो, सील्ड डिब्बे या बोतल का ढक्कन ज्यादा कसा हो तो मैं निरीह सी हो जाती। शाम से रात 10-11 बजे तक का कोई जाने लायक समारोह हो, तब तो अकेला होना बेहद अखरता है। देर शाम तक आयोजित होने वाले अच्छे-अच्छे कार्यक्रमों को देखने से मैं वंचित रही। ऐसे सुंदर कार्यक्रमों की अगले दिन अखबार में रिपोर्ट पढ़कर ही खुश हो लेती थी। ऐसे में अकेलापन मुझे पीड़ादायक लगा।

जीवन के संघर्षों में अनेक बार जबरदस्ती अपने पर हावी हुए पुरुष मददगारों से मैं बड़ी परेशान रही। चेहरे पर छपी उनकी मांसल अपेक्षाएं मुझे सिर से पांव तक हिला जाती। उनकी मदद मेरे लिए जी का जंजाल बन जाती थी वैसे तो मैं प्रत्यक्ष सामाजिक कारणों से पुरुषों की अतिशय ख्याल दिखाने की उदारता की वजह से मदद नहीं लेती थी और कभी मजबूरीवश एक दो बार मदद ले ली तो "उदारमना मददगार" काम खत्म हो जाने पर भी मदद देने को तैनात रहता। अपने को जबरदस्ती मेरा गार्जियन समझने लगता। पहले तो मैं सब्र के घूंट पीती, उससे नम्रता से पेश आती रहती, लेकिन जब वह खयाल करने से बाज नहीं आता तो मुझे पिंड छुड़ाने के लिए मजबूरन उसे सख्ती से रास्ता दिखाना पड़ता। जब मैं भारत सरकार द्वारा संचालित दिल्ली के मानव संसाधन विकास मंत्रालय में शिक्षा सलाहकार के पद पर नियुक्त हुई तो विश्वविद्यालय से एकदम अलग ब्यूरोक्रेटिक माहौल से समीकरण बैठाने में मुझे इतना लंबा समय लगा कि तब तक मेरा वहां से जाने का वक्त आ गया। वहां का फाइल वर्क, षडयंत्रों भरा विशुद्ध राजनीतिक वातावरण, लोगों का एक इंच मुस्कान लिए मिलना और एक दूसरे की जड़ कटाने की साजिशों में लगे रहना। इस शह और मात के खेल में मैं मन ही मन घुटती रहती। एक बार तो एक अधिकारी ने मुझ पर बैंगलोर की ऑफिशियल विजिट पर अपने साथ चलने का इतना दबाव डाला कि मुझे नौकरी पर जाने का भय लगने लगा। पर उससे अधिक भय मुझे ऑफिशियल विजिट पर जाने से लग रहा था। बहुत सोच-विचार के बाद मैं निदेशक के पास गयी और उनसे खोजबीन कर मालूम किया कि दिल्ली से बाहर की ऑफिशियल विजिट कितनी जरूरी होती है। वे बुजुर्ग ऑफिसर बड़े अच्छे और सच्चे थे, वे बोले कि -जरूरी होती है क्योंकि विजिट से एक्सपोजर मिलता है और तथ्यों की प्रामाणिकता का पता

चलता है, लेकिन कोई नहीं जा पाए तो आपका मातहत जाकर जांच-पड़ताल कर सकता है। और विस्तृत रिपोर्ट लाकर आपको दे सकता है। यह सुनकर मैं ऐसी आश्वस्त हुई कि मैंने तुरंत दूसरे अधिकारी को जाकर हिम्मत के साथ, बड़ी विनम्रता से मना कर दिया। वे जनाब मुंह बनाते हुए मेरी मनाही पर खामोश रहे। शायद उन्हें मेरी मनाही के पीछे झलकते आत्मविश्वास में मेरी संपूर्ण व सही जानकारी साफ नजर आ रही थी। इस घटना के बाद मैंने अपने को आश्वस्त किया कि सी.आर. ही बिगाड़ेगी, जीवन तो नहीं बिगाड़ेगा। उस दिन मैंने तय कर लिया था कि भविष्य में यदि कभी ऐसा कोई अप्रत्याशित पहाड़ मुझ पर कभी टूटने को हुआ तो, मैं उस पहाड़ को तर्जनी दिखाकर, अपनी विश्वविद्यालय की नौकरी पर डेप्यूटेशन की अवधी से पहले ही वापिस चली जाऊंगी, पर गलत लोगों, गलत जीवन शैली से कभी समझौता नहीं करूंगी। ऐसे में अकेलापन मुझे कसैलेपन से भर गया और विकृतियों को न्योतनेवाला लगा।

एक बार बेटे के स्कूल में अभिभावकों के लिए विशेष रूप से आयोजित त्वरित काव्य रचना और चित्रकला प्रतियोगिता में भाग लेने से मैं इसलिए वंचित रही, क्योंकि मैं जीवनसाथी रहित थी अकेली थी, जबकि इन दोनों ही विषयों में, मैं सिद्धहस्त थी। उस दिन मैं मन मसोसकर दूसरे माता-पिता को काव्य रचना और चित्रकला के लिए लड़खड़ाते, जंग करते देखती रही और अपने अकेलेपन का शोक मनाती रही। न जाने क्यों इतनी छोटी सी बात के लिए मेरे अन्दर ही अन्दर रूलाई फूटती रही। उस दिन अकेलापन मुझे शूल जैसा, चुभनभरा लगा।

इस तरह, एक बार मैं तेज बुखार से तप रही थी। सर दर्द से फटा जा रहा था। दोनों बच्चे छोटे नहीं तो इतने बड़े भी नहीं थे कि मेरी बीमारी में क्षीण मनोबल हुए बिना, मेरी सेवा टहल कर सकते। बीमारी के उन असहाय पलों में अपने दोनों बच्चों के लिए मेरी ममता और भी उमड़ पड़ी थी, लेकिन आशा के विपरीत उस जरूरत के समय में दोनों बच्चों ने जिस खयाल, प्यार और जिम्मेदारी से मेरी सेवा की थी, उससे मुझे लगा कि बच्चे एकाएक बड़े हो गए हैं। उस दिन अनजाने ही मेरे होनहार बच्चों को कुछ अमूल्य खूबियों से लबरेज कर देनेवाला अकेलापन मुझे अद्भुत शक्ति से भरपूर लगा था।

जीवन की ढेर सारी विषमताओं के बावजूद अपने वजूद को साबुत बनाए रखना, जंग जीतने से कम नहीं होता। शुरू-शुरू में अकेले होने के खौफ से भरी मैं इसके उस सकारात्मक पक्ष को नहीं देख पाती थी जो जीवन की आंधियों में भी मुझे जीने की शक्ति देता था, संघर्षों का सामना करने का साहस जगाता था, मेरे अंदर छुपी क्षमताओं को तराशता था। ऐसे क्षणों में मुझे इस अकेलेपन पर नाज होता था।

***

आइडियोलोजी से ड्यूटी तक की यात्रा

निर्मला डोसी

भारतीय परिवार का एक तयशुदा फ्रेम है, जिसमें शादी, बच्चे और गृहस्थी की गाड़ी खींचने की जद्दोजहद शामिल है। इस फ्रेम से अलग कुछ होता है, मसलन तलाक, अलगाव या कुछ और, तो वहां आंसू, पीड़ा, शोषारोपण इत्यादि नजर आते हैं। मैं जब उनसे मिली, उनसे अर्थात ललिता धारा से तो उनके बारे में बहुत नहीं जानती थी। बस त्रैमासिक पत्रिका संगिनी के आगामी अंक, जिसका विषय एकल महिलाएं था पर बात करने की अनुमति उन्होंने दे दी, तो यह तय था कि हमारी बातचीत का केन्द्र यही विषय होगा। इसलिए जरा-सी आश्वस्त थी। उनसे मिलकर, उनकी स्पष्टवादिता देखकर, उनकी निष्पृहता जानकर हैरत हुई। ललिता धारा का व्यक्तित्व यकीनन समाजशास्त्रीय अध्ययन का विषय हो सकता है ऐसा मुझे लगा। छोटी उम्र से एचपेन की होने तक लगातार अध्यापन, समाज सेवा और अनेक तरह के कामों में पूरे उत्साह से लगी हैं। नया सोच रही हैं और जीवन में जो अप्रिय घटा उसे बिल्कुल भुला चुकी हैं। जैसा कि ऐसे केस में होता है, सेल्फ पिटी, आंसू, शिकायतें वगैरह यह सब यहां बिल्कुल भी नहीं है। पीछे मुड़कर देखती तो क्या, सोचती भी नहीं हैं, बस आगे बढ़ जाती हैं।

ललिता धारा का जन्म पूना में हुआ। पिता की तबादले की नौकरी के कारण बचपन व शिक्षा अलग-अलग जगह हुई। आगरा, भुसावल, बैंगलोर, अम्बरनाथ इत्यादि जगहों में रहना हुआ। एस.एस.सी. भुसावल में करने के बाद मुंबई में आना हुआ और यहां रुइया कॉलेज तथा युनिवर्सिटी की पढ़ाई हुई। मेथेमेटिक्स और स्टेटिसटिक्स में एम.ए., एम.फिल. किया और तब से डा. अम्बेडकर कॉलेज में इस वक्त मेथेमेटिक्स व स्टेटिसटिक्स डिपार्टमेंट की एच.ओ.डी. हैं।

जब वे सोलह साल की थीं तभी उनके पापा घर छोड़कर चले गये। मां इस वक्त सत्तानवे वर्ष की हैं। दो बड़े भाई हैं। एक नरेल में तथा दूसरे गोवा में रहते हैं। पिता के घर छोड़ देने के बाद भाई ने उनकी पढ़ाई करवाई। भाई मार्क्सवादी विचारधारा के थे। उन्हीं के प्रभाव में ललिताजी भी मार्क्सवादी बन गईं। भाई के मार्कसिस्ट दोस्त घर में आते थे। गरमागरम बहसें होतीं, भाई के एक दोस्त का नाम सागर था। जिन्होंने आई.आई.टी. से इंजीनियरिंग की थी। सागर का इंटलेक्चुअल ओरा जबरदस्त था। ललिता को उसके प्रभाव में आना ही था। कम उम्र थी। पिता के घर छोड़ने की वजह वे अपनी मां को मानती हैं, जो कि बेहद खूबसूरत तथा बड़े घर की घमण्डी बेटी थी। पति के साथ अनबन रहती थी। रिटायरमेंट के बाद मिले पैसे लेकर अन्ततः वे किसी आश्रम में चले गये। ललिता जी साफगोई से मानती हैं कि उन्हें अपनी मां कभी पसंद नहीं थी। एक बार घर सात की जगह साढ़े सात बजे लौटने पर मां ने उनकी पिटाई की और जिसका नतीजा यह हुआ कि 22 वर्ष की ललिता घर छोड़कर चली गई। वह रात उन्होंने सागर के घर उनके माता-पिता के साथ काटी और दूसरे दिन उनके जर्नलिस्ट भाई ने उनकी रहने की व्यवस्था वाय.डब्ल्यू.सी.ए, कोलाबा में कर दी। नौ महीने तक न मां ने बेटी की खोज खबर ली, न बेटी ने ही अपना मुंह दिखाया। एक दिन यकायक आकर सागर

के साथ ब्याह करने की घोषणा कर दी। तब वह साढ़े बाइस वर्ष की थी। सागर न उनकी जाति, धर्म सब एक था। अतः दोनों परिवारों में से किसी को आपत्ति नहीं हुई और सन् 1977 में रजिस्टर्ड शादी हो गई। चूंकि दोनों दक्षिण भारतीय थे: वे तमिलियन थे और सागर के घर में तेलुगु बोलते थे। दोनों ही ब्राह्मण परिवार से थे तो कल्चरली विशेष फर्क नहीं था । वे शादी करके सायन, चूनाभट्ठी में सागर के घर रहने चली गई: शादी से दो वर्ष पहले से उनका सागर से परिचय था। प्यार भी रहा। ललिता शुरू से ही नारीवादी पॉलिटिक्स में हिस्सा लेती थीं। 1975 में जब इंटरनेशनल विमेन इयर था उसकी पहली मीटिंग छाया दातार ने ऑर्गनाइज की थी। उसमें भी वे गई थीं। कालान्तर में वे नारीवादी ग्रुप में शामिल हो गई थी। उनकी गतिविधियों में सक्रिय थी। सागर की पूर्ण सहमति इसमें थी, बल्कि वे तो यह भी मानती हैं कि फेमिनिजम में सागर ने ही उन्हें धकेला। 1980 में एंटी रेप मूवमेंट शुरू हुआ। फोरम अगेंस्ट रेप, बलात्कार विरोधी मंच में ललिता शामिल थी। कालान्तर में उस फोरम में अलग-अलग सेल बनाए गए। जैसे लीगल सेल, काउंसेलिंग सेल, कल्चरल सेल इत्यादि। कल्चरल सेल की चेयर परसन ललिता जी को बनाया गया क्योंकि वे कर्नाटक संगीत व नृत्य में काफी जानकारी व रुचि रखती थीं। वीणा बजाना भी जानती थीं। यह उनका एक और रूप है और मुझे लगता है उन्हें बेलेन्सड करने में उनके इस पक्ष का बहुत बड़ा हाथ है। कल्चरल सेल की चेयरपर्सन होने के बाद इस क्षेत्र में वे बहुत सक्रिय हो गईं। गाने, नाटक, नृत्य संगीत के माध्यम से वे नारीवाद को व्यक्त कर रही थीं। जिसमें अनेक भाषाएं थीं, लोक संगीत भी था। गरीब तबके की महिलाओं की समस्यायें थीं। जागृति नाम से एक नृत्य नाटिका बनाई जिसमें कोख में आने से लेकर चिता पर चढ़ने तक औरत के जीवन के अलग-अलग आयाम प्रस्तुत किये गये थे। जिसमें अनेक प्रांतों के नृत्य, भाषाएं तथा लोक-गीत, संगीत का समावेश किया गया था।

दूसरी तरफ शादी के तुरंत बाद ही पति के साथ वे अपने आप को सहज नहीं कर पा रही थीं। उम्र ज्यादा नहीं थी। अनुभव भी नहीं था, फिर भी गृहस्थी चल रही थी। सास-ससुर साथ रहते थे। पहला लड़का भी हो गया था। सागर को लगने लगा था कि वे अपने काम व बच्चे में इतनी व्यस्त है कि मुझे खुद से दूर रख रही हैं और ललिता कहती है मैं पूरी तरह व्यस्त थी, कॉलेज की नौकरी, वीणा सीखना, फोरम के काम व बच्चों को देखभाल परन्तु इन सारी व्यस्तताओं के पीछे जो दूर रखने की बात थी उसका मूल कारण था कि ललिता अपने अंदर सागर के प्रति अब कोई प्यार नहीं पा रही थी। सागर उन्हें टूटकर प्यार करते थे, लेकिन उनका डोमिनेट करने का स्वभाव ललिता नहीं सह पा रही थी। मतभेद कई थे। सागर बच्चा भी जल्दी नहीं चाहते थे। बहरहाल पांच वर्ष उपरांत दूसरा बच्चा इसलिए लाया गया कि पहले को साथी मिले। वे अपने दाम्पत्य के टूटने की जो बड़ी वजह बताती हैं वह अद्भुत है कि उनके अंदर पति के प्रति प्यार शेष नहीं रहा, जबकि सागर उन्हें प्यार करना छोड़ना चाहकर भी ऐसा नहीं कर पा रहे थे। समझौता करते चलने की प्रवृत्ति ललिता जी में नहीं है। अन्ततः उन्होंने इस विवाह से निकलने का फैसला ले लिया। वापस लौट आने पर पिता, मां या भाईयों का कोई दखल किसी प्रकरण में कभी नहीं रहा, क्योंकि ललिताजी ने कभी न उनके आगे अपनी परेशानी का जिक्र किया न सलाह मांगी। बड़ी दबंगता से कहती हैं मैं दोस्तों से भले बात कर लेती पर घरवालों की कभी नहीं सुनी। यकीनन इसके पीछे उनके बचपन के कटु अनुभव रहे होंगे। जिसके कारण उनका आपसी रिश्तों तथा प्रेम-प्यार पर से विश्वास उठ गया होगा

[redacted] अपनी मर्जी से शादी करने के बावजूद जल्दी ही उससे बाहर निकलने के लिए छटपटाने [redacted] है कि सागर सुपिरीयोरिटी कांप्लेक्स से ग्रस्त थे। आई.आई.टी. वालों के एस [redacted] रहता है। उनके पास भी था और वे एक इंजीनियर बनकर सीधी-साधी नौकरी [redacted] एक बड़ी संस्था खड़ी करने की ख्वाहिश थी। आईडिया भी थे किंतु उसे [redacted] करने की हिम्मत का अभाव था। पर जो भी हो चूंकि कुछ कर नहीं रहे थे इसलिए [redacted] ललिता जी ने संभाल रखा था। और वे कहती हैं कि यह उनकी हीनभावना थी अंदर की, जिसे वे उच्च मनोग्रंथि के रूप में व्यक्त करके मुझे डोमिनेट करना चाहते थे। यद्यपि उनका अच्छा संपन्न परिवार था। फ्लैट, गाड़ी पास थे मगर फिर भी कुछ करना तो सबको पड़ता ही है। अब जब अलग रहने का निर्णय ले लिया गया तो दो गुट बन गये। एक तरफ सास-ससुर, सागर व बड़ा बेटा थे। दूसरी तरफ वे तथा छोटा बेटा। इसी बीच सागर तीन वर्ष के लिए नौकरी करने दिल्ली गए। मुंबई आते रहते। तभी उनका परिचय किसी अन्य लड़की से भी हो गया था। ललिता जी की तरफ से अपने रिजेक्शन को सहना सागर के लिए आसान नहीं था। ललिता जी शादी से निकलना चाहती थीं पर घर नहीं छोड़ना चाहती थीं। बच्चों के बड़े होने तक वे उस घर की मांग कर रही थीं जो किसी को मंजूर नहीं थी। आखिर एक दिन वे छोटे बच्चे को लेकर निकल गईं व मां के घर आ गईं। दस वर्ष का बड़ा बेटा अपने दादा-दादी तथा उस घर, वहां के स्कूल व दोस्तों को छोड़ना नहीं चाहता था। उसे मां का जाना अच्छा तो नहीं लगा पर वह खुद वहीं रहना चाहता था।

एक वर्ष तक वे अपनी मां के साथ रहीं। इसी बीच तलाक वगैरह का दौर चला जो पीड़ाजनक तो था ही किंतु वापस जाने की बात उन्होंने न तब सोची न बाद में। जब उनसे पूछा गया कि बाद में तन्हाई के पलों में क्या कभी उन्हें सागर का प्यार और अभाव नहीं खला जो उनकी बड़ी उपलब्धि हो सकती थी, क्योंकि अपने परिवार से कभी प्यार मिला ही नहीं था। किंतु उन्होंने तुरंत कहा कि मुड़कर पीछे मैं देखती नहीं, न कभी भूतकाल में जाती हूं। जो हो गया सो हो गया। न उसके लिए कोई पछतावा न दुःख। नहीं जमा तो नहीं जमा बस।

सफर कठिन था। मां के साथ रहना न ललिता जी के लिए आसान था न उनके पिता के लिए। विरार में लोन पर फ्लैट लिया तथा बच्चे व पिता के साथ वहां चली गईं। छोटे बेटे की एस.एस.सी. तक पढ़ाई विरार में हुई और वे फ्लैट का लोन भरती रहीं। कॉलेज की नौकरी सुबह की थी लिहाजा दिन में विरार में भी उन्होंने एक ग्रुप बनाया और समाज सेवा करती रहीं। अपने संगीत के लिए भी समय जुटाती रहीं। जब बेटे की एस.एस.सी. हो गई तो अंधेरी में आ गईं। फिर लोन पर फ्लैट लिया। पिता गुजर चुके थे। बड़े बेटे के साथ न रहने की टीस तो कहीं थी ही पर उसे भुलाने के अलावा कोई उपाय नहीं था। सागर दूसरा विवाह करके हैदराबाद में सेटल हो चुके थे। सागर की दूसरी पत्नी प्रीति उनसे खासी छोटी थी। एक बेटी भी हुई मगर थोड़े वर्ष बाद उसे भी निकाल दिया। बच्ची पास में थी। इस वाकयात के बाद बड़े बेटे तुषार को रिश्तों की उलझन व टूटन समझ में आने लगी थी। दिल्ली में तथा बाद में हैदराबाद के काफी बड़े इंस्टीट्यूट से उसने जर्नालिज्म पढ़ा पर उसके भी पिता के साथ संबंध बिगड़ गए थे। जो अन्ततः अलगाव पर जाकर रूके। कभी कभार मां से मिलना होने लगा। ललिता जी ने नया घर जमाने में बेटे की आर्थिक मदद की और छोटे बेटे के बारे में कहा कि उसका मैं कितना भी करूं थोड़ा है क्योंकि उसकी मैं गुनहगार हूं। जबकि छोटा चिराग

मा के काफी करीब है। अभी यूरोप में है और हर दिन मां से बात करता है। दोनों ही बेटे अपनी-अपनी गर्लफ्रेन्ड के साथ रह रहे हैं। मां होने के नाते भी वे कभी उनकी जिन्दगी में हस्तक्षेप नहीं करतीं न कभी पूछा कि वे शादी कब करेंगे। वे परम्परावादी तो बिलकुल नहीं हैं। विपरीत स्थितियों में भी छोटे बेटे को ऊँची पढ़ाई करवाई। दोनों सेटल हैं तो क्या उनका संघर्ष अब विराम लेगा ? इस पर ठहाका लगा कर हंसती है और कहती हैं, "मैं ऐसा कभी सोच भी नहीं सकती कि काम छोड़ आराम करूं और बेटों से आर्थिक मदद लूं। मैं उनसे क्या किसी से भी कुछ नहीं लूंगी। खुद भले वक्त बेवक्त उनकी सहायता कर दूं। मुझे कभी किसी से कोई अपेक्षा नहीं है। कुछ करवाने का भ्रम कभी पाला ही नहीं, इसलिए आज बिल्कुल सुखी हूं। अपना अकेलापन एंजोय करती हूं।" उन्हें नहीं लगता कि औरत का अस्तित्व पुरुष के बिना कहीं से भी अधूरा रहता है। उनकी दो-चार दोस्त भी हैं पर सबके साथ वर्किंग रिलेशन हैं। कर्नाटक संगीत, डांस तथा शास्त्रीय संगीत सुनना उनका एक मात्र शौक है और घनघोर नास्तिक ललिता जी कर्नाटक संगीत में डूबकर दैनिक शांति व संतोष पाती हैं। भवंस कल्चरल सेंटर से जुड़ी हैं। निरंतर रियाज न कर पाने के कारण स्वयं तो प्रस्तुति नहीं करती किन्तु शास्त्रीय संगीत को समझने और उसमें डूबने के लिए भी पांच छः वर्ष की पढ़ाई जरूरी है उतनी उन्होंने की है। लिहाजा उसका पूरा आनंद उठा सकती हैं।

उनकी अंतरंगता अपनी मां के साथ कभी नहीं रही। आज भी अंधेरी में ही दस कदम के फासले पर मां- बेटी अलग-अलग ही रह रही हैं। नब्बे प्रतिशत देखने व सुनने की ताकत गंवा चुकी सत्तानवे वर्षीय मां के साथ हर शाम गुजारती हैं। उन्हें मंदिर, होटल आदि जगहों में ले जाती हैं। उनके लिए थोड़ा कुछ पका देती है। और मां भी अनूठी है। इस उम्र में भी अपनी पेन्शन के पैसे से गुजारा करती है। बेटी पांच रुपये की चीज भी ला दे तो उसे पहले पैसे पकड़ाती है फिर चीज लेती है। भाईयों से विशेष मिलना जुलना नहीं है। किन्तु जरूरत पड़ने पर उनकी मदद करने को तत्पर है। फिर भी पूरे विश्वास के साथ कहती है कि ये सब काम किसी तरह के भावनात्मक लगाव के लिए कतई नहीं करती। बस फर्ज समझकर करती हैं। फिर चाहे रोज मां को देखना हो भाई व बेटों की आर्थिक मदद हो या फिर वाय.डब्ल्यू.सी.ए. में अनेक तरह के कामों से जरूरत मंदों को शिक्षा, जानकारी देनी हो। अपने कॉलेज में भी शेड्यूल कास्ट के विद्यार्थियों की भरसक सहायता करती है। विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि बिना अन्दर की आर्द्रता के क्या इतना सब किया जा सकता है ? जबकि ललिता जी कहती हैं कि उनके अंदर कोई भावनाएं नहीं बची हैं। बची है सिर्फ एक कर्तव्य की भावना कि - मैं आज इस पोजीशन में हूं कि दूसरों की कुछ मदद कर सकूं तथा अपने कॉलेज के माध्यम से किसी की सहायता कर सकूं तो हर वक्त करने को तत्पर हूं।

दरअसल उनकी यह पूरी यात्रा विचारधारा से शुरू होकर कर्तव्य पर आकर ठहर गई है। तीस वर्ष तक उन्होंने एक विचारधारा को लेकर अपनी जिन्दगी गुजारी। मार्क्सिस्ट विचारधारा, फेमिनिस्ट विचारधारा वगैरह...। नारीवादी तो वे अब भी हैं। किन्तु मार्क्सिस्ट विचारधारा के भ्रम भंग हो गए हैं। समूचे विश्व का वातावरण बदल गया है। तब लगता था कि क्रांति होगी, किन्तु ग्लोबलाइजेशन देखकर लगता है कि अब सौ साल तक भी कोई बदलाव नहीं होने वाला। कोई आशा नहीं बची है। वाय.डब्ल्यू.सी.ए. में जो कर रही हैं, अल्प सुविधा प्राप्त लड़कियों, गरीब लड़कियों, बस्ती की अनपढ़ लड़कियों, फिर गरीब लड़कियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा की वोकेशनल कक्षाएं चलाना तथा कल्चरल

[redacted] से जुड़ी होने के नाते उन्हें डांस, संगीत सिखाना इत्यादि सैकड़ों तरह के कार्य समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझकर करती हैं। और ईमानदारी से स्वीकारती हैं कि बहुत बोझा लेकर कुछ नहीं करती जो काम आसानी से कर सकूं उतना ही करती हूं। इतने वर्षों से कॉलेज तथा वाय.डब्ल्यू.सी.ए. में रहने के कारण उनके प्रपोजल पर स्वीकृति मिल जाती है। झुग्गियों में रहनेवाली लड़कियों को मराठी, हिंदी, उर्दू, गुजराती की पढ़ाई की व्यवस्था वाय.डब्ल्यू.सी.ए. में करवायी है। रीजनल भाषा में पढ़नेवाली लड़कियों को छुट्टियों में वे ढाई महीने अंग्रेजी पढ़ाती हैं। हर दिन दो घंटे,- ताकि आगे कॉलेज में उन्हें परेशानी न हो।

अपनी नई योजनाओं की जानकारी देते वक्त उनकी आंखें चमकने लगती हैं, स्वर में अतिरिक्त उत्साह छलकने लगता है और वे कहती हैं इन सब में मेरी फिलिंग शामिल नहीं है।

बहरहाल, ललिता धारा यकीनन एकल महिला की न समाप्त होने वाली जिजीविषा का विरल उदाहरण हैं। बचपन से ही विपरीत स्थितियों में बड़ी होने तथा रिश्तों के विधान को देखकर कदाचित वे ऐसी हो गई हैं। उनकी जगह आम औरत होती तो टूट जाती या फिर जीवन के उत्तरार्ध में आते-आते पस्त तो हो ही जाती लेकिन जब मैंने कहा-आपकी बातें सुनकर मुझे हैरत हो रही है तो बड़ी बेबाकी से बोली- मुझे तो सब कुछ नेचरल लगता है। दरअसल मेरी किसी से कोई अपेक्षा नहीं है। छोटे बेटे से बहुत क्लोज हूं परन्तु अभी वह यूरोप से हर छः महीने में आता है। आना बंद कर दे या रोज फोन करता है वह भी बंद कर दे, तो भी कुछ बुरा नहीं लगेगा। हां यह जरूर लगेगा कि वह ठीक-ठाक रहे। मैं किसी पर निर्भर नहीं हूं, न कभी थी। पता नहीं क्यों पर मैं सबसे बहुत डिटेच्ड, निर्लिप्त हूं। पता नहीं किस मिट्टी की बनी हूं और जमकर ठहाका लगाती है मुझे आश्चर्य के भंवर में छोड़कर।

स्वयं के खानेपीने पर भी कोई विशेष महत्व नहीं देती। बस जो मिल गया वही ठीक। कहती हैं- मेरी कोई इच्छाएं नहीं हैं। लगाव भी नहीं है, यह तो गृहस्थी में रहते हुए भी साधुवाली जिन्दगी हो गई। मेरे कहने पर फिर ठहाका लगाकर हंस पड़ी और बोलीं- नहीं ऐसा नहीं है मैं अपना अकेलापन काफी एन्जॉय कर लेती हूं। ऐसा तो नहीं बोलती बट आई वॉज वेरी फोन्ड ऑफ क्लासिकल म्युजिक एंड डांस । मैं कर्नाटक म्युजिक सुनती हूं तो लगता है कुछ दिव्य है, अध्यात्मिक- फिलिंग होती है, बाकी तो पिछले तीस वर्षों में कभी किसी भी मूवमेंट में भगवान का नाम नहीं लिया, प्रार्थना नहीं की।

बहरहाल तकरीबन डेढ़ घंटे की बातचीत का लब्बोलुआब यह रहा कि ललिता धारा जिसके पास पिता, पति, भाई व पुत्र सबके होते हुए भी, उनके सहारे ही बड़ी हो सकेगी इस सनातन धारणा को उन्होंने भंग किया। पूरी मजबूती से स्वयं खड़ी रहीं और बच्चों को पाला व पढ़ाया। पिता व अंध मां की सेवा की। भाई व बेटों की यथोचित सहायता की और जो सबसे बड़ी बात थी कि इस समाज ने उन्हें कुछ नहीं दिया। श्वसुर कुल का घर मांगा था कभी जहां वे अपने मासूम बच्चों के बड़े होने तक रहना चाहती थीं, पति से अलग, मगर वो भी उन्हें नहीं दिया गया और हारकर छोटे बच्चे का हाथ थामकर और बड़े को वहीं छोड़कर निकल आईं। कितना मुश्किल वक्त रहा होगा। खुद के पास पैसा नहीं, पांव के नीचे जमीं नहीं, मगर एक अदद नौकरी के सहारे न केवल बच्चे को पढ़ाया-पाला

बल्कि आज इस स्थिति में भी है कि न जाने कितनी जरूरतमंद, गरीब, अनपढ़ लड़कियों को शिक्षा का प्रसाद बांटकर अपना होना वे सार्थक कर रही हैं।

एक जीवंत व्यक्तित्व और खुलकर हंसती ललिता धारा के पास आगे किए जानेवाले काम की पूरी एक फेहरिस्त है और अपनी आपबीती सुनाते-सुनाते थक जाने पर भी फिर से उत्साह से अपनी योजना बताने लग पड़ती हैं। तब लगता है कि सुख जब लाख चाहने पर भी पास न आए तो उसे खुद ही आगे बढ़कर विदा कर देने में ही आत्मसम्मान है।

***

भूमंडलीकरण के दौर में महिलाओं का शोषण बढ़ा

- डॉ. सोहन शर्मा

सारी दुनिया पर अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के मंसूबो के साथ अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी देशों ने भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था के जरिए, जो शोषणचक्र चला रखा है, उसका सबसे घातक असर भारत सहित तीसरी दुनिया के अविकसित देशों की महिलाओं पर हुआ है। साम्राज्यवादी प्रचार तंत्र भूमंडलीकरण के तहत खुशहाली की एक भ्रामक तस्वीर प्रस्तुत करता रहा है लेकिन अब यह बात साफ हो गयी है कि भूमंडलीकरण के चलते दुनिया में गरीबी, बदहाली और भुखमरी बढ़ी है। सभी देशों के एक छोटे से सम्पन्न तबके को इसका लाभ मिला है। लेकिन आम जनता का जीवन बद से बदतर होता गया है विशेषकर अविकसित देशों की महिलाओं का जीवन तो नारकीय बन गया है।

भूमंडलीकरण का सबसे अधिक घातक असर महिलाओं पर किस प्रकार हुआ है इसे देखें समझें। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मुख्यत: तीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक राजनीतिक संगठनों द्वारा संचालित की जा रही है ये संगठन हैं- विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व व्यापार संगठन। ये तीनों संगठन बहुराष्ट्रीय कंपनियों की विश्व व्यापी संरचना के माध्यम से अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण कायम करते हुए अधिकाधिक मुनाफा बटोरते हैं। अमरीकी साम्राज्यवाद इन सभी क्रियाकलापों का नियंत्रक, संचालक तथा दिशा-निदेशक है। ये संगठन तीसरी दुनिया के अविकसित देशों की आर्थिक गतिविधियों और नीतियों की दिशा तय करते हैं, साथ ही वहाँ की राजनीतिक संरचनाओं को भी नियंत्रित करते हैं। क्यूबा जैसा देश एक अपवाद है, पर विश्व व्यापार संगठन क्यूबा पर भी इस बात के लिए जबरदस्त दबाव डाल रहा है कि वो साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण के आगे झुक जाए। अर्थात् भूमंडलीकरण की अर्थव्यवस्था का अंग बनकर अपने देश के सस्ते श्रम, संसाधन और बाजार का दोहन करने की पूरी छूट बहुराष्ट्रीय कंपनियों को दे दे।

अमानवीय पक्ष : भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में तीन प्रमुख संकल्पनाओं का समावेश है- उदारीकरण, निजीकरण तथा भूमंडलीय मुक्त-व्यापार के नाम पर हर देश में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का निर्बाध प्रवेश। इस निर्बाध प्रवेश से साम्राज्यवादी वित्तपूंजी को अविकसित देशों को अपना बाजार बनाने और वहां खुलकर खेलने की पूरी छूट मिल जाती है। भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था मूलत: अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी देशों के आर्थिक हितो को साधती है और अविकसित देशों को साम्राज्यवाद का आर्थिक उपनिवेश बनाती है। वहां के श्रमजीवियों, जन सामान्य के विभिन्न तबकों तथा महिलाओं को शोषित नारकीय जीवन जीने को बाध्य करती है, यह भूमंडलीकरण का सर्वाधिक अमानवीय पक्ष है। विश्व व्यापार संगठन के फरमान के तहत विकसित देश पिछड़े हुए अविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं को ढांचागत समायोजना कार्यक्रम अर्थात् स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट प्रोग्राम (एस.ए.पी.) के नाम पर अपने आर्थिक हितों के अनुरूप ढालने में लगे हैं। भूमंडलीकरण के तहत चलाए जा रहे 'ढांचागत समायोजना कार्यक्रम' के विषैले दंश का शिकार अविकसित देशों की महिलाएं ही सबसे अधिक हो रही हैं। हम जानते हैं कि सभी अविकसित देशों मे भूख और कुपोषण एक गंभीर समस्या रही है। अफ्रीका तथा एशिया के देशों में तो यह एक जानलेवा समस्या है। विकसित देशों में जन सामान्य की आय का एक बड़ा हिस्सा परिवार के लिए भोजन जुटाने पर खर्च होता है। इधर पिछले कई वर्षों में खाद्यान्न की कीमतों में हुई बेतहाशा बढ़ोत्तरी से अविकसित देशों की गरीब आम जनता बुरी तरह भुखमरी का शिकार हुई है। भारत सहित तमाम अविकसित देशों में भूख से मरने वालों की बड़ी संख्या एक विकराल समस्या बनी हुई है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश ने पिछले कुछ ही वर्षों में बता दिया है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करना अब गरीबों तथा मध्यवर्गीय तबकों के लिए एक सपना बन गया है। मध्यवर्ग के संस्कार अभी इस धारणा

से बंधे है कि लड़की तो पराया धन है उसकी उच्च शिक्षा पर पैसे खर्च करने से क्या लाभ ! इसलिए निजीकरण के चलते शिक्षा के महंगे होने की गाज लड़कियों पर ही गिरती है। माता-पिता उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने के बजाए घर गृहस्थी के काम में लगा देते हैं। वैसे भी पूंजीवादी व्यवस्था में महिलाओं का सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक स्तर पुरुषो से कमतर ही रहा है। भारतीय शिक्षा संस्थानों में शैक्षिक अवसरों के नाम पर अक्सर महिलाएं ही पक्षपात की शिकार बनती हैं, महाविद्यालयीन शिक्षा में सामाजिक-आर्थिक दबाव इतना अधिक बढ़ गया है कि पुरस्कारों और छात्रवृत्तियों के बावजूद गरीब व मध्यवर्ग की लड़कियाँ उच्च शिक्षा से वंचित रह जाती हैं। भूमंडलीकरण के दौर में शिक्षा के क्षेत्र में विश्व बैंक की दखल तथा विदेशी फंड लेने वाले शिक्षा संस्थानों का अभिजात्य-बोध भी निर्धन वर्ग की लड़कियों को प्रारंभिक व नियमित शिक्षा के अवसर दिलाने में बाधक बना हुआ है। बावजूद इन सबके महिलाओं को सामाजिक समानता दिलाने के ढोल पीटे जा रहे हैं।

श्रम-शोषण के अमानवीय तरीके:

एशिया व अफ्रीका के अधिकांश अविकसित देशों की अर्थ-व्यवस्था कृषि पर आधारित है। ऐसे कृषि प्रधान देशों में कृषि-श्रमिकों में महिलाओं की संख्या बहुत अधिक है। कृषि से जुड़े अन्य कई व्यवसाय, जैसे पशुपालन तथा ग्रामीण दस्तकारी में भी बड़ी संख्या में महिला श्रमिक हैं। कृषि कार्य तथा कृषि सम्बद्ध व्यवसायों में, महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका के बावजूद उन्हें दी जाने वाली मजदूरी पुरुषों को दी जाने वाली मजदूरी से बहुत कम होती है, पिछले दिनों आंध्रप्रदेश के करीम नगर जिले में किए गये एक अध्ययन का आंकलन है कि कृषिगत तथा गैरकृषि दोनों ही क्षेत्रों में दी जाने वाली मजदूरी में लिंग परक असमानताएं मौजूद हैं, जिनके चलते आर्थिक सुधारों के वर्तमान दौर में महिला श्रमिकों की स्थिति और भी दयनीय हो गयी है। भूमंडलीकृत अर्थव्यवस्था से जुड़ने के साथ ही भारत में केंद्रीकृत अर्थव्यवस्था या कॉर्पोरेट इकॉनॉमी के तहत बड़े उद्योगों को प्राथमिकता देने की नीतियाँ और भी तेज हो गयी। खेती व लघु उद्योग की घोर उपेक्षा हुई है। इससे रोजगार के अवसर महानगरों तक कुछ बड़े शहरों तक सिमट कर रह गये। गांवों-कस्बों से लोग रोजगार के लिए शहरों की ओर भागने लगे हैं। इसी प्रक्रिया के दुष्परिणाम देहाती क्षेत्रों की महिलाओं को ही सबसे अधिक भुगतने पड़े हैं। पुरुष श्रमिकों के शहर की ओर पलायन से गांवों-कस्बों में परिवार की देखभाल के साथ ही उसके भरण पोषण की अतिरिक्त जिम्मेदारी भी महिलाओं पर आ पड़ी। रोजगार की तलाश में शहर गये सभी पुरुषों को तो ढंग का रोजगार नहीं मिल जाता। अधिकांश झुग्गी-झोपड़ियों में दम तोड़ देते हैं या फिर छिट-पुट अपराध करने लगते हैं। ग्रामीण महिला परदेश कमाने गये पुरुष के मनीआर्डर की आस लगाए अंततः निराश होकर कम मजदूरी पर और दयनीय स्थितियों में अपना श्रम बेचने पर विवश हो रही है।

भूमंडलीकरण के दौर में संगठित क्षेत्र में भी रोजगार के अवसर सीमित हो गये हैं। बैंकिंग व बीमा क्षेत्र के निजीकरण से इन क्षेत्रों में महिला कर्मियों का प्रतिशत तेजी से गिरता जा रहा है। महिलाओं के लिए निर्यात क्षेत्र या एक्सपोर्ट जोन में इलेक्ट्रानिक तथा तैयार वस्त्र जैसे कुछ नये कारोबार पनपे हैं। लेकिन, ये कारोबार भी अधिकतर निजी हाथों में ही हैं। निजीकरण के तहत बदली कार्यपद्धति का शिकार भी महिलाएँ ही हो रही है। निर्यात क्षेत्र में तो हालात बदतर हैं। महिलाएँ न केवल कम वेतन पर बल्कि त्रासद कार्य परिस्थितियों में श्रम कर रही हैं। निर्यात क्षेत्र को निर्यात वृद्धि हेतु कई सुविधाएँ तथा रियायतें दी गयी हैं, जिनकी परोक्ष शर्त होती है किफायतसारी के नाम पर कर्मचारियों को दिए जाने वाले वेतन में कटौती तथा यह सुनिश्चित करना कि सम्बद्ध उद्योग में ट्रेड यूनियन न बनने पाए। अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन ने भी 'फ्री ट्रेड जोन' या 'फ्री एक्सपोर्ट जोन' में होने वाले महिलाओं के शोषण की भर्त्सना की है। इस शोषण का शिकार होने वाली महिलाओं में अधिकांश युवतियाँ हैं।

ठेके पर कर्मचारी :

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तथा बड़े औद्योगिक घरानों को गुलामियों के श्रम-शोषण की पूरी छूट मिली हुई है। यह तथाकथित 'मानवीय चेहरे वाला भूमंडलीकरण' अपने कर्मचारियों के लिए काम पर आने का समय तो निर्धारित करता है पर जाने का कोई समय नहीं है, आधी-आधी रात तक काम करना पड़ता है। मुंबई जैसे महानगरों में बड़े औद्योगिक घरानों तथा विदेशी कंपनियों द्वारा संचालित विशालकाय 'शॉपिंग मॉल्स' 'शॉपर्स हैवन' तथा 'डिपार्टमेंटल स्टोर' में काम करने वाली महिला कर्मियों की दर्द कथा भूमंडलीकरण के मानवीय चेहरे के पीछे छिपे इसके असली अमानवीय चरित्र को उजागर करती है। इस अमानवीयता के विरुद्ध कोई आवाज नहीं उठती। क्योंकि आवाज उठाने का अर्थ है बेरोजगारी को न्यौता देना। इस कार्पोरेट सैक्टर में कोई श्रम कानून नहीं चलता, लगभग सभी कर्मचारी ठेके पर होते हैं या फिर अस्थायी अवधि के लिए स्थायित्व कहीं नहीं है। भले ही आप एक ही यूनिट में बरसों से कार्य कर रहे हों। महिलाओं के श्रम-शोषण की एक विशिष्ट पद्धति अपनाता है कार्पोरेट सैक्टर इस पद्धति में एक बड़ी उत्पादक यूनिट को भंग करके छोटी-छोटी कई यूनिटें बना ली जाती हैं, जिनमें कम वेतन पर महिलाओं को काम पर रखा जाता है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने भारत सहित कई अविकसित देशों में महिलाओं के श्रम-शोषण का एक निहायत निर्दयी तरीका अपनाया हुआ है। रेडीमेड वस्त्र, इलेक्ट्रानिक तथा जूते के कारोबार में लगे बड़े व्यवसायी 'घर पर रहकर अधिकतम आमदनी' का प्रलोभन देकर महिलाओं को रोजगार देते हैं। महिलाएं अपनी घरेलू जिम्मेदारियों के कारण इस प्रलोभन में आ जाती हैं, घर पर रहकर किए जाने वाले काम के साथ निर्धारित समय में निर्धारित कोटा पूरा करने की शर्त जुड़ी होती है और पारिश्रमिक जो कंपनी तय करें। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए यह सबसे कम खर्चीला व अधिकतम मुनाफा देने वाला तरीका है। कार्पोरेट प्रबंधन के मुहावरे में इसे 'इनोवेटिव बिजनेस मैथड' कहा जाता है।

सामाजिक विकृतियों का दंश सहती महिलाएं : भूमंडलीकरण के साथ कई सामाजिक विकृतियां जुड़ी हुई हैं। भूमंडलीकरण के बाजारवाद में पनपी उपभोक्ता संस्कृति ने विश्व पर्यटन, इंटर कांटिनेंटल होटल श्रृंखलाएं, शानदार रेस्टोरेंट, कैसिनो, बार तथा कैबे हाउस की मांग में बेतहाशा बढ़ोतरी की है। कई माफिया सिंडीकेट तथा अपराधी संगठन इन व्यवसायों में उतर आए हैं, जो महिलाओं को 'सेल्स पर्सन' की तरह इस्तेमाल करते हैं। आपराधिक पृष्ठभूमि के ये व्यवसायी महिलाओं को वेश्यावृत्ति करने पर भी विवश करते हैं, इनके कारोबार में बिजनेस रूल के नाम पर आतंक और हिंसा ही एकमात्र नियम है, इस अपराधिक वृत्ति के लिए मशहूर हो गये हैं, यह महिलाओं के शोषण का विभत्सतम रूप है। उपभोक्ता संस्कृति के दुष्प्रभाव से दहेज प्रथा तथा भ्रूण हत्या जैसे अपराध भी बढ़े हैं । लोग कीमती उपभोक्ता सामान जुटाने के लिए दहेज की मांग करते हैं, दूसरी ओर दहेज से बचने के लिए कन्या भ्रूण हत्या भी करते हैं। दोनों ही स्थितियों में यातना महिलाओं के ही हिस्से में आती है। भूमंडलीकृत बाजारवाद के आधुनिक दौर में महिलाओं को सामान बेचने का जरिया बनाया जा रहा है। कई विश्व सुंदरियां बहुराष्ट्रीय कंपनियों की सेल्स पर्सन या ब्रांड अम्बेसेडर देकर उनका रुतबा बढ़ा दिया गया है। उत्पाद बेचने के साधन के रूप में जिस धड़ल्ले से महिलाओं का इस्तेमाल हो रहा है, उससे महिलाएं स्वयं एक वस्तु बनकर रह गयी हैं। महिलाओं के शोषण का यह रूप ऊपर से आकर्षक व मोहक लग सकता है पर असलियत मे अधिकतम मुनाफा बटोरने की बदनीयत से भरा है।

आज सभी लोकतांत्रिक, प्रगतिशील, जनपक्षधर और मानवाधिकार रक्षक व्यक्तियों व संगठनों का यह दायित्व है कि भूमंडलीकरण की शोषक और अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध व्यापक जनमत तैयार करें तथा इसके खिलाफ संगठित प्रतिरोध को विकसित करने के लिए सक्रिय पहल करें। क्योंकि वर्तमान पूंजीवादी साम्राज्यवादी व्यवस्था से इस दिशा में कुछ करने की उम्मीद तो आत्मछल ही होगा।

*****

इक्कीसवीं सदी में अविवाहित या अकेली नारी बेबस, बेचारी नहीं है।

- डॉ. प्रज्ञा शुक्ल

भारतीय संस्कृति में विवाह-संस्कार एक महत्वपूर्ण संस्कार माना गया है, जिसका आधार धर्म है। धर्म-पालन के लिए प्रत्येक स्त्री एवं पुरुष के लिए विवाह भी अनिवार्य माना गया है। समाज का निर्वाह तथा धर्म का आचरण करने के लिए हिन्दू विवाह आवश्यक है। भारतीय समाज व्यवस्था पुस्तक में डॉ. तारा पटेल लिखती हैं- हिन्दू कन्या जीवनभर अविवाहित रहे यह शास्त्र-विरुद्ध माना गया है। महाभारतकार लिखते हैं कि अपतिनां तु नारीणामद्यप्रभृति पार्थिवम्। इसी मान्यता के अनुसार "वृद्ध कुंवारा मर सकता है, परंतु वृद्धा कुंवारी नहीं मर सकती, कहावत प्रचलित हुई होगी।" भारतीय धर्मशास्त्रों की विवाह-विषयक इन मान्यताओं के फलस्वरूप ही सदियों से भारतीय समाज में कन्या-विवाह अनिवार्य माना गया ।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत के अनेक समाज सुधारकों एवं पुनरुत्थानवादियों ने समाज में नारी की स्थिति सुधारने की दिशा में अपने कदम बढ़ाए एवं सामाजिक, आर्थिक, राजकीय तथा धार्मिक क्षेत्र में नारी ने चेतना का अनुभव किया। नारी विषयक अनेक कानूनों ने भी समाज में नारी को समानता प्रदान करके मानवी रूप में उसकी अस्मिता की स्थापना एवं रक्षा के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। परिस्थितियों में बदलाव आया, लड़कियों को बचपन से ही शिक्षा एवं अन्य सुविधाएं दी जाने लगीं एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहन दिया जाने लगा। शिक्षा ने नारी में एक नयी चेतना एवं आत्मविश्वास जाग्रत किया। वह महत्वाकांक्षी बनी और अपने सशक्त, सजग, स्वतंत्र व्यक्तित्व के बल पर उसने समाज में अपने मानुषी रूप की प्रस्थापना की। परन्तु हमारा सामाजिक परिवेश, संस्कार, मूल्य एवं अनुभव नारी को वही परम्परागत एवं रूढ़िवादी मानसिकता से जोड़ देता हैं। उसके माता-पिता, परिवार एवं समाज सभी उसे विवाह की अनिवार्यता की ओर अग्रसर करते हैं। फलस्वरूप वह भी यही मानने लगती है कि यदि समाज में सम्माननीय जीवन व्यतीत करना हो, सुरक्षापूर्वक जीवन जीना हो तो विवाह अनिवार्य है। यदि वह शिक्षा प्राप्त करके आर्थिक स्वातंत्र्य की दिशा में कदम बढ़ाती है तो भी उसका लक्ष्य विवाह ही होता है।

यह सच है कि आज नारी चेतना के युग में भी विवाह एवं परिवार-संस्था में नारी का विश्वास बरकरार है। भावनात्मक एवं सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति के लिए विवाहित जीवन की अनेक समस्याओं के बावजूद नारी विवाह के बंधन को स्वीकार करती है। परन्तु इसके साथ ही विवाह के विषय में उसके दृष्टिकोण में बदलाव आया है। फिर भी अधिकांश नारियां परम्परागत भारतीय नारी ही बनी रहती हैं, जो शिक्षित होते हुए भी समाजीकरण की प्रक्रिया के कारण समझौतावादी रूख अपनाती हैं।

शिक्षा ने नारी का बौद्धिक विकास किया, उसे आर्थिक स्वतंत्रता की ओर अग्रसर किया एवं उसका आत्मविश्वास बढ़ाया। महत्वाकांक्षा मानव स्वभाव का सहज गुण है। आज की प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील नारी को महत्वाकांक्षा के सहज विकास के अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं। शिक्षा-प्राप्ति के

पश्चात स्वावलंबन से प्राप्त स्वतंत्रता का एहसास एवं अपने गुणों की अभिव्यक्ति से नारी मानसिक संतोष प्राप्त करती है एवं समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। अपने परिवार में भी वह अपना एक निश्चित स्थान स्थापित कर लेती है।

नारी की अविवाहित स्थिति के अनेक आयाम हैं। एक परिवार की सहायता के लिए अर्थोपार्जन करके अविवाहित रहना नारी के लिए अभिशाप बन जाता है। दूसरे, आर्थिक स्वावलंबन के कारण स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने के परिणामस्वरूप परम्परागत विवाह को बंधन मानना एवं अपने व्यक्तित्व को पति में विलीन करने की स्थिति का विरोध करना। नारी का यह रूप नितांत आत्म-केन्द्रित है। तीसरे, आज की आत्मनिर्भर एवं प्रगतिशील नारी अपने क्षेत्र में यदि उच्च स्थान की अधिकारिणी बन जाती है तो प्रगतिशीलता का दिखावा करनेवाला पुरुष इसे अपनाने को तैयार नहीं होता। चौथे, योग्य पात्र के अभाव में विवाह न करना। आशारानी वोहरा कहती हैं "जीवन के किसी लक्ष्य को लेकर चलनेवाली या जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विकसित कर लेनेवाली महत्वाकांक्षी नारी के लिए विवाह सभी देशों में प्रायः एक समस्या बन जाता है। पर भारतीय समाज में तो यह एक समस्या गंभीर ही है।.... परिणाम, नारी झुके, समझौता करे तो भी टूटे और न झुके, समझौता न करे तो भी टूटे।" भारतीय समाज में परम्परागत मान्यताओं के कारण नारी का अविवाहित रहना एक अभिशाप माना जाता है एवं समाज उसे संदेह की नजर से देखता है। अपनी अस्मिता की पहचान करानेवाली, समाज में उच्च स्थान की अधिकारिणी नारी पुरुष के अहं को जैसे एक चुनौती देती है। भारतीय समाज नारी का अविवाहित रहना स्वीकार नहीं करता। आशारानी वोहरा ठीक ही कहती हैं कि "जीवन में किसी उद्देश्य को समर्पित महत्वाकांक्षी पुरुष विवाह न करने का निर्णय ले, तो समाज उसे आदर-सम्मान देकर सिर-आंखों पर बिठायेगा। लेकिन स्त्री उससे ऊँचे उद्देश्य को ही समर्पित क्यों न हो, समाज उसे शंकित निगाहों से ही देखेगा और उसे अपने ढंग से सहज जिंदगी जीने की अनुमति न देकर उसके मार्ग में तरह-तरह के रोड़े अटकायेगा।"

जीवन के उस पड़ाव से विवाह की बातचीत आरंभ हो जाती है जब सामान्य रूप से परिवार या समाज युवक या युवती का विवाह हो जाना उचित समझता है। कामकाजी युवती के लिए यह पड़ाव थोड़ा और आगे बढ़ जाता है। योग्य पात्र देखने-दिखाने का सिलसिला चलता रहता है परंतु जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, योग्य पात्र की प्राप्ति सीमित होती जाती है और केवल विवाह ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य नहीं रह जाता। यही वह पड़ाव है जहां से दबी जबान में सवाल उठने लगते हैं कि आखिर कब तक यह कुंवारी बैठी रहेगी या अब तक इसका विवाह क्यों नहीं हुआ ?

आज की कामकाजी स्त्री के लिए विवाह अनिवार्य नहीं रह गया है। अतः एक उम्र बीत जाने के बाद अविवाहित रहकर भी मनपसंद जीवन जिया जा सकता है। अविवाहित स्त्री को अपने जीवन से कोई शिकायत नहीं होती लेकिन परिवार, रिश्तेदार, पास-पड़ोस एवं समाज अदृश्य-अलिखित नियमों की लक्ष्मण रेखा खींच देते हैं जैसे देर रात तक अकेले बाहर नहीं रहना चाहिए। किसी परिचित पुरुष या हम उम्र रिश्तेदार के साथ आने-जाने से लोगों की प्रश्नाकूल नजरों से बचकर रहना या अकेले लंबी यात्रा न करना जैसे अनेक नियमों-शर्तों का सामना अविवाहित स्त्री को करना पड़ता है क्योंकि भारतीय समाज में नारी की अविवाहित स्थिति को धर्म एवं संस्कार के विरुद्ध माना जाता है।

हालांकि आज इक्कीसवीं सदी में अविवाहित या अकेली नारी समाज की वह बेबस, बेचारी नारी नहीं रही है। उसे अपना जीवन अपनी शर्तों पर जीने के, मनोरंजन एवं आनंद प्राप्त करने के अनेक अवसर प्राप्त हो गए हैं। आज अनेक यात्रा कंपनियां केवल नारी के लिए यात्रा का आयोजन करती हैं जिसमें किसी भी सामाजिक स्थिति की स्त्री शामिल हो सकती है लेकिन यदि सामान्य यात्रा में कोई अकेली नारी शामिल होती है तो उसके अकेले यात्रा करने के विषय में, सहयात्रियों में, विशेष रूप से स्त्रियों के द्वारा आज भी अनेक सवाल उठाए जाते हैं। सवाल अकेली अविवाहित स्त्री के विषय में ही उठाए जाते हैं। यदि वह विधवा है, विवाहित है तो उतने सवाल नहीं उठाए जाते क्योंकि उनके नाम के साथ श्रीमती लगा होता है। श्रीमती शब्द से एक घटना याद आ गयी। वरिष्ठ नागरिक का पहचान पत्र बनवाने के लिए जो फ़ार्म भरना पड़ता है उसमें केवल श्री/श्रीमती का ही विकल्प है, आपकी सामाजिक स्थिति जो भी है आप केवल श्रीमती ही रहेंगी।

आज तो अनेक अकेली स्त्रियां फिल्म, नाटक या अन्य कार्यक्रम देखने बेझिझक जाती हैं चाहे उनकी सामाजिक स्थिति जो भी हो। हां, अकेली स्त्री को अनजान स्थलों, नगरों, महानगरों या देशों की यात्रा करते समय सावधानी अवश्य बरतनी पड़ती है। परंतु आज सभी अकेली स्त्रियां अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में संतुलन बनाए रखती हैं। फिर भी मनुष्य की कौतुहल वृत्ति अकेली-अविवाहित नारी के प्रति अधिक सक्रिय हो उठती है। विवाह न करने के विषय में अनेक सवाल अनेक विकल्पों के साथ पूछ लिये जाते हैं। अनजान लोग भी अकेली स्त्री को आपके पति क्या करते हैं या आपके कितने बच्चे हैं जैसे सवाल अवश्य पूछ लेते हैं।

स्त्री एवं पुरुष इस सचराचर सृष्टि के निर्माण एवं संचालन के अभिन्न तत्व हैं। आदिकाल से लेकर आज तक संसार-रथ नर-नारी-रूपी चक्रों से ही गतिशील रहा है। स्त्री एवं पुरुष दोनों को एक -दूसरे की चाह होती है, अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जरूरत होती है। दोनों एक दूसरे के हमसफर बनकर जीवन के सफर को मंजिल तक पहुंचाना चाहते हैं परंतु यदि किसी कारण यह संभव नहीं हुआ तो दोनों को अकेलेपन का अनुभव होता है। यदि कुछ स्त्रियों को अपना हम्सफर नहीं मिला तो क्या हुआ? मनुष्य जीवन उस सर्वशक्तिमान का अमूल्य उपहार है। अपनी सामाजिक स्थिति को बेबसी, विवशता से मत देखिए। हीन मनोग्रंथि का शिकार मत बनिए। अपनी मनपसंद प्रवृत्ति में मन लगाकर अपनी शिक्षा, कला या हुनर का उचित उपयोग करके अपने सशक्त, सजग, स्वतंत्र एवं आत्मविश्वासपूर्ण व्यक्तित्व के बल पर समाज में अपने मानवी रूप की स्थापना कीजिए। धीरे-धीरे अविवाहित नारी के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदल रहा है और व्यक्तिगत सवालों का सिलसिला समाप्त हो रहा है। आज की तेज रफ्तार जिंदगी में समय किसके पास है दूसरों के निजी जीवन में झांकने का ? आनंद एवं उत्साह से स्वस्थ जीवन व्यतीत करके जीवन की राह पर अग्रसर होने में ही नारी जीवन की सार्थकता है।

***

जेंडर, गरीबी और विकास

- डॉ. ऋतु दीवान

दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों की आर्थिक व्यवस्था भूमण्डलीकरण के कारण लगातार गिरती जा रही है। विकास विचित्र तरीके से हो रहा है। गरीब और अधिक गरीब होते जा रहे हैं। हमारे देश को ही ले लें। देश की पंचवर्षीय योजनाएं बनाई जाती हैं। विकास के लिए कई योजनाएँ बनाई जाती हैं, पर देश की आधी जनसंख्या यानी औरतों के बारे में सरकार कोई योजना नहीं बनाती। 21वीं सदी में भी आधी जनसंख्या को बड़ी आसानी से अनदेखा किया जा रहा है। जिन औरतों ने देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में अपना सहयोग दिया, उन्हें ही अनदेखा किया जाता है। औरतों के श्रम को श्रम ही नहीं समझा जाता। हालाँकि उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के बराबर ही औरतें भी श्रम करती हैं। हम चाहते हैं कि हमारे देश में भी औरतों को अर्थव्यवस्था में उसकी योजनाओं में शामिल किया जाय। इसके लिए जेंडर सेन्सिटिव बजेटिंग इनीसिएटिव (जी.एस.बी.) योजना सबसे बेहतर है।

अस्सी के दशक में आस्ट्रेलिया में 1984 में जी.एस.बी. योजना शुरू की गई। उसके बाद दुनिया के कई देशों ने इस योजना को लागू किया।

कोई भी बजट माइक्रोइकोनॉमिक व्यवस्था में एक्चेंज रेट, मनी और पब्लिक फाइनेन्स को जोड़कर तैयार किया जाता है। इस योजना को माइक्रोइकोनॉमिक स्टेटिसस्टिक के साथ जोड़कर यानी राष्ट्रीय आय, सरकारी सहयोग: बाहरी व्यापार और बचत तथा पैसा और बैंक की जमा पूँजी को शामिल किया जाता है। सामाजिक और डेमोग्राफिकल स्टेटिसस्टिक में जनसंख्या, रोजगार, स्वास्थ्य, आहार और शिक्षा को जोड़कर देखा जाता है।

जेंडर सेन्सिटिव बजट के अन्तर्गत यह देखा जाता है कि लड़कों और पुरुषों की तुलना में औरतों और लड़कियों पर बजट में कितना खर्च किया गया, विकास में कितनी औरतों को शामिल किया गया, योजनाओं को कितना लागू किया गया, उसका मूल्यांकन करना। जेंडर सेन्सिटिव बजट का मुख्य लक्ष्य यह है कि पब्लिक खर्च में से जो भी जनता में, सरकार की ओर से योजना बनाते समय बाँटा जाता है, उसमें कितनी औरतों को शामिल किया गया है। किसी भी राज्य की परिस्थिति को देखकर सरकार उस राज्य की आवश्यकता के अनुसार बजट बनाती है। तब उस बजट में औरतों पर कितना खर्च रखा गया है, इस पर ध्यान देना।

यह करते समय सबसे पहले यह पता लगाना पड़ेगा कि माइक्रोइकोनॉमिक योजना में स्त्री और पुरुष के बीच विभेद है: खासकर खर्च और बचत में, आयात और निर्यात में। और अन्त में विकास और उत्पादन में, मानव विकास और समानता में। जी.एस.बी. इनीसिएटिव का काम है कि बजट में तटस्थता बरती गई है या नहीं इस पर ध्यान देना और जो भी सरकार द्वारा मिला है उस पर निगरानी रखना कि उसे लागू किया गया है तो उसके दूरगामी परिणाम क्या निकलें। जी.एस.बी.को तीन मुख्य मेथोडोलॉजी के आधार पर मूल्यांकित किया जा सकता है।

(1) सरकार के द्वारा प्राप्त धन का प्रयोग ठीक हुआ या नहीं। पैसे का आर्डर करना।

(2) औरतों की ताकत बढ़ाने के लिए उन्हें समानता पर लाने के लिए बराबर सरकार ने फण्ड दिये हैं या नहीं।

(3) बजट की योजना सरकार की सही है या नहीं? औरतों की स्थिति सुधारने के लिए बराबर खर्च किया जा रहा है या नहीं? इस पर नजर रखना।

जी.एस.बी. को मूल्यांकित करते समय हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना होगा।

(1) जेंडर आधारित योजनाओं का प्रभाव हुआ या नहीं इसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए सर्वेक्षण करना।

(2) पब्लिक-सर्विस खर्च का उपयोग कितना पुरुष/लड़कों पर किया गया और कितना स्त्री/लड़कियों पर किया गया इसके लिए घर-घर जाकर सर्वेक्षण करना ताकि पता चल सके कि सरकार ने जो धन पब्लिक सर्विस के अन्तर्गत जेंडर को ध्यान में रखकर दिया हैं, उसका उपयोग समाज में घर-घर में ठीक से हो रहा है या नहीं।

(3) पब्लिक सर्विस और खर्च को जानने के लिए लोगों की मीटिंग ले। वाद-विवाद और चर्चा करें ताकि फायदा-नुकसान जाना जा सके।

(4) जो भी धन मिला उसकी जाँच करना।

(5) घरेलू काम करने में औरतों को कितना समय लगा, वेतन दिया जाता है और जिन्हें वेतन नहीं दिया जाता दोनों ने काम में कितना समय लगाया, उसे जोड़ना, कुछ घरेलू उत्पादन का श्रम, पब्लिक और प्राइवेट सर्विस में कितना खर्च किया गया।

(6) जेंडर आधारित बजट मंत्रालय द्वारा बनाया जा रहा है या नहीं। इसके लिए राष्ट्रीय बजट और प्रांतीय बजट पर नजर रखने के लिए मंत्रालय पर निगरानी रखना जरूरी है।

(7) राष्ट्रीय और घरेलू कमाई मे जेंडर के खर्चे पर ध्यान देना।

बजट मे शामिल करने की कोशिश में लगे है। राष्ट्रसंघ के साथ मिलकर कुछ लोग सरकार पर दबाव बना रहे हैं ताकि जेंडर को ध्यान में रखकर पंचवर्षीय योजनाएं बनाई जायं। खासकर स्वास्थ्य, शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में।

जेंडर सेन्सिटिव बजटिंग का आलोचनात्मक मूल्यांकन:

कुछ लोग जी.एस.बी. जैसी बातों को मानना ही नहीं चाहते। मेरा यह कहना है कि इस योजना का संबंध ज्यादा सामाजिक (साफ्ट) सेक्टर से है न कि आर्थिक (हार्ड) सेक्टर से। औरतें व्यापार के क्षेत्र में छोटे-छोटे काम करती हैं, आप उनके व्यवसायों को बड़े-बड़े व्यवसायों से जोड़कर क्यों देखते हैं। उन्हें माइक्रोइकोनॉमिक योजनाओं की जरूरत है। उन्हें छोटे-छोटे कर्जों की जरूरत पड़ती है। आप इस तरह क्यों सोचते हैं कि "पुरुषों से लो और औरतों को दो।" ऐसी बात नहीं है। ग्रामीण स्तर पर गरीब महिलाओं को लाखों रुपयों के कर्ज की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें कुछ हजार रुपये कर्ज की ही जरूरत रहती है जो वे अक्सर बनियों, साहुकारो, महाजनों से लेती हैं जिससे वे जिन्दगी भर के लिए गुलाम बनती हैं, यदि यही कर्ज सरकार उन्हें मुहैया कराये तो उन्हें बन्धुवा मजदूर बनने से बचाया जा सकता है।

बदलाव की आवश्यकता:

गरीबी और उसके संघर्ष की गाथा को जब हम विकास के साथ जोड़कर महिलाओं के संदर्भ में देखते हैं तो हमें मात्र आज के सन्दर्भ को नहीं देखना है बल्कि समाज के ऐतिहासिक-विकास को उसके ढांचागत उपनिवेशिक-विकास को देश के क्षेत्रीय अर्द्ध-सामंती परिवेश में देखना होगा। चाहे गाँव हो या शहर औपचारिक हो या अनौपचारिक बाजार हो आर्थिक सेक्टर में सभी जगह औरतों को दूसरे स्थान पर ही रखा

जाता है। औपचारिक उत्पादन का क्षेत्र हो या फिर अनौपचारिक मजदूरों के चुनाव का क्षेत्र हो। औरतों को हमेशा असंगठित मजदूर के रूप में ही अधिक रखा जाता है।

एशिया को लें। यदि वहाँ पर गरीबी और असमानता को कम करने के लिए कोई भी योजना बनाई जाय तो उसमें जमीन और रिसोर्सेस के बँटवारे की बात अवश्य आएगी। और इसमें सबसे अधिक बाधा जो आती है वह है जेंडर असमानता को दूर करने की।

एशिया के तथा देश के कई क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया गया जिससे यह बात निकलकर आई कि औरतें और लड़कियाँ ही "गरीबों में सबसे गरीब हैं" उन्हें कम आहार मिलता है, प्रोटीन की कमी है, स्वास्थ्य खराब है, शिक्षा न के बराबर है। हर स्तर पर चाहे वेतन हो या रोजगार । हर क्षेत्र में औरतें पीछे ही हैं। कम से कम रोटी-कपड़ा भरण-पोषण के लिए विकास किया जा सके जिससे विभिन्न-प्रांतों के बीच तथा शहरी और ग्रामीण के बीच जो असमानता है उसे दूर किया जा सके। कई गैर सरकारी संगठन इन क्षेत्रों में काम कर रहे हैं और दो दशक से एशिया के विभिन्न देशों में संगठित होकर काम कर रहे हैं। महिलाएँ सामाजिक प्रश्नों को उठा रही है जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य। यह हमेशा कहा जाता है कि औरतों की समस्याओं के संदर्भ में अधिक जानकारी नहीं है, सर्वेक्षण की कमी, डेटा की कमी बताकर गरीबी हटाओ कार्यक्रम में जेंडर विषय उठाया ही नहीं जाता। पर कुछ ऐसे भी उदाहरण सामने आये जब महिलाओं ने योजनाएँ बदलवाने पर सरकार को मजबूर कर दिया और विजयी रहीं फिर भी सरकार ने मौका पाते ही औरतों के आन्दोलनों को फीका पाते ही उनके विजय को पराजय में बदल दिया। देखें उदाहरण-

1980 के आस-पास आन्ध्रप्रदेश में नशाखोरी के खिलाफ आन्दोलन शुरू किया। औरतें जबरन शराब की दुकानों को बन्द करवाने लगी। जंगल की आग की तरह यह आन्दोलन गाँव-गाँव में पहुँच गया। इस आन्दोलन में 'हार्ड' और 'सापट' दोनों विषय शामिल थे। पुरुषों द्वारा कमाई का पैसा दारु में डालना और फिर घर में औरतों पर हिंसा करना। प्रोग्रेसिव ऑरगनाइजेशन ऑफ विमेन (पी.ओ.डब्ल्यू.) ने सर्वेक्षण करके बताया कि किस तरह पुरुषों के नशाखोरी के कारण घर की बेटियों की शिक्षा, स्वास्थ्य, अन्य खर्चों में कटौती की जाती है। कई परिवार गरीबी रेखा के नीचे जीवन जीने लगते हैं, अपनी जमा-पूँजी बर्बाद कर देते हैं, कुछ जो अपनी संपत्ति बेच देते हैं, बच्चे अनाथों की तरह रहने लगते हैं। बच्चे मजबूरन बाल-मजदूरी करने लगते हैं, विशेषकर लड़कियों को, औरतों को जो काम पसन्द नहीं वे काम करने पड़ते हैं। औरतों और बच्चों पर हिंसात्मक वार बढ़ जाता है। मनोवैज्ञानिक समस्याएँ बढ़ जाती हैं। दासबन्दी का आन्दोलन कुछ क्षेत्रों में इतना बढ़ गया कि राज्य सरकार उसके सामने झुक गई और उन्हें शराब पर पाबन्दी लगानी पड़ी। कुछ साल बाद सरकार ने दारु पर से पाबन्दी यह कह कर हटा ली कि सेल्स टैक्स में रेवन्यू जो सबसे ज्यादा दारु से आता था, वह कम पड़ गया है, इससे राज्य सरकार आर्थिक रूप से कमजोर पड़ गई हैं।

जेंडर पर आधारित गरीबी-हटाओ मुहिम की सबसे अधिक भयानक समस्या है जमीन तथा घर पर अधिकार से जुड़े प्रश्न। जब औरतों को संपत्ति में अधिकार नहीं था तब औरतों को घर में रहने का अधिकार था। घर में रहने के अधिकार से आसानी से उन्हें वंचित रखा जाता था। भारत में औरतों का मालिकाना हक़ देखा नहीं जाता क्योंकि यहाँ पर सबसे ज्यादा औरतें परित्यक्ता और बेघर हैं। इस कारण कुछ महिला संगठनों ने गरीबी हटाओ के तहत संपत्ति अधिकार का मामला उठाया। हाउसिंग अधिकार के तहत तथा शहरों की महिला समूहों ने काफी हद तक घर खरीदते समय झोपड़पट्टियों में या तो अपने नाम पर औरतें सम्पत्ति लेती हैं या फिर ज्वाइन्ट (दोनों के नाम पर)। यानी स्त्री-पुरुष दोनों का संपत्ति पर अधिकार लेकिन ग्रामीण इलाकों

में यह इतना आसान नहीं है। क्योंकि गाँव में पितृसत्तात्मक ढाँचे पर आधारित व्यवस्था है इस योजना को गाँव में लागू करना मुश्किल है।

गरीबी के खिलाफ लड़ने की मुहिम मात्र बेरोजगारी से जुड़ी हुई समस्या नहीं है। इन दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अभी भी माइक्रोलेवल पर काम करना होगा। जेंडर सेन्सिटिव पॉवर्टी रिडक्शन पॉलिशी (जेंडर पर आधारित गरीबी कम करने की योजना) को अभी भी बनना बाकी है, अभी-भी वाद-विवाद करने की आवश्यकता है, विचार विमर्श बाकी है फिर भी मैं कहूँगी कुछ स्थानों पर इसे लागू किया जा सकता है। गरीबी और जेंडर का संबंध पेचीदा है पर जटिल नहीं है। यदि ठीक से सर्वेक्षण किया जाय। मेथडोलॉजी का ठीक से प्रयोग किया जाय और वर्तमान गरीबी, दमन, शोषण को जो औरतें झेल रही है उससे राहत पायी जा सकती है।

जी.एस.बी. इनीसिएटिव का प्रयोग निम्नलिखित देशों में किया गया-

(1) **आस्ट्रेलिया-** दुनिया में पहली बार आस्ट्रेलिया की सरकार ने 1984-1996 में जी.एस.बी. योजना की शुरुआत की। हालाँकि इन्होंने खर्च पर अधिक ध्यान दिया, रेवन्यू पर कम फिर भी इस योजना से अन्य जी.एस.बी. प्रभावित हुए।

(2) **दक्षिण अफ्रीका-** दक्षिण अफ्रीका में 1995 में जब पहली बार इस देश में लोकशाही तरीके से चुनाव हुआ तभी विमेन बजट इनीसिएटिव (डब्ल्यू.बी.आई.) की शुरुआत की गई। इस देश में सरकार के अन्दर और बाहर दोनों को शामिल करके योजना लागू की गई। 1997 में फाइनेन्स (वित्तीय) विभाग ने कॉमनवेल्थ जेंडर बजट इनीसिएटिव के अन्तर्गत समानान्तर इनीसिएटिव की शुरुआत की गई।

(3) **श्रीलंका-** कॉमनवेल्थ इनीसिएटिव से प्रेरित होकर 1998 में सरकार ने पाँच मंत्रालय क्रमशः स्वास्थ्य, शिक्षा, समाज-सेवा, कृषि और जमीन, औद्योगिक विकास मंत्रालय को शामिल करके यह योजना शुरू की। श्रीलंका ने इस योजना को सबसे अच्छी तरह लागू किया। इन्होंने राष्ट्रीय बजट की जाँच-पड़ताल कर, उसका मूल्यांकन किया फिर उसे बाँटा और योजनाबद्ध तरीके से समायोजन किया। उन्होंने अपने शिक्षा, खेती और औद्योगिक क्षेत्र के बराबर से तटस्थता के साथ अपने बजट में हरेक की आवश्यकता को देखते हुए बजट बनाया।

(4) **बांग्लादेश-** बांग्लादेश में रिसर्च करने वाले, कार्यकर्ता इत्यादि लोगों ने मिलकर, जो गरीबों का साथ देने वाले लोग हैं उन्होंने बजेटिंग इनीसिएटिव योजना को लागू किया। इन्होंने जनता के बीच जो अन्तिम गरीबी रेखा पर रहने वाला व्यक्ति है उन्हें साथ लिया अब जब भी बजट बनाया जाता है वित्त मंत्रालय बजट बनाने के पहले इन्हें शामिल करता है।

(5) **नेपाल-** 2001 में जेंडर के आधार पर स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि क्षेत्रों में वित्त मंत्रालय ने बजट बनाते समय जेंडर को ध्यान में रखकर बजेट बनाया। 2002 तक यह तय किया गया कि कृषि मंत्रालय, लेबर, शिक्षा, जनसंख्या और पर्यावरण सभी मंत्रालय अपने बजट में महिलाओं और गरीबी को ध्यान में रखकर ही अपने देश की योजनाएँ बनाएंगे।

*****

भूमंडलीकरण का औरतों पर प्रभाव:
इस विषय पर मेधा पाटकर, अरुणा रॉय और विजय जावंधिया के विचार

- प्रस्तुति : कुसुम त्रिपाठी

मेधा पाटकर- मेधा पाटकर ने कहा देश को बताया जाता है कि वैश्वीकरण का अर्थ है वसुधैव कुटुम्बकम् पर यह मात्र छलावा है। इसका सही अर्थ है विश्व के बाजार । आज मात्र अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आई.एम.एफ.) ही नहीं विश्व बैंक ही नहीं बल्कि छोटी-छोटी उपनिवेशिक कम्पनियाँ जैसे कोका कोला या बोर्नविटा जैसी कम्पनियाँ हो, सभी हमारे सामने सुरसा की तरह निगल जाने के लिए मुँह बाये खड़े हैं। कौन कितना लूटेगा, कैसे लूटेगा, यही फैसला करने व मनवाने के लिए व्यापार वार्ताएँ होती हैं। बुश इसीलिए भारत आए। अमेरिका आज दादागिरी का नेता बन गया है। सोने की जगह उसकी मुद्रा डालर, आदर्श मुद्रा बन गई है। पूरे विश्व को उसने हथियारों की मण्डी में बदल दिया है। पड़ोसी देशों को लड़वाकर, उनकी सरकारों का तख्ता पलटकर, राजनेताओं को मरवाकर अपना वर्चस्व किसी न किसी तरह अमेरिका कायम रखता है। आज 100 देशों में उसकी सेनाएँ तैनात हैं। इराक की हालत आप देख ही रहे हैं। निजीकरण, उदारीकरण, डंकल सभी नागनाथ-साँपनाथ बनकर खड़े हैं। ऐसे में देशवासियों को साम्राज्यवाद के खिलाफ एक साथ मिलकर खड़ा रहना होगा। महिलाओं को भूमण्डलीकरण के खिलाफ सबसे पहले एकजुट होना पड़ेगा, महिलाएँ ही वह कड़ी हैं जिसके द्वारा समाज के प्रत्येक तबके तक पहुँचा जा सकता है। आज हमें इस बात को समझना होगा कि जो हम कह रहे हैं कि पूँजी द्वारा ही नहीं बल्कि नीतियों द्वारा, कानूनों द्वारा व्यवस्था बदलकर, राजनैतिक परिवर्तन कर भूमण्डलीकरण द्वारा कब्जा किया जा रहा है। मैं इसका उदाहरण देती हूँ, विश्व बैंक ने शहरी विकास के लिए मीटिंग बुलाई। हमें भी बुलाया इसमें डी.एफ.आई.डी., ए.एफ.ओ.सभी लोग थे। उसमें मुद्दा था अपने देश की जमीन खुली करो, हमें विकास करने के लिए आने का न्यौता दो। इस मीटिंग में शंकरन और बी.डी.शर्मा ही ऐसे थे जो इस नीति का विरोध कर रहे थे बाकी सभी इसके समर्थक थे। विश्व बैंक प्रोजेक्ट से लेकर सेक्टर बनाने तक का पैसा दे रहे थे। उन्होंने एक-एक कम्पनियों की लिस्ट दी। ये लोग शहरों का विकास करेंगे। कुल 63 शहरों के शहरी विकास के लिए एक-एक कम्पनी योजना बनाती है। जैसे मुम्बई। जब विश्व बैंक के तहत ये कम्पनियाँ मुम्बई का विकास करेंगी तो म्युनिसिपल कार्पोरेशन की उपयोगिता ही नहीं बची है। अब विश्व बैंक एक नदी की बात नहीं करती सभी नदियों की योजना एक साथ बनाने की बात करती हैं। इससे साफ जाहिर है अब केन्द्रीकरण बहुत बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। यही बात खेतों में भी लागू हो रही हैं। शहर-गाँव हर जगह पूँजीपति देशों का कब्जा हो रहा है। जिसे देशवासी जानते तक नहीं तो लड़ना तो दूर की बात है।

आज जनतंत्र के मायने ही बदल गये हैं। आज हमें किसी भी मुद्दे पर लड़ना है तो विश्वबैंक और लोकल समस्याओं को एक करके लड़ना होगा। आज कानून, संविधान, राजसत्ता सभी विश्वबैंक, डंकल और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के इशारे पर चलते हैं। हमें मिलिटेन्ट होकर दृढ़ संकल्प के साथ इनसे लड़ना होगा।

जितने बुनियादी तरीके से वे हमारे देश की जड़ों में जाकर बदलाव लाने में लगे हुए हैं उतने ही प्रभावी तरीके से हम आन्दोलन नहीं कर पा रहे हैं। कलिंग में जिस तरह आदिवासियों को ग्रेनाइट लगाकर उड़ा दिया गया और बचे हुए लोगों को गोलियों से उड़ा दिया गया, यह दिखा रहा है कि किस तरह कारपोरेट हमले करवाये जा रहे हैं। उत्तर प्रदेश, बिहार, केरल, प.बंगाल, उड़ीसा सब जगह हमले किये जा रहे हैं। मणिपुर की औरतों को विरोध प्रदर्शन के लिए नंगा मोर्चा निकालना पड़ा। चाहे नर्मदा आन्दोलन हो या मुम्बई में निवारा हक़ की लड़ाई हो सबसे ज्यादा परेशानी औरतों को ही उठानी पड़ती है। कारगिल में नमक का मुद्दा हो या फिर केरल में कोकाकोला का संघर्ष सभी का असर औरतों पर ही पड़ेगा। सभी आन्दोलनों के अन्दर महिला आन्दोलन छिपे हुए हैं। महिलाओ को आन्दोलनों की ढाल नहीं बनना है बल्कि स्वयं सैनिक बनना होगा।

आज अमेरिका भारत को एक बड़े मार्केट के रूप में देख रहा है। बुश ने अमेरिका से निकलते समय प्रेस वालों से कहा कि "मैं भारत इसीलिए जा रहा हूँ क्योंकि भारत एक बड़ा मार्केट है जो हमें चाहिए।" बुश को हमारे खेत चाहिए। एक बार यदि कृषि उनके हाथ चली गई तो भारतीय कृषि व्यवस्था बहुराष्ट्रीय निगमों के हाथ में चली जाएंगी। आयात पर निर्भरता बढ़ जाएगी। हमारे अनुसंधान कार्य रुक जाएंगे। हम भयंकर कर्ज में डूब जायेंगे। औरतों पर इसका प्रभाव शुरु हो गया है। विज्ञापनों में, मीडिया में, औरतों को 'माल' के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है, बेरोजगार हुई औरतें शरीर के धंधे में जा रही हैं। बार बाला बेरोजगारी की ही देन हैं। खेतों के काम से जुड़ी बहुसंख्य देश की महिलाएँ हैं। महिलाएँ जैविक खेती से जुड़ी हैं। महिलाएँ परम्परागत खेतों के कामों से जुड़ी हैं, मशीनी काम होने पर महिलाएँ बेरोजगार होंगी। ढोरों की देखभाल भी औरतें ही करती हैं। अधिकतर असंगठित क्षेत्रों के रोजगार में महिलाएँ ही शामिल हैं। छठवाँ वेतन आयोग जो बना है उसमें सरकार कहती है महिलाओं पर ध्यान दिया गया है, पर संगठित क्षेत्र में जो असंगठित क्षेत्र है, वहाँ महिलाओं के बारे में कुछ नहीं कहा है। सभी महिलाओं को संगठित क्षेत्र, असंगठित क्षेत्र, घरेलू महिलाओं को एक मंच पर आकर भूमण्डलीकरण को चुनौती देनी होगी। जब तक दलितों की अस्मिता की बात न करो तब तक आन्दोलन खड़ा नहीं होता उसी तरह जब तक औरतों की अस्मिता की बात न करो औरतें आन्दोलन में नहीं आती। इसीलिए जरूरी है औरतों को भूमण्डलीकरण के खिलाफ आन्दोलनों में लाने की।

अरुणा रॉय- 1990 दशक की भूमण्डलीकरण तथा आर्थिक सुधार की आक्रामक नीतियाँ, हिन्दुत्व की आक्रामक नीतियों की सहगामी हैं। आर्थिक सुधार की नीतियों के चलते गरीबी का बहुत ज्यादा प्रसार हुआ। असमें आज जनता को लेकर मध्यम वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा भी गरीबी की चपेट में आ गया अत: सत्ताधारी वर्ग के लिए अब जनता का ध्यान उसकी गरीबी व विनाश की ओर से तुरन्त हटाने की जरूरत थी और इसका माध्यम बना मुस्लिमों तथा अन्य अल्प संख्यकों के खिलाफ उन्माद को हवा देना। इसके अतिरिक्त साम्राज्यवादियों के सामने विशेषकर अमेरिका के आगे पूरी तरह से दण्डवत होने के खिलाफ जनता के गुस्से को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और हिन्दूराष्ट्र जैसे नारों के झूठे राष्ट्रवाद के माध्यम से हटाने की कोशिश की गई।

गुजरात में धर्म के आधार पर हिन्दू समाज के लगातार जारी ध्रुवीकरण, घोर आत्मविश्वास जिससे हमले, हत्याएँ व लूटपाट की गई और उच्च जातियों की महिलाओं के एक हिस्से की सक्रिय भागीदारी दर्शाते हैं कि गुजरात में फांसीवादी हिन्दू ताकतें अपने एजेंडों को आगे बढ़ाने में कामयाब हो गई हैं। हिन्दू जनता के एक हिस्से में वे अपनी विचारधारा को फैलाने तथा उन्हें अपने पक्ष में करने तथा उनमें हिन्दू राष्ट्र के लक्ष्य

को आत्मसात करने में कामयाब हो गई हैं। इन सबसे उत्पीड़ित हिस्सों दलित महिलाओं, विशेषकर अल्पसंख्यक महिलाओं और गरीबों के लिए कितना बड़ा खतरा खड़ा हो गया है, इसका उल्लेख जरूरी है।

आज महिलाओं का सबसे बड़ा दुश्मन हिन्दुत्ववादी ताकतें हैं। हिन्दुवादी व्यवस्था में पहले से ही मौजूद जातिवादी, पितृसत्तात्मक तथा अन्य सामन्ती मूल्य, हिन्दू फांसीवाद की इस आग में घी का काम करते हैं और उच्च जाति के कुलीन इन विषैले राजनीतिक लोगों के स्वाभाविक सहयोगी बनते हैं। इसके अलावा एक आम पिछड़ी सोच व कमजोर जनवादी आन्दोलन के चलते अन्य पिछड़ी जातियाँ या वर्ग इन हिन्दुवादी ताकतों के आक्रामक तथा व्यापक स्तर के प्रचार का शिकार बन जाते हैं।

गुजरात दंगों की जाँच के लिए भारत सरकार ने जो आयोग बनाया उसमें मैं भी एक सदस्य थी। जब हम गुजरात गए तो 800 महिलाएँ कमिटी के सामने उपस्थित हुईं। उसमें मैं एक महिला का उदाहरण देना चाहुँगी। 18 वर्षीय गर्भवती मुस्लिम महिला के पेट को फाड़कर उसका बच्चा निकाला गया. बच्चे को तिलक लगाकर उसकी नरबलि दी गई। यह घटना मानवता की किस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है? इतनी घिनौनी, अमानवीय घटना पर जार्ज फर्नांडिस जैसे नेता वक्तव्य देते हैं कि "ऐसा तो दंगों में होता ही है और होता रहेगा।" साम्प्रदायिकता और नरसंहार का नंगा नाच गुजरात में हुआ। छह सौ-सात सौ लोगों के सामने दिन के समय 20-20 औरतों का बलात्कार होता रहा और लोग खुलेआम यह तमाशा देखते रहे। अहमदाबाद में मंदिर में ले जाकर औरतों का बलात्कार किया गया फिर उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। उन पुरुषों का क्या जिन्होंने खुली आँखों से इन दृश्यों को देखा और कोई प्रतिक्रिया नहीं की। साम्प्रदायिकता का इतना घिनौना रूप स्वतंत्र भारत में पहली बार देखा गया।

साम्प्रदायिकता एक रूप है तो जातिवाद उसका दूसरा अंग है। दलितों को रोज़-रोज़ कहीं न कहीं देश में मारा जाता है। जब भी हम दंगों के खिलाफ लड़ते हैं तो दिल्ली में पी. साईनाथ (लोकसभा सदस्य कहते हैं- "कई कानून पास किये गये जो गरीबी और महिलाओं के लिए थे। करीब दस कानून पारित किये गये।" मेरा कहना है उससे क्या फरक पड़ रहा है। मानव विरोधी, पितृसत्तात्मक रवैया अपने शुद्ध और सबसे हिंसक रूप में गुजरात में ही सामने आया, जिसमें कई जिलों में सामूहिक बलात्कार और महिलाओं से बदसलूकी की गई, बलात्कार का घृणित प्रचार कई स्थानों पर व्यापक तरीके से किया गया। हमने सभी तथ्य अनवेषण टीमों से उन सभी महिलाओं की बात को रिकार्ड किया जो या तो बलात्कार की शिकार हुई या फिर अपने किसी रिश्तेदार, सहेली के बलात्कार की गवाह थीं। महिलाओं को यह फांसीवादी मानसिकता किस नजर से देखतीं है, इस सन्दर्भ को समझना होगा।

ये बलात्कार राजनीतिक कार्यवाहियाँ थीं, जिनका उद्देश्य "शत्रु" को अपमानित करना था- महिलाओं को अपमानित करने में ही समाज का अपमान है, चुनौती है। उस समाज के पुरुषों के लिए जो "अपनी महिलाओं" यानी अपने समुदाय के मान की रक्षा के लिए कुछ भी नहीं कर सके। ताकत के इस सम्पूर्ण खेल में, महिला, मनुष्य के तौर पर उसके अधिकार की कोई जगह नहीं है। गुजरात ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू फांसीवादी ताकतें धार्मिक अल्पसंख्यक प्रभुत्व हासिल करने में कोई भी कसर बाकी नहीं रखेंगे। हमने तो इसके खिलाफ नारा ही दिया

त्रिशूल नहीं, तलवार नहीं,
काम का अधिकार चाहिए।
हर हाथ को काम दो।

अन्त में मैं यही कहना चाहती हूँ कि भूमण्डलीकरण के कारण बेरोजगारी निर्माण हुई, उसका हल न निकाल पाने के कारण सत्ताधारी वर्ग और साम्राज्यवादी देशों ने मिलकर युवकों को साम्प्रदायिकता के हवाले कर दिया। औरतों पर इसका भयंकर असर पड़ा है और पड़ेगा। आज औरतों को लड़ना ही होगा। एक ओर फेयर एण्ड लवली लगाना और दूसरी ओर बुश के खिलाफ आन्दोलन करना यह विरोधाभास नहीं चलेगा। महिलाओं के प्रति तो घर से ही राजनीति की जाती है। लड़कियाँ क्या खायेंगी? क्या पहनेंगी क्या पढ़ेंगी? किससे शादी होगी ? कब घर से बाहर जायेंगी और कितने बजे लौट आयेंगी। सब में राजनीति है। दिल्ली में योजनाएँ बन रही हैं, सरकार ने पानी का निजीकरण कर दिया। विश्व बैंक से सरकार ने पैसा लिया। पानी, बिजली, नमक हर चीज का निजीकरण हो रहा है। इसका प्रभाव औरतों पर ही पड़ेगा और किसी भी विकास में, आर्थिक नीति में औरतें शामिल नहीं हैं इसीलिए हमारा नारा है- हमारा पैसा,
हमारा हिस्सा।

विजय जावंधिया-

भूमण्डलीकरण का सबसे ज्यादा प्रभाव विदर्भ में ही पड़ा है। आज डंकल, गैर प्रस्ताव के कारण किसानों की सब्सिडी बन्द कर दी गई हैं। 2003 तक भारत ने 13.3% सब्सिडी किसानों को कमकर दिया। पहले हमारे देश को सरकार खाद, फसल का समर्थन मूल्य, रियायती दरों पर बिजली दिया करती थी। विकसित देशों ने अपने किसानों को भारी सहायता दी जिसके कारण वहाँ खेती का विकास हुआ। अमेरिका में जहाँ की मात्र 3% आबादी खेती पर निर्भर है उन्होंने 1986 में ही 30 अरब डालर, यूरोपीय समुदाय ने 22 अरब डालर व जापान ने अपनी खेती के लागत में 79% तक की सहायता की। इन देशों ने खाद्यानों में आत्मनिर्भरता हासिल कर ली तो निर्यात करने के लिए फसलों को भारी निर्यात सब्सिडी दी ताकि इनका माल दूसरे देशों की मण्डी में आसानी से बिक सके। धनी देशों में पैदावार बढ़ रही है। इनकी कोशिश है कि गरीब देशों की खेती चौपट करके, वहाँ अपने माल बिकने लायक हालात पैदा किये जायं। डंकल प्रस्ताव के अन्तर्गत 20% तक सब्सिडी कम की गई है जबकि विकसित देशों में एनैक्स-2 में रिसर्च के नाम पर, रोगनियन्त्रण, शिक्षा और निर्यात करने के लिए मार्केट की जानकारी सरकार द्वारा दी जा रही है, जिस पर बेतहाशा सहायता सरकार दे रही है। पर हमारे देश में उल्टा हो रहा है। सब्सिडी कम होने के कारण किसान कर्जदार हो रहे हैं। कर्ज भरने के लिए कोई किडनी बेच रहा है तो कोई गांव बेच रहा है। खेतों में सबसे ज्यादा औरतें काम करती हैं। खासकर कपास की खेती में। भूमण्डलीकरण ने, महिलाएँ जो काम करती हैं उसे ही छिनने की बात की है। मैंने 1974 में देश के अकाल को देखा है पर कहीं भी कोई किसान आत्महत्या करने नहीं गया पर 1994 के बाद पंजाब, केरल, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु में किसान आत्महत्या कर रहे हैं।

कच्चे माल से ही पूंजी बनती है। अंग्रेजों के काल में वर्धा से मुंबई तथा अहमदाबाद कपास ले जाने के लिए रेलवे लाइनें बिछाई । अब अटल बिहारी बाजपेयी के जमाने में कपास आयात होने लगा। अमेरिका के बिंटी काटन लगाने पर उन्हें छूट मिलती है। 300 बिलियन सब्सिडी अमेरिका के किसानों को दी जाती है उससे अन्तराष्ट्रीय बाजार में कपास का दाम गिर गया। कपास की खेती में औरतें अधिक काम करती हैं, वे बेरोजगार हो गईं । कृषिमंत्री शरद पवार कहते हैं कि आप विदर्भ के किसान कपास लगाना बंद कर दो। यदि कपास बंद कर देंगे तो हम खायेंगे क्या ? हमारे देश में 70% आबादी किसानों की है और सरकार

किसानों के लिए ही कुछ नहीं कर रही है ? शहरों मे खाद्य सामग्री गावों से ही जाती है,फिर भी शहरी विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है ग्रामीण भागों में कम।

1994 से रुपये का अवमूल्यन हो गया, आत्महत्याएं बढ़ी। शहरों का जीवन सुधरे इसलिए उन्हें पाँचवा वेतन आयोग दे दिया गया और गांव के किसानों की सब्सिडी कम करके उनके जीवन को और करीब बना दिया। खेतों पर जार्ज बुश की नजर बनी हुई है। वे हरित क्रांति की बात कर रहे हैं। जार्ज बुश कह रहे हैं कि उत्पादन बढ़ाने के लिए जेनेटिक उत्पादन करो। अमेरिका में 3% लोग खेतों पर आधारित जीवन यापन करते हैं। वे चाहते हैं जेनेटिक खेती/पेस्टी साइड वे हवा में छोड़ते हैं। मानव श्रम के बदले वे स्प्रे करते हैं। जेनेटिक मॉडिफिकेशन अत्याधुनिक है। सब कुछ मशीन ही करता है, इंसानों को काम करने की जरूरत नहीं है। इस जेनेटिक कृषि से सबसे अधिक महिलाएं ही प्रभावित होगी। हमारे यहाँ 25 रुपये प्रतिदिन खेतों मे काम करके औरतें कमा लेती हैं। सब कुछ मशीन ही करेगा तो औरतों के लिए काम ही नहीं बचेगा। जेनेटिक मॉडिफिकेशन के बीज ऐसे हैं जो कम उर्जा लेकर ज्यादा उत्पादन देते हैं। हमारे देश में इसकी कोई जरूरत नहीं है। हमारे देश की जमीन उपजाऊ है।

हमारे देश में 1980 से गैट पर बात चल रही थी, फिर जब भूमंडलीकरण की चर्चा चल रही थी, सारे समझौते हो रहे थे, उसी दौरान बाबरी-मस्जिद गिराई गई थी। देश के लोगों को मंदिर-मस्जिद विवाद और साम्प्रदायिकता के जाल में फंसा कर सत्ताधारी वर्ग ने डंकल प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किया। परिणाम किसान आत्महत्या कर रहे हैं। पुरुष तो आत्महत्या कर लेता है पर स्त्री अपने बच्चों को लेकर जीने के लिए मजबूर होती है। जार्जबुश कहते हैं हम आपको 10 रु. किलो के दाम मे शक्कर, दाल, चावल देंगे। पर हम सभी जानते हैं, बदले मे दवा, शिक्षा और महंगा हो जाएगा। इन सबका असर सबसे ज्यादा औरतों पर ही पड़ेगा। वैसे ही स्वास्थ्य को लेकर औरतों के प्रति समाज का रवैया ठीक नहीं है। शिक्षा को भी लेकर यही बात है, लड़कियों को लोग पढ़ाना बंद कर देंगे। औरतें अशिक्षित, बेरोजगार, अस्वस्थ और अन्धविश्वास के गोरे में आ जायेगीं। इसके लिए हमें राजनैतिक फोर्स खड़ा करके लड़ना होगा।

*****

सच्चर समिति की सिफारिशों का सार संक्षेप

(हिन्दी एवं उर्दू)

उपवन

उत्तर प्रदेश वॉलेण्टरी एक्शन नेटवर्क

10, सत्यलोक कॉलोनी, मोहिबुल्लापुर, मड़ियाँव

सीतापुर रोड, लखनऊ - 226 021

फोन/फैक्स : +91- 522 - 2361563, 2732267

ई-मेल : info@upvan.org Website: www.upvan.org

सच्चर कमेटी रिपोर्ट के क्रियान्वयन हेतु उपवन के प्रयास

मुस्लिम समुदाय की सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक स्थिति में सुधार हेतु सच्चर समिति की रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। उपवन सामाजिक सौहार्द्र को लेकर शुरू से सक्रिय रहा है। साधारण सभा बैठक (03-04 अक्टूबर 2007) में प्रदेश के स्वैच्छिक संगठनों की इस मुद्दे पर महत्वपूर्ण भूमिका के संदर्भ में अन्य समुदायों को जोड़कर इसे व्यापक रूप देने की संभावना मानी गयी। समय समय पर प्रबुद्ध समाजसेवियों द्वारा भी समग्र विकास के लिए इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता महसूस की गई है। अतः उपवन सर्वप्रथम स्वैच्छिक संगठनों को संगठित करने का प्रयास किया ताकि विकास की धारा से अलग-थलग इस समुदाय की दशा पर चिन्तन हो और इस दस्तावेज में दी गई सिफारिशों के अनुसार सरकार द्वारा समुचित दिशा मिल सके अतः एक सामाजिक दबाव बनाने हेतु एकजुटता की जरूरत महसूस हुई।

इस दिशा में उपवन द्वारा किये गये प्रयास की शुरुआत बाँदा में डॉ. अब्दुर्रशीद सिद्दीकी (स्व. फरजंद अली जन कल्याण समिति) के साथ आयोजित संगोष्ठी से हुई। उनके सहयोग से इस रिपोर्ट के सार संक्षेप का उर्दू रूपान्तरण मुद्रित कराकर व्यापक रूप दिया गया है। श्री अनीस भाई की अध्यक्षता में एक कार्यदल गठित कर यह रिपोर्ट (दो खण्ड) हासिल की गई और हिन्दी व उर्दू सार संक्षेप तैयार किये गये। साथ ही मुस्लिम जनप्रतिनिधियों तथा विधायकों की सूची भी तैयार कर इस मुद्दे की विधायी एडवोकेसी का आधार तय किया गया। उपवन के अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्य संगठन इस आशय से सूचीबद्ध किये गये कि उनके द्वारा किये गये कार्य तथा अनुभव का लाभ मिल सके। साथ ही, दिल्ली में "मुमकिन" द्वारा आयोजित कार्यशाला में उपवन के उपाध्यक्ष श्री आफताब आलम व टास्क फोर्स के अध्यक्ष श्री अनीस भाई शरीक हुए और इस विषय पर अपने चिन्तन निवेश दिये।

इसी क्रम में लखनऊ में भी "अमन" के साथ एक राज्य स्तरीय कार्यशाला आयोजित की गई जिसमें उपवन सचिव डॉ. जनार्दन प्रसाद त्रिपाठी, संस्थापक सदस्य श्री अशोक सिंह, उपाध्यक्ष श्री आफताब आलम एवं श्री अनीस भाई सहित 80 संगठनों के प्रतिनिधियों की सहभागिता हुई।

कार्यशाला में स्वैच्छिक संगठनों की एकजुटता की अपेक्षा; राज्य सरकार से इस समिति की सिफारिशों को अमल में लाने हेतु प्रयास; भावी कार्यक्रमों की रूपरेखा का निर्धारण तथा संबंधित संस्थाओं, संदर्भ व्यक्तियों एवं विशेषज्ञों से राय मशविरा की अपील की गई।

उपवन इस कार्य दिशा में राजनैतिक इच्छाशक्ति को प्रमुख मानता है। उसका दृढ़ मत है कि इस देश का सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है जब विकास की मुख्यधारा से पिछड़े इस समुदाय को जोड़ने; जन सामान्य तक सच्चर समिति की संस्तुतियां पहुँचा कर और सार संक्षेप की हिन्दी और उर्दू प्रतियां व्यापक रूप से वितरित कर लोगों की सही समझ विकसित करने और भाईचारे का माहौल बनाने के लिए जरूरी माना गया।

मुस्लिम समुदाय में व्याप्त भ्रान्तियों को दूर करने हेतु एक ठोस कदम उठाने की आवश्यकता महसूस की गई। समाज में व्यापक जनमत तैयार करने और सभी वर्ग के लोगों को सांवेदित करना इसलिए भी महत्वपूर्ण माना गया कि सामाजिक सौहार्द्र और आपसी भाईचारे को बढ़ावा मिले, तथा विकास एवं सामाजिक परिवर्तन को सही दिशा मिल सके।

डॉ. जनार्दन प्रसाद त्रिपाठी
सचिव, उपवन

भारतीय मुस्लिम समुदाय की सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक स्थिति - सच्चर समिति द्वारा किया गया अध्ययन

पृष्ठभूमि

मुस्लिम समुदाय भारत की कुल जनसंख्या का 13.4% है। एक सामाजिक समूह के रूप में यह इतनी बड़ी संख्या है कि राजसत्ता इसे अनदेखा करके नहीं चल सकती है अर्थात सत्ता के स्थायित्व के लिए उसे इस समूह की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है। दूसरी ओर इस समूह का सदैव शासित रहने या सत्ता में मात्र सहयोगी बनने की बजाए सत्ता पर प्रभुत्व स्थापित करने की आकांक्षा रखना भी स्वाभाविक है। मुस्लिम समुदाय की स्थिति के आंकलन हेतु समिति के गठन को भी इसी राजनीतिक अवधारणा के मद्देनजर देखा जाना चाहिए।

मुस्लिम समुदाय की स्थिति के अध्ययन संबंधी पूर्व प्रयास

भारत के मुस्लिम समुदाय की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति दशकों से विमर्श का विषय रही है। कुछ सरकारों ने इस समुदाय की स्थिति पर आधारित अध्ययन की पहल की है। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटिश प्रशासक मौंस्टुअर्ट एलफिंस्टन (Monstuart Elphinotone) ने इस बात का उल्लेख किया था कि मुस्लिम समुदाय के पिछले तबकों के उत्थान हेतु विशेष प्रयास आवश्यक हैं। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा कराए गये अध्ययनों के आधार पर ही 1935 के भारत शासन अधिनियम में दलित हिन्दुओं के साथ-साथ दलित मुस्लिमों को भी राजनीतिक आरक्षण का प्रस्ताव किया गया था। लगभग 25 वर्ष पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने डॉ. गोपाल सिंह की अध्यक्षता में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अल्पसंख्यकों एवं समाज के अन्य कमजोर वर्गों की स्थिति पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने हेतु 10 सदस्यीय समिति का गठन किया गया था। समिति ने 14 जून, 1983 को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट अंकित किया है कि "अल्पसंख्यकों में अपने प्रति विभेद की भावना विद्यमान रहती है। यदि हम चाहते है कि अल्पसंख्यक मुख्य धारा के प्रभावी भाग बनें तो यह भावना जड़-मूल से खत्म करनी होगी।"

स्वतंत्र भारत में मुस्लिम समुदाय की स्थिति के व्यवस्थित अध्ययन का प्रथम प्रयास सच्चर समिति के गठन को ही माना जाएगा क्योंकि इससे पूर्व की समितियों को मुस्लिम समुदाय के साथ-साथ अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्ग की स्थितियों के अध्ययन का भार भी सौंपा गया था।

सच्चर समिति का गठन

9 मार्च, 2005 को प्रधानमंत्री कार्यालय से एक अधिसूचना जारी करके देश में मुस्लिमों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक स्थिति की समीक्षा के लिए दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति राजेन्द्र सच्चर की अध्यक्षता में एक उच्च स्तरीय समिति का गठन किया गया। समिति के अन्य सदस्य इस प्रकार है :

- श्री सैय्यद हमीद - सदस्य
- श्री एम.ए. बशीथ - सदस्य
- डॉ. टी.के. ओम्मन - सदस्य
- डॉ. राकेश बसंत - सदस्य
- डॉ. अबू सलेह शरीफ - सदस्य

इस समिति को भारत के मुस्लिम समुदाय की सामाजिक आर्थिक व शैक्षिक स्थिति पर रिपोर्ट प्रस्तुत करने का दायित्व सौंपा गया था। समिति को रिपोर्ट पेश करने के लिए 15 माह का समय दिया गया, जिसे

बाद में बढ़ाकर 31 अक्टूबर, 2006 तक कर दिया गया।

अधिसूचना में कहा गया था कि मुस्लिम समुदाय के पिछड़ेपन को दूर करने हेतु नीति निर्धारण के लिए इनकी सामाजिक, आर्थिक व शैक्षिक स्थिति से संबंधित विश्वसनीय आंकड़ों का अभाव है। अतः समिति केन्द्र व राज्य सरकारों के विभागों से आंकड़ों को एकत्र कर उनका इस प्रकार विश्लेषण प्रस्तुत करे कि सरकारी हस्तक्षेप के लिए क्षेत्रों की पहचान सुनिश्चित की जा सके।

सच्चर समिति ने 17 नवम्बर, 2006 को 425 पृष्ठ की अपनी विस्तृत रिपोर्ट प्रधानमंत्री को सौंप दी, जिसे 30 नवम्बर, 2006 को संसदीय कार्यमंत्री श्री प्रियरंजन दांस मुंशी ने राज्य सभा में प्रस्तुत किया। समिति द्वारा राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) के 61वें चरण 2004-05 के आंकड़ों का प्रयोग किया गया है।

"सच्चर समिति" द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन की प्रमुख बातें :

"सच्चर समिति" ने स्वयं को सौंपे गये दायित्वों के अनुरूप वृहद संदर्भों में विस्तृत बिन्दुओं को समेटते हुए मुस्लिम समुदाय की स्थिति पर अपनी रिपोर्ट को प्रस्तुत किया है। 425 पृष्ठीय यह प्रतिवेदन 12 अध्यायों में विभक्त हैं। इसके लिए प्रभावशाली मुस्लिम बहुल जनसंख्या वाले 13 राज्यों आंकड़े एकत्र किये गये हैं।

प्रतिवेदन के 12 अध्याय

1. संदर्भ उपागम व विधियाँ (ContextApproaches and Methodology)
2. समिति द्वारा विभिन्न राज्यों में बैठकों, कार्यशालाओं द्वारा एकत्रित व प्रतिनिधि गण्डलों द्वारा प्राप्त गुणात्मक सूचनाओं का विश्लेषण व संक्षेपीकरण।
3. मुस्लिम समुदाय की जनसंख्या का आकार एवं वितरण।
4. मुस्लिमों की शैक्षिक स्थिति का मदरसों की भूमिका के संदर्भ में विश्लेषण।
5. मुस्लिम समुदाय के रोजगार के स्वरूप व ढांचे का विश्लेषण।
6. मुस्लिम समुदाय तक सामाजिक व भौतिक आधारभूत सुविधाओं/संरचना (Infrastructure) की पहुंच का विश्लेषण।
7. मुस्लिम समुदाय तक बैंकिंग सेवाओं व साख/क्रेडिट की उपलब्धता तथा मुस्लिम आर्थिक विकास के संदर्भ में साख संस्थाओं (Credit Institutions) की कार्यप्रणाली का विश्लेषण व समीक्षा।
8. मुस्लिम समुदाय की निर्धनता, उपभोग व जीवन स्तर का विश्लेषण।
9. सरकारी नौकरियों/रोजगार में मुस्लिमों की भागीदारी का मूल्यांकन व विशिष्ट रूप से मुस्लिम समुदाय के उत्थान हेतु जन कार्यक्रमों की क्षमता का विश्लेषण।
10. मुस्लिम समुदाय के अंतर्गत उपस्थित अन्य पिछड़े वर्गों (O.B.C.) का विश्लेषण।
11. समितियों की उपयोगिता/प्रासंगिकता का विश्लेषण।
12. कुछ नीति-निर्देशन (Policy Perspection) व सुझाव।

मुस्लिम जनसंख्या का वितरण

अधिसंख्य मुस्लिम जनसंख्या भारत के 4 प्रदेशों उ.प्र., बिहार, पश्चिमी बंगाल एवं महाराष्ट्र में निवास करती है। इनमें से प्रत्येक में 1 करोड़ से अधिक मुस्लिम जनसंख्या है। उत्तर प्रदेश सर्वाधिक मुस्लिम

जनसंख्या वाला प्रदेश है, जहां की कुल जनसंख्या के 22% (3 करोड़) मुस्लिम हैं। अन्य मुस्लिम बहुलता वाले राज्य है-केरल, आंध्रप्रदेश, असम, जम्मूकश्मीर एवं कर्नाटक। इन राज्यों में 50 लाख से 1 करोड़ तक मुस्लिम जनसंख्या निवास करती है। गुजरात, मध्य प्रदेश, झारखण्ड व तमिलनाडु 30 लाख से 50 लाख तक की मुस्लिम जनसंख्या वाले राज्य हैं। दिल्ली एवं हरियाणा में भी 10 से 20 लाख मुस्लिम जनसंख्या है।

भारत के कुल 593 जिलों में मुस्लिम जनसंख्या वाले जिले इस प्रकार हैं

- 9 जिले-75% से अधिक मुस्लिम आबादी (लक्ष्यद्वीप एवं जम्मू कश्मीर के 8 जिले)
- 11 जिले-50 से 75% मुस्लिम आबादी (असम के 6 जिले, जम्मू कश्मीर के 2 जिले, पश्चिम बंगाल, बिहार एवं केरल के 1-1)
- 38 जिले-25% से 50% मुस्लिम आबादी।
- 182 जिले-10% से 25% मुस्लिम आबादी।
- 240 जिले-10% से कम मुस्लिम आबादी।

प्रमुख निष्कर्ष :

सच्चर समिति ने अपनी रिपोर्ट में मोटे तौर पर यह निष्कर्ष दिया है कि मुस्लिम समुदाय की स्थिति अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति से कुछ ऊपर तथा हिन्दू अन्य पिछड़ा वर्ग, अन्य अल्पसंख्यक एवं हिन्दू सामान्य वर्ग से लगभग सभी सूचकों में पीछे है।

विभिन्न विकास सूचकों में मुस्लिम समुदाय की स्थिति के संबंध में समिति के निष्कर्ष इस प्रकार हैं-

रोजगार

बहुलतावादी समाज में सभी समुदायों का उचित प्रतिनिधित्व सरकारी क्षेत्र के रोजगार में होना चाहिए। समिति के अनुसार आजादी के 60 वर्षों के बाद भी सबसे बड़े अल्पसंख्यक समुदाय की प्रशासन में पर्याप्त भागीदारी सुनिश्चित नहीं हुई है। भारत में मुस्लिम समुदाय की आबादी कुल आबादी का 13.4% है किन्तु सरकारी नौकरियों में उसका प्रतिशत महज 4.9% है। विभिन्न विभागों एवं विभिन्न राज्यों के सरकारी क्षेत्र में मुस्लिम समुदाय का प्रतिशत निम्नलिखित है:-

भारतीय प्रशासनिक सेवा में मुस्लिमों का प्रतिशत केवल 3 प्रतिशत तथा 1.8 प्रतिशत आई.एफ. एस. व आई.पी.एस. में 4 प्रतिशत है।

सरकारी नौकरियों में मुस्लिम

विभाग	समस्त कर्मचारी संख्या	मुस्लिम कर्मचारी संख्या	मुस्लिम कर्म. प्रतिशत
राज्य स्तरीय विभाग	4452851	278385	6.3
रेलवे	1416747	64066	4.5
बैंक व RBI	680833	15030	2.2
सुरक्षा संस्थाएं व बल	1879134	60517	3.2
डाक सेवाएं	275841	13759	5.0
विश्वविद्यालय	137263	6416	4.7
समस्त सूचित सरकारी नौकरियाँ	8844669	438173	4.9

राज्यवार सरकारी नौकरियों में मुस्लिमों की स्थिति

राज्य	कुल कर्मचारी संख्या	कुल जनसंख्या में मुस्लिम प्रतिशत	सरकारी नौकरी में प्रतिशत
पश्चिम बंगाल	134972	25	4.71.8
उत्तर प्रदेश	134053	18.5	7.54.9
बिहार	78114	16.5	7.27.6
असम	31261	30.9	10.211.4
झारखण्ड	15374	13.8	3.87.2
दिल्ली	135877	11.4	2.13.3
महाराष्ट्र	915645	10.6	3.14.5
केरल	268733	24.7	10.410.3
कर्नाटक	528401	12.2	4.58.9
तमिलनाडु	529597	5.6	4.22.9
गुजरात	754533	9.1	3.45.5
कुल राज्य	4452851	16.0	5.75.6

- रोजगार में मुस्लिमों के कम प्रतिनिधित्व का कारण विभिन्न सामाजिक स्तरों में मुस्लिम समुदाय की कम भागीदारी है।
- देश में 88 लाख से अधिक सरकारी नौकरियों में मुसलमान केवल 4.9 है। यह इस बात को दर्शाता है कि 15 करोड़ की आबादी वाले इस समुदाय की स्थिति वास्तव में अच्छी नहीं हैं।
- समिति के अनुसार सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की नौकरियों में मुस्लिम समुदाय का प्रतिनिधित्व अन्य समुदायों की तुलना में कम है।
- विभिन्न राज्यों एवं क्षेत्रों में मुस्लिमों की स्थिति में काफी चिन्ता इस रिपोर्ट में स्वीकार की गयी है। रिपोर्ट के अनुसार 15.4 प्रतिशत जनसंख्या वाले राज्यों में केवल 5.7 प्रतिशत मुस्लिम ही उच्च पदों पर हैं जबकि 12 गनी मुस्लिम आबादी वाले राज्यों में न्यायपालिका में इनकी संख्या 7.8 प्रतिशत है। आन्ध्र प्रदेश में जहां मुस्लिम जनसंख्या 12.4 प्रतिशत है, वहां न्यायपालिका में मुस्लिम जनसंख्या 9.2 प्रतिशत बताई गई है, जबकि पश्चिम बंगाल व असम में जहां मुस्लिम जनसंख्या क्रमशः 25.2 प्रतिशत व 30.9 प्रतिशत है, न्यायपालिका में मुस्लिम प्रतिनिधित्व क्रमशः 5 व 9.4 प्रतिशत बताया गया है।
- प्रतियोगी परीक्षाओं द्वारा सीधे सरकारी नौकरियों में भर्ती में मुस्लिमों का प्रतिशत काफी कम क्रमशः 2.4 प्रतिशत, 1.9 प्रतिशत व 2.3 प्रतिशत है।
- अधिकांश उच्च पदस्थ मुस्लिम की उच्च पदों पर सीधी भर्ती नहीं हुई है बल्कि उनका "प्रमोशन" किया गया है।
- किन्तु समिति ने इसका कोई प्रमाण नहीं पाया है कि प्रतियोगी परीक्षाओं में मुस्लिमों के साथ कोई भी भेदभाव किया गया है।
- समिति ने भारतीय वायु सेना व नौसेना में मुस्लिमों की संख्या से संबंधित आंकड़े भी एकत्रित किए किन्तु रक्षा मंत्रालय के विशेष अनुरोध पर इन्हें रिपोर्ट में शामिल नहीं किया गया है।

बैंकिंग सेवा व ऋण सुविधा

- समिति के अनुसार स्वरोजगार के लिए मुस्लिमों के लिए बैंक ऋण उपलब्धि अन्य समुदायों की तुलना में काफी कम है।
- मुस्लिमों के बैंक खातों की संख्या व उनमें जमा राशि भी काफी कम है।

कृषि व जमीन पर मालिकाना हक

- जमीनों पर मालिकाना हक में भी मुस्लिमों को हिन्दुओं के अन्य पिछड़े वर्गों से समिति ने पीछे बताया है।
- देश में कृषि में कार्यरत लोगों में 4.3 प्रतिशत भूमिहीन है जबकि मुस्लिमों में 60.2 प्रतिशत भूमिहीन है।
- मुस्लिम कृषकों में 97.9 प्रतिशत के पास ट्रैक्टर नहीं है।

गरीबी

- समिति की रिपोर्ट के विश्लेषण के अनुसार मुस्लिम समुदाय में गरीबी का उच्च स्तर है।
- समुदाय में गरीबी का एच.सी.आर 31 प्रतिशत है यह प्रतिशत मात्र अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति (35 प्रतिशत) से कम है।
- शहरी मुस्लिमों में गरीबी का स्तर और अधिक चिंतनीय है। यहां मुस्लिमों का एच.सी.आर. 38.4 प्रतिशत है, जो कि शहरी अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति (36.45 प्रतिशत) से भी अधिक है।
- शहरी क्षेत्रों में जहां 20 प्रतिशत जनसंख्या निर्धनता रेखा से नीचे है, मुस्लिमों में यह अनुपात 40 प्रतिशत है, जैसा कि रिपोर्ट में बताया गया है।
- देश में सर्वाधिक 13.8 करोड़ जनसंख्या वाला अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय विभिन्न सामाजिक आर्थिक मानकों की दृष्टि से अन्य समुदायों की तुलना में काफी पिछड़ा हुआ है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे मुस्लिमों में 94.9 प्रतिशत निर्धनता रेखा से नीचे हैं, किन्तु सब्सिडी प्राप्त खाद्यानों तक उनकी पहुंच नहीं है।

  इन सभी समस्याओं के मूल में मुस्लिम समुदाय की आधारभूत संरचना/सुविधा (Basic Infrastructure) तक पहुंच का अभाव है।

आधारभूत संरचना

- रिपोर्ट में इससे संबंधित आंकड़ों के लिए जनगणना, 2001 तक "राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (NSSO)" के 61वें चक्र की गणना का उपयोग किया गया है।
- रिपोर्ट के अनुसार व्यवस्थित मकानों में रहने वाली मुस्लिम जनसंख्या का प्रतिशत देश की कुल जनसंख्या के ऐसे ही प्रतिशत से कम है।
- मुस्लिम समुदाय वाले क्षेत्रों में कम विद्युत का उपयोग किया जा रहा है।
- नल द्वारा जल उपभोग स्तर भी मुस्लिम समुदायों में अपेक्षाकृत कम है।
- रिपोर्ट में साफ बताया गया है कि मुस्लिम बहुल छोटे गांवों व शिक्षा की आधारभूत संरचना में विपरीत संबंध दिखता है।
- मुस्लिम बहुल छोटे गांवों के 82 प्रतिशत मुस्लिमों में से 10 प्रतिशत से भी कम मुस्लिमों को शिक्षा संस्थाएं उपलब्ध हैं।
- बड़े गाँवों में मुस्लिम जनसंख्या की वृद्धि क्रम में चिकित्सकीय सेवाओं का घटता हुआ स्तर साफ दिखाई देता है।

- डाक सेवाओं का क्रम भी ऐसे गांवों में कम होता हुआ दिखाई दिया, जहाँ पर मुस्लिम जनसंख्या में क्रमशः वृद्धि होती दिखी।
- रिपोर्ट में यह स्पष्ट रूप से बताया गया है कि मुस्लिम बहुल गांवों में पक्के सड़क व स्थानीय बस स्टॉपेज की सुविधा कम है और जहां है भी, वह भी अच्छी नहीं है।
- भारत के कुल मुस्लिम घरों के लगभग आधे घरों में शौचालय नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में यह स्थिति और भी दयनीय है किन्तु फिर भी मुस्लिमों की स्थिति अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पिछड़े वर्गों की तुलना में बेहतर है।
- अन्य समुदायों की तुलना में मुस्लिमों के पक्के घरों में रहने की संख्या काफी कम है किन्तु फिर भी मुस्लिमों की स्थिति एस.सी/एस.टी. व ओ. बी.सी. से बेहतर है।
- मुस्लिम व अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति बड़ी संख्या में ऐसे गांवों में रहते है, जो कि कम विद्युतीकरण की श्रेणी में आते है।
- जनगणना-2001 भी यह इंगित करता है कि प्रकाश हेतु विद्युत के उपयोग में भारत के अन्य समुदायों की औसत संख्या की तुलना में मुस्लिमों की संख्या काफी कम है।
- शहरी क्षेत्रों में टोंटी के पानी का उपयोग कुल शहरी मुस्लिम जनसंख्या का 60-70 प्रतिशत भाग व ग्रामीण क्षेत्रों में कुल मुस्लिम आबादी का एक चौथाई भाग प्रयोग करता है।
- ग्रामीण क्षेत्रों में मुस्लिमों की पानी तक पहुंच अन्य सामाजिक धार्मिक समुदायों की तुलना में कम है।
- ईंधन प्रयोग के संदर्भ में मुस्लिमों व अनुसूचित जाति/ अनुसूचित जनजाति को परम्परागत ईंधन पर ही निर्भर रहना पड़ता है, जो कि अत्यंत हानिकारक होते हैं।
- कुल मिलाकर मुस्लिम बहुल गांवों/क्षेत्रों में भौतिक व सामाजिक आधारभूत सुविधाओं की नितांत कमी है।
- समस्त मुस्लिम बहुल गांवों में से लगभग एक तिहाई गांवों में शिक्षण संस्थाओं का सर्वथा अभाव है।

शिक्षा

- मुस्लिम समुदाय की साक्षरता दर 59.1 प्रतिशत है, जबकि साक्षरता का राष्ट्रीय औसत 64.8 प्रतिशत है।
- मुस्लिम समुदाय की जनसंख्या के केवल 3.4 प्रतिशत स्नातक हैं, जबकि हिन्दू सामान्य वर्ग में यह 15.3 प्रतिशत, अन्य पिछड़ा वर्ग में 4.4 प्रतिशत, अनसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति में 2.2 प्रतिशत तथा अन्य समुदायों में 8.9 प्रतिशत है।
- शहरी मुस्लिम लड़कों के केवल 80 प्रतिशत स्कूलों के नामांकित है जबकि अनुसूचित जाति के मामले में यह प्रतिशत 90 तथा अन्य के मामले में 95 प्रतिशत है।
- मुस्लिम समुदाय की मात्र 68 प्रतिशत लड़कियां स्कूल जाती हैं जबकि दलित समुदाय की 72 प्रतिशत जाती हैं।
- इस रिपोर्ट से यह मिथक भी टूटा है कि मुस्लिम समुदाय अपने बच्चों को मदरसों में शिक्षा दिलाने को प्राथमिकता देते हैं। एकत्र आंकड़ों के अनुसार पूरे देश में मात्र 3-4 प्रतिशत मुस्लिम बच्चे मदरसों में शिक्षा ग्रहण करते हैं।
- अपनी रिपोर्ट में समिति ने यह स्वीकार किया है कि शिक्षा तक मुस्लिम समुदाय की पहुंच अन्य समुदायों की अपेक्षाकृत कम है।

- ग्रामीण मुस्लिमों में 54.6 प्रतिशत तथा शहरी मुस्लिमों में 60 प्रतिशत ने कभी किसी स्कूल में प्रवेश नहीं लिया। राष्ट्रीय स्तर पर यह औसत ग्रामीण क्षेत्रों में 40.8 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रो में 19.9 प्रतिशत है।
- ग्रामीण मुस्लिमों में 0.8 प्रतिशत तथा शहरी मुस्लिमों में 3.1 प्रतिशत ही स्नातक की उपाधि प्राप्त हैं। शहरी क्षेत्रों में मुस्लिमों में 1.2 प्रतिशत ही स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त है।
- 83 प्रतिशत मुस्लिम कक्षा 10 तक नहीं पहुंच पाते है।
- शिक्षा में मुस्लिम लड़कियों के साथ काफी भेदभाव किया जाता है। इसका साक्ष्य यह है कि केवल एक तिहाई लड़कियां चौथी कक्षा तक पहुंच पाती है जबकि आधे भाग लड़के चौथी कक्षा तक पहुंचते हैं। कुछ समय के बाद ये लड़कियां भी घर बैठ जाती है और इन एक तिहाई लड़कियों में से केवल 5 प्रतिशत लड़कियां ही कक्षा 12 तक पहुंच पाती है।
- नगरीय क्षेत्रों की मुस्लिम लड़कियों की मैट्रिक तक शिक्षा पूरी करने की दर काफी तेजी से बढ़ा है (12% से 33%) जबकि मुस्लिम लड़को का इस संदर्भ में दर 30-35 प्रतिशत तक ही है पिछले 20 वर्षों में।
- मुस्लिम परिवारों के अभिभावकों में यह एक सामान्य विश्वास है कि शिक्षा का लड़कियों के लिए कोई महत्व नहीं है, जो कि एक गलत मूल्य की स्थापना करता है। ऐसे में विद्यालय में लड़कियों के पंजीकरण के बावजूद अभिभावक उन्हें स्कूल से वापस निकाल लेते हैं और कम आयु में ही उनका विवाह कर देते हैं। इसी कारण मुस्लिम लड़कियों के स्कूल छोड़ने की दर काफी अधिक है।
- समिति ने यह उल्लेख किया है कि मुस्लिम लड़कियों के स्कूल छोड़ने की इस अधिक दर के पीछे लड़कियों की आसानी से पहुंच वाले विद्यालय की अनुपलब्धता, छात्रावास की अनुपलब्धता, महिला अध्यापकों व छात्रवृत्तियों का अभाव होना है जो कि वास्तव में शिक्षा के महत्वपूर्ण पायदान है।
- शिक्षा के संदर्भ में मुस्लिम व अन्य तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा में मुस्लिम प्रभाव मुस्लिम समुदाय के आर्थिक सशक्तीकरण व अन्ततः देश के आर्थिक विकास में पड़ता है।
- भारत में मुस्लिमों में शिक्षा की पिछड़ी स्थिति का एक प्रमुख कारण उर्दू भाषा माध्यम में शिक्षा की उपलब्धता का अभाव है।
- देश के अधिकांश राज्यों में उर्दू भाषा माध्यम के विद्यालयों की संख्या अत्यन्त कम है और साथ ही उर्दू माध्यम के विद्यार्थियों की क्षमता व प्रदर्शन भी अत्यंत दयनीय है।
- आनुपातिक दृष्टि से बड़े अनुपात में मुस्लिम लड़कियां उर्दू माध्यम के विद्यालयों में भेजी जाती हैं जबकि लड़के अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में भेजे जाते है।
- मुस्लिम व अन्य बच्चे अधिकांशतः सस्ते सरकारी या सरकारी सहायता प्राप्त विद्यालयों में पढ़ते हैं। कुल बच्चों में से लगभग एक तिहाई भाग बच्चे ही निजी विद्यालयों में पढ़ते है।
- ऐसा विश्वास किया जाता है कि मुस्लिम बच्चों का एक बड़ा भाग मदरसों में शिक्षा प्राप्त करता है। किन्तु पर्याप्त आंकड़ों व साक्ष्यों के अभाववश रिपोर्ट में यह बताया गया है कि मुस्लिम अभिभावक धार्मिक शिक्षा के संदर्भ में मदरसों पर निर्भर तो अवश्य हैं किन्तु ऐसे तबके का एक बहुत ही छोटा भाग मात्र 4 प्रतिशत बच्चे ही

मदरसों में शामिल होते हैं।

- भारत के प्रतिष्ठित भारतीय प्रबंध संस्थानों के समस्त पाठ्यक्रमों में मात्र 1.3 प्रतिशत मुस्लिम विद्यार्थी पढ़ते हैं। भारतीय तकनीकी संस्थानों के स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों में मुस्लिमों का प्रतिशत लगभग 4 प्रतिशत जबकि स्नातक से नीचे के पुरिलमों विद्यार्थियों का 1.7 प्रतिशत है।
- देश के उच्च/प्रतिष्ठित मेडिकल कॉलेजों में मुस्लिमों का पंजीकरण 4 प्रतिशत है।
- भारत के समस्त मुरिलमों में से लगभग 43 प्रतिशत मुस्लिम प्राथमिक शिक्षा (कक्षा 4) तथा 25 प्रतिशत मिडिल स्कूल (कक्षा 7), 17 प्रतिशत मैट्रिक (कक्षा 10) व 8 प्रतिशत से भी कम इंटर (कक्षा 12) की शिक्षा पूरी कर पाते हैं।
- इसका अर्थ है कि कुल भारतीय मुस्लिमों में से लगभग 57 प्रतिशत ने कक्षा 4 तक भी पढ़ाई नहीं की है और उन्हें निरक्षर की श्रेणी में माना जा सकता है।

राजनीति में मुस्लिम:-

- समिति के निष्कर्षों के अनुसार मुस्लिम समुदाय में विकास न्यूनता की सगरया मुस्लिमों के बीच इस धारणा से और कटु हो जाती है कि उनसे विभेद किया जाता है और अनेक सुविधाओं से उन्हें जानबूझकर बहिष्कृत किया जाता है।

साक्षरता का स्तर

आयु समूह द्वारा जनसंख्या के अनुपात में साक्षरों का विवरण

आयु समूह अल्पसंख्यक		हिन्दू		मुस्लिम	अन्य
	सामान्य	अ.पि.व.	अ.जा./अ.ज.जा.		
6-13 वर्ष	90.2	80.8	74.7	74.6	88.5
14-15 वर्ष	95.7	87.5	80.0	79.5	91.9
16-17 वर्ष	95.0	85.2	78.6	75.5	91.3
18-22 वर्ष	91.4	76.9	65.0	70.5	85.8
23 वर्ष व उससे अधिक	74.0	50.6	36.5	46.1	67.0
कुल	80.5	63.4	52.7	59.9	75.2

ग्रेजुएट विवरण

आयु समूह द्वारा जनसंख्या के अनुपात में स्नातकों का विवरण 2004-05 के आंकड़ों के अनुसार

आयु समूह अल्पसंख्यक		हिन्दू		मुस्लिम	अन्य
	सामान्य	अ.पि.व.	अ.जा./अ.ज.जा.		
20-30 वर्ष	18.6	6.5	3.3	4.5	11.6
30-40 वर्ष	16.8	4.6	2.3	3.3	9.2
40-50 वर्ष	14.6	3.2	1.5	2.6	8.1
51 वर्ष व उससे अधिक	9.8	1.9	0.9	2.1	5.7
कुल	15.3	4.4	2.2	3.4	8.9

प्रावधानों के अनुरूप ऐसे लोगों को अ0जा0 के दर्जे से वंचित रखा गया है, जो अन्य धर्मों में अंतरण कर चुके है। इस आदेश में दो बार संशोधन किया गया है। एक बार 1956 में सिखों के कुछ वर्गों को तथा दर्जा देने हेतु संशोधन किया गया है। इस्लाम तथा ईसाई धर्म में परिवर्तन अ0जा0 को इस सुविधा से वंचित रखा गया है। आलोचकों का मानना है कि 1950 का आदेश संविधान के अनुच्छेद 14,15,16 एवं 25 की मूल भावना का उल्लंघन करता है। ये अनुच्छेद नागरिकों को अवसर की समानता सुनिश्चित करते है तथा धर्म, जाति या मत के आधार पर राज्य के विभेद से नागरिकों को संरक्षा प्रधान करते है। समिति ने अरजल मुस्लिमों के लिए आरक्षण तथा उन्हें शेष अन्य वर्गों से अलग रखने की सिफारिश की है। दूसरे शब्दों में समिति ने अरजल को अति पिछड़ा समुदाय घोषित करते हुए आरक्षण देने का सुझाव मात्र दिया है।

<u>सच्चर समिति की प्रमुख सिफारिशें</u>

- वंचित अल्पसंख्यक वर्गों के मामले पर विचार हेतु समान अवसर आयोग का गठन किया जाए।
- विभिन्न सामाजिक धार्मिक वर्गों से संबंधित राष्ट्रीय आंकड़ा कोष निर्मित किया जाए।
- अरजल मुस्लिमों को अ.जा. या सर्वाधिक पिछड़ा वर्ग में शामिल किया जाए तथा उनके स्तर संवर्द्धन हेतु सकारात्मक कदम उठाए जाएँ।
- सार्वजनिक संस्थाओं में अल्पसंख्यकों की अधिक सहभागिता सुनिश्चित करने हेतु नामांकन प्रक्रिया का निर्धारण किया जाए।
- रोजगार में मुस्लिम समुदाय का हिस्सा बढ़ाने हेतु कदम उठाए जाएँ।
- विभेद की शिकायतों को निपटाने हेतु कानूनी व्यवस्था उपलब्ध कराई जाए।
- एक ऐसी परिसीमन प्रक्रिया स्थापित की जाए जिसमें उच्च अल्पसंख्यक जनसंख्या वाले संसदीय क्षेत्रों को अ.जा./अ.जजा. के लिए आरक्षित करने से रोक हो।
- समुचित सामाजिक मूल्यों के लिए पाठ्यपुस्तकों की रचना की प्रक्रिया प्रारम्भ कर धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहित किए जाएँ।
- एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया जाए और वित्तीय आवंटन विभिन्न समुदायों की छात्र जनसंख्या पर आधारित हो।
- विश्वविद्यालयों में अत्यधिक पिछड़े सामाजिक धार्मिक समूह के छात्रों के प्रवेश को सुगम बनाने हेतु गुणदण्ड तय किय जाए।
- गुरिल्ला सघनता वाले क्षेत्रों में वित्तीय एवं अन्य सहयोग प्रदान किया जाए।
- मदरसा विद्यालयों को हायर सेकेण्डरी स्कूलों (उच्च माध्यमिक शिक्षा बोर्ड) से संयुक्त जोड़ने की व्यवस्था की जाए तथा मदरसा डिग्री को रक्षा, नागरिक एवं बैंकिंग तथा अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं हेतु गान्यता प्रदान की जाए।
- 500 करोड़ रू. के आवंटी संग्रह कोष से राष्ट्रीय वक्फ विकास निगम का गठन किया जाए।
- मुसलमानों में विश्वास बहाली के लिए उनकी बहुलता वाले इलाकों में व्यय कम से कम एक मुस्लिम इंस्पेक्टर या सब इंसपेक्टर तैनात करने की सिफारिश समिति ने की है।
- समिति ने कहा है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में संख्या बल के महत्व को देखते हुए अल्पसंख्यकों को कारगर राजनीतिक महत्व नहीं मिला है। अतः ऐसी कोई व्यवस्था की जाए

जिससे विभिन्न स्तरों पर उनकी भागीदारी बढ़े।

- निर्वाचन क्षेत्र को आरक्षित करने से जुड़ी विसंगतियाँ दूर करने के लिए समिति ने कहा है कि उन चुनाव क्षेत्रों को अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित नहीं किया जाए जहां मुस्लिम आबादी की बहुलता है। संसद व विधान सभाओं में मुसलमानों की भागीदारी बढ़ाने के लिए और भी तरीके अपनाएं जाएं।
- समिति ने निर्यागित वाणिज्यिक बैंकों में अल्पसंख्यकों और खासतौर से मुसलमानों की हिस्सेदारी बढ़ाने के लिए नीतिगत पहल की जरूरत बतायी है।
- उर्दू भाषी आबादी की बहुलता वाले राज्यों में रागी सरकारी और गैरसरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में उर्दू को वैकल्पिक भाषा बनाने की सिफारिश समिति ने की है।
- मुस्लिमों को आरक्षण उपलब्ध कराने के लिए समिति ने अपनी इस रिपोर्ट में यद्यपि कुछ नहीं कहा है किन्तु शैक्षणिक एंव आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए समुचित कार्यक्रमों के निर्धारण की अपेक्षा समिति ने सरकार से की है। आरक्षण प्रदान करना या न करना सरकार की सोच का विषय है। दूसरे शब्दों में मुस्लिमों को शिक्षा व नौकरी के क्षेत्र में आरक्षण उपलब्ध कराने या न कराने का निर्णय समिति ने केन्द्र सरकार पर छोड़ दिया है।
- समिति ने मुस्लिमों को दिए जाने वाले लाभों के आंकलन के लिए स्वायत्त आंकलन एवं निगरानी प्राधिकरण के गठन की संस्तुति की है।
- मुस्लिम बहुल इलाकों में आधारभूत ढाचों के विकास के लिए और अधिक वित्तीय सहायता दी जाए।
- सरकारी व प्राइवेट क्षेत्र की नौकरियों में मुस्लिमों के प्रतिनिधित्व स्तर में सुधार हेतु उपाय किये जाएँ।
- सरकारी क्षेत्र में 4.9 प्रतिशत तथा सुरक्षा एजेंसियों में 3.2 प्रतिशत की मुस्लिमों की असंतोषजनक हिस्सेदारी को समाप्त करने हेतु प्रयास किया जाए।
- विभिन्न समूहों, बोर्डों में मुस्लिम समुदाय के विशेषज्ञों को भी शामिल किया जाए।

- उपवन शोध टीम

आर्थिक विकास में महिलाओं की भागीदारी

- हेमलता मासीवाल उप्रेती

प्रत्येक क्षण मानव जीवन की अमूल्य निधि है, जीवन को सुखद बनाने में इन क्षणों का अत्यधिक महत्व है।

पुआर रिचर्ड के अनुसार "यदि तुम जीवन से प्रेम करते हो तो समय व्यर्थ ही नष्ट मत करो, क्योंकि समय ही वह वस्तु है जिससे जीवन का निर्माण हुआ है।"

समय का सदुपयोग व्यक्ति को महानता प्रदान करता है, यह व्यक्ति विशेष की रुचि, आदत तथा परिवार के वातावरण पर निर्भर करता है, कि वह समय के महत्व को समझे और उसका उचित उपयोग करें ताकि व्यक्तिगत एवं पारिवारिक लक्ष्यों की प्रगति हो सके।

आर्थिक विकास क्या है ? आर्थिक विकास के अभिप्राय को लेकर दो मुख्य धारणाएं देखने को मिलती हैं, इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आर्थिक विकास की परम्परागत धारणा प्रचलित थी, जिसमें आर्थिक विकास के केवल मात्रात्मक पहलू पर बल दिया गया था और राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि तक ही इसे सीमित रखा गया था कि राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि होने पर गरीबी, बेरोजगारी व आर्थिक असमानताओं की अर्थव्यवस्था में उपस्थिति हो जाती है।

आर्थिक विकास की रणनीति में सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए यह आवश्यक माना जाने लगा है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि का लाभ समाज के कुछ हाथों में केन्द्रित न होकर समाज के सभी छोटे-छोटे वर्ग के लोगों व महिलाओं तक विकेन्द्रीकृत किया जाना चाहिए।

आधुनिक युग में कामकाजी महिलाएं :

कुछ वर्षों मे महिलाओं की जीवन शैली में महत्त्वपूर्ण बदलाव देखने को मिला है, जिनसे उनके व्यवहार, मूल्य, संवेदनाओं तथा प्रेरणा शक्ति ही प्रभावित नहीं हुई, महिलाओं को परम्परागत रुढ़िवादी भूमिका से काफी हद तक मुक्ति मिल गई हैं। इस प्रक्रिया में विभिन्न कानूनी प्रावधानों ने भी सकारात्मक भूमिका निभाई है, अब महिलाएं मात्र गृहिणी की ही भूमिका तक सिमटी नहीं हैं, बल्कि आधिपत्य, जवाबी और परिपक्व स्त्री के रूप में सहज देखी जा सकती है।

पिछले तीन दशकों में मध्य वर्ग की कामकाजी स्त्रियों की संख्या में जबर्दस्त इजाफा हुआ है, द्वितीय महायुद्ध के पूर्व और उसके कुछ समय बाद भी मध्य वर्ग और उच्च वर्ग की स्त्रियाँ ज्यादातर अपने घरों की चार दीवारी में ही सिमटी रहती थीं।

राष्ट्र के निर्माण में, आर्थिक विकास में उनका योगदान काफी महत्त्व रखता है, लेकिन राष्ट्र की आर्थिक प्रगति और विकास में भी स्त्रियों की भूमिका कुछ कम महत्त्व नहीं रखती: इस महान

और मजबूत स्त्री शक्ति की ओर उचित ध्यान देने की जरूरत है, जिससे कि खुद महिलाओं को ज्यादा से ज्यादा फायदा हो और साथ ही राष्ट्र के विकास और आर्थिक प्रगति के मामले में ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाया जा सके।

अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी को नकारा नहीं जा सकता। हमारे देश में प्राचीन काल से ही अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने में उनकी भूमिका सराहनीय रही है लेकिन पुरुषों ने स्वयं को महत्त्वपूर्ण बनाये रखने के लिए उनकी भूमिका को उचित महत्त्व नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि महिलाएं सामाजिक, आर्थिक दोनों ही दृष्टि से कमजोर रहीं, लेकिन आज अर्थ प्रधानयुग में पारिवारिक व राष्ट्रीय आय को मजबूत करने में उनकी भागीदारी को महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। पूरे संसार में महिलाओं की स्थिति में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महिलाएं बढ़-चढ़कर हिस्सा ले रही हैं, और सफल भी हो रही हैं। राजनीति, व्यवसाय, मीडिया, भारी उद्योग, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, अंतरिक्ष और वैज्ञानिक शोध के हर क्षेत्र में महिलाओं ने अपनी योग्यता, दक्षता साबित की हैं। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां महिलाओं की प्रभावी उपस्थिति न हो।

महिलाएं तेजी से विकास की ओर अग्रसर हैं, सच तो यह भी है लेकिन पूरा सच नहीं है, यह तो तस्वीर का एक उजला, छोटा सा हिस्सा भर है। तस्वीर का दूसरा रुख कहीं अधिक स्याह और कहीं अधिक विस्तृत है। केवल महानगरों और बड़े शहरों में ही महिलाएं हर व्यवसाय में उपस्थित हैं।

विकास एक निरंतर प्रक्रिया है, जो समय के साथ चलती रहती है। विकास के दो पक्ष हैं मानव (जनसंख्या) और संसाधन। यदि संसाधनों का उपयोग करके हम मानव जाति की आधारभूत जरुरतें पूरी कर सकें तो हम कह सकते हैं, कि हम विकास कर रहे हैं। कोई समाज तभी विकसित कहला सकता है जब उसकी सभी आवश्यकताएं पूरी हो जाती हैं।

दुनिया बहुत तेजी से बदल रही है और यह बदलाव कई दिशाओं में हो रहा है। पढ़-लिखकर विकास की दौड़ में आ खड़ी हुई महिलाएं अब हर घर की चार दीवारियों से निकलकर कामकाज की दुनिया में शामिल हो रही हैं। बदली हुई सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में महिलाओं को शिक्षा और रोजगार के अवसर आसानी से मिलने लगे हैं। जिसके कारण उन्हें अभिव्यक्ति की आजादी मिली है। समाज में उन्हें अर्जित प्रतिष्ठा पाने के साधन मिले हैं और मिली है जीवन को अपने तरीके से जीने की आजादी।

महिलाओं के आर्थिक विकास हेतु केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों द्वारा विभिन्न कार्यक्रम चलाए गए हैं एवं वर्तमान में भी चलाए जा रहे हैं। किसी भी समाज के विकास के लिए आवश्यक है कि विकास कार्यों में सबकी भागीदारी हो, निर्धनता उन्मूलन में निर्धनों की ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। निर्धनों के पास एक ही पूंजी होती है और वह है उनका श्रम। अतः आर्थिक स्तर के

उन्नयन के लिए आवश्यक है कि उचित जानकारी उपलब्ध कराकर महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित कर उनके श्रम एवं खाली समय का उपयोग किया जाए, इसका एक ही माध्यम है और वह है स्व सहायता समूह।

औद्योगिक प्रतिस्पर्धा और वैश्विक चुनौतियों के बीच स्पष्ट था कि सबके लिए रोजगार एक साथ संभव नहीं थे और न ही सबकी आर्थिक दशा को एक साथ सुधारा जा सकता था। इसलिए आर्थिक असमानता समाज में अस्थिरता का कारण बनी। लेकिन यही अस्थिरता महिलाओं के आर्थिक विकास में महत्त्वपूर्ण कदम रखे हुए हैं। जैसे-जैसे विदेशी कंपनियों का आवागमन हुआ शिक्षा का स्तर, रहन-सहन का स्तर आदि बदलता गया। इसी बदलते परिवेश का फायदा महिलाओं को भी प्राप्त हुआ और उन्होंने भी अलग-अलग रोजगारों में अपनी भागीदारी देना शुरू किया।

इसी भागीदारी की वजह से उनके परिवार का रहन-सहन स्तर, जीवन शैली आदि में सुधार आता गया। यही सुधार देश की राष्ट्रीय आय को भी मजबूत करता गया। क्योंकि पहले महिलाएं घरों तक सीमित थीं। परन्तु आज उनकी वजह से परिवार की आय दुगुनी होती जा रही है। यही दुगुनी कमाई हमारी राष्ट्रीय आय को बढ़ाती है।

आज महिलाएं हर क्षेत्र में आगे हैं, पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर खड़ी हैं। कोई भी ऐसा रोजगार नहीं है जहाँ महिला नहीं है चाहे वह शिक्षिका, इंजीनियर, डॉक्टर, पायलट तथा बड़ी-बड़ी कंपनियों में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष आदि पदों पर कार्यरत हैं।

यही भागीदारी आर्थिक विकास को मजबूत बनाती हैं।

भारत में रोजगार में महिलाओं की स्थिति की एक विडंबना यह है कि ग्रामीण क्षेत्र में महिलाएं जो घरेलू या खेती-बाड़ी, पशुपालन, ईंधन बटोरने तथा कुटीर उद्योग की गतिविधियों जैसे कार्य संभालती हैं, उनका आर्थिक मूल्यांकन नहीं होता है और उन्हें रोजगार की श्रेणी में नहीं रखा जाता। फिर भी संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में काम करने वाली महिलाओं की संख्या लगातार बढ़ रही हैं ।

संगठित क्षेत्र पर यदि नजर डालें तो 49.5 प्रतिशत लाख महिलाएं सार्वजनिक और निजी दोनों तरह के प्रतिष्ठानों में कार्यरत थीं। यह संख्या संगठित क्षेत्र में उपलब्ध कुल रोजगार का 18 प्रतिशत है, संगठित क्षेत्र के विभिन्न वर्गों में रोजगार का अध्ययन करने पर पता चलता है कि निर्माण, कृषि जैसे क्षेत्रों की तुलना में अधिक महिलाएं काम कर रही हैं। इन आंकड़ों के हिसाब से सामुदायिक, सामाजिक व वैयक्तिक सेवाओं में 56.5 प्रतिशत निर्माण क्षेत्र में 20.6 प्रतिशत कृषि और संबद्ध गतिविधियों में 9.4 प्रतिशत तथा वित्तीय बीमा सेवाओं में 5.2 प्रतिशत महिलाएं कार्यरत हैं।

इन आंकड़ों के मुताबिक रोजगार के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी की उत्साहजनक तस्वीर दिखाते नहीं हैं, लेकिन इन तथ्यों को अवश्य रेखांकित करते हैं।

अर्थव्यवस्था के नये क्षेत्र खुलने के साथ उनकी संख्या और बढ़ती रही। हमारे देश में कुछ

काम ऐसे हैं जो एक तरह से महिलाओं के लिए आरक्षित माने जाते हैं। मनोरंजन उद्योग, विज्ञापन, मीडिया और आधुनिक व्यवसायों के साथ-साथ नर्सिंग, शिक्षा, एयर होस्टेस, चिकित्सा, घरेलू नौकरी जैसे व्यवसायों में अधिक सफलता के साथ उनकी भागीदारी दिखाई देती है। आज परंपरागत कार्यों से कहीं आगे निकलकर वे उन व्यवसायों में भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर रही हैं, जिन्हें अब तक केवल पुरुषों का अधिकार क्षेत्र माना जाता था। सेना, पुलिस, व्यापार प्रबंधन, ड्राइविंग जैसे कठिन और अधिक समय व कठोर श्रम की मांग करने वाले व्यवसायों में भी महिलाएं खुलकर भाग लेने लगी हैं। महिलाएं सेवा क्षेत्र को अधिक अनुकूल और सरल सुलभ मानती हैं।

भारतीय उद्योगों के संघ फिक्की ने पिछले दिनों अर्थ क्षेत्र में महिलाओं के योगदान के बारे में एक सर्वेक्षण किया जिसकी रिपोर्ट में बताया गया कि आर्थिक -विकास में औरतों की भागीदारी लगातार बढ़ रही है। इस बढ़ोतरी का एक कारण यह सामने आया है कि बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों की वजह से सेवा क्षेत्र में रोजगार के ऐसे अवसर उभर रहे हैं जिनमें औरतें अधिक दक्षता के साथ काम कर रही हैं।

अंत में हमें यही कहना चाहिए कि महिलाओं के कार्य में शब्द का कोई अर्थ, परिभाषा व सीमा निर्धारित नहीं है। यद्यपि महिलायें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में 60-80 प्रतिशत तक योगदान करती हैं। लेकिन उनकी बहुत सारी क्रियाओं को सकल राष्ट्रीय उत्पादन में सम्मिलित नहीं किया जाता है। एक अनुमान के आधार पर महिलाओं की अवैतनिक श्रम की नकद वार्षिक कीमत लगभग 4 खरब डॉलर होती है, जो विश्व के सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक तिहाई भाग है, अर्थव्यवस्था में महिलाओं की आर्थिक क्रियाओं में संलग्नता विकास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

शहरीकरण के कारण धीरे-धीरे सामाजिक परिदृश्य बदल रहा है और इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों में भी अनुभव किया जा रहा है। समाज के सभी स्तरों पर महिलाएं भी कामों में भागीदार बन रही हैं। भविष्य में अधिक महिलाएं परंपरागत रूप में पुरुषों के प्रभुत्व में आने वाले क्षेत्रों में काम करने लगेंगीं।

सरकार ने उदारीकरण का लक्ष्य अपनाकर काफी सीमा तक सामाजिक परिवेश को बदल दिया है। ऐसा आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं की अधिक सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए किया गया है, इससे आय के साधन पैदा हुए हैं और समाज के सभी वर्गों की महिलाओं में आत्म संतुष्टि या परितोष का भाव विकसित हुआ है। निःसंदेह भविष्य में महिलाएं अपने बल पर अधिक बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठान स्थापित करने में सफल होंगी।

*****

भूमण्डलीकरण और महिला श्रमिक

- श्रीमती शोभा शर्मा

प्रस्तावना :

वर्तमान युग में होनेवाले परिवर्तनों का प्रभाव समाज की हर इकाई पर पड़ रहा है। इसी की एक देन भूमंडलीकरण भी रहा है। आज घर से बाहर निकलनेवाली महिलाओं ने एक राज्य से लेकर दूसरे राज्य में तथा एक देश से लेकर दूसरे देश तक अपनी छवि उभारी है। आज कार्य का कोई भी क्षेत्र हो उसमें महिला श्रमिकों की संख्या तथा सहभागिता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इसका एक कारण भूमंडलीकरण ही है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः तीन अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व राजनीतिक संगठनो द्वारा संचालित की जा रही है। ये संगठन हैं विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व व्यापार संगठन। इनकी नीतियों के परिणामस्वरूप उद्योग-धन्धों का प्रसार हुआ है जिसके साथ-साथ उत्पादन वृद्धि तथा सस्ते व प्रचुर मात्रा में श्रम की आवश्यकता हुई। जिससे महिला श्रम को प्रोत्साहन मिला। आज भूमंडलीकरण के युग में महिला श्रमिकों की स्थिति में परिवर्तन हुए हैं ये परिवर्तन महिला श्रमिकों के पक्ष और विपक्ष दोनों पहलुओं से संबंधित है।

भूमण्डलीकरण की महिला श्रमिकों के पक्ष में भूमिका :

आज महिला श्रमिकों के ऊपर भूमंडलीकरण के उचित प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता। भूमंडलीकरण के कारण आये इस परिवर्तन का परिणाम यह है कि महिला श्रमिक में नवीन व्यवसायिक दक्षता का विकास हुआ है और साथ ही विद्यमान योग्यता में नवीन परिवर्तन हुए हैं। आज महिलाएं घर नामक छोटी इकाई से लेकर राष्ट्र और विश्व जगत तक की वृहद इकाई के दायरे में अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ाकर पुरुषों से आगे निकलती प्रतीत हो रही हैं।

इस संदर्भ में यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि आर्थिक विकास और रोजगार की इस 'स्वर्णिम' प्रगति में देश की महिलाओं का क्या स्थान है ?

वैश्वीकरण की हवा चलने के बाद समूची दुनिया, विशेषकर अमेरिका, यूरोप और दक्षिण पूर्व एशिया में सकल रोजगार में महिलाओं का अनुपात तेजी से बढ़ा है। आज भागीदारी की दृष्टि से कृषि, पशुपालन व्यसाय, हथकरघा आदि क्षेत्रों में महिलाओं के योगदान के अनुपात में काफी हद तक वृद्धि हुई है। पिछले दशक में महिलाओं की क्रियाओं से संबंधित नये आयाम उभरकर सामने आये हैं। अब महिलाएं इलेक्ट्रॉनिक, टेली-कम्यूनिकेशन, उपभोक्ता उत्पादन, संगठित क्षेत्र के उद्योग, विधि, चिकित्सा सम्बंधी, प्रशासनिक तथा अन्य महत्त्वपूर्ण व्यवसायों में आगे आ रही हैं। महिलाओं के लिए कार्य शब्द का कोई अर्थ, परिभाषा व सीमा निर्धारित नहीं हैं।

भूमंडलीकरण के बाद से महिलाओं का योगदान धीरे-धीरे बढ़ रहा है। वह प्रत्येक क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। चाहे वह निजी क्षेत्र हो या सार्वजनिक क्षेत्र। संगठित क्षेत्र में महिलाओं का योगदान

2001 में बढ़कर 17.8 प्रतिशत हो गया है। प्रमुख उद्योगों में महिला कर्मचारियों के विश्लेषण से पता चलता है कि अधिकतर महिलाएं सामुदायिक, सामाजिक और निजी सेवा क्षेत्र में तो कार्यरत हैं ही अन्य क्षेत्रों में उनकी सहभागिता विस्तारित होती प्रतीत हो रही है।

भूमंडलीकरण का प्रमुख प्रभाव शिक्षा जगत पर दिखाई दे रहा है। आज विश्व की शिक्षा पद्धति में गुणात्मक और परिणात्मक परिवर्तन होने से शिक्षा के प्रसार के कारण भी रोजगार में महिलाओं की सहभागिता में बढ़ोतरी हो रही है। यह बात इस तथ्य से भी साबित होती है कि जिन-जिन राज्यों में साक्षरता की दर ऊँची है, वहाँ कामकाजी महिलाओं की संख्या अधिक है। निरक्षर होने के कारण पहले लड़कियां वहीं काम करना पसंद करती थीं जहाँ उन्हें केवल लड़कियों के बीच काम करना हो। परन्तु भूमंडलीकरण के कारण अब हालात बदल रहे हैं और वे पुरुषों के बीच भी निःसंकोच काम कर रही हैं।

भारतीय उद्योग के संघ फिक्की ने पिछले दिनों अर्थ क्षेत्र में महिलाओं के योगदान के बारे में एक सर्वेक्षण किया, जिसकी रिपोर्ट में बताया गया कि आर्थिक विकास में औरतों की भागीदारी लगातार बढ़ रही है। सर्वेक्षण में इस बढ़ोतरी का एक कारण यह सामने आया कि बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों जिनमें उदारीकरण तथा वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण इत्यादि कारणों से सेवा क्षेत्र में रोजगार के ऐसे अवसर उभर रहे हैं जिनमें औरतें अधिक दक्षता के साथ काम कर सकती हैं। देश के पाँच प्रमुख शहरों में किये गये इस सर्वेक्षण के दौरान जिन महिलाओं से बातचीत की गयी वे अपने कामकाज से संतुष्ट दिखीं। यह भी तथ्य सामने आया कि उन्हें और उनकी बात को पहले से ज्यादा महत्त्व दिया जाता है और फैसले लेने की प्रक्रिया में भी उनकी भागीदारी बढ़ रही है।

भूमंडलीकरण के तहत तेजी से रोजगार के अवसरों में विस्तार हो रहा है। जिनमें महिलाओं को रोजगार के लिए वरीयता दी जाती है। आज सभी क्षेत्रों में बहुत सी महिलाएं शीर्ष स्तर पर कार्यरत हैं और वे बड़ी-बड़ी कंपनियों का सफल संचालन कर रही हैं। वे निजी और सार्वजनिक दोनों प्रकार की संस्थाओं के कामकाज को सुचारु बनाकर इस धारणा को गलत साबित कर रही हैं कि महिलाएं केवल शासित होती हैं और शासन नहीं कर सकतीं ।

भारत में रोजगार में महिलाओं की स्थिति की एक विडम्बना यह है कि ग्रामीण क्षेत्र में महिलाएं जो घरेलू या खेती-बाड़ी, पशुपालन, ईंधन बटोरने तथा कुटीर उद्योग की गतिविधियों जैसे-काम सम्भालती हैं उनका आर्थिक मूल्यांकन नहीं होता और उन्हें रोजगार की श्रेणी में नहीं रखा जाता है। फिर भी संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में काम करने वाली महिलाओं की आबादी लगातार बढ रही है। 2001 की जनगणना के आकड़ों के मुताबिक देश में रोजगाररत लोगों की संख्या 40 करोड थी जिनमें 27.54 करोड़ पुरुष और 12.70 करोड़ महिलाएं थीं। यानी एक तिहाई से भी कम महिलाएं थीं। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत 31.06 करोड़ लोगों में पुरुषों तथ महिलाओं की संख्या क्रमशः 19.92 करोड़ और 11.14 करोड़ थी। शहरों में 9.12 करोड़ के रोजगार शुदा लोगों में पुरुषों की संख्या 7.62 करोड़ और महिलाओं की 1.15 करोड़ थी। ये आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि गांवों में रोजगार के अवसर अधिक बढ़े हैं और वहाँ कामकाजी महिलाओं की संख्या का अनुपात शहरों की तुलना में अधिक हैं। किन्तु यहाँ यह याद रखना जरूरी है कि गांवों में महिलाओं के

रोजगार और उनकी मजदूरी का स्तर काफी नीचे रहता है। अधिकतर औरतें अशिक्षित और अकुशल होने के कारण श्रम आधारित काम करती हैं।

श्रम मंत्रालय के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के आकड़े 2006 में बताते हैं कि कम से कम 11 करोड़ 80 लाख महिलाएं असंगठित क्षेत्र में काम करती हैं। जिनमें खेतीहर मजदूरी रेहड़ी, खोमचे लगाना, दिहाड़ी पर काम करना, भवन निर्माण के क्षेत्र में मजदूरी और घरेलू नौकरी जैसे काम शामिल हैं। कुल महिला कर्मियों का 96 प्रतिशत इसी असंगठित क्षेत्र में कार्यरत है। अनुमान है कि सकल घरेलू उत्पाद में कुल महिलाओं का योगदान लगभग 20 प्रतिशत है।

संगठित क्षेत्र पर नजर डालें तो सरकारी आंकड़ों के अनुसार 31 मार्च, 2002 तक 49.5 लाख महिलाएं सार्वजनिक और निजी दोनों तरह के प्रतिष्ठानों में कार्यरत थीं। यह संख्या संगठित क्षेत्र में उपलब्ध कुल रोजगार का 18.1 प्रतिशत है। संगठित क्षेत्र के विभिन्न वर्गों में रोजगार का अध्ययन करने पर पता चलता है कि निर्माण, कृषि जैसे क्षेत्रों की तुलना में सेवा तथा सामाजिक क्षेत्रों में अधिक महिलाएं काम कर रही हैं। इन आंकड़ों के हिसाब से सामुदायिक, सामाजिक और वैयक्तिक सेवाओं में 56.5 प्रतिशत, निर्माण क्षेत्र में 20.6 प्रतिशत, कृषि और संबंद्ध गतिविधियों में 9.4 प्रतिशत तथा वित्त, बीमा और वित्तीय सेवाओं में 5.2 प्रतिशत महिलाएं कार्यरत थीं।

ये सभी आंकड़े रोजगार के क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी की उत्साहजनक तस्वीर तो पेश नहीं करते लेकिन इस तथ्य को अवश्य रेखांकित करते हैं कि साक्षरता और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ रोजगार पाने वाली महिलाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। सामाजिक दृष्टि से लड़कियों को कामकाज के लिए बाहर आने के बारे में जो वर्जना और हिचक थी वह काफी हद तक दूर होती जा रही है। साक्षरता और सामाजिक मान्यता के साथ-साथ संगठित क्षेत्र में शीर्ष प्रबंधकीय स्तर पर यह भी महसूस किया जा रहा है कि पुरुषों की तुलना में महिलाएं अधिक निष्ठा और लगन के साथ काम करती हैं। अब भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के तहत हमारे देश में कुछ काम तो ऐसे हैं जो एक तरह से महिलाओं के लिए आरक्षित मान लिए गए हैं जैसे-मनोरंजन उद्योग, विज्ञापन, मीडिया और आधुनिक व्यवसायों के साथ-साथ नर्सिंग, शिक्षा, एयर हेस्टेस, चिकित्सा, घरेलू नौकरी जैसे व्यवसायों में महिलाएं अधिक सफलता के साथ काम कर रही हैं। किन्तु महिलाएं अब इन परंपरागत कार्यों से कहीं आगे निकलकर उन व्यवसायों में भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर रही हैं जिन्हें अब तक केवल पुरुषों का अधिकार क्षेत्र माना जाता था। सेना, पुलिस, व्यापार, प्रबंधन, ड्राइविंग जैसे कठिन और अधिक समय व कठोर श्रम की माँग करने वाले व्यवसायों में भी महिलाएँ खुलकर भाग लेने लगी हैं। लेकिन जैसा कि पहले बताया गया है, महिलाओं की सेवा क्षेत्र में अधिक संख्या पायी जाती है। भारतीय अर्थव्यवस्था में सेवा क्षेत्र की भविष्य में बढ़ने की संभावनाओं को देखते हुए इस क्षेत्र में महिलाओं के योगदान में लगातार वृद्धि होते रहने की आशा है।

इस प्रकार लगता है कि भूमण्डलीकरण, वैश्वीकरण और उदारीकरण के प्रभाव और इनके विकासोन्मुखी आगमन से भविष्य में जो तस्वीर सामने आयेगी वह यह होगी कि शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में कामकाजी महिलाओं की आबादी बढ़ेगी। निश्चय ही श्रमिक महिलाओं की रोजगार में भागीदारी बढ़ने से देश की आर्थिक प्रगति का दायरा बढ़ेगा। साथ ही साथ महिलाओं में आर्थिक

आत्मनिर्भरता बढ़ने से तथा समाज में महिलाओ के शत-प्रतिशत साक्षरता की वजह से उनकी स्थिति बेहतर होगी और स्त्री-पुरुष समानता का सपना जल्दी ही साकार हो सकेगा। साथ ही इस बात को भी मान्यता मिलेगी कि पुरुष और महिलाओं की योग्यता तथा क्षमता बराबर है।

महिला श्रमिकों के परिप्रेक्ष्य में भूमण्डलीकरण का अमानवीय पक्ष:-

जहाँ एक ओर महिला श्रमिकों पर भूमण्डलीकरण का सकारात्मक प्रभाव रहा है वहीं दूसरी ओर इस बदलते युग में उनके शोषण का अमानवीय पक्ष भी सामने आया है। भूमण्डलीकरण के तहत चलाये जा रहे 'ढांचागत समायोजन कार्यक्रम' में महिला श्रमिक को शोषण का शिकार बनाया जा रहा है। यह शोषण कई तरह से महिला अस्मिता पर कुठाराघात करते हुए उनके शोषण का वीभत्सतम रूप प्रस्तुत करता है।

आज भूमण्डलीकरण की सामाजिक विकृतियों का दंश सहती महिलाएँ भूमण्डलीकरण के साथ कई तरह से जुड़ी हुई हैं जैसे- आज बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ तथा कई औद्योगिक इकाइयाँ महिला श्रमिक से आधी-आधी रात तक काम कराती हैं। वह आने का समय तो निश्चित करती हैं पर जाने का कोई समय नहीं निश्चित होता। महिला श्रमिक इस अमानवीयता के विरुद्ध कोई आवाज नही उठाती क्योंकि आवाज उठाने का अर्थ है बेरोजगारी को न्यौता देना। इस कार्पोरेट सेक्टर में कोई श्रम कानून नहीं चलता, लगभग सभी कर्मचारी ठेके पर होते हैं या फिर अस्थायी अवधि के लिए। स्थायित्व कहीं नहीं होता भले ही आप एक ही यूनिट में बरसों से कार्य कर रहे हों।

महिलाओं के शोषण का एक निहायत निर्दयी तरीका है जिसमें रेडिनेड वस्त्र, इलेक्ट्रानिक तथा इसी तरह के कई व्यवसायी 'घर पर रहकर अधिकतम आमदनी' का प्रलोभन देकर महिलाओं को रोजगार देते हैं। महिलाएं अपनी घरेलू जिम्मेदारियों के कारण इस प्रलोभन में आ जाती हैं लेकिन इसमें महिलाओं से ज्यादा काम कराते हुए उन्हें कम पारिश्रमिक दिया जाता है। यह काम कराने की पद्धति कम खर्चीली और अधिक मुनाफा कमानेवाली होती है।

आज विदेशी संस्कृति के संपर्क में आने के कारण वहाँ की संस्कृति का भी अनुकरण हो रहा है। आज भूमण्डलीकरण के बाजारवाद में पनपी उपभोक्ता संस्कृति ने विश्व पर्यटन, इन्टर कांटिनेंटल होटल श्रृंखलाएं, शानदार रेस्टोरेंट, कैसिनों, बार तथा कैब्रे हाउस की गांग में बेतहाशा बढ़ोतरी की है। कई माफिया गिरोह तथा अपराधी सरगना इन व्यवसायों में उतर आये हैं, जो महिलाओं को 'सेल्स पर्सन' की तरह इस्तेमाल करते हैं। अपराधिक पृष्ठभूमि के ये व्यवसायी महिलाओं को घृणित काम करने पर विवश करते हैं।

आज भूमण्डलीकृत बाजारवाद के आधुनिक दौर में महिलाओं को सामान बेचने का जरिया बनाया जा रहा है। कई विश्व सुन्दरियों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों की 'सेल्स पर्सन' या ब्रांड अम्बेसडर बना कर उनका रुतबा बढ़ा दिया गया है। उत्पाद बेचने के साधन के रूप में जिस धड़ल्ले से महिलाओं का इस्तेमाल हो रहा है उससे महिलाएं स्वयं एक वस्तु बनकर रह गयी हैं। महिलाओं के शोषण का यह रूप ऊपर से आकर्षक व मोहक लग सकता है पर असलियत में अधिकतम मुनाफा बटोरने की बदनीयती से भरा है।

आज आधुनिक व्यवसायिक रोजगार प्राप्त करने के लिए जिस शिक्षा की जरूरत होती है वह इतनी महंगी होती है कि मध्यमवर्ग की प्रतिभायुक्त महिलाएं भी इससे वंचित हो जाती हैं जिसके कारण उनके उचित रोजगार पाने के अवसर बहुत कम हो जाते हैं।

इस प्रकार आर्थिक सुधार के वर्तमान दौर में महिला-श्रमिक की यह दयनीय स्थिति सुधार के नाम पर धब्बा प्रतीत होती है।

आप सभी प्रगतिशील, जनपक्षधर और मानवाधिकार रक्षक व्यक्तियों व संगठनों का यह दायित्व है कि भूमण्डलीकरण के शोषण और अमानवीय बुराइयों से महिला श्रमिकों को उबारें क्योंकि आज विकास से गुजरने वाली अर्थव्यवस्था में मुख्य रूप से भारत में महिलाओं की मुख्य भूमिका है। जब तक ये बुराइयां दूर नहीं होती तब तक विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने की उम्मीद संदिग्ध है।

***

संदर्भ- सूची

1. डॉ. सोहन शर्मा — "भूमण्डलीकरण के दौर में महिलाओं का शोषण बढ़ा" अंतरंग संगिनी, सितंबर, 2006 पेज नं. 2-4

2. कुसुम त्रिपाठी — "भूमण्डलीकरण का औरतों पर प्रभाव : इस विषय पर मेधा पाटकर, अरुणा रॉय और विजय जावंधिया के विचार", अंतरंग संगिनी, सितंबर, 2006 पेज नं. 26-30

3. सुभाष सेतिया — "रोजगार के क्षेत्र में महिलाएं" योजना, अक्टूबर, 2006 पेज नं.43-45

4. विजय लक्ष्मी — "महिलाओं का आर्थिक सशक्तीकरण" योजना, अक्टूबर, 2008 पेज नं. 40-41

5. संगीता कुमार — "अर्थव्यवस्था में महिलाओं की स्थिति" योजना, अक्टूबर, 2008 पेज नं. 19-21

***

महिला साहसिक : एक ऐतिहासिक विकास

डॉ. उषा किरण तिवारी

भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम समाजों में से एक है। पारम्परिक रूप से भारत में महिला की भूमिका सिर्फ परिवार तक सीमित थी। वह एक माँ, पत्नी और गृहिणी के उत्तरदायित्वों को निभाते हुए परिवार को सामाजिक, सांस्कृतिक और पारम्परिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाती थी। किन्तु आर्थिक दृष्टि से उसका योगदान नगण्य था। शायद यही एक सबसे बड़ा कारण था कि भारत में महिलाओं की परिस्थिति धीरे-धीरे निम्न होती गई। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरु ने एक बार कहा था, "आजादी राजनीति से अधिक आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। यदि एक महिला आत्मनिर्भर और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं है, तो उसे अपने पति या किसी अन्य पर निर्भर रहना पड़ेगा और परनिर्भर व्यक्ति कभी भी स्वतंत्र नहीं होता।"

स्त्रियों के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ हजारों वर्षों से एक जैसे ही रहे हैं। भारत में 19वीं सदी में अनेकों समाज सुधार आंदोलन और राजनैतिक स्वतंत्रता ने इस स्थिति में सुधार लाना प्रारंभ किया। औद्योगीकरण, नगरीकरण, आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई तथा स्त्रियों की शिक्षा की दिशा में भी उल्लेखनीय कदम उठाये गये। भारत की अपनी एक विशिष्ट सामाजिक, सांस्कृतिक विरासत रही है जो सामाजिक संस्थाओं और जनता द्वारा एक-दूसरे को हस्तांतरित होती रहती है। संस्थाओं, परंपराओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों, विश्वासों आदि के साथ जो सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ जुड़े हुये होते हैं, वे ही अपने समाज के सदस्यों चाहे वह महिला हो या पुरुष उसकी सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक भूमिका को निश्चित करते हैं। साथ ही प्रत्येक देश का अपना एक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक इतिहास, विचारधारा और दर्शन होता है जो सामाजिक और व्यावसायिक भूमिकाओं का मार्ग प्रशस्त करता है। भारतीय समाज का आर्थिक विकास औद्योगीकरण के द्वारा शुरू हुआ, जिसने स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों के लिये नई व्यावसायिक भूमिकायें तैयार की।

भारत में उद्यमी महिलाओं की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ रही है। फिर भी पुरुषों की तुलना में यह आज भी बहुत कम है। उद्यमी महिला एक स्त्री भी हो सकती है और अनेक महिलाओं का समूह भी। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। वर्तमान में महिलायें अनेक क्षेत्रों में एक सफल उद्यमी के रूप में उभरकर सामने आई हैं और भारत के आर्थिक विकास में अपना योगदान दे रही हैं। भारत में उद्यमी महिलाएँ महिलाओं के उस समूह का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्होंने महिलाओं के विकास में बाधक बनी हुई परंपराओं को तोड़ा है और आर्थिक सहभागिता के नये क्षितिज तलाशे हैं। उनके प्रयासों और मेहनत की ढेरों सच्ची कहानियाँ हैं। उनका रास्ता चुनौतियों से भरा हुआ है। उन्हें एक आत्मनिर्भर उद्यमी के रूप में स्वयं को स्थापित करने से पहले सामाजिक पूर्वाग्रहों, आलोचनाओं, पारिवारिक प्रतिरोधों और सामाजिक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जो महिलायें सृजनात्मकता, नवाचार, उच्च अभिप्रेरणा से ओत-प्रोत होती हैं वे उद्योगों की चुनौती भरी भूमिकाओं को निभाने और अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये निरंतर प्रयत्नशील रहती हैं।

भारत में महिलाओं द्वारा उद्यम की शुरूआत करने का मूलभूत कारण शीघ्रता से धन अर्जित करना था। उद्यमी महिलाओं को प्रारंभ में और आज भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अपने पति के नाम की छाया से बाहर निकलकर समाज में अपनी एक अलग पहचान बनाना उद्यमी महिलाओं का मुख्य उद्देश्य था। उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। जबकि अशिक्षित उद्यमी महिलाओं के लिये यह धन अर्जित करने का एक माध्यम भर था। प्रारंभ में अच्छी आर्थिक पृष्ठभूमि वाली महिलायें भी अपनी आंतरिक क्षमता एवं स्रोतों से परिचित नहीं होती थीं, उन्हें कई बार अपने पति, भाई या परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता लेनी पड़ती थी। शुरूआत में भारतीय उद्यमी महिलाओं में से ज्यादातर घरेलू महिलायें थीं या स्नातक शिक्षा प्राप्त थीं, जिन्हें व्यवसाय का कोई पूर्व अनुभव नहीं था। ये उद्यमी महिलायें पारंपरिक महिला प्रधान व्यवसायों जैसे वस्त्र उद्योग, सौन्दर्य प्रसाधन उत्पाद, फैशन आदि में आईं जिसके लिये उन्हें किसी औपचारिक प्रशिक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं थी। कई बार यह एक रुचि या शौक का विषय होता था, जिसने व्यवसाय का रूप ले लिया। ऐसी सर्वाधिक सफल महिला उद्यमियों में से शहनाज हुसैन का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने अपेक्षाकृत लघु पैमाने पर जड़ी-बूटियों व घरेलू उत्पादों पर आधारित सौन्दर्य प्रसाधनों के व्यवसाय की शुरूआत की। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि रसोईघर से शुरूआत कर भारत और विश्व में ब्यूटी पार्लरों की श्रृंखला स्थापित की। शहनाज हुसैन ने अपने व्यवसाय की शुरूआत छोटे से बजट में एक शौक के रूप में की थी, जो बाद में चलकर सौन्दर्य उत्पादों तथा ब्यूटी पार्लर के साम्राज्य के रूप में बदल गया।

महिलाओं को समाज में अनेक भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं। कभी वह माँ होती है, कभी पत्नी। कभी अभिभावक होती हैं तो कभी पुत्री। कई बार उसे कई भूमिकाएँ एक साथ निभानी पड़ती हैं। साथ ही कभी-कभी इन भूमिकाओं को निभाते-निभाते वह अपनी स्वयं की पहचान को उसमें समाहित कर देती है। भारतीय समाज को इस अस्तित्व-विलय की ऐसी आदत हो चुकी है कि जब कोई महिला पारंपरिक महिला की भूमिका से हटकर उद्यमी महिला बनने का साहस करती है, तो उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ- आत्मविश्वास की कमी, व्यवहारतः संपत्ति अधिकार नहीं और अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक अवरोध। आज भी भारतीय समाज में पुत्रों को पुत्रियों से अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं की प्रगति में अवरोध आते हैं और अपनी स्वयं की क्षमताओं के संबंध में उनमें आत्मविश्वास की कमी हो जाती है। कई बार परिवार के सदस्य भी संबंधित महिला की क्षमताओं और निर्णय शक्ति पर विश्वास नहीं करते, जो उसे कमजोर बनाती है। महिलाओं को कानूनी रूप से तो पिता और पति दोनों की संपत्ति में अधिकार प्राप्त हैं। किन्तु व्यावहारिक रूप से आज भी पिता की संपत्ति में बेटियों को अधिकार नहीं है। पति की संपत्ति में अधिकार होते हुए भी पत्नी उसका पूर्ण उपभोग नहीं कर पाती। जिससे उद्यमी महिलाओं को अनेक आर्थिक समस्याओं का सामना भी करना पड़ता है। इसके साथ-साथ पुरुषसत्तात्मक समाज उन्हें मालिकाना हक देने में भी मुश्किलें खड़ी करता है।

उपर्युक्त बाधाओं के होते हुए भी वर्तमान समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, स्त्री-शिक्षा और नवीन सामाजिक विधानों ने उद्यमी स्त्रियों की परिस्थिति में अनेक परिवर्तन किये हैं। आज

महिलाएँ अधिकाधिक संख्या में उच्च, तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। साथ ही देश की कार्यशक्ति में भी उनका अनुपात निरंतर बढ़ रहा है। शिक्षा और जागरुकता में वृद्धि के साथ-साथ महिलाएँ रसोईघर, हस्तकला और पारंपरिक कुटीर उद्योगों से अपारंपरिक, नवीन, उच्च तकनीकीयुक्त क्रियाओं और व्यवसायों में शामिल हो रही हैं। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जो महिलाओं से अछूता हो। भारत सरकार भी उद्यमी महिलाओं के लिये विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम एवं अन्य सुविधाएँ प्रदान कर रही हैं, जिससे महिलाएँ आसानी से अपना व्यवसाय प्रारंभ कर सकें। बैंक और आर्थिक संस्थाएँ उद्यमी महिलाओं की सहायता के लिये विशेष योजनाओं का निर्माण करती हैं, जिससे उन्हें ऋण लेने में परेशानी न हो। आज भारत के कई बड़े औद्योगिक घरानों की व्यावसायिक विरासत महिलाएँ संभाल रही हैं। अपने बल पर व्यवसाय शुरू कर उसे ऊँचाई तक ले जाने वाली महिलाओं की संख्या भी काफी है। शायद यह भी एक कारण है कि सिर्फ पिता के नक्शे कदम पर चलना बीते जमाने की बात हो गई है। सफल उद्यमी महिलाओं के बेटे-बेटियाँ अपनी माँ के पदचिह्नों पर चलने में गर्व महसूस कर रहे हैं। ऐसे में हम कह सकते हैं कि अनेक समस्याओं के होते हुए भी भारत में उद्यमी महिलाओं का भविष्य उज्ज्वल है। वे नई ऊँचाइयाँ, नये क्षितिज तलाश रही हैं और उन तक पहुँचने के लिये तत्पर भी हैं।

*****

References

1. Rani Lalitha D. "Women Entrepreneurs", A. P. H. Publishing Corporation, New Delhi, 1996

2. Vinze Dubhashi Medha : "Women Entrepreneurs in India", Mittal Publications Delhi, 1987

3. Parikh, Indira J., "Women Managers in Transition : From Homes to Corporate offices" The Indian Journal of social work, Bombay 1994

4. Parikh, Indira J. and Grag, Pulin K., "Indian Women, An Inner Dialogue", Sage Publications New Delhi, 1989

***

विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ) तथा महिलाएँ

-डॉ. रूबी ओझा

अप्रैल 2000 में भारत सरकार ने देश के विदेशी विनियोग को बढ़ाने, निर्यात को बढ़ावा देने तथा देशी उद्योगों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगी बनाने के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्र नीति को लागू करने की घोषणा की। विशेष आर्थिक क्षेत्र नीति को वैधानिक मान्यता मई 2005 में संसद द्वारा सेज अधिनियम, 2005 के पारित करने के पश्चात् प्राप्त हुई।

सेज के नाम से प्रचलित विशेष आर्थिक क्षेत्र वे भौगोलिक क्षेत्र हैं जहाँ के आर्थिक कानून देश के प्रचलित आर्थिक कानून से अधिक उदार तथा खुले हुए हैं। इन उदार कानूनों के फलस्वरूप ये क्षेत्र विदेशी व्यापार में अधिक सहज रूप से संलग्न रह पाते हैं। भारतीय सेज को प्रारम्भ के पाँच वर्षों तक आयकर से छूट रहती है और उसके बाद के दो वर्षों तक मात्र 50% कर अदायगी करनी होती है। नई नीति सेज को दस वर्षों के लिए कर अवकाश प्रदान करती है।

विशेष आर्थिक क्षेत्र एक ऐसी व्यवस्था है जहाँ तीसरी दुनिया के देश विकसित देशों से अधिक से अधिक विदेशी निवेश लेने तथा इन देशों को अधिक से अधिक निर्यात करने की होड़ में लगे हैं। उनकी विजय इस बात पर निर्भर करती है कि कौन अपने मजदूरों का अधिक से अधिक शोषण कर इस प्रतियोगिता में आगे बढ़ता है।

विकास के इस मॉडल में निर्यात की विदेशी निवेश आकर्षित करने की कुंजी के रूप में केन्द्रीय भूमिका है तथा सभी देश अधिक विदेशी पूँजी आकर्षित करने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते रहते हैं। इस प्रतिस्पर्धा में श्रम प्रतिमान अधिक से अधिक नीचे होता जा रहा है। सरकार अपने देश में अधिक से अधिक विदेशी पूँजी निवेश का गुणगान करते हुए यह भूल जाती है कि इसकी उन्हें क्या कीमत चुकानी पड़ी है तथा श्रमिकों द्वारा चुकायी गयी कीमत अदृश्य रह जाती है।

सेज की औद्योगिक इकाइयाँ निर्यातोन्मुखी होती हैं, जहाँ इस बात पर विशेष बल दिया जाता है कि लागत कम से कम हो, जिससे उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रतियोगिता कर सके। इन इकाइयों में 70 से 90 प्रतिशत तक कामगार स्त्रियाँ होती हैं जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता की मार झेलनी पड़ती है।

सेज का सबसे खराब पक्ष है श्रमिकों का शोषण। पूरे विश्व में निर्यात क्षेत्रों के श्रमिकों के अधिकारों का उल्लंघन तथा श्रमिकों के शोषण का इतिहास रहा है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। इस तथ्य के बावजूद कि सेज श्रम कानून तथा नियमों से बंधे हुए हैं मजदूर संघ इन क्षेत्रों में प्रायः न के बराबर हैं। यहाँ तक कि मजदूर संघ की गतिविधियों में शामिल होने पर शारीरिक आक्रमण अथवा नौकरी से निष्कासन जैसे कठोर दण्ड भी दे दिये जाते हैं।

साक्ष्य बताते हैं कि सेज में अधिकतर कामगार महिलाएँ हैं। इन महिलाओं को अनेक रूपों में शोषित किया जाता है। उदाहरण स्वरूप उन्हें रात की पारी में काम करने को मजबूर किया जाता

है। उनको यातायात भत्ता नहीं दिया जाता है। मातृत्व अवकाश नहीं दिया जाता तथा गर्भवती कामगारों को नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाता है। उनके संगठन के अधिकारों की अवहेलना होती है। उनको पुरुषों से कम वेतन दिया जाता है। सामूहिक सौदेबाजी के लिए कोई स्थान नहीं होता तथा शारीरिक शोषण के खिलाफ कोई सुनवायी नहीं होती। दोनों पुरुष तथा महिला कामगारों को न्यूनतम मजदूरी भी नहीं दी जाती। उनकी मजदूरी सेज के बाहर प्रचलित मजदूरी से कम होती है।

सेज में रोजगार की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इनमें वैश्वीकरण के लिए उपयुक्त अत्यंत उच्च तकनीक वाले उद्योग स्थापित किये जाते हैं। इन उद्योगों में स्थानीय और अकुशल व्यक्तियों को तथा विस्थापित कृषकों को काम नहीं मिल पाता। जो व्यक्ति अपनी भूमि सेज को इस आशा में बेच देते हैं कि आगे चलकर उन्हें इसमें रोजगार मिल जाएगा, उन्हें निराशा ही हाथ आती है।

व्यावसायिक, स्वास्थ्य तथा सुरक्षा की कोई व्यवस्था सेज में नहीं होती। चूँकि रोजगार चाहने वालों की कोई कमी नहीं है, अतः बीमार कामगार को सुविधा देने के बदले उसे नौकरी से निकाल कर नए कामगार रख लेना अधिक सुविधाजनक होता है। इस प्रकार विशेष आर्थिक क्षेत्रों में पूँजी को श्रम का शोषण करने की खुली छूट है। वहाँ काम करनेवाले शोषित लाखों कामगारों का कोई प्रतिनिधि नहीं होता।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का परिणाम कुछ भी हो किन्तु यह निश्चित है कि सभी देशों के मजदूरों को, जो सेज में कार्यरत हैं, अमानवीय यातना सहनी पड़ती है। विश्व में प्रत्येक स्थान पर सेज में श्रम कानून या तो लागू नहीं है और यदि लागू हैं भी तो वे पूँजी को मुक्त रूप से भ्रमण कराने के लिए तोड़-मरोड़ दिये जाते हैं। भारत में प्रारंभ में सरकार ने सेज को श्रम कानून से पूर्णतया मुक्त रखने का प्रयास किया। किन्तु इस उद्देश्य में असफल हो जाने पर सेज को "सार्वजनिक उपयोगिता सेवाएँ" घोषित कर दिया इससे संघीय गतिविधियाँ इस क्षेत्र में पूर्णरूप से अशक्त हो गयी हैं।

पूरे विश्व में सेज में अविवाहित बालिकाओं को नौकरी में प्राथमिकता दी जाती है। ये लड़कियाँ नौकरी में नयी-नयी आयी होती हैं अतः संगठित गतिविधियों में जुड़ने का खतरा नहीं उठातीं। सेज में श्रमिकों का एक बड़ा भाग अनियमित तथा अनुबंधित श्रमिकों का होता है, जिनके काम की कोई सुरक्षा नहीं होती।

सेज में रोजगार के लिंगभेद का आयाम प्रचलित है। ऐसा व्यापक तौर पर मान लिया गया है। इन जगहों पर कार्य करनेवाले कामगारों में 70-80 प्रतिशत महिलाएँ हैं जिनमें अधिकतर 16-24 वर्ष के बीच की हैं। इसका मुख्य कारण है कि महिलाओं को काम पर रखना सस्ता पड़ता है। जो बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में देशों की स्थिति मजबूत करने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त उनकी सहनशीलता तथा नम्रता के कारण भी सेज मालिकों को महिलाओं को दबाना तथा उनसे काम कराना आसान पड़ता है। चूँकि मजदूर संघों में महिलाओं की सहभागिता कम होती है अतः उन्हें नौकरी पर रखना या निकालना आसान पड़ता है। इस प्रकार निर्यातोन्मुखी इकाइयों में कामगारों के स्त्रीकरण की प्रक्रिया का मुख्य कारण है कि महिलाएँ कम वेतन तथा खराब स्थितियों में काम करने को तैयार हो जाती हैं। यद्यपि सेज में महिलाओं की इतनी अधिक संख्या है किन्तु अधिकतर महिलाएँ निम्नस्तरीय कार्यों में संलग्न हैं। उनसे भेदभाव न केवल मजदूरी में होता है बल्कि

को बढ़ावा दे सकता है तथा मजदूरों के शोषण के खिलाफ आवाज उठा सकता है।

एक असरकारी संगठन का निर्माण तभी संभव है जब उसे स्थायी कामगारों का स्थिर सहारा प्राप्त हो। प्राचीन संगठन मूलतः उन कामगारों के संघ थे जिनकी नौकरी सुरक्षित थी तथा जो इन संगठनों में लम्बे समय तक रह सकते थे। आज सेज की स्थिति में अधिकतर कामगार अस्थायी तथा अनौपचारिक हैं जो किसी एक औद्योगिक इकाई में लम्बे समय तक नहीं रहते। इस स्थिति में विभिन्न इकाइयों के कामगारों को एक सामान्य मंच पर एकत्रित किया जा सकता है। चूँकि उनके कार्यस्थल पर संगठनात्मक गतिविधियों को बढ़ावा देना कठिन होता है। अतः संगठनात्मक गतिविधियों को उनके निवास स्थान तक पहुँचाना चाहिए। चूँकि सेज कामगारों में महिलाओं की संख्या अधिक है, अतः उन्हें संगठित करने के प्रयास पर अधिक बल देना चाहिए तथा उनसे संबंधित मुद्दों को सुलझाने के लिए प्राथमिकता होनी चाहिए। साथ ही साथ अनुकूल सरकारी नीतियाँ तथा जमीनी तौर पर उनका कार्यान्वयन एक सुरक्षा तथा कौशल का वातावरण बनाने के लिए अति आवश्यक है।

*****

संदर्भ सूची

1. Arun kumar, SEZ: One More Anti Bharat Act by India; Mainstream, vol XLV, No-19, April 27-May 3, 2007. P-11-18.
   Paper on

2. Research of Impact of Free Trade Agreements on Women Workers in FTZs and Some Organising Attempts By Cividep -(Civil Initiative for Develop ment and Peace) - India, for Committee for Asian Women-2007

3. Sunanda Sen and Byasdeb Dasghpta, SEZ; Modern Enclaves to Reward Capital by Exploiting Labour and Displaning Livelihood in the Agrarian Economy, Mainstream, Vol: XLV No. 19, April 27- May 3 , 2007; P- 5-9.

4. Full Issues of Labour File Volume 6, No. 4-5, July - Oct. 2008

***

Skip to content

media | politics | dissent

- Home
- Submissions
- About
- Comments policy

सामूहिक अपराध और जवाबदेही

November 3, 2013
tags: 1984 anti Sikh pogrom, collective responsibility, Communal violence, genocide, german guilt, hitler, Jaina Raikka, Karen Kovach, Karl Jaspers, Muzaffarnagar communal violence 2013
by apoorvanand

गुज्जफरनगर की सांप्रदायिक हिंसा की जिम्मेदारी तय करने का मसला पेचीदा होता जा रहा है.क़त्ल हुए हैं.बलात्कार की रिपोर्ट है. घर लूटे और बर्बाद किए गए हैं.हज़ारों मुसलमान अपने घरों और गावों से बेदखल कर दिए गए हैं.यह सब कुछ अपने आप तो नहीं हुआ होगा.किसी भी अपराध के मामले में इंसाफ की प्रक्रिया की शुरुआत अभियुक्तों की पहचान और उनकी नाभजदगी से होती है.मुज्जफरनगर के हिंदू ग्रामीणों को इस पर ऐतराज है.उनका दावा है कि शिकायतें, जो मुस्लिम उत्पीडितों ने दर्ज कराई हैं और जिनके आधार पर अभियुक्तों को चिह्नित किया गया है,गलत हैं.वे और उनके लोग निर्दोष हैं और इसलिए पुलिस को धर पकड़ की अपनी कारवाई रो बाज आना चाहिए.

अभियुक्तों को गिरफ्तार करने गई पुलिस पर हमले किए जा रहे हैं और पकड़े गए लोगों को छुड़ा लिया जा रहा है हथियारों के साथ औरतें सड़क पर हैं,कहते हुए कि वे अपने बच्चों और मर्दों के साथ नाइंसाफी नहीं होने देंगी.किसी तुलना के लिए नहीं,लेकिन ऐसे सामूहिक प्रतिरोध के बारे में राय कायम करने एक लिए क्या हम किसी दहशतगर्द हमले में शक की बिना पर किसी मुस्लिम बस्ती में की जा गिरफ्तारी के इसी तरह के सामूहिक विरोध की कल्पना कर सकते हैं?उस समय हम उसे उस समूह की अविचारित सामूहिक प्रतिक्रिया ही मानेंगे.

विरोध में शामिल ग्रामीण यह भी कह रहे हैं कि सैंकड़ों बरसों से वे मुसलमानों के साथ मिलजुल कर रहते आए

हैं और उनकी जिंदगियां साझा रही हैं. फिर स्वाभाविक प्रश्न है कि कल तक के अपने पड़ोसियों के साथ हुए इस जुल्म के जवाबदेह की तलाश में कुछ दिलचस्पी उनकी भी होनी चाहिए थी.सिर्फ यह कह कर कि इसमें गाँव का कोई शामिल न था क्या वे एक प्रकार की नैतिक लापरवाही का परिचय नहीं दे रहे हैं ? क्या इन अपराधों के लिए जिम्मेदारों की तलाश सिर्फ मुसलमानों के लिए जरूरी है या वह स्वयं हिंदू समुदाय के नैतिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है ? किसी भी समाज के लिए शायद यह बहुत अच्छी बात नहीं कि उसमें हत्यारे और बलात्कारी इज्जत और चैन के साथ उसका हिस्सा बन कर सामान्य जीवन बिताते रहें. अपराधियों को छिपा लेने और फिर अपना लेने से वह धीरे-धीरे उससे खुद ही दूषित होता जाता है और क्षीण भी. लेकिन यहाँ दिक्कत यह है कि जिम्मेदार की खोज कैसे की जाए ?

हिंसा की जो घटनाएँ हुई उनके लिए जिम्मेदार वही होगा जिसने उनके लिए फैसला किया होगा.यानी. उस जगह की तलाश बहुत जरूरी है जहां इस हिंसा का इरादा किया गया होगा. दहशतगर्द हमलों या संगठित समूहों के द्वारा आयोजित हिंसा में इस इरादे के स्रोत की पहचान कठिन नहीं है. अगर वे अपनी निगाह में अपने विचार के लिए प्रतिबद्ध और ईमानदार हैं और खुद अपनी निगाह में कायर नहीं हैं,तो वे आगे बढ़ कर ऐसी घटनाओं की जवाबदेही लेते हैं.इससे उनके बारे में उनेक विश्वास समूह के बाहर के लोग क्या राय बनाएंगे इसकी वे परवाह भी नहीं करते. धार्मिक विश्वासों से प्रेरित ऐसे समूह ऐसा इस आधार पर कर पाते हैं कि ईश्वरीय निर्णय का विचार मनुष्य कर पाने में सक्षम नहीं. उससे प्रकार समानता पर आधारित समाज की राह हमवार करने के लिए की गई हिंसा के विचार का अधिकार उस समाज को नहीं दिया जा सकता जो असामनता के विचार पर टिका है . इस प्रकार की हिंसा में अहंकार है पर जिम्मेदारी से भागने की चेष्टा नहीं है.

हम बार-बार यह कहते हैं कि भारत में सांप्रदायिक हिंसा की तुलना जर्मनी के यहूदियों के सामूहिक संहार से नहीं की जा सकती शायद हम ऐसा उस हिंसा के सांगठनिक पक्ष या उसकी नाटकीयता को ध्यान में रखकर कहते हैं. उस हिंसा में स्वतःस्फूर्तता नहीं थी जब कि हमारे यहाँ हर बार ही हिंसा 'फूट' पड़ती है.कहा जाता है कि लोगों पर वहशत तारी हो गई थी और वे होशोहवास खो बैठे थे. सांप्रदायिक हिंसा के साथ अक्सर उन्माद शब्द का इस्तेमाल किया जाता है. उन्माद की अवस्था में किए गए कृत्य को सुविचारित नहीं कहा जा सकता. इसलिए साम्प्रदायिक हिंसा को हमेशा ही दहशतगर्द हिंसा से कमतर करके आँका जाता है. संभवतः इसलिए भी कि हर साम्प्रदायिक हिंसा एक-दूसरे से अलग कर दी सकती है. उसे स्थानीयता में सीमित किया जा सकता है और वह ऊपरी तौर पर किसी दीर्घकालिक उद्देश्य की प्राप्ति की योजना का अंग नहीं मालूम पड़ती.यह भी कि अलग-अलग जगह पर होने वाली साम्प्रदायिक हिंसा का निर्णय किसी एक निश्चित जगह नहीं किया जाता और वह किसी एक सुचिंतित सिलसिले की कड़ी नहीं होती. लेकिन जायरुस बानाजी ने ठीक ही लिखा है कि सिर्फ इस वजह से इसकी गंभीरता कम नहीं हो जाती. केवल इस बात पर विचार करें कि यूरोप में यह संहार आधुनिक काल में एक बार घटित हुआ जब कि भारत में यह हर कुछ अंतराल पर घटित होता है. इसे 'जेनोसाइड' कहें या नहीं, जिससे उसकी भयावहता का स्तर निश्चित किया जा सके? इसका उत्तर उस स्थानीय हिंसा में उस वक्त निशाना बनाए जा रहे समुदाय के प्रति आक्रामक समूह के इरादे में ही खोजा जा सकता है क्या वह अपने शिकार को पूरी तरह खत्म कर देना चाहता है? इसका सबूत कैसे खोजें? क्या भारत में

जमशेदपुर,अलीगढ़, भिवंडी, मेरठ, नेल्ली, भागलपुर , बिहारशरीफ, गुजरात,मऊ और अब मुज़फ्फरनगर की साम्प्रदायिक हिंसा को 'जनसंहारात्मक' कहा जा सकता है ? या उन्नीस सौ चौरासी की हिंसा को? उन सबमें मुसलमानों या सिखों को शारीरिक तौर पर पूरी तरह खत्म न पाने की लाचारी की भरपाई उन्हें अन्य सभी मामलों में गैर ज़रूरी और अप्रासंगिक बना देने के संतोष से की जाती है.

फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि अगर यह हिंसा उचित थी तो उसकी जवाबदेही क्यों नहीं ली जाती? क्या इसलिए कि जवाबदेही हमेशा व्यक्तिगत होगी जबकि हिंसा, इरादे से शुरू करके अंजाम देने तक एक सामूहिक कारेवाई थी?जुर्म के इन्साफ में उसके पीछे के इरादे का खासा महत्व है. ऐसे सामूहिक हिंसक कृत्य में इरादा क्या सामूहिक माना जाएगा? तो क्या हम किसी एक सामूहिक मन या अन्तःकरण की कल्पना कर सकते हैं? क्या ऐसी सामूहिक हिंसा में हुई हत्या में सिर्फ वे जवाबदेह होंगे जिन्होंने उसमें हाथ लगाया, जिन्होंने हथियार का इस्तेमाल किया?क्या यह कह कर कोई अपनी जवाबदेही से बच सकता है कि निर्णय उसका नहीं था पर वह समूह के दबाव में लाचार था ?

हिटलर के सारे भातहतों ने अपने पक्ष में यह तर्क दिया था कि न तो इरादा उनका था और न फैसला उनका था इस तरह वे गाज एक निष्क्रिय माध्यम थे. कार्ल यास्पर्स ने तो एक जर्मन अपराध-बोध की कल्पना की थी. सामूहिक हिंसा में शामिल लोग यह सवाल कर सकते हैं कि जुर्म में उनकी हिस्सेदारी के हिसाब से उनकी जिम्मेदारी तय होनी चाहिए. लेकिन साथ ही यह भी ख्याल रहे कि अगर वे अपने को एक समुदाय का अंग मानते हैं और उसे अपना विस्तार मानते हैं तो करेन कोवाच के मुताबिक इस अपने समुदाय के साथ इस नैतिक गठजोड़ के कारण सामूहिक कृत्य की जवाबदेही हर किसी पर आयद होगी. सामूहिक हिंसा के प्रसंग में जिम्मेदारी के निर्धारण का काम सरल नहीं है, इसलिए कि उस समूह के सदस्य अपनी भूमिका की व्याख्या अलग अलग ढंग से कर सकते हैं. पर उनसे यह प्रश्न ज़रूर किया जाएगा कि उस हिंसा में क्या वे स्वेच्छया शामिल हुए थे या इस मामले में फैसला उनकी इच्छा पर नहीं था? उदाहरण के लिए एक माओवादी जनता अदालत अगर किसी ग्रामीण को हुक्म दे कि वह किसी को पचास लाठी मारे तो लाठी मारने के लिए उसे कितनी सजा मिलनी चाहिए? हिंसा में शरीक समूह में प्रवेश, उसके साथ बने रहने, उससे अलग होने,आदि में कौन अपनी इच्छा का कितना इस्तेमाल कर सकता है. उसी अनुपात में उसकी जवाबदेही तय होनी चाहिए. ऐसा जान नर्वसन का सुझाव है.

अपने समूह द्वारा की गई हिंसा में निष्क्रियता से नैतिक जवाबदेही से बचना मुमकिन नहीं.जुहा राईका का कहना है कि वही बरी हो सकता है जिसने हिंसा की योजना, उसके क्रियान्वयन में हर स्तर पर या तो असहयोग किया हो या उसका विरोध किया हो. पश्चिमी उत्तर प्रदेश की पंचायतों और उनके नेताओं को इस रूप में अपनी जिम्मेदारी के बारे में सोचना ही होगा. और वहाँ की औरतों को भी जिन्होंने पहले दौर की हिंसा आयोजित नहीं की लेकिन जो अब उसमें शामिल मर्दों को बचाने में सक्रिय हैं. अपनी जवाबदेही से कतरा कर वह समाज उस अपराध में और धंसता ही जाएगा.

- [illegible]
- [illegible]

एहसास औरत होने का

चन्द्रकला

'औरत पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है' सिमोन की पुस्तक स्त्री उपेक्षिता की इन पंक्तियों से मेरा वास्ता उन दिनों हो गया था, जब मैं तय कर रही थी कि मुझे एक आम महिला की तरह घर की चहारदीवारी की जिम्मेदारी नहीं निभानी है। बल्कि औरत को कैद करने वाली रूढ़ियों, सामन्ती मूल्य-परम्पराओं व पितृप्रधान सत्ता की खिलाफत करनी है। औरत को इंसान के बजाय वस्तु की तरह उपयोग करने वाले समाज को बदलने में अपनी भूमिका निभानी है। कारण, बचपन से ही देखा व महसूस किया था कि औरत होने के नाते परिवार व समाज में न केवल दोयम समझा जाता है बल्कि औरत होने के कारण उसको अपमान, शोषण व हिंसा का सामना करना पड़ता है।

यूँ तो रोज-रोज की घटनाओं को पढ़कर व सुनकर भीतर से नफरत पैदा होती है, लेकिन पिछले दिनों स्वयं मेरे साथ एक ऐसा वाकया हुआ कि मेरे विचार और पुख्ता हो गये। दिसम्बर का महीना गुजर चुका था, महिला सुरक्षा को लेकर पूरे देश में हलचल मची हुई थी। इन्हीं दिनों मेरा दक्षिण की ओर जाना हुआ। जाते वक्त रेल का सफर अच्छा था। बाहर की तीखी ठंड के बावजूद भीतर का माहौल खुशनुमा था। सहयोगी महिलाएँ शिरडी के दर्शनों के लिए जा रही थीं। उनके साथ चल रही थीं तीन किशोरियाँ। बच्चियों की चंचलता बचपन की याद दिला रही थी। जब वे तीनों अपने मोबाइल में बज रहे 'फैवीकौल' सरीखे गीतों का मजा ले रही थीं तो मैंने उनको आदतवश इस तरह के फौड़े गीत न सुनने की हिदायत दे डाली। इस तरह के गीतों में मौजूद औरत -विरोधी विचारों के बारे में उनसे चर्चा की, यह जानते हुए भी कि मेरी बातों का प्रभाव तात्कालिक ही होगा। लेकिन चर्चा के दौरान उन तीन बच्चियों की माताएँ जो मेरे अकेले होने के कारण मुझसे दूरी बनाये हुए थीं, नजदीक आ गयीं और हमारा अपनापा बढ़ गया। गंतव्य आने पर सबने विदा ली और दो घंटे बाद मैं भी अपने गंतव्य पर पहुँच गयी।

मेरा प्रवास अनिश्चित था, सो मैंने वापसी का टिकट नहीं लिया था। कुछ दिन रहने के बाद मैंने जब वापसी की इच्छा जाहिर की तो टिकट मिलना मुश्किल था। क्रिसमस व सर्दियों की छुट्टियाँ समाप्त होने के बाद दिल्ली की ओर आने वालों की भीड़ ज्यादा थी। फिर भी मेरे रिश्तेदारों के प्रयासों के कारण मुझे टिकट तो मिल गया लेकिन स्लीपर कोच के बजाय ए.सी. कोच का टिकट ले लिया गया था। मेरी ट्रेन रात पौने ग्यारह बजे आने वाली थी अतः मैंने समय से पहले ही घर से निकलकर प्रतीक्षालय में अपना स्थान ले लिया था। यूँ भी मुझे प्रतीक्षालय हमेशा अच्छा लगता है। यहाँ की जीवन्तता व विभिन्न प्रान्तों, भाषा-भाषी महिलाओं से मिलना रोमांचक होता है। मैं अक्सर अकेले ही सफर करती रही हूँ, लेकिन ए. सी. कोच में सफर करने का मेरा अनुभव न के बराबर रहा है। इसलिए मन में थोड़ी घबराहट बनी हुई थी।

सुल्ताना का सपना

बेगम रुकैया सकावत हुसैन

"मान लो कुछ पागल निकल भागे पागलखाने से
और जुल्म ढाने लगे लोगों पर
घोड़ों और दूसरे जीवों पर
तो
क्या करेंगे तुम्हारे देश के लोग?"
वे कोशिश करेंगे उन्हें पकड़कर
दोबारा पागलखाने में बंद करने की।
"शुक्रिया! और तुम सही दिमाग लोगों को
सीखचों के पीछे और पागलों को खुला
छोड़ने में यकीन भी नहीं करते?"
बेशक मैंने हँसते हुए कहा
"सच तो यह है कि यहीं हो रहा है तुम्हारे देश में
गर्द जो बेहिसाब जुल्म ढाते हैं
या ढाने के काबिल हैं
खुले घूमते हैं
बेगुनाह औरतें बंद हैं जनानखाने के भीतर"

गाड़ी अपने समय से एक घण्टा लेट यानी 12 बजे रात पहुँची। किसी तरह मैं अपने कोच में चढ़कर केबिन ढूँढने में सफल हो गयी। अजीब सी घुटन थी वहाँ पर। सभी यात्री परदों के पीछे इत्मीनान से नींद का मजा ले रहे थे। खर्राटों की आवाज वहाँ पर लोगों की मौजूदगी का आभास करवा रही थी। स्लीपर क्लास में तो आप इन्सानों को देख पाते हैं, कुछ दूर साथ सफर करने के बाद अच्छी जान-पहचान हो जाती है। लेकिन यहाँ पर न आप बाहर की दुनिया से रूबरू हो पाते हैं, न विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ बेचने वालों से वास्ता पड़ता है, और ना ही सहयात्रियों से ज्यादा घुलना-मिलना हो पाता है।

जैसे ही मैं अपने केबिन का परदा हटाकर अपनी सीट तलाशने लगी तो मैंने पाया कि वहाँ पर तीन अधेड़ उम्र के पुरुष पहले से मौजूद थे। 'अरे भइया, काहे मैडम को सोने को कह रहे है? क्या सफर सोने के लिए होता है? मजा के लिए होता है, जो सोया वो खोया।' कहकहों के बीच गूँज रहे इस वाक्य ने मुझे भीतर तक हिला दिया। उस पुरुष के प्रति मेरे मन में घृणा व क्रोध बढ़ने लगा। मुझे लगने लगा था कि मेरा सफर आसान नहीं है। हालांकि कई बार फोन उठाकर अपने परिजनों को इस माहौल की इत्तला करने का विचार मन में आया। एक जगह मैंने सन्देश भी प्रेषित कर दिया लेकिन बीच रात में किसी को परेशान करना मुझे उचित नहीं लगा, फिर मौजूदा परिस्थिति का सामना तो मुझे अकेले ही करना था।

कुछ देर खामोश रहने के बाद मैंने फैसला किया कि मुझे अपनी बर्थ खाली करवाकर इत्मीनान से बैठना चाहिए। अपनी सीट पर बैठे व्यक्ति से मैंने पूछा, आपकी सीट कौन सी है? आप इतनी रात तक बैठे क्यों हैं? कहां तक जाना है आपको? मेरी बात का जवाब दिये बिना वह आदमी मेरी सीट से उठकर सामने बैठ गया। तीनों का संवाद जारी था। मुझे किसी भी हालत में नींद को भगाना था। मैंने अपने झोले से एक पत्रिका निकाली और पढ़ने लगी। उनके मुँह लगने से बेहतर था चुपचाप अपने होने का एहसास करवाना। मेरे सख्त व्यवहार से इतना तो हो चुका था कि उनके बोलने व कहकहे लगाने की तीव्रता में कुछ कमी आ गयी थी। मेरी आँखें भले ही पत्रिका में थीं लेकिन कान उनकी महिला-विरोधी बातों की ओर ही लगे थे। कई बातें तो वे महज मुझे सुनाने के लिए ही कह रहे थे। मसलन औरत कलैक्टर भी बन जायेगी तो वह रहेगी औरत ही, बच्चा पैदा करना व पति की सेवा करना तो उसका धर्म है। मैं उनके साथ बहस करके उन्हें चुप करा सकती थी लेकिन उनके मुँह लगना मुझे उचित नहीं लगा। हालांकि बात ज्यादा बढ़ती तो जरूर कुछ न कुछ बवाल करने का मैंने फैसला कर लिया था।

जूठे बर्तनों इत्यादि से समझ आ रहा था कि उन्होंने कुछ समय पहले ही भोजन व शराब का सेवन किया है। मैं चुपचाप अपना सामान नीचे रखकर उनका मुआयना करने लगी। उनकी बातचीत का केन्द्र महिलाएँ थीं, मालूम हो रहा था कि वे शादी के लिए किसी लड़की को पसंद करने गये होंगे। वहाँ जिस तरह का माहौल मैंने देखा और तीन घंटे उन पुरुषों का सामना करते हुए औरत होने के कारण जो मानसिक यंत्रणा झेली उसको भुलाना मुश्किल है। मेरे रिश्तेदारों ने मेरी अनिच्छा के बावजूद सुरक्षा व ठंड से बचाव की दृष्टि से मेरा टिकट ए.सी. कोच में लिया था लेकिन वे इस बात से बेखबर थे कि एक अकेली औरत को यह पुरुष प्रधान समाज आसानी से स्वीकार नहीं करता। सरकारें, समाज के ठेकेदार, महिलाओं की सुरक्षा, सम्मान का कितना भी ढकोसला करें, वास्तव में वह दिखावा ही होता है। मेरे ये तीनों पुरुष सहयात्री निश्चित ही किसी अधिकारी पद में कार्यरत थे।

मेरे लिए रात का यह सफर बहुत तकलीफदेह था। टिकट कलेक्टर मेरा टिकट चैक करके जा चुका था। कुछ देर बाद उन पुरुषों के रवैये से परेशान होकर मैंने टिकट कलैक्टर को ढूँढने का प्रयास भी किया कि शायद कोई बेहतर जगह मुझे मिल पाये लेकिन जब तक मैं उसे ढूँढती, तब तक वह कहीं खो चुका था। अब मेरे पास इस सर्द रात में अपनी सीट पर संयत होकर बैठने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। सोने के बारे में तो सोचा ही नहीं जा सकता था। क्योंकि तीनों की तिरछी निगाहें बार-बार मेरी ओर उठ रही थीं। गाड़ी की बढ़ती स्पीड, रात की इस नीरवता को भंग कर रही थी।

कुछ समय तक मेरे चुपचाप बैठे रहने पर उन तीन पुरुषों में से एक पूछने लगा, 'सोएंगी क्या मैडम, मैं आपकी सीट से उठ जाता हूँ।' मैं उस बेहूदे आदमी को कुछ जवाब देती, उससे पहले ही दूसरा अश्लील-सी हँसी हँस पड़ा। थकान के कारण मुझे बार-बार झपकी लग रही थी। हालांकि अब मेरा मन कुछ हद तक संयत हो चुका था। मैंने उनको तीखी नजरों से घूरना शुरू किया तो एक सकपकाकर उठकर दूसरी तरफ चला गया। अब मुझमें थोड़ी हिम्मत आ गयी और उनकी बात से मैं जान गयी कि वे तीनों प्रतीक्षारत टिकट वाले हैं। उनके पास मात्र एक साइड वाली बर्थ है। मैंने उनसे बातचीत के लहजे को धीमा कर देने का आग्रह किया तो वे बोले आप सोइये, आपको हमसे क्या? मैं खामोश हो गयी। आसपास कोई नहीं जान रहा था कि मैं कैसे अकेले तीन पुरुषों का सामना कर रही हूँ। वहाँ कोई तथाकथित सुरक्षाकर्मी भी नहीं था जो कि रात की इस यंत्रणा से मुझे राहत दिलवा सकता। हालांकि उनसे भी सुरक्षा की उम्मीद करना बेमानी होता। स्लीपर

या जनरल डिब्बे में आप ज्यादा सुरक्षित होते हैं, जहाँ आप बाहर देख सकते हैं, बाहर वाला भीतर देख सकता है लेकिन यहाँ यह स्वतंत्रता नहीं थी। मैं इन तीन घंटों में खुद को असहाय महसूस कर रही थी और सोच रही थी कि औरत यूँ तो कहीं भी किसी भी रूप में असुरक्षित होती है लेकिन बंद दीवारों के भीतर उसकी असुरक्षा व पीड़ा अधिक बढ़ जाती है।

अचानक गाड़ी की तीव्रता कम हुई। गाड़ी के रुकते ही इंसानों की आवाजाही का एहसास हुआ। तभी एक परिवार बच्चों व नवदम्पति सहित मेरे केबिन में चढ़ गया। आते ही एक महिला ने उन पुरुषों को उतरने का संकेत किया और परिवार के सदस्यों को बैठने को कहने लगी। परिवार की संख्या देखकर अन्ततः तीनों वहाँ से उतरकर अपनी सीट पर चले गये। मेरे लिए उन तीन घंटों की पीड़ा अचानक काफूर हो गयी। नया परिवार मेरे लिए अजनबी था लेकिन मैं उनसे अपनी करीबी महसूस कर रही थी।

जो भी हो, मैं अब सुकून महसूस कर रही थी। भले ही नया आगंतुक परिवार भी काफी जोर जोर से बोल रहा था पर इससे बेखबर अब मैंने इत्मीनान से बिस्तर लगाया और कमर सीधी करके लेट गई। मेरे बाजू वाली सीट पर एक बूढ़ी महिला का बिस्तर लगाया गया। बूढ़ी महिला के सीट पर लेटते ही मेरा डर खत्म हो चुका था औरत होने का। अब गाड़ी की स्पीड मेरे लिए लोरी थी। नींद के आगोश में जाते ही कितनी ही अनाम औरतें व बच्चियाँ मेरे ख्वाबों में तैरने लगीं, जिन्हें इस समाज व्यवस्था ने दंड दिया था- पुरुष सत्ता को चुनौती देने की खातिर.....

सुरक्षा की चिन्ता

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने देशभर के विश्वविद्यालयों तथा उनके अन्तर्गत महाविद्यालयों के कुलपतियों और प्राचार्यों को पत्र लिखकर उनमें अध्ययन कर रही छात्राओं, महिला प्राध्यापिकाओं तथा कर्मचारियों को दी जाने वाली सुविधाओं के विषय में जानकारी माँगी है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की ओर से समय-समय पर महिलाओं के हित में निर्देश जारी किये जाते रहे हैं परन्तु उनका अनुपालन मुश्किल से होता है। इस समय दामिनी प्रकरण के सन्दर्भ में आयोग ने चिन्ता जाहिर करते हुए सभी महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों से कई बिन्दुओं पर उनके उत्तर माँगे हैं जैसे-

कॉलेज में कितनी छात्राएँ नामांकित हैं। क्या आपके पास कभी यौन उत्पीड़न से सम्बन्धित कोई शिकायत आई है। क्या महिलाओं ने परिवहन, प्रकाश व्यवस्था, शौचालय, हॉस्टल, स्वास्थ्य सम्बन्धी शिकायत दर्ज कराई है। क्या आपके कालेज में छात्राओं के लिए काउंसिलिंग की सुविधा है। महिलाओं की सुरक्षा के मद्देनजर कॉलेज प्रशासन की ओर से क्या व्यवस्था लागू की गई है। यौन उत्पीड़न जैसे मामलों से बचने को आपने अपने स्तर से कब क्या योजना बनाई, इन योजनाओं का क्रियान्वयन किस तरह किया जाता है। महिलाओं की सुरक्षा के लिए क्या दिशानिर्देश बनाए हैं। गत दो वर्षों में महिलाओं की कितनी और किस प्रकार की शिकायतें मिली हैं। कालेज में लिंग समानता बनाए रखने के लिए क्या मानक तय किए हैं। क्या कॉलेज में कोई ऐसा कोर्स भी चल रहा है जो महिला और जेंडर संबंधित विषय पर आधारित हो, यदि हाँ तो लिस्ट भेजें। क्या कॉलेज में कोई महिला स्टडी सेंटर संचालित किया जा रहा है, जानकारी दें।

महिलाओं की सुरक्षा के उपायों को लेकर सुझाव भी माँगे गये।

स्वास्थ्य

अंकिता

महिला स्वास्थ्य पर जेण्डर का प्रभाव

पितृसत्तात्मक समाज में जेण्डर की भूमिका पुरुष प्रधान है। शिक्षा के प्रति जागरूकता के कारण नारी हर क्षेत्र में हैं पर उसके साथ भेद-भावपूर्ण व्यवहार हो रहा है। महिला के सम्पूर्ण जीवन व जीवन के हर पहलू पर जेण्डर भेद भाव का प्रभाव है। महिला स्वास्थ्य भी इससे अछूता नहीं रह पाया है। सामान्यतः जेण्डर का अर्थ लिंग या महिला से लिया जाता है। परन्तु जेण्डर महिला के लिए दूसरा शब्द नहीं है न ही लिंग का पर्याय है। जेण्डर पुरुषों समाज से परे केवल महिला की स्थिति पर बात नहीं करता है। वरन जेण्डर का तात्पर्य महिलाओं व पुरुषों की शारीरिक संरचना से परे उन्हें एक सामाजिक व्यक्ति के रूप में समझने का आधार है। यह महिलाओं व पुरुषों के बीच सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था की ओर इंगित करता है। यह सम्बन्ध हर समुदाय में सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में समझे व अभिव्यक्त किये जाते है। जबकि लिंग एक जैविक तथ्य है, सर्वव्यापी है। प्राकृतिक दृष्टि से देखें तो महिलाओं और पुरुषों के बीच निम्न भिन्नताएं हैं-

क) महिलाओं को माहवारी होती है।

ख) महिलाओं में प्रजनन क्षमता होती है।

ग) महिलाएं स्तनपान कराती हैं।

महिलाओं की यही तीन भूमिकाएं उनके दमन, शोषण व स्वास्थ्य भेदभाव का कारण भी हैं। जेण्डर भेद भाव की शुरूआत पितृसत्तात्मक समाज की उन्नति का फल है। महिलाओं पर कई प्रकार से जेण्डर के नाम पर भेदभाव कर उसके स्वास्थ्य को प्रभावित किया जा रहा है। एक कहावत है "A healthy women can give birth to a healthy child" पर जब महिलायें ही स्वस्थ नहीं होंगी तब बच्चा कैसे स्वस्थ होगा?

जेण्डर भेदभाव को कई कारण हो सकते हैं उदाहरण के रूप में **सामाजिक कारण** जिसके अन्तर्गत महिलाओं को सामाजिक दृष्टि से निम्न व दोयम दर्जा दिया गया है, **आर्थिक कारण**, जिसके अन्तर्गत महिलाएं आर्थिक रूप से पुरुषों पर निर्भर रहती हैं, अगर वह कार्य भी करती हैं तो वहां पर भी असमान वेतन आदि जैसी समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ता है। धार्मिक रूढ़ियों व परम्पराओं द्वारा महिलाओं को धर्म की आड़ में विभिन्न प्रकार से शोषित तथा मजबूर किया जाता है। संस्कृति व सभ्यता के नाम पर उनके लिए ऐसे नियम व कानून बना दिये गये हैं कि वे उन्हीं में उलझ कर रह गई हैं। मानसिक रूप से बचपन से ही उनके दिमाग में यह धारणा भर दी जाती है कि वह एक नारी है, उसकी कुछ सीमाएं हैं, उसे उन सीमाओं के अन्दर ही रहना है, वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो ज्ञात होगा कि समाज में ऐसी धारणा बना ली गई है कि महिलाओं की बौद्धिक क्षमता कम है, वे किसी काम के योग्य नहीं हैं। वहीं पुत्र की महत्ता और पुत्री को सदैव बोझ ही समझा गया है, उनको एक पराया धन समझकर पाल हेतु पाला व पोसा जाता है। समाज में व्याप्त भ्रांतियाँ व अंधविश्वास ने महिलाओं के स्वास्थ्य को पूरी तरह झकझोर दिया है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक महिलाओं के लिए हर पल एक अंधविश्वास नियम का रूप लिये खड़ा है, अगर महिलायें ऐसा करेंगी तो वैसा हो जायेगा। जहां कहीं भी स्वास्थ्य की बात आयेगी, वहाँ यह भ्रांतियां व अंधविश्वास उनके पैरों में बेड़ियां डाल देंगे।

अशिक्षा उनकी स्थिति को और भी असहनीय बना देती है क्योंकि अशिक्षा के कारण वह नहीं समझ पाती है कि उनके लिए क्या सही है और क्या गलत, परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि शिक्षित नारियां भी इस जेण्डर मायाजाल में पूरी तरह जकड़ी हुई हैं। उनकी शिक्षा का पितृसत्तात्मक व्यवस्था के आगे कुछ भी नहीं है। क्योंकि शिक्षा पर भी जेण्डर का प्रभाव है। ये सभी कारण विभिन्न रूपों में महिलाओं के स्वास्थ्य को प्रभावित करते आ रहे हैं। सरकार द्वारा बनाई गई नीतियां अप्रत्यक्ष रूप से महिला स्वास्थ्य पर प्रहार कर रही है। अगर जेण्डर भेद भाव से हमारी राष्ट्रीय नीतियां प्रभावित हो रही हैं तो महिला सशक्तीकरण स्वास्थ्य के सन्दर्भ में बिल्कुल असम्भव है।

जेण्डर भेदभाव के बढ़ते प्रभाव के कारण कन्याओं को कोख में ही मार दिया जाता है।

जेण्डर भेदभाव के कारण-

क) स्त्री भ्रूण हत्या में वृद्धि।

ख) जनसंख्या नियंत्रण का उत्तरदायित्व महिलाओं के कंधों पर।

ग) लिंग पक्षपात से प्रभावित सरकारी नीतियां।

घ) प्रजनन सम्बन्धी तकनीकों में वृद्धि।

ङ) लैंगिक असंतुलन बढ़ रहा है।

च) पुत्र की महत्ता में वृद्धि हो रही है।

छ) धार्मिक रूढ़ियों का महत्व बढ़ रहा है।

ज) निम्न सामाजिक जीवन।

झ) कुपोषण में वृद्धि आदि समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं, जिनका दुष्परिणाम महिलाओं को ही भोगना पड़ रहा है।

हमारे परम्परागत पितृसत्तात्मक समाज के आगे कानून व्यवस्था ने घुटने टेक दिये हैं। जेण्डर भेदभाव के कारण महिलाओं के स्वास्थ्य में कई शारीरिक समस्याएं हैं, उदाहरण स्वरूप- शारीरिक व मानसिक विकलांगता में वृद्धि, युवा वृद्धों की पीढ़ी का जन्म, परिवार व समाज पर बोझ होना, संतानों पर दुष्प्रभाव पड़ना, सक्रियता का अभाव होना, परिवार की स्थिति निम्न होना, महिलाओं का अवरुद्ध विकास आदि सम्मिलित हैं महिलाओं पर जेण्डर-भेदभाव का दुष्प्रभाव जीवन-पर्यन्त दिखता है, रूप चाहे जो भी हो, कभी इसका रूप सामाजिक नियम ले लेते हैं तो कभी धार्मिक प्रथायें, कभी सरकारी नीतियां तो कभी आर्थिक नीतियां, कभी सांस्कृतिक प्रथायें तो कभी अंधविश्वास। जेण्डर भेद का मकसद है महिलाओं को पुरुषों के अधीन बनना, साम-दाम-दण्ड भेद से हर प्रकार से महिलाओं को पुरुषों से निम्न दर्जा ही मिलता रहे तभी महिलाओं को नियंत्रित कर उनकी यौनिकता, प्रजनन क्षमता, योग्यता पर पुरुषों का आधिपत्य जमा रहेगा। इस प्रकार जेण्डर भेदभाव अपना

महत्वपूर्ण प्रभाव महिलाओं के ऊपर बनाये रखता है।

जेण्डर भेदभाव से उत्पन्न महिलाओं की स्वास्थ्य विभिन्न समस्याओं का समाधान करना अति आवश्यक है, क्योंकि महिलाओं पर ही पूरे परिवार की बागडोर होती है। अगर हम निष्पक्ष भाव से सोचें, समझें, जानें व मानें तो हम इसका काफी हद तक समाधान कर सकते हैं। कुछ सुझाव इस प्रकार हैं:

1. **सबसे महत्त्वपूर्ण है लिंग भेदभाव को जड़ से खत्म करना।**
2. **नारी चेतना को जागृत करना।**
3. **शिक्षा का प्रचार व प्रसार करना।**
4. **स्वास्थ्य सुविधाओं में वृद्धि करना।**
5. **स्वास्थ्य की महत्ता का ज्ञान प्राप्त करना।**
6. **आर्थिक दृष्टि से सुधार करना।**
7. **कार्य भार को कम करना।**
8. **भ्रान्तियाँ-अन्धविश्वास मिटाना।**
9. **सामाजिक विकास करना।**
10. **धार्मिक अंधता समाप्त करना।**
11. **बार-बार गर्भधारण पर रोक लगाना।**
12. **अपने स्वास्थ्य पर महिलाओं का अधिकार होना।**
13. **जनसंख्या नियंत्रण का बोझ महिलाओं पर न डालना।**
14. **सरकारी नीतियों में सुधार लाना।**
15. **समाज में नयी सोच जागृत करना।**
16. **ऊँच-नीच के भेदभाव को समाप्त करना।**
17. **जेण्डर संबंधित सही ज्ञान प्रदान करना।**
18. **आपसी सहयोग प्रदान करना।**

इन सभी सुझावों को अगर हम आत्मसात करें तो काफी हद तक जेण्डर भेदभाव के दुष्परिणामों से महिलाओं के स्वास्थ्य को बचाया जा सकेगा। हमें पूरे समाज में नयी सोच, नयी चेतना जगानी है। क्योंकि महिलायें ही सही मायने में परिवार की नींव व समाज की संचालिका हैं- उन्हें प्रताड़ित व शोषित करके हमारा देश व समाज उन्नति के शिखर पर नहीं पहुँच सकता।

अत: जरूरत है समझने की, समझाने की, बताने की, अपनाने की, मनवाने की, क्योंकि अगर जेण्डर भेदभाव अपना रूप उग्र धारण करता गया तो इसके दुष्परिणामों से पूरा समाज भस्म हो जायेगा। हम सभी का उत्तरदायित्व है कि हम जेण्डर-भेदभाव को समझते हुए उसके समाधान के रास्ते पर चलें। ❑

कानून

अनुसूचित जाति व जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम:1989

अनुसूचित जाति व जनजाति के लोगों को शोषण से मुक्त करने के लिए अनुसूचित जाति व जनजाति निवारण अधिनियम : 1989 बनाया गया। इस कानून के अनुसार अनुसूचित जाति व जनजाति के लोगों के साथ अगर कोई छूआछूत, अस्पृश्यता व किसी प्रकार का भेदभावपूर्ण व्यवहार करता है तो उसे एक साल की कैद और 500 रुपये जुर्माना भुगतना होगा।

इस कानून द्वारा निम्न मुद्दों को अनुसूचित जाति व जनजाति पर अत्याचार माना जाएगा :-

- उनको कोई भी ऐसी चीज खाने व पीने को मजबूर करना जो खाने पीने लायक नहीं है;
- उनके घर व आहाते में किसी भी तरह की गन्दगी जैसे - गोबर, मरे हुए पशु आदि फेंकना।
- किसी सार्वजनिक स्थान पर उन्हें नंगा करना और मुंह व शरीर को रंगकर अपमानित करना।
- उन्हें अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति का होने के कारण अपमानित करना।
- गैर कानूनी ढंग से उनकी जमीन व सम्पत्ति हथियाना।
- उनसे धोखे से, दबाव से बेगारी करवाना या बंधुआ मजदूर बनाना।
- उन्हें वोट देने से रोकना या किसी व्यक्ति विशेष को वोट देने से रोकना या किसी व्यक्ति विशेष को वोट देने के लिए मजबूर करना।
- किसी अनुसूचित जाति व जनजाति की महिला को शारीरिक व मानसिक रूप से उत्पीड़ित करना।

अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों तथा विधवा महिलाओं की बेटियों की शादी के लिए 25,000 रुपये सहायता दी जाती है बशर्ते लड़की की आयु 18 साल हो, परिवार की आर्थिक आय 5000 रुपये से ज्यादा न हो, माता-पिता की मृत्यु हो गई हो आदि।

अनुसूचित जाति की विधवाओं, बेसहारा, औरतों/लड़कियों के लिए सिलाई प्रशिक्षण की योजना। इसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रशिक्षणार्थी को प्रतिमाह 150 रुपये तक छात्रवृत्ति और प्रशिक्षण समाप्त हो जाने पर एक सिलाई मशीन मुफ्त दी जाती है। ❑

झारखंड की महिलाएं

संपादक
डा. रेणु दिपा।
मनोविज्ञान विभाग, रांची विश्वविद्यालय

प्रकाशक
बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना

दस्तावेज

पर्सनल इज पॉलिटिकल

(कैरोल हैनिच द्वारा 2006 में लिखी गई भूमिका)

'व्यक्तिगत (भी) राजनीतिक है' नामक यह आलेख मूल रूप से 1970 में प्रकाशित 'नोट्स फ्रॉम द सेकण्ड इयर : वोमेन्स लिबरेशन इन 1970' पुस्तिका में छपा था। बार-बार पुनर्मुद्रित हुआ। यह लेख आंदोलनकारियों के पास पहुंचता रहा और बाद में भी कई वर्षों तक छपता रहा। मुझे पता ही नहीं था कि यह खास चर्चित हो चुका है, पर जब मैंने गुगल पर खोज की तो पाया कि इस पर अब भी, और कई भाषाओं में विमर्श चल रहा है।

यहां मैं एक बात अपनी ओर से साफ कर देना चाहती हूँ कि इसका यह शीर्षक मेरा दिया हुआ नहीं है। जहां तक मैं जानती हूँ 'द्वितीय वर्ष के अनुभव संग्रह में इसे शामिल करने का प्रस्ताव जब कैथी साराचाइल्ड ने रखा, तब संग्रह के प्रारंभिक संपादकों शूली फायरस्टोन व एनी कोट ने इसे यह शीर्षक दिया। यह भी ज्ञातव्य है कि 'राजनीतिक' शब्द यहाँ एक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है, जो शक्ति व सत्ता के जोड़-तोड़ को इंगित करता है, न कि सिर्फ चुनावी राजनीति की संकीर्ण अवधारणा को।

प्रारंभ में इसका शीर्षक 'डॉटी के स्त्री-मुक्ति आंदोलन संबंधी विचारों की प्रतिक्रिया में मेरे कुछ विचार' था और यह जहटी जेलनर (एक अन्य कर्मचारी) द्वारा लिखी विज्ञप्ति के उत्तर में लिखा गया था, जिसमें उसका मत था कि यह आंदोलन 'बोध प्राप्ति अथवा चेतना के उभार का कार्य था। जिसका उद्देश्य स्त्रियों का मानसिक उपचार मात्र था।' उसका प्रश्न था कि क्या यह नवीन स्त्री मुक्ति आंदोलन सचमुच राजनीतिक कहा जा सकता है ?

उग्र स्त्रीवादी विचारों पर इस प्रकार की प्रतिक्रिया 1969 के प्रारंभ में कोई नई नहीं थी। उस वक्त नागरिक अधिकारों, वियतनाम युद्ध और पुरानी-नई वामपंथी विचारधाराओं को लेकर नए उग्र आंदोलन हुए, जिनमें से हम कई कार्यकर्त्ताओं का निर्माण हुआ था। लेकिन ये समूह पुरुष वर्चस्व वाले थे और स्त्री मुक्ति को लेकर सामान्यतः उनमें बड़ी घबराहट फैली हुई थी, खासकर उस नए स्त्री मुक्ति आंदोलन को लेकर, जिसकी मैं प्रबल पक्षधर थी। मिसी सिपी नागरिक अधिकार आंदोलन में दस माह तक हिस्सा लेने के बाद जब मैं न्यूयॉर्क पहुंची तो मैंने पाया कि हमारे आस-पास के सभी दलों में से सदर्न कान्फ्रेंस एडुकेशन फंड SCEF ही सबसे अधिक परिपक्व और प्रगतिशील था। 'नये समझौते' (New Deal) के जमाने से ही जाति, आर्थिक व राजनीतिक न्याय के मुद्दों पर इसकी उपलब्धियां काफी अच्छी थीं। मैंने इसके न्यूयॉर्क की उग्र सुधारवादी स्त्रियों को अपने इस दफ्तर में समाएं करने की अनुमति दे रखी थी और मेरे अनुरोध पर दक्षिण में स्त्री-मुक्ति परियोजना WLM के स्थापित होने की संभावनाएं तलाशने को भी यह संस्था राजी हो गई। लेकिन बाद में (SCEF) के कर्मचारियों में से ही कई लोग, स्त्री-पुरुष दोनों ही, इन स्त्रियों की आलोचना में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेने लगे, जो स्वयं के दमन पर चर्चा के लिए उन-चेतना-जागरण सत्रों में एकत्र होती थी। आलोचना का आधार यही था कि निजी समस्याओं पर यह चर्चा मात्र आत्मकेंद्रीयता है और निजी दिलासा पाने का एक साधन, निश्चित ही इसका कोई राजनीतिक स्वरूप नहीं हो सकता।

कभी-कभी ये आलोचक यह जरूर स्वीकार करते थे कि स्त्रियाँ प्रताड़ित हैं (किंतु सिर्फ व्यवस्था द्वारा), हमें समान वेतन मिलना चाहिए और भी कुछ अधिकारों की बात की जाती थी। लेकिन अपनी तथाकथित 'निजी समस्याओं को सार्वजनिक चर्चा में घसीट लाने के लिए उन्होंने हमें दूसरे दर्जे का माना। खासकर कुछ दैहिक मसलों, जैसे काम प्रवृत्तियों, रूप-रंग और गर्भपात पर खुली चर्चा करने के लिए हमें काफी भला-बुरा कहा गया। गृहकार्य तथा बच्चों की देखभाल में पुरुषों के भी हाथ बंटाने की हमारी मांग को एक स्त्री-पुरुष द्वय के बीच की निजी समस्या माना गया। विरोधी गण दावा करते थे कि यदि स्त्रियाँ सिर्फ 'स्वयं' के लिए खड़े हो जाने' का साहस दिखाएं और अपने जीवन का उत्तरदायित्व स्वयं ले लें, तो अपनी मुक्ति के लिए उन्हें एक अलग आंदोलन की कतई जरूरत नहीं है, यह भी कहा गया कि जो समस्याएं हम अपने निजी स्तर पर नहीं सुलझा सकें, उनका निपटारा 'क्रांति' में अपनी-अपनी भूमिका निभाएं। यह आरोप निराधार माना गया कि स्त्रियों के दमन से पुरुष लाभान्वित होते हैं।

किंतु स्त्री के दमन के लिए उसे ही दोषी मानने की बजाय पुरुष वर्चस्व के विरोध में आंदोलन छेड़ने की जरूरत को हम समझ रहे थे, तभी तो नयी स्त्री-पक्षीय विचारधारा सामने आई। इसने उस पुरानी स्त्री-विरोधी विचारधारा को चुनौती दी जो छद्म इतिहास की दलीलों से यह सिद्ध करने का प्रयास करती थी कि अपनी प्रताड़ना के लिए स्त्रियाँ स्वयं जिम्मेदार हैं।

अब वास्तविक, भौतिकवादी विश्लेषण से धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो रहा है कि स्त्रियाँ वैसा क्यों करती है, जैसा वे करती हैं (भौतिक शब्द से यहाँ मेरा मतलब मार्क्सवादी संसार के भौतिकवाद अर्थात वास्तविकता से है, न कि 'उपभोक्तवाद' से।)

'आन्दोलन की महिलाएं'
शृंखला-2
(2011)

यह पुस्तक महिला आन्दोलन को संघर्षशील महिलाओं के योगदान को रेखांकित करती है।

संपादक
डॉ० रेणु दिवान
मनोविज्ञान विभाग,
रांची विश्वविद्यालय

प्रकाशक
एजुकेशनल बुक सर्विस, नई दिल्ली

मूल्य : 300/-

यह समझ लेने पर कि स्त्रियाँ दमन को स्वीकारते रहने की जिस स्थिति में हैं, वह उनके द्वारा उत्पन्न नहीं की गई है, बल्कि उन्हें सदियों से ऐसा करने पर मजबूर किया जाता रहा है, इस समस्या से निजी स्तर पर जूझने का निरर्थक दबाव हट गया और यह वर्ग–संघर्ष का मुद्दा बन गया, जिसके लिए पुरुष वर्चस्व के खिलाफ एक अलग स्त्री मुक्ति आंदोलन की जरूरत महसूस की जाने लगी।

यह स्त्री पक्षीय सिद्धांत स्त्री–दमन की उन 'लिंग के अनुसार भूमिका' को कारण मानने वाली अवधारणा को भी चुनौती देने में सफल रहा, जिसके अनुसार समाज स्त्रियों को जैसी शिक्षा देता है वे उसी के अनुसार व्यवहार करती हैं (हम सब अपनी उन आदतों से परिचित हैं जो हममें कभी बचपन में डाली गई थीं, पर जैसे ही वे दबाव हम पर से हटे, हमने उस तरह व्यवहार करना भी छोड़ दिया)।

यह उन चेतन–जागरण सत्रों का ही असर था कि अपने 'निजी अनुभवों तथा स्त्री दमन से लाभ उठाने वाले वर्गों की जानकारी के विश्लेषण द्वारा हम स्त्री पक्षीय विचारधारा की एक वैज्ञानिक समझ विकसित कर सके।

हमारी दमनकारी परिस्थितियाँ हमारी अपनी वजह से नहीं हैं और कल के संदर्भ में वे हमारे अपने दिमाग की उपज नहीं हैं इस नए बोध ने हममें बहुत साहस भर दिया और साथ ही मुक्ति–संघर्ष के लिए एक ठोस, वास्तविक आधार प्रदान कर दिया।

'व्यक्तिगत भी राजनीतिक है' आलेख व इसमें प्रस्तुत सिद्धांत SCEF अन्य आंदोलनों द्वारा हमारे विरोध की प्रतिक्रिया थी। मैं समझती हूँ कि यह जानना आवश्यक होगा कि यह आलेख संघर्ष के ही एक उत्पाद के रूप में सामने आया सिर्फ SCEF के विरोध में मेरे संघर्ष ही नहीं बल्कि उन सब के खिलाफ संघर्ष के उत्पाद के रूप में, जो स्वतंत्र स्त्री मुक्ति आंदोलन को या तो रोकने की कोशिश कर रहे थे या इसकी धार कुंद करने की।

यह भी द्रष्टव्य है कि प्रस्तुत सिद्धांत मात्र मेरे मस्तिष्क की उपज नहीं था। यह हमारे WLM तथा इसके न्यूयॉर्क रेडियल वीमेन नाम के एक खास समूह तथा इस न्यूयॉर्क रेडियल वीमेन समूह के ही एक खास गुट, जिसे कभी कभी स्त्री पक्षीय धड़ (Pro-Women line faction) कहा जाता था, का सम्मिलित प्रयास था।

यह सच है कि न्यूयॉर्क रेडिकल वीमेन में से तथा वृहद स्त्रीवादी समुदाय में कुछ स्त्रियों ने प्रारंभ से ही हमारे चेतना जागरण के कदम का विरोध किया और इस दावे पर अड़ी रहीं कि स्त्रियों को सदियों से भरमाया गया है, जिससे वे अपने ही दमन का हथियार बन गई हैं और यह भी कि यह समस्या राजनीतिक नहीं बल्कि सामाजिक और मनोवैज्ञानिक है। यदि समझा जाए तो इन स्त्रियों ने भी हमारे स्त्री पक्षीय सिद्धांत के आकार लेने में मदद की। दरअसल इन तत्कालीन मान्यताओं के हमारे विरोध में उठ खड़े होने से हम एक तरह से मजबूर हो गए कि अपनी नई अवधारणा को अधिक स्पष्ट बनाने, उसके परिशुद्धिकरण तथा उसे अधिक धारदार बनाने में अपना पूर जोर लगा दें, जिससे यह सार्वभौमिक बन सके। न्यूयॉर्क रेडियल वीमेन की सभाओं के बाद स्त्री पक्षीय गुट की सदस्याएं अक्सर 'मितेराज' नामक एक नजदीक के रेस्तरॉं में एकत्र होतीं, जिसकी 'एपल पाई' लाजवाब होती थी। यहां हम रात के 2–3 बजे तक इस बात पर चर्चा करते रहते कि सभा कैसी रही और उसमें रखे गए विचारों का हमारे लिए क्या अर्थ है और यह सभा उपरांत चर्चा हमारे बीच सहमति, असहमति, चुनौती और एक जीवंत बहस का स्रोत बन जाया करती थी।

'निजी भी राजनीतिक है' आलेख लिखने के छह माह पहले 1968 के सितम्बर में मिस अमेरिका प्रतिस्पर्धा के खिलाफ प्रदर्शनों ने भी यही जाहिर किया कि हमारा स्त्री–समर्थक सिद्धांत हमारे कार्यों को दल के बाहर की दुनिया में प्रस्तुत करने में कितना सहायक है मेरे एक अन्य लेख 'मिस अमेरिका विरोध की समालोचना' में मैं स्पष्ट रूप से बता सकी कि किस तरह प्रतिस्पर्धा का विरोध करते–करते हम अपनी ही उस मान्यता से दूर छिटक गए हैं कि सौंदर्य के मनदंडों के इस मोहेमामंडन के कारण समूची स्त्री जाति प्रताड़ना का शिकार होती है, यहां तक कि आयोजन में प्रतिस्पर्धी भी। 'मिस अमेरिका नुमाइश' और 'मिस अमेरिका एक बड़ा झूठ है' जैसे नारों से तो ये प्रतियोगी ही हमारे दुश्मन नजर आने लगे बजाय उन पुरुष और कर्ताधर्ताओं के जो ऐसे झूठे मापदंड स्त्रियों पर लागू करते हैं।

राजनीतिक संघर्ष अथवा बहस एक अच्छे राजनीतिक सिद्धांत को कसने की सही कसौटी मानी जाती है। अन्यथा कोई सिद्धांत तो बस कुछ प्रभावशाली शब्दों का समूह है, जिस पर सोच–विचार करना कभी–कभी रुचिकर लगता है। लेकिन जब तक वह वास्तविक जीवन में लोगों की स्थिति बदलने में सफल न हो तो वह शब्दाडम्बर मात्र ही रहेगा। ऐसे बहुत से सिद्धांतों ने अपने प्रयोग के परिणामों से हमें आश्चर्यचकित किया है – सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही तरह से।

जब मैं विचार करती हूँ कि यदि आज के संदर्भों में मैं इस आलेख को फिर से लिखूँगी, इसमें क्या बदलूँगी, तो यह देखकर मुझे सचमुच बहुत अचरज हुआ कि किस प्रकार यह लेख समय की कसौटी पर खरा उतरा है। हालांकि कुछ चीजें हैं, जिन्हें मैं आज और विस्तार से लिखना चाहती, जैसे कि सामाजिक वर्गों की मेरी अति सरलीकृत परिभाषा या फिर कुछ अन्य जो आज अधिक स्पष्टता की माँग करते हैं। इनमें से दो, जो मुझे अत्यंत महत्वपूर्ण लगते हैं, 'स्त्रियाँ इतनी चतुर तो सिद्ध हुई हैं कि वे संघर्ष का रास्ता अकेले नहीं अपनातीं और दूसरा 'घर में रहना नौकरी की भूखी दौड़ में शामिल होने से कम बुरा नहीं है'।

इनमें से पहले वक्तव्य का अर्थ यह नहीं है कि चतुर होने के कारण स्त्रियाँ संघर्ष करना ही नहीं चाहतीं जैसा कि हमारे स्त्री पक्षीय सिद्धांत के कुछ विरोधी दावा करते हैं। यह सच है कि स्त्रियाँ कभी–कभी अकेले संघर्ष का रास्ता नहीं पकड़तीं। ऐसा तब होता है जब या तो वे अपनी जीत के प्रति आश्वस्त नहीं होतीं या फिर जब उन्हें संघर्ष की प्रतिक्रिया दमन से भी अधिक खतरनाक होने की आशंका होती है। फिर भी देखा जाए तो व्यक्तिगत संघर्ष हमें कुछ न कुछ तो देते ही हैं। जब WLM बहुत सक्रिय नहीं है या उसका वजूद ही नजर से ओझल हो जाता है, तब अपनी निजी लड़ाइयाँ जारी रख कर हम इसे जीवित तो रख सकते हैं, बल्कि इस

निजी संघर्ष की जरूरत हमें तब भी रहेगी जब WLM बहुत सक्रिय हो, क्योंकि हमारा दमन बहुधा हमारे जीवनवृत्त से जुड़ा होता है, प्रत्येक स्त्री के लिए भिन्न–भिन्न। आंदोलन जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यापक स्तर पर लड़ता है, उसी के लिए हमें अपने निजी स्तर पर भी सक्रिय भागीदारी दिखानी होगी। किंतु निजी प्रयास हमेशा सीमित ही हो सकते हैं, और पुरुष वर्चस्व को समाप्त करने के लिए हमें पहले के अपने सारे आंदोलनों से बड़े और शक्तिशाली आंदोलन की जरूरत है।

जहां तक दूसरे वक्तव्य का सवाल है तो उस बिंदु पर मैं सूसन बी. एन्थोनी की बात से सहमत हूँ कि मुक्त होने के लिए स्त्री का अपना आय का स्रोत होना जरूरी है। सार्वजनिक कार्य क्षेत्र में भागीदारी के बिना वे आत्म निर्भर नहीं हो सकतीं। इसका अर्थ यह भी है कि बच्चों की देखभाल की सार्वजनिक व्यवस्था, कार्य स्थलों की स्त्री पुरुष समानता की दृष्टि से पुनर्निर्मिति, घरों में बच्चों का लालन–पालन व अन्य गृहकार्यों में पुरुषों की भागीदारी के लिए भी हमें मिल कर संघर्ष करना है ताकि स्त्रियाँ ही इन सारे कामों को न करती रह जायें।

आज मुझे लगता है कि काश हम पहले ही जान पाते कि "निजी भी राजनीतिक है" और स्त्री पक्षीय विचारधारा', इन दो धारणाओं को किस–किस तरह बदला जायेगा और इनका दुरुपयोग किया जाएगा। स्त्री पक्षीय गुट (Pro-women Line) द्वारा विकसित अन्य क्रांतिकारी विचारों की तरह ही इन अवधारणाओं को बदल गया, आंदोलन से हटा ही दिया गया, जहाँ तक कि उन्हें उनके ही मूल उद्देश्य के खिलाफ प्रयुक्त किया गया।

जहाँ यह जरूरी है कि सभी सिद्धांत वास्तविक जीवन की चुनौतियों से जूझें ताकि उनकी सार्थकता सिद्ध हो सके, वहीं हमने यह भी सीखा कि एक बार जब कोई सिद्धांत अपने संरक्षकों के नियंत्रण से निकल कर वास्तविक दुनिया में आए तो उसमें सांभावित बदलाव और गलत व्याख्याताओं से उसका बचाव करना भी जरूरी है।

इस आलेख को लिखते हुए मैं हमेशा से ही चर्चित रही 'उपचार' बनाम 'उपचार और राजनीति' की वामपंथी बहस के करीब रहना चाहूँगी। इसे हम 'व्यक्तिगत' बनाम 'राजनीतिक' का नाम भी दे सकते हैं या सारे देश में चर्चा के दौरान इस बहस को कुछ और भी नाम दिए गए हैं। न्यू अहरलेन्स के दल से मिलने का मौका मुझे कभी नहीं मिला किंतु न्यूयॉर्क में गेन्स विले के दलों की सभाओं में जाते हुए मुझे एक वर्ष से अधिक हो चुका है। इन दोनों दलों पर 'उपचारिक' या 'व्यक्तिगत' होने का आरोप उन 'स्त्रियों द्वारा लगाया जाता रहा है जो स्वयं को 'अधिक राजनीतिक' मानती हैं। इसलिए मैं समझती हूँ कि इन तथाकथित 'उपचारिक' समूहों के बारे में अपना अनुभव मुझे बांटना चाहिए। ताकि कुछ गलतफहमियाँ दूर हो सकें। यदि तर्क की कसौटी पर कसा जाए तो 'उपचार' शब्द यहाँ बिल्कुल गलत नामकरण है। 'उपचार' शब्द से इंगित होता है कि कोई व्यक्ति रोगी है और उसका उपचार यानि कि एक व्यक्तिगत खास समाधान संभव है। पहली बात तो यह है कि मुझे बहुत ठेस पहुँचती है जब कोई कहे कि मुझे या किसी और स्त्री को मनोचिकित्सा की जरूरत है। क्योंकि स्त्रियाँ अपनी दयनीय स्थिति के लिए स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं, उन्हें इस स्थिति तक पहुंचाया गया है। हमें जरूरत है इस वस्तुस्थिति को बदलने की, न कि अपने उपचार की या स्थिति के अनुसार खुद को ढाल लेने से है।

हमने स्त्रियों की रोजमर्रा की निजी समस्याओं का हल ढूँढने की कोशिश अपनी बैठकों में कभी नहीं किया। चर्चा के लिए विषय चुनते समय दो तरीके अपनाए –समूह छोटा होने के कारण एक तरीका तो यह संभव हो सका कि हम बारी–बारी से बैठक में चर्चा का विषय ढूँढ कर लाएँ (उदाहरण के लिए यदि हमें चुनाव का मौका मिलता तो हम क्या। चुनते – बेटा / बेटी / कोई बच्चा नहीं और अपने जीवन में हमने असल में क्या चुना और क्यों चुना ? यदि पति आपसे कम कमाता है तो उससे आपके रिश्ते में क्या बदलाव आता है?)। फिर कक्ष में बैठी हर सदस्य के निजी अनुभवों की मदद से हम इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढने की कोशिश करते। प्रत्येक व्यक्ति को बोलने का मौका दिया जाता था। चर्चा के अंत में हम सुने हुए सारे अनुभवों में संबंध सूत्र तलाशने की कोशिश करते ताकि एक व्यापक निष्कर्ष निकाला जा सके।

मैं विश्वास करती हूँ और आगे भी करती रहूँगी कि ये चर्चाएं राजनीतिक सक्रियता का ही रूप हैं। मैं इन सत्रों में भाग इसलिए नहीं लेती कि मुझे अपनी निजी समस्याएं सार्वजनिक करने की कोई जरूरत है। बल्कि इसके उलट, मैं ऐसा करना कभी पसंद नहीं करती। आंदोलन की एक सक्रिय कार्यकर्त्ता होने के नाते मुझ पर हमेशा यह दबाव रहता है कि मैं सदा साहसी, निस्वार्थ, दूसरों के लिए सोचने वाली, त्यागमयी और सामान्यतः अपने जीवन के नियंत्रण सूत्र अपने हाथ में रखने वाली स्त्री नजर आऊँ। निजी समस्याओं के वजूद को स्वीकार करना भी अपने आपको निर्बल सिद्ध करना हो जाएगा। आंदोलन के हिस्से के रूप में मैं एक सामर्थ स्त्री बने रहना चाहती हूँ न कि यह स्वीकारना कि मेरी भी ऐसी कोई निजी समस्याएं हैं, जिनका हल मैं स्वयं नहीं ढूँढ़ पा रही हूँ (इन समस्याओं के अलावा जो पूँजीवादी तंत्र से सीधे जुड़ी हैं)। इस स्थिति में अपने अनुभव को उस तरह व्यक्त कर पाना जिस तरह हमने उसे महसूस किया है, अपने जीवन को उस तरह चित्रित कर पाना जैसा वह हमें लगा है, न कि वैसा जैसी हमसे कहने की अपेक्षा की गई है, निश्चित ही एक साहसिक राजनीतिक कदम है।

अतः इन बैठकों में मेरी भागीदारी किन्हीं निजी समस्याओं का हल ढूँढने के लिए नहीं थी। इन चर्चाओं में एक पहली चीज, जो हमारे सामने स्पष्ट हुई, वह यही थी कि अब तक हम जिन्हें अपनी निजी समस्याएं मानते आए हैं वे दरअसल राजनीतिक है। इस काल–बिन्दु पर इन समस्याओं के निजी समाधान के लिए हमें सामूहिक तौर पर प्रयत्न करना होगा। मैं इन बैठकों में शामिल हुई, होती रही क्योंकि मेरी जो राजनीतिक समझ इन चर्चाओं से विकसित हुई, वह मेरा समूचा अध्ययन, सारे राजनीतिक बहस मुबाहिसे, सारे राजनीतिक कार्यक्रम और आंदोलन मिलकर भी नहीं कर सके थे। अपनी आँखों पर अपने लंबे राजनीतिक अनुभव

का गुलाबी चश्मा जो मैंने चढ़ा रखा था। उस उतारने को मैं बाध्य हो गई और अंतत इस कड़वे सच का सामना मुझे करना ही पड़ा कि एक स्त्री के रूप में मेरा जीवन वास्तव में कितना कठोर है। पहले की उस गुट बौद्धिक समझ, 'दूसरों' के लिए संघर्ष से पैदा हुए उस दयाभाव और उच्चता के शिखर पर बैठी अपनी छवि के विपरीत यह नवीन बोध मेरे अपने अनुभव, मेरे अपने संघर्ष के सच्चे स्वरूप को जान लेने के कारण विकसित हुआ था।

यहीं इससे इन्कार करना बेमानी होगा कि इन सत्रों के कम-से-कम दो पहलू तो सचमुच मनोचिकित्सा जैसा महत्व भी रखते थे। हालांकि उन्हें भी मैं 'निजी उपचार' की बजाय 'राजनीतिक उपचार' कहना अधिक पसंद करूँगी। सबसे महत्वपूर्ण पहलू था स्वयं पर इल्जाम लगाने की यंत्रणा से मुक्ति। एक बार सोच कर देखिए सारी औरतें और श्रमिक (श्रमिक की मेरी परिभाषा के अनुसार वह प्रत्येक शख्स श्रमिक है, जो कार्य नहीं करता) स्त्रियाँ यदि अपनी कमतर जिंदगी के लिए स्वयं को जिम्मेदार मानना छोड़ दें तो हम क्या पा सकते हैं। मुझे लगता है कि समूचे देश को इस प्रकार के राजनीतिक उपचार की जरूरत है। अश्वेत आंदोलन भी तो आखिर यही कर रहा है किंतु अपने तरीके से। हमें यह अपने तरीके से करने की जरूरत है। अपने आपको जिम्मेदार न मानने की अभी हमने शुरुआत भर की है। हमें ऐसा भी लगता है कि हम जीवन में पहली बार अपने लिए चिंतन कर रहे हैं। जैसा कि एक 'लिबिथ' व्यंग्यचित्र में कहा गया है, "मैं बदल रही हूँ, मेरे दिमाग में मांसपेशियाँ बढ़ रही हैं।" वे लोग जो विश्वास करते हैं कि मार्क्स, लेनिन, एंजिल्स, माओ तथा 'हो' इस मुद्दे पर अंतिम व सबसे बेहतर निर्णय दे चुके हैं और स्त्रियों के पास इसमें जोड़ने के लिए कुछ भी नहीं है, वे इन बैठकों को समय की बरबादी ही मानेंगे।

मैं जिन समूहों की सदस्य थी, वे इन बैठकों के कारण कोई मुक्त या गैर परंपरिक रहन-सहन वाली स्त्रियों के समूह नहीं बन गए थे। अपनी बैठकों में इस नतीजे पर पहुँचने में हमें अधिक दिन नहीं लगे कि वर्तमान परिस्थितियों में सारे ही विकल्प स्त्रियों के लिए अनिष्टकारी हैं – चाहे हम किसी पुरुष के साथ रहते हों या उसके बिना, दल में रहते हों, या जोड़े में, अकेले हों, शादीशुदा या कुँवारे, अन्य स्त्रियों के साथ रहते हों, मुक्त प्रेम को मानते हों, ब्रह्मचर्य अपनाएं या लेस्बियन हों या कोई भी और जुगाड़ करें – हरेक बुरी स्थिति में कुछ अच्छी और कुछ बुरी चीजें होती हैं बस! आज हमारे पास मुक्ति के कोई बेहतर रास्ते हैं ही नहीं, इन बुरे विकल्पों के सिवाय।

हम जिन महत्वपूर्ण सिद्धांतों को स्थापित करने की पहल कर रहे हैं, उनमें से एक को मैं यहां प्रस्तुत करना चाहती हूँ। हमने इसी स्त्री पक्षीय धारा का नाम दिया है (Pro-women Line) मूलतः यह अकारण स्त्रियों को अच्छा इन्सान मानती है। हमारे बारे में जो बुरी बातें कही जाती हैं, वे या तो निश्चित हैं (जैसे स्त्रियां बेवकूफ होती हैं) या कुछ महत्वाकांक्षी स्त्रियों की चालें (जैसे अमुक स्त्री डायन है) या कुछ हमारी अपनी मान्यताएं, जिन्हें हम नए समाज में भी ले जाना चाहते हैं और चाहते हैं कि पुरुष भी इन्हें मानें (जैसे स्त्रियाँ कोमल व भावुक होती हैं)। दरअसल सभी दमित समुदायों की तरह स्त्रियाँ भी जरूरत के अनुसार अभिनय का सहारा लेती हैं (जैसे पुरुषों की उपस्थिति में गूँगी गुड़िया की तरह पेश आना) जो अपनी इच्छा से नहीं बल्कि हमारी प्रतिरक्षा प्रणाली का कार्य होता है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व में कई ऐसी छल-कपट की तकनीकों का समावेश कर लिया है जो बचे रहने के लिए उन्हें जरूरी लगता है (जैसे हमेशा सुंदर दिखना, अपनी हँसी और हाव-भावों को आजीविका या पुरुष को पाने के लिए या इन्हें बचाए रखने के लिए इस्तेमाल करना) और इन तरीकों को वे तब तक प्रयोग करती रहेंगी जब तक कि एकता की शक्ति द्वारा वे मुक्त न हो जाएं और ये तरीके बेजरूरत हो जाएं।

स्त्रियाँ इतनी चतुर तो हैं कि अकेले पुरुष जाति से नहीं भिड़तीं (वैसे ही जैसे अश्वेत या श्रमिक) वे जानती हैं उनके लिए घर में रहना भी उतना ही बुरा विकल्प है, जितना नौकरी की चूहा दौड़ में घर के बाहर पिसना दोनों ही विकल्प हमारे लिए एक समान है। जरूरी हो गया है कि अश्वेतों, यहां हम अपने संदर्भ में दलित पढ़ सकते हैं और श्रमिकों की तरह स्त्रियां भी अब अपनी पराजयों के लिए खुद को कसूरवार मानना बंद कर दें।

स्त्रीपक्षीय अवधारणा को अपने जन्म से इस निष्कर्ष तक पहुँचने और प्रत्येक स्त्री के जीवन से इसका संबंध है, यह दिखाने में हमें करीब दस महीने लगे। इतना वक्त इसलिए भी लगा कि संघर्ष के लिए हम अपनी रणनीति भी तय करना चाहते थे। जब हमारी बैठकों की शुरुआत हुई थी, यदि तभी हम बहुमत की बात मानते तो हम शायद सड़कों पर होते शादी और बच्चों के लालन-पालन के खिलाफ, कार्य चुनने की स्वतंत्रता के लिए, सजने-संवरने वाली स्त्रियों और गृहणियों के खिलाफ, दैहिक भिन्नताओं को नजर अंदाज करने और संपूर्ण समानता पाने के लिए, और भी भगवान जाने किस-किस चीज के लिए संघर्ष करते हुए। किंतु अब लंबे सोच-विचार के बाद हमें नजर आ रहा है कि ये सारी चीजें मात्र व्यक्तिगत समाधान ही कहे जा सकते हैं।

वर्तमान में आंदोलनकारी गुटों द्वारा संघर्ष के लिए कई मुद्दे इनमें से ही उठाए गए हैं मिस अमेरिका प्रतिस्पर्धा के समय स्त्रियों के ही विरुद्ध आंदोलन छेड़ देने वाली, बिना सैद्धांतिक आधार के शोर-शराबा करने वाली, ये स्त्रियाँ थीं। इसी तरह का एक गुट दिन के समय बच्चियों की देखभाल करने वाला एक निजी केंद्र खोलना चाहता है – इन बातों पर विचार किए बिना कि छोटी बच्चियों के लिए इससे भी बेहतर कोई विकल्प हो सकता है या फिर इन केन्द्रों से क्रांति का अखिरकार कौन-सा उद्देश्य पूरा होगा।

किंतु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम सिर्फ सोचते हुए, हाथ पर हाथ रख कर बैठे रहें। दरअसल हमारे पास इसके पर्याप्त कारण हैं कि हमारा दल अभी कोई कार्यवाही नहीं करना चाहता। मैं नहीं चाहती कि कुछ कर दिखाने की जल्दबाजी और जोश में हम आंदोलन को गलत दिशा दे दें। हमारे न्यूयॉर्क गुट ने इस बात पर हमेशा ही मतभेद रहा कि कोई कार्यवाही की जाए या नहीं। जब मिस अमेरिका प्रतिस्पर्धा का मसला उठा तो हम लगभग एकमत थे कि हमें विरोध करना चाहिए

क्योंकि हमें लगता था, यह मसला हमारी जिंदगी से सीधे–सीधे जुड़ा है। हमें लगा कि यह एक प्रगतिशील कदम होगा। हालांकि विरोध की कार्यवाही में कुछ गलत फैसले भी शामिल हो गए केंतु मूल विचार एकदम सही था।

'उपचारिक' या 'निजी' होने का आरोप आपने ऊपर चलते इन मुद्दों के साथ यह था मेरा अनुभव। शायद इनमें से कुछ मुद्दे रहे भी हों जो ऐसी मनोचिकित्सा भी करते हैं। किंतु तुरंत–फुरत कार्यवाही कर डालने की धुन में निजी अनुभवों का सटीक विश्लेषण न कर पाने की भूल शायद हमें अपने सवालों के जवाब कभी न दे पाए, बल्कि हमें संघर्ष का वह तरीका चाहिए जिससे हम अपेक्षित परिणाम हासिल कर सकें, यह सच है कि हम जिन निजी अनुभवों, आकांक्षाओं की बात करते हैं उनमें संबंध सूत्र ढूँढने और उनसे सार्वभौमिक निष्कर्ष निकालने का हुनर हमें अभी और अच्छी तरह सीखना है। हममें से कुछ ने इस कला की जरूरत के बारे में दूसरों को बताने की जिम्मेदारी ठीक से नहीं निभाई।

यहां एक और बात मैं कहूँगी – हमें यहां मुख्यधारा की तथाकथित 'अराजनीतिक' स्त्रियों की विचार प्रक्रिया को समझने की भी बहुत जरूरत है ज्यादा बेहतर ढंग से कर सकते हैं, कि यदि वे हमारे साथ मिल जाएं तो हमारा आंदोलन रच्चे अर्थों में राबका आंदोलन बन सकता है। मैं महसूस कर रही हूँ कि हम जैसे कार्यकर्ता जो अपना पूरा समय आंदोलन को दे रहे हैं, धीरे–धीरे एक वैचारिक संकीर्णता का शिकार होते जाते हैं। आज की सच्चाई यही है कि गैर–आंदोलनकारी स्त्रियों हमसे सहमत नहीं रहीं और हमें गलतफहमी हो गई हो कि ऐसा उनके 'अ–राजनीतिक' होने के कारण है, न कि हमारा अपना नजरिया गलत होने के कारण। स्त्रियों ने बड़ी संख्या में अन्य आंदोलनों से भी किनारा कर लिया है। इसका एक सीधा–सीधा कारण तो यह है कि हम भोग्य बनते–बनते थक चुके हैं और उन पुरुषों के लिए निरर्थक खटते हुए भी, (बाकी) मान्यता की मुक्ति के राजनीतिक संकल्प की बात करते हुए जिनका दोमुँहापन साफ नजर आता है। लेकिन बात यहीं खत्म नहीं होती। मैं इसे सबसे इसे ठीक–ठीक व्यक्त तो नहीं कर पा रही हूँ लेकिन मुझे लगता है कि 'अराजनीतिक' स्त्रियों के आंदोलन में हिस्सा न लेने की वजहें बहुत सशक्त हैं, और जब तक हम उन पर यह जोर डालते रहेंगे कि 'आपको हमारी तरह ही सोचना पड़ेगा और आंदोलन का हिस्सा बनने वाले हमारे खास ढर्रे में जुड़ने के लिए हमारी तरह ही जीना पड़ेगा', तब तक हम असफल रहेंगे। मैं यही कहने की कोशिश कर रही हूँ कि 'अराजनीतिक' (हालांकि मैं उन्हें राजनीतिक ही मानती हूँ) स्त्रियों के अवचेतन में कुछ बातें हैं जो उतनी ही सच हैं, जितनी हमें अपनी राजनीतिक समझ लगती है। हमें यह जानने की कोशिश करना ही चाहिए कि इतनी सारी स्त्रियाँ आखिरकार सक्रिय क्यों नहीं होना चाहतीं। हमारे लिए अभी यह स्पष्ट नहीं है कि क्या हमारी कार्यवाही ही कुछ गलत है या यह कि हम कार्यवाही कर क्यों रहे हैं या फिर करने के कारणों का हमारा विश्लेषण गलत है।

❑ *अनुवाद–अनुपमा गुप्ता*

जिंदगी से प्यार है, इसलिए लड़ रही हूँ : इरोम शर्मिला

मणिपुर की इरोम शर्मिला पिछले 12 सालों से सैन्य विशेषाधिकार कानून के खिलाफ अनशन कर रही हैं। अनशन पर बैठी इरोम पर 'दिल्ली पुलिस ने 2006 में आत्महत्या का मुकदमा दर्ज किया था। इस मुकदमे के सिलसिले में ही पिछले दिनों उन्हें दिल्ली उच्च न्यायालय लाया गया था।

अब कानून क्या कहता है जरा इसका नमूना देखिये –

धारा 1. भारतीय दंड संहिता की धारा 309, यानी अपनी जान लेने की कोशिश के लिए किसी व्यक्ति को एक साल की सजा का प्रावधान है, जबकि इरोम शर्मिला पिछले छह सालों से पुलिस हिरासत में हैं।

नजीर 2. जब से अदालत में जज के सामने पेश हुई –

मद्रास हाईकोर्ट जज अकाश सेन ने उनके मुकदमे की पूरी प्रक्रिया समझाई। इरोम शर्मिला ने जुर्म कबूलने से फिर भी इंकार कर दिया और कहा मैं जिंदगी से प्यार करती हूँ, उसकी कद्र करती हूँ यही कारण है कि मैं सहज, भारत सरकार के मणिपुर के लोगों पर हो रहे जुल्म और सेना को मिले विशेषाधिकार को खत्म किए जाने के लिए अहिंसक तरीके से अपना विरोध दर्ज कर रही हूँ।' मेरा इरादा अपनी जान लेने का कभी नहीं रहा है। इरोम शर्मिला को कानूनी सलाह देने वाली वकीलों के दल के सदस्य लतांजना कोरिया ने बताया, 'पूरी तरह से शांत और खुद पर काबू रखे हुए इरोम शर्मिला ने जज से कहा कि वे अपनी जान नहीं लेना चाहतीं, बल्कि आत्मसम्मान का जीवन जीना चाहती हैं।'

उन्होंने अदालत से कहा, 'जैसा दिन सोनी को दिया गया विशेषाधिकार कानून खत्म कर दिया जाएगा, तो मैं अनशन तोड़ना शुरू कर दूँगी।

इरोम शर्मिला पिछले बारह सालों से भोजन ग्रहण नहीं कर रही हैं और उन्हें नाक के रास्ते जबरन तरल आहार दिया जाता है।

अदालत का कहना था कि उनकी मांग एक राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा है और वो सिर्फ एक मामले, यानी इरम शर्मिला पर उनके आत्महत्या के आरोप की सुनवाई कर रहे हैं।

तो यह कानून है जिसे अन्य किसी बात से लेना देना नहीं होता और कौन है जिसके हाथ इससे बंधे नहीं होते, चाहे वह जज साहब ही क्यों न हों। इसे कहते हैं 'कानून के हाथ' या के 'कानून अपना काम करेगा'।

लेकिन इरोम शर्मिला के हाथ इससे नहीं बंधे हैं, वे बंधे हैं मणिपुर की जनता से 'अच्छी सुबह–शांति और आत्मसम्मान से। वे लड़ेंगी और जीतेंगी। ❑

यौनिकता के व्यापक आयाम

यौनिकता : एक नारीवादी मुद्दा — महिलाओं के स्वयं की यौनिकता से उसके कारणों की खोज

सुनीला अबेसेकरा

महिला यौनिकता पर नियंत्रण रखना पितृसत्ता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। प्राचीन सभ्यताओं में, प्रजनन और पुरुष के बीच संबंध समझ आने के बाद, महिलाओं की प्रजनन क्षमता और उनके बच्चों को 'अपनाने' और 'नियंत्रित' करना पुरुषों के अस्तित्व के लिये आवश्यक हो गया।

कभी–कभी, कई समुदायों में, महिला प्रजनन और यौनिकता को लेकर एक प्रकार का भय, कभी–कभी आदर मिश्रित भय का आभास भी होता है। यह तब अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम विभिन्न प्रकार की परंपराओं, सांस्कृतिक प्रथाओं, रिवाजों व धार्मिक आदेशों को देखते हैं जो महिलाओं को पुरुषों के नियंत्रण में रखने की बात कहते हैं। मैडोना अथवा वेश्याओं के रूप में महिलाओं के चित्रण ने एक प्रकार का विरोधाभास खड़ा कर दिया जो आज भी कला, साहित्य, सिनेमा में देखने को मिलता है; जहाँ 'बुरी महिला' के विपरीत अच्छी महिला की निश्चत छवि (स्टीरियोटाइप) की रचना की गई। अक्सर 'बुरी महिला' वह होती है जो अपनी यौनिकता को लेकर स्वतंत्र होती है और कभी–कभी सेक्सुअॅल फेवर्स को लेकर भी; वह 'सेक्सी' होती है, जबकि अच्छी महिला पतिव्रता, कुँवारी एवम् यौनिकता से दूर रहने वाली होती है।

हाल ही में यौनिकता से संबंधित चर्चाएं वैकल्पिक यौनिक आदतों पर केन्द्रित हो गई हैं। कुछ मंचों पर, स्त्री समलैंगिकता (लेस्बियनिस्म) पर बात करने को ही यौनिकता पर चर्चा करना माना जाने लगा है। तथापि, वास्तविकता यह है कि यौनिकता की संकल्पना में कई प्रकार के यौनिक व्यवहार व आदतें शामिल हैं, जो कि प्रचलित मुख्य विधा से अलग है। इसमें समलिंगी, गे, लैस्बियन शामिल हैं; साथ ही निश्चित तौर पर यौनिक अभिव्यक्ति और महिलाओं की यौनिक स्वतंत्रता के संघर्ष की दृष्टि से, इस श्रेणी में एकल महिलाओं, विधवाओं, कुँवारों (वर्जिन) को भी शामिल किया जा सकता है। इनमें से कुछ महिलाओं को राज्य, धर्म अथवा समुदाय के द्वारा सेक्स करने से निषिद्ध कर दिया गया है क्योंकि वे बहुत छोटी हैं, बहुत बड़ी हैं, विवाहित हैं, अविवाहित हैं, कुँवारी हैं जिन्हें अपने योनिच्छाद (हाइमन) की रक्षा करना है क्योंकि वह उनकी सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु हैं इनमें से कुछ महिलायें ऐसी हो सकती हैं जिन्होंने पुरुषों के साथ सेक्स न करने का निर्णय लिया है और कुछ वे हो सकती है जिन्होंने किसी भी प्रकार के सेक्स से दूर रहने का निर्णय लिया है। ये सभी वे महिलाएं हैं जिन्होंने मुख्यधारा के यौनिक नियम एवम व्यवहार पद्धतियों को चुनौती दी है एवम् इसलिये ही सजा की पात्र हैं। आज भी अधिकतर समाजों में लिंग परिवर्तन घोर अपराध है।

वर्तमान में मैं सिंहला सिनेमा में महिला यौनिकता की छवि पर कार्य कर रही हूँ। मैं यह थीसिस लिख रही हूँ कि सिनेमा की शैली में, जो महिला समुदाय में सेक्स की वर्जनाओं को तोड़ती है, उनके लिये चार विकल्प ही बचते हैं : वह पागल हो सकती है, वह आत्महत्या कर सकती है, उसकी हत्या की जा सकती है अथवा वह धार्मिक रीति–रिवाजों का हिस्सा बन सकती है। एक के बाद दूसरी फिल्म में, मैं अनगिनत महिलाओं को पागल होते हुए स्वयं को मारते हुए उनकी हत्या होते हुए अथवा उन्हें नन बने हुए देखती हूँ। स्वयं की यौनिकता इजहार करने का जुर्माना अत्यधिक कठोर है। यौनिकता किससे बनी हुई है? निश्चित रूप से यौनिक आदतों से। यौनिक प्राथमिकताओं से आप किसके साथ सेक्स करते हैं और कैसे? यौनिक इच्छाओं से , यौनिक आनंद से। आप यौन आनंद कैसे प्राप्त करते हैं और आपकी यौनिक कल्पनाएं क्या हैं? जब आप सेक्स से संबंधित सपने देखते हैं, तब आप क्या देखते हैं? आप किसे 'सेक्सी' मानते हैं और क्यों?

महिलाओं के जीवन में आनंद और खतरे के बीच जबरदस्त तनाव होता है। अपनी यौनिकता का अभ्यास आनंददायक हो सकता है, एक आनंददायक खोज हो सकता है; यह अपराध भावना, दमन एवम् सेक्स के प्रति स्वीकृति की भावना से भरा हुआ भी हो सकता है। हमारी यौनिकता का नकारात्मक पक्ष वह है जो हमें सभी प्रकार के यौनिक शोषण और दुर्व्यवहार के प्रति कमजोर बनाता है जैसे बलात्कार या परिवार में यौन शोषण व हमारी इच्छा के खिलाफ यौनिक बंधन। यह कमजोरी हमें अपनी यौनिकता को प्रयोग करने से जुड़े संभावित खतरे से सचेत करती है, कई बार अत्यधिक सचेत करती है। समकालीन समाज में, महिलाओं पर नियंत्रण रखने के लिये, यौनिक हिंसा की धमकी सबसे शक्तिशाली हथियार है।

इस खतरे के अवयव के, हम महिलाओं को भयानक परिणाम उठाने पड़ते हैं। हम अपनी ही यौनिकता से डरने लगते हैं। हम अपनी आनंद प्राप्त करने की क्षमताओं को झुठलाने लगते है। महिलाओं के लिये चरम आनंद इतना रहस्यमय क्यों हैं? यह कई महिलाओं से जिंदगी भर कैसे भागता रहता है? क्या ऐसा इसलिये है कि हमारे तन इस कदर प्रशिक्षित हैं और मन इस कदर बेड़ियों में बँधे हैं कि हम चरम आनंद के क्षण को जी नहीं सकते?

क्योंकि हमारी यौनिक इच्छाएं इस कदर दबी होती है और सामाजिक नियमों एवम् 'स्वीकार्य' व्यवहार के पर्दे में इस तरह से छुपाई जाती है कि वे हमारे मन की गहराइयों में दबी रहती है और सपनों में ही उभर कर बाहर आती है। हम सेक्स को लेकर कल्पनाएं करते हैं पर हममें से अधिकतर लोग इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे, यहाँ तक कि हम स्वयं से भी स्वीकार नहीं करेंगे क्योंकि 'अच्छी' महिलायें ऐसा नहीं करती हैं। एक शताब्दी पहले तक मुख द्वारा किया जाने वाला सेक्स एक वर्जित विषय था। आज यह यौनिक आदतों का एक स्वीकृत हिस्सा

है। गुदा सेक्स कुछ खतरनाक है, आखिकार सोडोमी आज भी कई कानून की किताबों में एक अपराध है। जो लोग समलिंगी नहीं हैं; उनके लिये समलिंगी सेक्स उत्तेजक है। उन लोगों की संख्या जो कथित रूप से 'स्ट्रेट' (विषमलिंगी) हैं परन्तु समलिंगी काम साहित्य का आनंद उठाते हैं, स्वयं ही इस सच को बताती है। हम में से कितने लोग हैं जो समान लिंग वाले व्यक्ति से सेक्स करने की इच्छा रखते हैं अथवा उस तरह से सेक्स करने की इच्छा रखते हैं जो हमारे संदर्भ में अपरम्परागत हैं? हममें से कई लोगों के लिये सबसे ज्यादा परेशानी का विषय है, सेक्स में पीड़ानन्द; एक दूसरे को सेक्स में पीड़ा लेकर या देकर आनंद प्राप्त करना। चोट? दर्द? ऐसा लगता है कि हम संदेह कर रहे हैं; परन्तु, यथार्थ में पीड़ा और आनंद आपस में गइराई से जुड़ी हुई संवेदनाएं हैं। बाँधना, मारना, तरसाना, यातना के 'कोमल' रूपों का प्रयोग — क्या ये यौनिक व्यवहार के स्वीकृत रूप हैं? और सर्वाधिक कठिन सवाल क्या? पोर्नोग्राफी का क्या? यौन व्यवहार की तस्वीरों का उत्पादन और पुनः उत्पादन वैश्विक स्तर पर बिकने वाला माल क्यों बन गया है? ये सभी मुद्दे यौनिकता को लेकर हमारे नजरिये से संबंधित हैं।

यौनिकता से संबंधित चर्चा का अन्य नाजुक मुद्दा है, कुछ यौनिक आदतों और व्यवहारों को अन्य तरीकों के मुकाबले अधिक महत्व दिया जाना। ऐसा इसलिये है क्योंकि समाज में कुछ सामाजिक सांस्कृतिक मानकों के आधार पर इन व्यवहारों को ज्यादा महत्व दिया जाता है जोकि सामाजिक–सांस्कृतिक वर्गीकरण और अनुक्रम पर आधारित है। उदाहरण के लिये, शादी के बाद सेक्स करने की इजाजत कानून देता है, इसलिये ही राज्य, धर्म और समुदाय भी। विवाह के बाहर सेक्स करना आज भी कई समुदायों में वर्जित है; एकल परिवारों को ही इन समाजों में आदर्श माना जाता है और यह माना जाता है कि सेक्स का उद्देश्य बच्चे पैदा करना है। यह विचार कि सेक्स का उद्देश्य प्रजनन न होकर मात्र आनंद प्राप्त करना हो सकता है, आज भी कई समुदायों में अत्यंत अभद्र माना जाता है, यद्यपि इस शताब्दी में गर्भनिरोधक साधनों के विकास के बाद मनुष्य जाति के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि सेक्स को प्रजनन से अलग कर के देखा जा सकता है। जिस प्रकार से 'कुंवारेपन' को महत्व दिया जाता है, विवाह–पूर्व और विवाह–पश्चात के सेक्स की निंदा की जाती है तथा जिस प्रकार से कुछ यौनिक आदतों जैसे समलैंगिकता को अपराधों की श्रेणी में रखा जाता है, वह यह इंगित करता है कि हमें और हमारे समाजों को मानवीय यौनिकता के विविधि रूपों को स्वीकृत करने में और उनका महत्व समझने में कितनी कठिनाई होती है, वे विविध रूप जो हमारे चारों ओर हैं और उन लोगों की जिंदगी के महत्वपूर्ण हिस्से हैं, जिनके साथ हम रहते हैं और जिन्हें प्यार करते हैं। महिला आंदोलन के अंतर्गत, यौनिकता का मुद्दा, एक मुश्किल विषय रहा है। वे नारीवादी जो स्टीरियोटाइप, एकल पत्नी विवाह और एकल परिवार के मानकों को चुनौती

देना चाहती थी वे कम से कम 1980 तक तो सही थी जब वे यौनिकता के मुद्दे को अपना मुद्दा बनाने को इच्छुक नहीं थी। इसके पीछे एक कारण था शायद उनका स्वयं का हित। 1980 के मध्य तक हमें एक हद तक यह स्वीकृति और पहचान मिल गई थी कि हम स्वयं को विवादास्पद मुद्दे उठा कर जोखिम में नहीं डालना चाहते थे। हम ऐसा स्थान चाहते थे जहाँ हम अपनी मेहनत के फल का आनंद ले सकें। हमें डर था कि हमें कन्सर्वेटिव और राइट–विंग समूह, जो कि स्वच्छंद यौनिकता को एक प्रकार का उपद्रव मानते हैं, की कठोर निंदा का सामना करना पड़ेगा। हम नहीं चाहते थे कि लोग हमें लैस्बियन के नाम से पुकारे। हम मुख्य धारा में, पुरुषों के संसार में, जायज सहभागी के तौर पर प्रवेश करना चाहते थे। काँच की दीवारों को तोड़ने के हमारे प्रयासों में हम अपनी उन बहुत सारी बहिनों को भूल गये जो जातिवाद, वर्ग भेद, अनिवार्य विषमलैंगिकता या पितृसत्ता के द्वारा दबाई गई थी। हमारी पितृसत्ता की समझ का दायरा शक्ति के अन्य स्रोतों जैसे पूँजीवाद और जातीय प्रधानता की विचारधारा से इसके संबंध तक ही सीमित रहा। परन्तु इसमें महिलाओं में पाये जाने वाले विभेदों की समझ निहित नहीं थी।

सिस्टरहुड और सॉलिडैरिटी में हमारा विश्वास भ्रामक निकला।

असमानता, चाहे वह महिला और पुरुष के बीच हो या महिला और महिला के बीच हो, को दूर करने के महिलावादी तरीकों को विकसित न कर पाने के असामर्थ्य ने हमारे बीच एक तरह का अलगाव पैदा कर दिया है जो साफ तौर पर जाहिर होता है और आज भी समस्यात्मक है।

सन 1984 में कैरोल वान्स ने कुछ सवाल उठाये :

- क्या महिला और पुरुष का यौनिक स्वभाव आवश्यक रूप से अलग है अथवा यह निश्चित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिणाम है?
- क्या महिलाओं की यौनिकता को दमन के द्वारा मूक रखा गया है अथवा यह पुरुषों की यौनिकता से पूरी तरह से भिन्न है?
- क्या महिलाओं के साथ यौनिक हिंसा होने के खतरे का कारण पुरुषो का मूलभूत व आक्रामक स्वभाव है, अथवा उन पितृसत्तात्मक परिस्थितियों में है जो पुरुष यौनिकता को आक्रामक और महिला यौनिकता को अधीनता व अनुपालना करना सिखाती है।
- पुरुष यौनिक हिंसा को किस तरह से कम या खत्म किया जा सकता है?

—महिलाओं के यौनिक अनुभव–में जनन की संभावना का विचार कैसे आता है?

15 साल बाद आज भी ये सवाल प्रासांगिक हैं। वास्तव में, जिस दुनिया में हम एड्स की महामारी का सामना कर रहे हैं, जहाँ गे और लैस्बियन के अधिकारों के लिये आंदोलन का विकास हो रहा है, जहाँ कई आधुनिक समाजों में समलैंगिक लोग दृष्टिगत होते हैं चाहे उन्हें स्वीकृति मिली हो या न मिली हो, ऐसी दुनिया में हमारे यौनिकता और यौन आदतों को कई पूर्वानुमानों को बुनियादी तौर पर चेतावनी दी जा रही है। हम पर दबाव बढ़ता जा रहा है कि हम विश्व स्तर पर नारीवादी आंदोलन में जो मुद्दे उभर रहे हैं उन पर ध्यान दें और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। हमारे यौनिक अधिकारों को पहचाना जा रहा है और अंतर्राष्ट्रीय मंचों जैसे चौथे अंतर्राष्ट्रीय महिला सम्मेलन में उस पर चर्चाएं हो रही हैं।

आज हम उस संसार में रहते हैं जहाँ यह माना जा चुका है कि परिवारों के विविध रूप हैं, यह माना जा चुका है कि महिला और पुरुषों को यह यौन और प्रजनन अधिकार है कि वे भेदभाव, दबाव और हिंसा से मुक्त सेक्स का आनंद ले सके, यह स्वीकार किया जा चुका है कि यदि मुनष्य जाति के गौरव के प्रति इज्ज़त व सहनशीलता हो तो विविध प्रकार के यौन व्यवहार एक साथ रह सकते हैं।

इस भावना के साथ नारीवादी आंदोलन को जारी रखना चाहिये और यौनिकता पर चर्चाएं जारी रखना चाहिए।, लैस्बियन, समाज द्वारा बहिष्कृत और हाशिये पर जीवन जी रही महिलाओं के साथ संबंध बनाये रखेंगे।

शब्दावली

यौनिकता : यौनिकता सम्पूर्ण मानव जीवन का केंद्र बिन्दु है और इसमें यौन, जेंडर की पहचान व भूमिकायें, यौन रूचियाँ, कामेच्छा, आनंद, सामीप्य और प्रजनन सम्मिलित हैं। यौनिकता का अनुभव और इसकी अभिव्यक्ति विचारों, कल्पनाओं, इच्छाओं, विश्वासों दृष्टिकोण, मूल्यों, आचरणों, प्रथाओं, भूमिकाओं और संबंधों के माध्यम से होती है। यद्यपि यौनिकता में यह सभी भावनायें समाहित होती है फिर भी यह आवश्यक नहीं कि इन सभी का अनुभव हो या सभी अभिव्यक्त हों। यौनिकता पर जैविक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, जातीय, वैधानिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक संबंधों का प्रभाव पड़ता है।

लैस्बियनिस्म : महिलाओं के जीवन का वह निर्णय जिसमें वे भावनात्मक, व्यक्तिगत व राजनैतिक रूप से महिलाओं को ही अपने जीवन में महत्वपूर्ण स्थान देती हैं। (रीता में ब्राउन 1976, 90) स्रोत : अमेजोंस, ब्लूस्टोकिंग और कॉर्न्स। ए फैमिनिस्ट डायरी, 1992

हैटरोसेक्सुऍलिटी : विपरीत लिंग के व्यक्ति (व्यक्तियों) के प्रति यौन भावना अनुभव करना, कुछ महिला व पुरुष इस भावना का आनंद उठाते हैं। स्रोत : अमेजोंस, ब्लूस्टोकिंग और कॉर्न्स। ए फैमिनिस्ट डायरी, 1992

होमोसेक्सुऍलिटी : अपने ही लिंग के व्यक्ति (व्यक्तियों) के प्रति यौन भावना अनुभव करना। कुछ महिला व पुरुष इस भावना का आनंद उठाते हैं। स्रोत : अमेजोंस, ब्लूस्टोकिंग और कॉर्न्स। ए फैमिनिस्ट डायरी, 1992

सुनीला अबेसेकरा, आयु 46 वर्ष, एकल माता (सिंगल मदर) हैं और श्रीलंका में पिछले 25 वर्षों से क्षेत्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला व मानव अधिकारों के मुद्दों पर कार्य करती हैं।

पूर्णांक–228 वर्ष 20 अंक 2ए सितम्बर 2005 ; दस

स्वायत्तता एक बहुत बड़ा मूल्य है

लेखक – निवेदिता मेनन

यदि प्रत्येक समाज व समय की नैतिकता अलग–अलग होती है तो आप आज के समय की नैतिकता को कैसे परिभाषित करेंगी?

मेरे ख़याल में आज के ज़माने में एक सार्वभौमिक या यूनिवर्सल नैतिकता को दें एक जैसी नहीं होती. नैतिकताएं अलग–अलग होती हैं. लेकिन इसके बावजूद हम एक ऐसे मापदंड की तलाश में रहते हैं जिससे कि हम यह निर्णय कर सकें कि अमुक चीज़ ग़लत है या ऐसा व्यवहार नहीं चलेगा. इस तरह से हमारे हर वक्तव्य में किसी न किसी तरह की कसौटी निहित रहती है. यहां जब मैं 'हम' शब्द का प्रयोग कर रही हूं तो तात्पर्य एक ख़ास 'हम' से है जो किसी गुट विशेष को डिफाइन करें, जैसे वामपंथी, नारीवादी आदि. हमारे कुछ वेल्यूस (मूल्य) हैं. और यह मानते भी हैं कि मूल्य होने चाहिए. तो जब हम ये कहते हैं कि नैतिकताएं अलग अलग होती हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं कि हर तरह का व्यवहार चलेगा. बल्कि कुछ ख़ास राजनैतिक दृष्टिकोण से उभरे हुए मापदंड को ही हम नैतिकता मानते हैं, और इसी के ज़रिए हम अन्य नैतिकताओं व व्यवहारों को जज करते हैं. नैतिकता का वो मापदंड कौन सा है?

मेरे ख़याल से स्वायत्तता एक बहुत बड़ा मूल्य है. स्वायत्तता से मेरा तात्पर्य है कि हम जैसे लोगों ने व्यक्तिवाद को स्वीकार किया है, स्वयं को व्यक्ति माना है ये जानते हुए कि समाज में व्यक्ति के कोई ख़ास मायने नहीं हैं. फिर भी हमारे लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता या स्वायत्तता महत्त्व रखती है. यदि कभी सही या ग़लत व्यवहार को लेकर कोई बहस हो तो हम पाएंगे कि हम लगभग एक जैसी चीज़ पर सहमत हैं, तब हमें व्यक्तिगत स्वायत्तता पर विश्वास मिलेगा. और यह कोई बुरी बात भी नहीं है. इसीलिए मेरे विचार में यह एक बहुत उपयोगी मूल्य है. इससे हम अन्य नैतिकताओं व व्यवहारों की तुलना भी कर सकते हैं. और इसकी कसौटी पर अन्य दृष्टिकोणों को भी जज कर सकते हैं. व्यक्तिगत स्वायत्तता से मेरा अर्थ खुदगर्ज़ी कदापि नहीं. यदि हम व्यक्तिगत स्वायत्तता पर विश्वास करते हैं और मानते हैं कि हर किसी को इसका अधिकार है तो इससे कई और मूल्य अपने आप उभरकर सामने आएंगे. यदि औरत होने के नाते मुझे स्वतंत्रता है तो इससे कई सारी सीमाएं औरों की व्यक्तिगत स्वायत्तता पर लग जाएंगी. यानी ये असीमित स्वतंत्रता तो नहीं हो सकती. और तो और इसके द्वारा कई सारे अन्यायों पर भी हम बात कर सकते हैं. उन्हें संबोधित कर सकते हैं, जैसे वर्ग आधारित या जाति आधारित मुद्दे. दरअसल व्यक्तिगत स्वायत्तता महज एक मुद्दा है जिसे अलग–अलग संदर्भों में अलग–अलग तरह से लिया जा सकता है. इस रूप में व्यक्तिगत स्वायत्तता एक आधुनिक मूल्य है जो न केवल परंपरागत मापदंडों को ही चुनौती देता है बल्कि आधुनिकता के अपने भीतर जो विरोधाभास हैं, उनसे भी टकराता है.

वैसे तो नैतिकता के बहुत से पहलू हैं मगर नैतिकता की बात सबसे ज़्यादा सैक्स के संदर्भ में

ही उठाई जाती है. ऐसा क्यों है? क्या इसमें समाज की संरचना का कोई हाथ है? 'सैक्स' को वर्जनात्मक बना दिया गया है, जबकि दूसरी नैतिकताओं घूसखोरी, बेईमानी आदि को लेकर इतना विवाद खड़ा नहीं होता.

इसका कारण यह है कि 'सैक्स' पर काबू रखना किसी भी समाज के श्रेणी तंत्र को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है. इसीलिए सैक्स को लेकर इतना हंगामा होता है. क्योंकि सैक्स 'विशुद्ध' सैक्स के रूप में मिलना मुश्किल है. सैक्स कई तरह की संस्थाओं और कानूनों के अंतर्गत कानूनी या गैर कानूनी ठहराया जाता है, जबकि बार-बार हमें यह अहसास दिलाने की कोशिश की जाती है कि यह प्राकृतिक चीज़ है. लेकिन सच तो यह है कि इसका बिल्कुल प्राकृतिक रूप में प्रकट होना नामुमकिन है.

जिन संस्थाओं के ज़रिए सैक्स को बांधा जा सकता है जैसे कि 'कम्पलसरी हैटरोसैक्सुलिटी' (यह एड्रिएन रिच का मुहावरा है) जिसे हम हिंदी में अनिवार्य विषम लैंगिकता कहते हैं. इस विषम लैंगिकता को भी हर तरह से प्राकृतिक प्रकट किया जाता है. हम देखेंगे कि हर तरफ़ से इस पर नियंत्राण है, हमें पता लगाना चाहिए कि अगर यह प्राकृतिक है तो फिर इस पर इतने नियंत्राण क्यों हैं? समाज में जब खाना खाने, सोने के कोई आवश्यक नियम नहीं हैं तो फिर सैक्स और विषम लैंगिकता पर ही सामाजिक नियंत्राण क्यों है? बच्चे के जन्म से पहले ही यह तय करना कि लड़का होगा या लड़की और जन्मते ही बच्चे को उसी राह पर चलाना क्यों ज़रूरी है? अगर यह सब न होता तो बच्चे 'मर्द' या 'औरत' न होते. ये मर्दानगी और औरतपन बहुत ही कठिनाई से समाज द्वारा गढ़ा जाता है. इसलिए यह बिल्कुल भी प्राकृतिक चीज़ नहीं. सैक्स को लेकर भी हंगामा इसलिए होता है क्योंकि समाज की हर 'हायरार्की' पर असर पड़ सकता है. जैसे सैक्स पर या औरत की सैक्सुअलटी पर काबू न हो तो संपत्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिता से पुत्रा के पास कैसे जाएगी? इसी तरह वंश परंपराएं कायम रहती हैं. जाति भी पितृसत्तात्मक

इस पितृसत्ता को आज का स्त्री विमर्श चुनौती दे रहा है, उसके मापदंडों पर प्रश्न चिन्ह लगा रहा है. स्त्री विमर्श और नारीवादी समझ आज आम समझ बनती जा रही है. इसीलिए तो लड़कियां काम के लिए देर-देर तक घर से बाहर जाती हैं. हालांकि हममें से बहुत से यह कहते हैं कि आज स्त्रियों के साथ दुर्घटनाएं ज़्यादा बढ़ गई है पर यह बात सच नहीं है. बात यह है कि आज औरतें चुप नहीं रहती, ज़्यादा केस दर्ज़ किए जा रहे हैं, जैसे भंवरी देवी जैसे केस ऐतिहासिक केस हैं. अपने जीवन में वह 'रेप विक्टिम' (बलात्कार पीड़िता) से 'रेप सर्वाइवर' बन गई है. हमारी शब्दावली में जो फ़र्क़ आया है उसी की वजह से वह भंवरी 'देवी' कहलाई. नारीवादी समझ जिस तरह से आम समझ बन रही है उसको हम कम नहीं आंक सकते, हम नहीं कह सकते शोषण-उत्पीड़न बढ़ रहा है, शोषण-उत्पीड़न नहीं बढ़ रहा बल्कि औरतें जागृत हो गई हैं. स्त्री विमर्श के समानांतर दलित विमर्श भी परंपरागत नैतिकता को चुनौती दे रहा है. यहां तक कि दलित विमर्श तो स्त्री विमर्श को भी चुनौती दे रहा है क्योंकि वह समाज के पूरे समाज में स्त्री, स्त्री होने के कारण ही शोषित होती है. सारी वर्जनाएं देह से ही जुड़ी हुई हैं. तो क्या स्त्री मुक्ति को देह की मुक्ति से जोड़ा जा सकता है? देह का अर्थ मात्रा सैक्स नहीं है. देह एक महत्त्वपूर्ण चीज़ है.

मैं यह नहीं मानती कि देह भी कोई प्राकृतिक चीज़ है. जिसे हम देह कहते हैं उस शरीर के

मायने क्या हैं? उस शरीर की सीमाएं क्या हैं? उस शरीर के प्रोसेसिंग के अर्थ क्या हैं? दरअसल यह सब सामाजिक निर्मितियां हैं, जैसे कि गाहवारी हगारे लिए क्यों इतनी बड़ी बाधा बन जाती है कि उसे छुपाए रखना पड़ता है? क्योंकि रागाज में औरतों के लिए अलग शौचालय नहीं है. एक तरह से औरत हर महीने कुछ दिनों के लिए नियंत्राण से बाहर हो जाती है. (नियंत्राण से बाहर अच्छे अर्थ में नहीं) वह समाज के कंट्रोल से नहीं, अपने कंट्रोल से बाहर हो जाती है. यह कोई प्राकृतिक प्रोसेस नहीं. मैं इसे बहुत सरल बाइलोजिकल शब्द में परिभाषित कर सकती हूं पर सवाल यह है कि समाज इसे जिस अर्थ में लेता है, और जिस तरह की सीमाएं लगाता है वह सब सामाजिक है, प्राकृतिक नहीं. औरत को अपनी देह से स्वयं को मुक्त करना होगा, मैं इससे राहमत नहीं हूं, बल्कि मैं तो यह मानती हूं कि हम सबको देह वाली चीज़ को अपने सामाजिक पैमानों में समझना होगा कि कैसे 'फेमिनिन बॉडी' और 'मैस्क्युलिन बॉडी' के अर्थ बदले हैं? अगर ऐतिहासिक–सामाजिक रूप से देखें तो कई ऐसी संस्कृतियां है जहां दो जेंडर नहीं है, जैसे लैटिन अमेरिका की कुछ आदिवासी जनजातियों में. वहां जिस तरह की सामाजिक भूमिका लोगों को निभानी होती हैं वहां पांच–छह सैक्स भी कोई आश्चर्यजनक चीज़ नहीं. इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी बॉडीज बदलती है. बात यह है कि जिसे हम मैस्क्युलिन या फेमिनिन रोल कहते हैं वह सामाजिक निर्मिति है. ऐसा नहीं है कि समाज में साफ़–साफ़ रूप से एक मेल बॉडी और एक फीमेल बॉडी है. क्योंकि हिंजड़ा भी इसी समाज का अंग है. पर उसके बारे में हम बात भी नहीं कर सकते क्योंकि हमारे पास शब्द ही नहीं हैं. उसे क्या कहेंगे, वह आता है या आती है? जब हर शब्द में मैस्क्युलिन या फेमिनिन घुसाए गए हैं, तो क्या कहें? सिर्फ हिंदी ही नहीं अन्य भाषाओं में भी यही स्थिति है, उन्हें 'भ', 'भ' कुछ तो कहना ही होगा. तो आम समझ यह है कि दुनिया में जिस तरह के शरीर हैं उनको संबोधित करने के लिए एक भाषा उभर आई है. पर मैं कहूंगी कि कई तरह की भाषाएं और हैं जिनके जरिए हम दुनिया को देख सकते हैं. इसीलिए मुझे लगता है कि हर मनुष्य शरीर न तो पूरी तरह फेमिनिन होता है न ही मैस्क्युलिन. हिंदू परंपरा में इस तरह की बात है 'अर्ध नारीश्वर' के रूप में. यह कोई आश्चर्यजनक स्थिति नहीं. हम सब औरत या मर्द दिखने की कोशिश कर इस भिन्नता को बनाए रखने में मदद करते हैं. यदि कोई भी पुरुष या लड़का घाघरा पहनकर आए तो हमारा सारा परिवेश हिल जाएगा. यदि सबकुछ प्राकृतिक ही है तो कपड़ों से क्या अंतर पड़ता है? पर नहीं, फर्क पड़ता है क्योंकि यह सब सामाजिक है. इसीलिए मैं शरीर को ऐसी चीज़ नहीं मानती जो प्राकृतिक है, क्योंकि शरीर के हर अर्थ को सामाजिक कर दिया गया है. आप रेप को लीजिए, अगर आपके हाथ–पांव तोड़ दिए गए हों तो आप सदमें से नहीं गुज़रेंगे, परंतु यदि रेप हो जाए तो आप जीवन भर सदमाग्रस्त रहेंगे; क्योंकि बलात्कार का अर्थ हमें नियंत्राण में रखता है, लेकिन यदि इस अर्थ को बदल दें जैसा कि भंवरी देवी ने किया है, तो उसके लिए बलात्कार का अर्थ ही बदल गया.

वैसे नारीवादी विचार में बलात्कार सैक्स के बारे में नहीं, बलात्कार पॉवर के विषय में है. और बलात्कार पितृसत्तात्मक में पॉवर जताने के लिए किया जाता है. एक अनुसंधान के अनुसार ब्रिटेन में मर्दों ने मर्दों के साथ ही बलात्कार किया. औरत शारीरिक रूप से कमज़ोर है इसलिए उसके साथ बलात्कार होता है, यह बात सही नहीं. जब भी किसी पर चाहे वह मर्द हो या औरत, सैक्सुअल अटैक होने वाला होता है तो वे दोनों ही इस स्थिति में हिल जाते हैं. इसका अर्थ है वह औरत या मर्द से नहीं जुड़ा वह (रेप) आपकी समझ से जुड़ा है. इसलिए शरीर को एक प्राकृतिक चीज़ की तरह नहीं देखना चाहिए. शरीर के भी तरह–तरह के अर्थ हुए हैं और

ऐतिहासिक–सांस्कृतिक रूप से बदलते रहे हैं. इसलिए हमें शरीर से नहीं शरीर के अर्थ से मुक्त होने की ज़रूरत है. समाज द्वारा निर्मित्त अर्थों से मुक्त होने की आवश्यकता है. स्त्री देह की मुक्ति को लेकर मल्लिका शेरावत या अन्य 'सैक्स–सिंबलों' के बयानों को लेकर आप क्या कहती हैं?

मल्लिका शेरावत भारत में एक 'लैंड मार्क' है. मैं उसकी बहुत इज़्ज़त करती हूं. यद्यपि वह कभी नारीवादी समझ प्रकट नहीं करती. वह सिर्फ़ अपना कैरियर बनाने में जुटी है. भंवरी देवी जैसा आदर्श भी हमारे सामने वह प्रस्तुत नहीं करती, लेकिन उसका अपने शरीर के साथ जो रिश्ता है वह मुझे बहुत अच्छा लगता है. जिस तरह से समाज में स्त्री के शरीर को एक सैक्स ओबजेक्ट बनाया गया है उससे वह खेलती है. समाज ने अच्छी या बुरी औरतों की जो अवधारणाएं या नियम बनाए हैं उन नियमों से वह खेलती है. उस शरीर पर उसे गर्व है. ऐसा करके वह न केवल समाज के नियमों पर बल्कि अच्छी औरतों पर भी प्रश्न चिन्ह लगाती है. दस साल पहले सैक्स सिंबल वाली बात पर हिंदी और दक्षिण भारतीय फ़िल्मों में अभिनेत्रियां आत्महत्या कर लेती थी. पर आज परिवेश बदल गया है. एक पृष्ठभूमि तैयार हुई है इसलिए मल्लिका शेरावत ऐसा कर सकती है.

स्त्री–मुक्ति के संघर्ष में पुरुषों की भूमिका को लेकर कई आरोप लगाए जाते हैं कि यह सब एक प्रकार का छद्म पुरुषवादी षड्यंत्रा है स्त्रियों का यौन–शोषण करने के लिए. स्त्री–मुक्ति के संघर्ष में पुरुषों की भूमिका आप कैसे देखती हैं?

समाज में रेडीकल मर्दों पर एक बड़ी जिम्मेवारी है. नारीवादी राजनीति में हम यह चाहते हैं कि समाज में समानता हो, यह हमारी लड़ाई है. लेकिन सच यह है कि यह लड़ाई अभी पूरी नहीं हुई. इसलिए रेडीकल मर्दों को समझना चाहिए कि वे पितृसत्ता द्वारा सदैव सुरक्षित रहते हैं इसलिए उन पर एक बड़ी जिम्मेवारी है. यदि उनकी रेडीकल समझ बेडरूम या रसोईघर तक नहीं आई तो उनकी स्वयं को रेडीकल कहना बेमतलब है. पितृसत्ता की सभी सुविधाओं को लेते हुए यदि रेडीकल मर्द समझे कि फ्री–सैक्स हो जाए तो मेरे ख़याल से वो एक बड़ी समस्या है. इससे नारी मुक्ति का अर्थ मात्रा 'फ्री–सैक्स' बनकर रह जाता है. फ्री–सैक्स से हमें कोई दिक़्क़त नहीं है पर यदि फ्री–सैक्स सारी जिम्मेवारियों से मुक्त होने का पर्याय बन जाता है तो बड़ी समस्या है. अगर मर्द होते हुए आप अपने से कमज़ोर औरत के साथ रिश्ते रखते हैं और उसे स्वतंत्राता समझते हैं तो ग़लत होगा. सवर्ण मर्द होकर दलित, गरीब, आदिवासी औरतों से संबंध रखकर आप लिबरेटिड नहीं होते बल्कि आप उसी पितृसत्ता के अंग के रूप में उसका फ़ायदा ले रहे हैं.

(प्रस्तुति : बलवंत कौर)

भारत में शहरी मध्यमवर्गीय महिलाओं की यौनिकता को समझने की दिशा में कुछ विचार

शिल्पा फड़के

परिचय

यह लेख मीडिया में मध्यमवर्गीय नारी यौनिकता के निर्माण पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाली एक वर्तमान अनुसंधान परियोजना के भाग के रूप में लिखा गया है। चूंकि मेरी यह परियोजना 'अभी जारी है' इसलिए इस लेख में कुछ संभावनाओं को सामने लाने और इस तरह की परियोजना में निहित जटिलताओं और परस्पर विरोधाभास को उजागर करने पर अधिक बल दिया गया है। मेरी अनुसंधान प्रक्रिया वर्तमान समय के मुंबई नगर की परिस्थितियों पर आधारित है और इस लेख में व्यक्त बहुत से विचार और आंकलन इस नगर की परिस्थितियों को दर्शाते हैं। परन्तु फिर भी मेरे विचार से यह परिस्थितियाँ केवल मुंबई महानगर पर ही लागू नहीं होती और देश के अन्य नगरों में भी कमोबेश इसी प्रकार की परिस्थितियाँ देखी जा सकती हैं।

आज से 20 वर्ष पहले की तुलना में 21वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में सार्वजनिक विचारधारा के संबंध में 'मध्यमवर्गीय यौनिकता' की अलग ही तस्वीर उभर कर सामने आती है। आज शहरी संदर्भ में यौनिकता पर सार्वजनिक विचारधारा को अनेक प्रकार के विचार और प्रतिबिम्ब प्रभावित करते हैं। इनमें नाटक, वास्तविकता पर आधारित कार्यक्रम, विज्ञापन, परामर्श कॉलम, विषमलैंगिक और समलैंगिक युगलों पर सांस्कृतिक निगरानी रखे जाने की वास्तविक जीवन की घटनायें, वेषभूषा विन्यास और महानगरीय पुरुष की परिकल्पना को महत्वपूर्ण स्थान देने जैसे फैशन के चलन आदि सम्मिलित हैं। मध्यमवर्गीय यौनिकता के इतने अधिक निर्धारण की प्रक्रिया के उपरांत भी इसका सही प्रकार चित्रण नहीं हो पा रहा है क्योंकि 'मध्यवर्ग' का संदर्भ देते हुए भी हमें निश्चित तौर पर यह जानकारी नहीं होती कि हम इस वर्ग विशेष की बात कर रहे हैं। भारतीय मध्यम वर्ग वास्तव में क्या है और किस प्रकार इस वर्ग के लोगों को यौनिक या गैर–यौनिक रूप से देखा जाता है, ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके बारे में इस लेख के आरंभिक खण्ड में जानकारी मिलती है।

यौनिकता विषय पर किसी भी विचार–विमर्श में यौन विचारों और व्यवहारों को निर्धारित करने वाली निजी–सार्वजनिक सीमाओं पर विस्तार से चर्चा को सम्मिलित किया जाना चाहिए। आदर दिए जाने योग्य यौनिकता और संदेहास्पद यौनिकता को अलग करने के विरोधाभासों – जहाँ इनमें से एक को वैधानिक

शिल्पा फड़के, सम मोर्ल्स इक्वालिटीज अनइक्वल: अंडरस्टैंडिंग द कंस्ट्रक्शन ऑफ मिडिल क्लास अर्बन सैक्सुअलिटी इन इंडिया, सैक्सुअलिटी, जैन्डर एन्ड राइट्स (सपादन गीलानज पीया और साहिबा चान्दरमनी) सैज पब्लिकेशनस, 2005
अनुवाद: सोमेन्द्र कुमार और राकेश चन्द्र व्यासी

दर्जा हासिल है तो वहीं दूसरी को कलंक की दृष्टि से देखा जाता है – पर इस लेख के दूसरे खण्ड में चर्चा की गई है।

डेबोनेयर, कॉस्मोपॉलिटन और *विमैन्स इरा* जैसी पत्रिकाओं के मुखपृष्ठों पर प्रकाशित और विज्ञापनों, फिल्मों, फिल्म के पोस्टरों और गानों के माध्यम से दिए जाने वाले यौनिक संदेश हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। पूर्व में महिलाओं का कामुक होना कभी भी इतना वैधानिक (या आवश्यक) नहीं रहा था। जैसाकि सुन्दर भारतीय महिलाओं के बारे में प्रचलित भ्रान्तियों में दर्शाया जाता है, आज महिलाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आदर योग्य व्यवहार का प्रदर्शन करें और आधुनिक किन्तु मूल्यों का पालन करने वाली प्रतीत भी हों। 'सुन्दर भारतीय महिलायें' कामुक तो होती हैं परन्तु साथ ही साथ वे आदर्श पत्नियाँ और मातायें भी होती हैं। भारतीय रूप सुन्दरियों के बारे में पूरे विश्व में बड़ी सावधानीपूर्वक नपे–तुले शब्दों में ऐसा ही चित्रांकन प्रस्तुत किया जाता है। मध्यम वर्गीय आत्मसंतोष के इस अविभाजित ओढ़े हुए मुखौटे को आगे बढ़ाने के लिए महिलाओं को कामोत्तेजक परन्तु यौन रूप से सदाचारी होना चाहिए। नारीवादी राजनीति पर यौनिकता के बारे में इन नए विचारों के प्रभाव पर इस लेख के तीसरे खण्ड का निर्माण किया गया है।

आज भारत में यौनिकता की सामान्य परिकल्पना में विषमलैंगिक विवाह होने या विवाह की इच्छा रखने के संदर्भ को देखते हुए इस लेख में ऐसे प्रश्न उठाने का प्रयास किया गया है जिनसे यह पता चले कि *आधुनिक शहरी मध्यमवर्गीय प्रगतिशील* किन्तु *आदरणीय महिला* को परिभाषित करने के लिए किस प्रकार सामान्य विषमलैंगिकता की विचारधारा का निर्माण किया जा रहा है।

विश्वव्यापी आधुनिकता की ललक : मध्यमवर्गीय किन्तु कामुक

इन परिस्थितियों में फिर मध्यम वर्ग में कौन लोग आते हैं और जब मैं यह कहती हूँ कि उनका सही चित्रण नहीं हो पा रहा है तो मेरा अभिप्राय क्या होता है? एक तरह से 'मध्यम वर्ग' में अनेक प्रकार के लोग सम्मिलित हो सकते हैं जो व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे से बहुत भिन्न हों। यहाँ यह सुझाव भी दिया जा सकता है कि इस परिभाषा में अनेक आय वर्गों को शामिल किया जा सकता है जिससे कि इसमें अलग–अलग शिक्षा, रोज़गार, खपत तथा अलग–अलग धर्मों, जातियों और भाषा समूहों को सम्मिलित किया जा सके। इन सभी अंतरों के बाद भी – और ये अंतर बहुत से हैं – भारतीय मध्यम वर्ग के बारे में सामान्य धारणायें विकसित करना संभव है भले ही वे सभी पूर्ण रूप से सही या पूरी तरह से गलत न हों।

उदाहरण के लिए विश्वव्यापी बाजार के संदर्भ में मध्यम वर्ग आवश्यक रूप से उपभोक्ता हैं जिनकी संख्या 100–250 मिलियन के बीच है। यह संख्या लक्षित समूहों और यह दावा करने वाले विपणनकर्मियों की क्षमता पर निर्भर करती है। धार्मिक कट्टरपंथियों के लिए मध्यम वर्ग एक ऐसा जनसंख्या समूह है जिनपर विशिष्ट सांस्कृतिक या राष्ट्रवादी विचारधारायें आधारित की जा सकती हैं। समाजवादियों के लिए मध्यम वर्ग में वह लोग आते हैं जो नेहरूवादी समाजवाद को छोड़ विश्वव्यापी पूंजीवाद के अंतर्गत भौतिक वस्तुओं के प्रेम की ओर अग्रसर हैं। इन सामान्य धारणाओं से मध्यम वर्ग के बारे में ऑडियो–विजुअॅल और प्रकाशन मीडिया द्वारा प्रतिपादित, जाने पहचाने प्रतिबिम्ब उभरते हैं[1]।

यदि 'मध्यम वर्ग' एक अनियमित व अस्पष्ट श्रेणी है तो मध्यम वर्ग की यौनिकता तो और भी अधिक अस्पष्ट है। भले ही विज्ञापनों में मध्यमवर्गीय कामुक आनंद में बढ़ोतरी के चित्रांकन में अत्यधिक तेजी दिखाई देती हो परन्तु फिर भी यौनिकता के वास्तविक अनुभवों के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है कि किस प्रकार जेन्डर और शक्ति–संतुलनों से लोगों की — विशेषकर महिलाओं की — यौनिकता प्रभावित होती है। यौनिकता के विषय पर प्रशासनिक विवरणों में गर्भनिरोधन और परिवार कल्याण कार्यक्रमों के माध्यम से प्रजननशीलता के नियंत्रण पर बात की जाती है। इन विवरणों में नागरिकों की यौनिकता के बारे में किसी प्रकार की समझ दिखाई नहीं पड़ती। यौन स्वास्थ्य के विषय पर ध्यान देने वाले अधिकांश गैर–सरकारी संगठन भी यौनिकता के चिकित्सीय पहलुओं को आगे बढ़ाते नज़र आते हैं (चन्दिरामणि व अन्य, 2002)।

अनुशासन और नैतिक सदाचार पर ध्यान दिए जाने के बाद भी वास्तविकता यही है कि 90 के दशक के अंतिम वर्षों और 21वें शताब्दी के आरंभ में मध्यम वर्ग को कामुक माना जा रहा है। जब मैं 'कामुक' शब्द का प्रयोग करती हूँ तो मेरा अभिप्राय केवल वास्तविक यौन व्यवहारों से नहीं होता जो अभी तक रहस्य बने हुए हैं बल्कि मेरा अभिप्राय यह होता है कि किस प्रकार मध्यमवर्गीय लोगों का दैनिक जीवन विषमलैंगिक संबंधों की विचारधारा के ईर्द–गिर्द निर्मित होता है।

अंतरनिहित वित्तीय शक्तियों का आभास कराने वाले चित्रण को भी कामुक माना जा सकता है। वस्तुओं के विज्ञापन का औचित्य इन वस्तुओं की उपयोगिता (इस उत्पाद को खरीदें क्योंकि यह उपयोगी है) के स्थान पर सामाजिक स्थिति दर्शाने के लिए इन्हें पाने की चाह[2] (इस उत्पाद को इसलिए खरीदें क्योंकि इससे आप धनी, कामुक और ईर्ष्या करने योग्य प्रतीत होंगे) उत्पन्न करना होता है। ऐसे विज्ञापनों की अधिकता से इन विज्ञापनों के मध्य का अंतर लगभग समाप्त हो जाता है और शीघ्र ही यह विज्ञापन एक ऐसे संवाद का रूप ले लेते हैं जिनसे मध्यमवर्गीय उपभोक्तावाद के आनंद की अनुभूति करने को बढ़ावा दिया जाता है।

यह विज्ञापन मध्यमवर्गीय वर्ग में उपभोक्तावाद को अपना चुके, इसे न अपनाने वाले लोगों को जो भूमंडलीयकरण से पूर्व की मितव्ययिता को अपनाये रखना चाहते हैं और निम्न वर्ग के लोगों को संबोधित करते हैं जो स्वयं को प्रगतिशील और ऊपर के स्तर की ओर अग्रसर समझते हैं। भारत में निम्न वर्ग, जिनमें से बहुतों के पास टेलीविज़न सैट हैं, वे इन विज्ञापनों को देखकर इनकी व्याख्या करने की प्रक्रिया में स्वयं को भारतीय मध्यम वर्ग के सदस्य समझना चाहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह सभी विज्ञापन स्पष्ट रूप से कामुकता भरे हों परन्तु दूसरों को बहकाने और वास्तविकता के और अधिक सजीव होने के विचार को आगे बढ़ाने की उनकी क्षमता अधिक कामुक होती है।

इनमें से कुछ विज्ञापन हमें ऐसी फंतासी की दुनिया में ले जाते हैं जहाँ जेन्डर की सामान्य भूमिकाओं में फेरबदल संभव दिखाई पड़ता है। यह विज्ञापन बड़े ध्यानपूर्वक घरेलू पर्यावरण को दर्शाते हुए तैयार किए जाते हैं जिनमें एक माँ में, जो एक दुबली–पतली कमसिन मॉडल भी है और जिसने नवीनतम परिधान पहने हों, अपने पति और बच्चों को अपनी इच्छानुसार व्यवहार करवाने की क्षमता दिखाई जाती है (उदाहरण के लिए वर्लपूल उत्पादों का विज्ञापन देखें जिसमें *'मम्मी का मैजिक'*[3] का विपणन किया जाता है)। यह उत्पाद रोमांस को बढ़ावा देते हुए और यौनिक तथा जेन्डर की भूमिकाओं को सुदृढ़ करते हुए एक कामुक शक्ति ग्रहण कर लेते हैं जिनमें कभी–कभी निश्चित भूमिकायें दिखाई जाती हैं और कभी–कभी ठीक इन भूमिकाओं का विपरीत रूप दर्शाया जाता है (उदाहरण के लिए सोसायटी चाय का विज्ञापन देखें जिसमें एक व्यवसायी पति अपनी थकी–माँदी पत्नी के घर लौटने पर उसके लिए चाय तैयार करता है)। इस दम्पत्ति के मध्य दर्शाई गई आत्मीयता इतनी अधिक होती है जिसकी कल्पना वास्तविक जीवन में कोई मध्यमवर्गीय दम्पत्ति नहीं कर सकते और इस तरह के विज्ञापन से उनमें लगातार आत्मीयता का वह स्तर प्राप्त करने की ललक बनी रहती है।

कुछ विज्ञापन तो स्पष्ट रूप से बहुत अधिक कामुक होते हैं। कामसूत्र कण्डोम के विपणन के विज्ञापनों में मॉडलों को एक दूसरे से लिपटे हुए और नग्नावस्था में दर्शाया जाता है और साथ ही यह स्लोगन भी प्रसारित किया जाता है कि, 'प्यार भरे क्षणों का आनंद लेने के लिए'। एमआर कॉफी के एक विज्ञापन में भी एक दम्पत्ति को इसी प्रकार एक दूसरे से अलिंगनबद्ध दिखाया जाता है और वे यह दावा करते हैं कि, 'वास्तविक आनंद एक क्षण में प्राप्त नहीं किया जा सकता'। एसयूवी श्रेणी की महिन्द्रा बोलेरो कार के विज्ञापन में एक महिला दर्शाई जाती है जिसने भड़काऊ कपड़े पहने हैं और वह अपने पुरुष की कार को चलाकर उसे मोहित करना चाहती है (वह पुरुष कार के पीछे दौड़ लगाता हुआ दिखाया जाता

है) और बाद में कार की चाबियाँ उसे देते हुए अपने मन के विचार दर्शाती है। गोदरेज रैफरीजरेटरों के विज्ञापन में एक दम्पत्ति को सम्भोग की पूर्व क्रिया के दौरान बर्फ के टुकड़ों से खेलते हुए दिखाया जाता है। बर्फ के खत्म होने पर महिला उठकर जाना चाहती है परन्तु पुरुष के रैफरीजरेटर से तुरन्त दोबारा बर्फ मिल जाने के कारण सम्मोहित होकर वापिस लौट आती है।

इन सभी मामलों में विज्ञापनों में काम कर रहे लोगों के साथ–साथ उस उत्पाद की इच्छा रखने को निर्मित करने की प्रक्रिया भी स्थिति को कामुक बना देती है। यह कामुक चित्रण अब संभवतः अधिक वैधानिक माना जा रहा है परन्तु क्या इस वैधानिकता के दर्जे से मध्यमवर्गीय महिलाओं को अपने यौन विचारों को व्यक्त करने और इनसे प्रयोग करने के अधिक अवसर मिल पाते हैं?

भारतीयता की भावना अनेक प्रकार से निर्मित होती है – पिछले दशक में इसका सबसे अधिक दिखाई देने वाला और इसे प्रभावित करने वाला कारक हिन्दू धार्मिक कट्टरवाद रहा है। इस कट्टरवादी विचारधारा को बढ़ाने की प्रक्रिया का मुख्य आधार एक संगठित, सुदृढ़ और समान हिन्दू संस्कृति को बढ़ावा देना है और फिर इसी पर भारतीयता को आधारित करना है। हिन्दू कट्टरवाद के श्याम–श्वेत दृष्टिकोण में हिन्दू महिलाओं को गैर–हिन्दू पुरुषों, विशेषकर मुसलमान पुरुषों द्वारा किए गए यौन अत्याचारों से पीड़ित माना जाता है। इन महिलाओं को अपने सतीत्व और सम्मान की स्वयं रक्षा करना सीखने के लिए प्रेरित किया जाता है। हालांकि निजी जीवन में हिन्दू महिलाओं को माताओं और पत्नियों की भूमिका में देखा जाता है जिनमें यौन इच्छायें नहीं होती और इनकी इच्छाओं को केवल विवाह के माध्यम से सीमित रखा जाना चाहिए। (बासु 1995, सरकार 1995)

इन परस्पर विराधाभासों के बाद भी मीडिया में दर्शाई गई आधुनिकता दक्षिणपंथी राजनीति और विचारधारा के विपरीत नहीं है जिन्होंने 'भारतीय परंपरा' के आधार पर अपनी बात कहने के अधिकार को उचित ठहराया है। 1990 के आरंभिक वर्षों से दक्षिणपंथी राजनीतिक दलों की आर्थिक नीतियों (भले ही वे *स्वदेशी* या *भारतीय संस्कृति* के बारे में कितना कुछ भी कहते रहें) ने भी बाजार अर्थव्यवस्था और भूमंडलीयकरण का समर्थन किया है। विज्ञापनों में 'पारंपरिक' और 'आधुनिक' दोनों प्रकार के प्रतिबिम्बों का समान उत्साह व कुशलता से प्रयोग किया जाता है और उपभोक्ताओं को प्रभावित करने के लिए बिना किसी झिझक के धार्मिक देवी–देवताओं के प्रतिरूपों का प्रयोग भी कर लिया जाता है।

हीरों के आभूषणों के एक ब्राण्ड के विज्ञापन में एक विषमलैंगिक दम्पत्ति को रोमांस की विभिन्न परिस्थितियों में दर्शाया जाता है और पीछे से आ रही महिला

की आवाज बताती है कि किस प्रकार उनका विवाह उनके माता–पिता द्वारा राय किया गया था और समय के साथ–साथ इस रिश्ते में कितनी गहराई आई है। विज्ञापन के अंत में दिखाया जाता है कि पति उसे उपहार स्वरूप हीरे देता है और वह महिला कहती है 'शायद इसी को प्रेम विवाह कहते हैं'। इस विज्ञापन में विवाह में पितृसत्तात्मक विचारों को अपना गया है (जहाँ माता–पिता विवाह निर्धारित करते हैं और बच्चे उनके निर्णय का पालन कर्त्तव्य समझ कर करते हैं) और उपभोक्ताओं की दृष्टि से ईष्टतम परिस्थितियाँ (जिनमें विषमलैंगिक दम्पत्ति एकल परिवारों में रहते हैं और उपभोक्ता वस्तुओं की बढ़ती हुई संख्या से उनकी खुशी में बढ़ोत्तरी होती है) दर्शाई गई हैं। इससे स्पष्ट है कि यौनिक भूमंडलीयकरण और हिन्दू राष्ट्रवाद की अत्यधिक सौम्यशीलता एक–दूसरे के विरोधी नहीं हैं।

हिन्दी फिल्म उद्योग द्वारा इस स्वीकार्यता को प्रवासी भारतीयों के बारे में 'भारत में रह रहे भारतीयों से भी अधिक भारतीय' होने की कथाओं के निर्यात द्वारा अर्जित हजारों अमरीकी डॉलरों में बदला जाता है जिनमें बताया जाता है किस प्रकार प्रवासी भारतीय भारत की संस्कृति को अपनाए हुए हैं और यह भारतीयता उनकी महिलाओं के सदाचारी व्यवहार में दिखाई पड़ती है – उदाहरण के लिए *दिल वाले दुल्हनिया ले जायेंगे* (1995 में आदित्य चोपड़ा द्वारा निर्देशित) या *परदेस* (1997 में सुभाष घई द्वारा निर्देशित) फिल्मों को देखें[4]।

हमारे समक्ष विचार के लिए यह प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि मध्यमवर्गीय महिलाओं की सांदर्भिक वास्तविकताओं को किस प्रकार व्यक्त किया जाए जिनमें यौनिकता और अति सूक्ष्म विचारों में गंभीर संबंध हों। महिलाओं के मन में यौनिकता के प्रति निहित चिन्ताओं में आधारभूत 'पारिवारिक सम्मान' और 'व्यक्तिगत सम्मान' को किस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है जबकि विपरीत लिंग के प्रति यौनिक रूप से अधिक आकर्षक होने के प्रति चिन्ता भी विद्यमान हो। अच्छी भारतीय नारी की संकल्पना को निर्मित करने वाले, वर्ग और जाति के जटिल समीकरणों को आदरणीय (जिसे निजी भी कह सकते हैं) और संदेहास्पद (सार्वजनिक) महिलाओं के बीच की सीमाओं के विभाजन द्वारा किस प्रकार समझा जा सकता है?

अगले खण्ड में इन विचारों और शहरों में यौनिकता के इर्द–गिर्द शक्ति व्यवस्थाओं के क्रियान्वयन व मध्यमवर्गीय महिलाओं की यौनिकता के निर्माण पर उनके प्रभाव एवं संबंधों को जानने का प्रयास किया गया है।

घूँघट, पर्दा और ऐसी ही अन्य सीमायें : कामुक परन्तु आदरणीय

विज्ञापन, टेलीविज़न और फिल्में सार्वजनिक रूप से निजी यौनिकता के नाटकीय रूप प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि इस प्रकार के चित्रण में 'अश्लीलता' के बारे में बहुत सी शिकायतें और मुकदमें भी किए गए हैं परन्तु फिर भी आमतौर पर जनता इन्हें स्वीकार कर ही लेती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी यह स्वीकार्यता इस अनुमान पर आधारित होती है कि इस तरह के चित्रण में काम कर रहे मॉडल केवल अपने–अपने पात्र निभा रहे होते हैं और उनके द्वारा की गई भूमिकायें वास्तव में सत्य नहीं होतीं[5]। वास्तविक जीवन में पार्क, रेस्तरां या सार्वजनिक स्थलों पर रोमांस करने वाले दम्पत्तियों के प्रति दर्शाये गये व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है[6]। वास्तविक जीवन में तो इस प्रकार व्यवहार कर रहे दम्पत्तियों को उनके इस नाटकीय रूपातंरण के लिए भी प्रताड़ित किया जाता है। उदाहरण के लिए जब मधु सापरे और मिलिन्द सोमन नाम के दो मॉडलों ने नग्न अवस्था में 'टफ' ब्राण्ड के जूतों का विज्ञापन किया जिसमें उनके नग्न शरीरों के इर्द–गिर्द अज़गर लिपटा हुआ था तो उनकी इस 'अश्लीलता' का विरोध इसलिए हुआ क्योंकि सापरे और सोमन की उस समय सगाई हो चुकी थी, दोनों ही महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण परिवार से संबंध रखते थे जिनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे मध्यवर्गीय नैतिक मूल्यों का सम्मान करेंगे[7]।

संबंधों की अंतरंगता की काल्पनिकता को तो सार्वजनिक रूप से दर्शाया जा सकता है परन्तु वास्तविक निजी अंतरंगता को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित करना 'अश्लीलता' माना जाता है। इसलिए किसी काल्पनिक फिल्म में तो विवाहित दम्पत्ति को अंतरंग क्षणों को आनंद लेते हुए दर्शाया जा सकता है परन्तु वास्तविक जीवन में विवाहित दम्पत्तियों को सार्वजनिक स्थलों पर चुम्बन लेने की अनुमति भी नहीं होती। इसके अतिरिक्त हिन्दी फिल्मों की नायिकाओं का विवाह हो जाने के पश्चात उसके द्वारा अपने फिल्म के नायक के साथ यौन चित्रण के दृश्य करने की संभावनायें बहुत कम हो जाती हैं। इस बारे में धारणा यह है कि जब हमें यह पता चल जाता है कि कोई नायिका सामाजिक रूप से स्वीकार्य यौन संबंधों को निबाह रही है तो उसे परदे पर किसी अन्य व्यक्ति के साथ अंतरंग दृश्य करते हुए देखना भी हमें स्वीकार नहीं होता।

सार्वजनिक रूप से लोगों की निगाह में रहने वाली महिलाओं के लिए तो आदर की यह सीमायें और भी कठिनाईयाँ उत्पन्न करती हैं। भारत में महिलाओं द्वारा कैरियर के रूप में मॉडलिंग और अभिनय करने को मिल रही स्वीकार्यता को देखते हुए यह असंभव नहीं है कि मॉडलों या अभिनेत्रियों को भी 'अच्छी महिलायें' मान लिया जाए। इस प्रकार अच्छी महिलाओं के रूप में स्वीकार्यता पाने के लिए इन्हें सफलतापूर्वक अच्छे और बुरे की प्रतीकात्मक सीमाओं का पालन करना होता है और व्यावसायिक रूप से अपनी 'कामुक' और 'अश्लील' भूमिकाओं के बीच

अंतर रखना होता है। अपने व्यक्तिगत जीवन में वे बाहर शूटिंग के लिए जाते समय अपनी महिला संबंधियों को साथ ले जाकर अपने अच्छे व्यवहार का प्रदर्शन कर सकती हैं। मध्यमवर्गीय पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाली कुछ महिलायें बड़ी सावधानी से अपने फिल्मी और वास्तविक जीवन में अच्छी महिलायें होने के प्रतिबिंबों को सफलतापूर्वक सहेज पाती हैं। उदाहरण के लिए 1990 के दशक में हिन्दी फिल्मों की सर्वोच्च नायिका माधुरी दीक्षित ने अपने परिजनों के कहने पर अमरीका में रहने वाले और अपनी ही जाति के एक हृदयरोग विशेषज्ञ से विवाह करने का निर्णय लिया। उन्होंने बाद में यह दावा भी किया कि उनके पति ने उनसे मिलने से पूर्व उनकी कोई फिल्म नहीं देखी थी। इससे उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उन्होंने यह विवाह एक महाराष्ट्रीयन मध्यमवर्गीय ब्राह्मण महिला के रूप में किया था, ना कि किसी प्रसिद्ध अभिनेत्री के रूप में। इस प्रकार से दोनों स्थितियों में अंतर करने से उनके अच्छे संस्कार और व्यावसायिक दृष्टिकोण भी दिखाई पड़ा क्योंकि उन्होंने विवाह से पूर्व अभिनय की अपनी सभी कटिबद्धताओं को पूरा किया और किसी नई परियोजना के लिए अनुबंध नहीं किया।

यदि प्रवासी भारतीयों को ध्यान में रखकर बनाई गई फिल्मों में ऐसा सुझाव दिया जाता है कि भारतीय लड़कियाँ विवाह से पूर्व कुँवारी होती हैं तो पिछले 10 वर्षों में बनाई गई अनेक फिल्मों से ऐसा आभास भी होता है कि विवाहित भारतीय स्त्रियाँ कम से कम फिल्मी परदे पर तो अपने पतियों के साथ यौन संबंधों का पूरा आनन्द उठाती हैं। मणिरत्नम द्वारा निर्देशित *रोजा* (1992), *बॉम्बे* (1995) तथा गोविन्द मैनन द्वारा निर्देशित *ख्वाहिश* (2003) में बहुत ही सुरूचिपूर्ण ढंग से विवाहित विषमलैंगिक यौन संबंधों को दर्शाया गया था। इन्द्र कुमार द्वारा हाल ही की एक फिल्म *मस्ती* (2004) में भोजन के प्रतीक का प्रयोग करते हुए फिल्म की नायिका के पात्र को यह परामर्श दिया गया था कि वह अपने पथभ्रष्ट पति को बिस्तर में और अधिक कामुक अनुभव कराये ताकि उसे पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता ही न पड़े। कुछ फिल्मों में तो यह सुझाव देने का साहस भी किया गया है कि महिलायें विवाहेतर संबंधों में भी यौन आनन्द प्राप्त करती हैं – बासु भट्टाचार्य द्वारा निर्देशित *आस्था* (1997), महेश माँजरेकर द्वारा निर्देशित *अस्तित्व* (2000) और कुन्दन शाह निर्देशित *क्या कहना* (2000)। इन सभी फिल्मों में नायिकाओं को विवाहेतर या विवाह पूर्व यौन संबंधों में संलिप्त दर्शाया गया है जो स्वयं को परिस्थितियों के शिकार की भूमिका में ढालने से मना कर देती हैं। परन्तु इस प्रकार के चरित्र केवल अपवाद ही हैं। अधिकतर मामलों में जब सम्मानित और सच्चरित्र समझी जाने वाली स्त्री (जो प्रायः नायक या नायिका की बहन या पड़ोसिन होती है) जब विकट परिस्थितियों या खलनायक द्वारा धोखा दिया जाने पर अपनी इज़्ज़त की रक्षा नहीं कर पाती तो आमतौर पर उसका दुखद अंत होता

है। केवल मृत्यु का ग्रास बनकर ही वह अपने सच्चरित्र होने को सिद्ध कर सकती है।

सार्वजनिक रूप से यौनिकता के प्रदर्शन के बारे में अनकहे बहुत से नियमों का आधार निजी जीवन को सार्वजनिक जीवन से – और अंदरूनी विचारों को बाहरी विचारों से – अलग करने की यही इच्छा होती है। सार्वजनिक स्थानों पर वास्तविक जीवन में विषमलैंगिक दम्पत्तियों की मौजूदगी से सार्वजनिक और निजी के बीच की सीमा अब अस्पष्ट हो जाती है जिससे कि अच्छी महिला (जिसकी यौनिकता केवल निजी ही होती है) और बुरी महिला (जिसकी यौनिकता सार्वजनिक उपभोग की वस्तु होती है) के बीच के अंतर के समाप्त हो जाने का भय बना रहता है। इन्हीं दो स्थितियों द्वारा महिलाओं की यौनिकता को नियंत्रित करने के प्रयास किए जाते हैं जिनके अंतर्गत आदर किए जाने योग्य महिलाओं के व्यवहार और वेशभूषा के नियम बनाये जाते हैं। अनेक सरकारों और पुलिस प्रशासन द्वारा दम्पत्तियों पर लगाये गये प्रतिबंधों में यही नियम दिखाई पड़ते हैं।

यौन कर्म को भी कलंकित केवल इसलिए माना जाता है क्योंकि यह सार्वजनिक रूप से दिखाई पड़ता है। सार्वजनिक स्थानों पर यौनकर्मियों द्वारा ग्राहक ढूँढ़ने (जोकि अनैतिक यौनकर्म निरोधक अधिनियम 1988 के अंतर्गत गैरकानूनी है) के संबंध में पुलिस द्वारा व्यक्त चिन्ता के पीछे भी व्यावसायिक यौनकर्मियों और दूसरी महिलाओं के बीच अंतर न कर पाने का भय निहित रहता है[8]। इसलिए मध्यमवर्गीय यौनिकता केवल इसीलिए आदर योग्य नहीं है क्योंकि यह सामाजिक रूप से मान्य मानकों के भीतर कार्य करती है बल्कि इसलिए क्योंकि यह निजता को सार्वजनिक दृष्टि से छुपाये रखने की आवश्यकता को भी पहचानती है। महिलाओं के लिए आदरणीय होने का अर्थ यह घोषणा करते हुए कि निजता पर कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता, इस विचार को समझना और सार्वजनिक रूप से नारीवादी यौनिकता के नियमों के पालन का दिखावा करना होता है। जो महिला इन अलग–अलग संदेशों को उपयुक्त रूप से संचारित करने में सफल रहती है उसे नारीत्व के सबसे वांछनीय – *आधुनिक, शहरी, कामुक, मध्यमवर्गीय, प्रगतिवादी किन्तु आदरणीय महिला* – रूप की प्रतिमूर्ति माना जाता है।

<u>परिसीमित विचार : कामुक परन्तु नारीवादी नहीं</u>

'सैक्सी, सैक्सी, सैक्सी मुझे लोग बोलें, हॉय सैक्सी हैल्लो सैक्सी क्यों न बोलें'। इकबाल दुर्रानी द्वारा निर्देशित खुद्दार (1993) फिल्म में यही सवाल[9] पूछा गया था। बहुत सी युवा भारतीय महिलायें यही गाना गाती प्रतीत होती हैं।

मीडिया द्वारा जैन्डर रूप दिए गए इस 'यौनिक रूपान्तरण' और मध्यम वर्ग के कुछ वर्गों विशेषकर ऊपरी वर्ग द्वारा आरंभ की गई भूमंडलीयकरण की प्रक्रिया से महिलाओं के कामुक होने की परिस्थितियाँ और तरीके विस्तृत हो गये हैं। मैंने यौनिक रूपान्तरण शब्द का प्रयोग किया है जो यौन क्रान्ति से भिन्न है क्योंकि इस समय उत्पन्न हो रहे बदलाव बाज़ार नियमों से प्रभावित मीडिया तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग द्वारा किए जा रहे हैं; इनका आधार विचारधारा न होकर आर्थिक ही है और इन्हें किसी भी तरह से क्रान्तिकारी नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन प्रक्रियाओं द्वारा वैधानिक रूप से कामुक होने का अर्थ विरोध करने या विद्रोही होने की अपेक्षा 'आधुनिकता' के इस नए रूप का पालन करना है।

यद्यपि महिलाओं के कामुक होने की परिस्थितियाँ और परिप्रेक्ष्य अब विस्तृत हो गये हैं फिर भी यह अनेक प्रकार से परिसीमित हैं और उस बड़ी व्यवस्था का भाग बन गये हैं जिसके अंतर्गत 21वीं शताब्दी में नारी सुलभ गुणों से परिपूर्ण या आधुनिक महिला होने को परिभाषित किया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि इनमें व्यक्तिगत रूप से महिलाओं द्वारा खुले मन से रचनात्मक व्याख्यायें करने या यौन व्यवहारों को परिभाषित करने की अनुमति दी जाती हो। एक प्रकार से विचारधाराओं का यह परिसीमन स्पष्ट रूप से महिला संगठनों को अनुशासित करने और उन्हें समर्पण करने के लिए विवश करने की व्यवस्था का भाग प्रतीत होता है[10]।

ऐसा कहने के बाद कि उदारवादी दिखाई देने वाली यह यौनिकता वास्तव में पास से बहुत आकर्षक प्रतीत नहीं होती, केवल सुन्दरता, परिधानों और शारीरिक सौन्दर्य को प्राथमिकता देने वाले मूल्यों को समस्यापूर्ण रूप से देखना ही पर्याप्त नहीं है। अनेक प्रकार से यह मूल्य अब महिलाओं की आधुनिकता और प्रगति के प्रतीक बन गये हैं और भारतीय नारीवादी कार्यकर्त्ताओं और बुद्धिजीवियों ने भी इनका विरोध नहीं किया है। इन नारीवादियों और बुद्धिजीवियों के लिए उपभोग और इच्छाओं के विषय पर चर्चा करना हमेशा से ही कठिन रहा है क्योंकि यह विषय ऐसी समाजवादी विचारधारा में निहित हैं जहाँ उपभोग और इच्छाओं को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। इस प्रकार की उपभोक्तावादी अर्थव्यवस्था का भाग बनने वाली महिलाओं को कभी–कभी वैकल्पिक रूप से या परिस्थितिवश गलत मानसिकता का शिकार माना जा सकता है और उन्हें नव–पूंजीवाद की शोषणकारी शक्तियों के साथ मिलाकर देखा जा सकता है[11]।

1970 के दशक से भारतीय नारीवादियों ने सफलतापूर्वक (कम से कम सैद्धान्तिक रूप से) यौन हिंसा, विशेषकर कानूनों के संदर्भ से जुड़े विषयों को सुलझाया है। (उदाहरण के लिए ऐग्नैस 1999, कपूर तथा कॉस्मैन 1996 के लेख देखें) नारीवादी

बुद्धिजीवियों ने यौन हिंसा के प्रश्नों पर जटिल लेख भी लिखे हैं जिनमें हिंसा के शिकार तथा इसमें सहयोगी होने पर प्रश्न खड़े किए गए हैं तथा जिनमें अस्पष्टता बनाये रखने में सहयोग दिखाई पड़ता है। (उदाहरण के लिए मैनन 1999 तथा 2000 एवं गीता 1998 के लेखों को देखें) परन्तु पिछले एक दशक में ऐसा दिखाई पड़ता है कि भारत में नारीवाद धार्मिक कट्टरवादी शक्तियों के विरोध में खड़ा हुआ है और साथ ही साथ महिला आंदोलनों में व्याप्त भिन्नताओं के प्रश्नों का सामना भी कर रहा है।

समाजवादी विचारधारा में प्रायः नारीवादी राजनीति बाज़ार की राजनीति के बारे में विचार करने की अनिच्छुक दिखाई पड़ती है और उसका उद्देश्य केवल इस प्रकार की व्यवस्था की भर्त्सना करना मात्र ही होता है। उपभोग प्रक्रियाओं द्वारा जब सुन्दर, वांछनीय और आकर्षक होने की परिभाषायें बढ़–चढ़कर तैयार होती हों तो ऐसे संदर्भ में युवा महिलाओं से उपभोग को नकार देने की माँग करने से पूरी तरह अलग–थलग पड़ जाने का खतरा बना रहता है। डाईट पैप्सी और *फ्रैन्ड्स* (एक अमरीकी टेलीविज़न धारावाहिक) पर पली बढ़ी युवा महिलाओं की पूरी पीढ़ी को यह बताना निष्फल ही होगा कि 'बाज़ार एक गंदा शब्द है और प्रचलित मीडिया ग्राहकों के लिए अपील सरीखा है'। भले ही यह महिलायें हर्बल नींद गोलियों (मुँहांसो की दवा) का सेवन करती हों या टेलीविज़न पर *क्योंकि सास भी कभी बहु थी* धारावाहिक भी साथ ही साथ देखती हों। आज युवा महिलाओं पर पूरे विश्व में परिभाषित और स्थानीय रूप से समर्थित सुन्दरता और पतलेपन के मानकों तथा विषमलैंगिक संबंध बनाने (अर्थात एक पुरुष मित्र रखने) को अपनाने का दबाव पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है। केवल कुछ जागृत और उदार कला पाठशालाओं के बाहर, राजनीति और दर्शन शास्त्र के रूप में नारीवाद आज से पहले कभी भी अपनी अनेक विधाओं और अनेक विषमताओं के कारण उतना जटिल नहीं हुआ। विचार प्रकट करने के आज के युग में ब्रा जलाने और पुरुषों से घृणा करने के विचारों द्वारा ही नारीवाद परिभाषित होता है। इसके परिणामस्वरूप युवा महिलायें नारीवाद और नारीवादियों, दोनों से ही दूर रहती हैं और अनेक तरीकों से यह विचार व्यक्त करती हैं कि 'मैं स्वतंत्र तो हूँ परन्तु मैं नारीवादी नहीं हूँ'।

स्वयं को आश्वस्त करने (क्योंकि भारत और पूरे विश्व में युवा शिक्षित महिलाओं की विशेष स्थिति नारीवादी संघर्ष का ही परिणाम है) की इस भ्रामक प्रतीत होने वाली विचारधारा के पीछे डर और भ्रम स्पष्ट दिखाई पड़ता है। क्योंकि यह युवा महिलायें संभवतः मध्यम–मध्यम वर्ग की भारतीय महिलाओं की पहली पीढ़ी है जिनसे न केवल सम्मानजनक होने के लिए कहा जा रहा है बल्कि साथ ही साथ यौन रूप से वांछनीय दिखाई पड़ने की अपेक्षा भी की जा रही है। उनका सम्मान

उनके द्वारा भारतीय मध्यमवर्गीय नैतिकताओं और भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च होने का दावा करने वाले पारिवारिक मूल्यों को बनाये रखने पर निर्भर करता है। वहीं यौन रूप से उनका वांछनीय होना उनके द्वारा न केवल अंतर्राष्ट्रीय सुन्दरियों के रूप में खिताब जीतकर बल्कि नाभकीय शक्ति के रूप में उभर कर भारत के अंतर्राष्ट्रीय मंच पर प्रवेश करने की घोषणा पर निर्भर करता है। (संगारी 2003)

युवा मध्यमवर्गीय महिलाओं से बहुत सावधानीपूर्वक उस अदृश्य रेखा पर चलने की माँग की जा रही है जिसमें वह यौन रूप से वांछनीय तो दिखें परन्तु किसी भी तरह 'चरित्रहीन' होने से दूर रहें और वे *बहनजी/मामी/काकू या लड़कियाँ* (आमतौर पर ऐसी महिलाओं के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द जो कामुक दिखने या ऐसा व्यवहार करने से या तो मना करती हैं या जिन्हें इसकी अनुमति नहीं मिलती) बने बिना भी सम्मानजनक बनी रहें। यौन संबंध बनाने की इच्छा रखने वाली युवा महिलाओं को बहुत सावधानीपूर्वक इसकी कार्ययोजना बनानी पड़ती है ताकि कहीं उन्हें बदनामी का सामना न करना पड़े।

<u>निष्कर्षहीन टिप्पणियाँ</u>

हम केवल चाहकर ही इच्छाओं या उपभोक्तावाद की विश्वव्यापी प्रथाओं को दूर नहीं कर सकते। यह कल्पना करना भी उतना ही असंभव दिखाई पड़ता है कि मीडिया द्वारा संवर्धित किया जाने वाला यौनिकता का प्रतिनिधित्व या परिसीमन समय के साथ–साथ उदारवादी या समतावादी हो जाएगा। यह संस्थान, प्रक्रियायें और प्रथायें अपने संदर्भों के अनुसार वर्ग, जाति, धर्म और जेन्डर आधारित भेदभाव पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। नारीवाद को चाहिए कि वह समकालिक शहरी वास्तविकताओं के संदर्भ में इच्छाओं और उपभोग के प्रश्नों के उत्तर खोजे।

इस लेख में दिए गए तर्कों का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि विशेष वर्ग का दिखने या कामुक दिखने की विचारधारा को आगे बढ़ाने में मध्यमवर्गीय महिलाओं का कोई योगदान नहीं है और न ही ये तर्क भूमंडलीयकरण और उपभोग के वर्ग आधारित विश्लेषणों की सटीकता पर प्रश्न खड़ा करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य इन विश्लेषणों को और अधिक आगे ले जाते हुए अनुसंधान कार्यों का ध्यान मध्यम वर्ग पर केन्द्रित करना है।

21वीं शताब्दी में यौनिकता को समझने के लिए प्रयासरत नारीवादियों के समक्ष एक महत्वपूर्ण चुनौती अस्पष्टता में लिप्त रहने की विवशता है। निश्चित रूप से मीडिया में यौनिकता के प्रतिनिधित्व (विज्ञापन, फिल्म, प्रिन्ट मीडिया) में वर्तमान जेन्डर व्यवस्थाओं और शक्ति संतुलनों का समर्थन दिखाई पड़ता है। इसके बावजूद वे एक ऐसे शहरी वातावरण को दर्शाते हैं जिसमें महिलाओं को केवल

यौन वस्तुओं (या कभी–कभी केवल यौन साधनों) से अधिक माना जा सकता है और जहाँ यौनिकता से जुड़ी चिन्ताओं पर चर्चा करना और अधिक संभव होता जा रहा है। यदि हम इन विचारों और प्रतिबिंबो को हम पूरी तरह से नकार देने के स्थान पर इनसे मिलकर चलने के इच्छुक हों तो यौनिकता के इर्द–गिर्द के प्रचलित प्रतिबिंबों द्वारा तैयार परिस्थितियों में विरोधी या क्रान्तिकारी प्रश्न भी खड़े किए जा सकते हैं।

इसलिए *आधुनिक, शहरी, कामुक, मध्यमवर्गीय प्रगतिवादी किन्तु आदर योग्य महिला* बनने के लिए आवश्यक है कि बहुत सी विषमताओं और विरोधाभासों को अपनाया जाए। इस संबंध में मुझे दो सुझाव देने हैं : पहला यह कि नारीवाद के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उपभोग और इच्छाओं के विचार और प्रथाओं के बारे में अधिक जटिल और अस्पष्ट संबंधों को स्वीकार करे और दूसरा यह कि इस संभावना पर विचार किया जा सकता है कि विवाह एक ऐसी प्रथा है जिसके अंतर्गत इस प्रकार के प्रश्न उठाये जा सकते हैं।

उपभोग और इच्छाओं के विषय से जुड़ते हुए हमारे लिए युवा महिलाओं की उस पीढ़ी से चर्चा करना अधिक सरल होगा जो नारीवादियों की व्यक्तिगत मितव्ययिता पर जोर देने के कारण अलग–थलग पड़ गई है। कुछ अधिक सापेक्ष व्याख्याओं तक पहुँचन के लिए निम्नलिखित प्रश्नों पर भी विचार किया जा सकता है:

- क्या उपभोक्ता होने का कोई नारीवादी तरीका भी है?
- यौनिकता के जैन्डर और लैंगिक भेदभाव की आलोचना करते हुए हम किस प्रकार यौनिकता के नये उदारवादी विचारों को अपना सकते हैं?
- क्या हम नारीवादियों के रूप में सुन्दरता और यौनिकता के इर्द–गिर्द की प्रथाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए भी महिलाओं की व्यक्तिगत इच्छाओं का आदर कर सकते हैं?
- यदि हम यौनिकता से जुड़ी विवशताओं – यौनिक रूप से आकर्षक बनने के लिए सुन्दरता और यौनिकता के सांस्कृतिक मानकों को मानने की अपनी इच्छा पर दर्शाये जाने वाले विरोध सहित – को नारी विरोधी मानें तो क्या इससे हमारी स्वयं के नारीवाद के प्रति विचारधारा में अंतर आयेगा?
- विषमलैंगिक महिला नारीवादी कार्यकर्ता अपने कामोत्तेजक संबंधों में नारीवाद की राजनीति का सामना किस प्रकार करती हैं? यदि इन दोनों में कोई विरोध नहीं है तो व्यक्तिगत और राजनैतिक विचारों में क्या संबंध है?

क्या नारीवाद की परिवर्तनकारी भूमिका को बनाये रखते हुए भी हम इस प्रकार के प्रश्न करने की इच्छा कर सकते हैं?

हमारे यहाँ विवाह सबसे प्राचीन, सामान्य और पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। इसलिए ऐसा सुझाव देना विस्मयकारी प्रतीत हो सकता है कि इस प्रकार के परिवर्तन कारक प्रश्नों को वैवाहिक व्यवस्था में पूछा जा सकता है। हालांकि ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश विषमलैंगिक मध्यमवर्गीय महिलायें निश्चय ही विवाह करना चाहती हैं और आमतौर पर विवाह की इस संस्था में ही घरेलू यौनिक आनंद के प्रचलित प्रतिबिंब दिखाई पड़ते हैं। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम आम आदमी द्वारा विवाह करने की प्रथा पर फिर से विचार करें और यह जानने का प्रयास करें कि वास्तव में वहाँ परिस्थितियाँ क्या हैं? संभवतः इस मंच से हम न केवल यौनिकता बल्कि आधुनिकता, भारतीयता और मध्यमवर्गीय होने के बारे में असुविधाजनक प्रश्न भी पूछ सकेंगे।

- 21वीं शताब्दी में मध्यमवर्ग में विवाह का क्या महत्व है?
- क्या विवाह करने का यह विचार पूरी तरह से परंपरावादी है?
- क्या विवाहित होने का कोई आधुनिक तरीका भी है?
- क्या विवाहित होने का कोई नारीवादी तरीका भी है?
- क्या विवाह अथवा यौनिकता व्यक्त करने और इसका अनुभव करने का कोई भारतीय तरीका है?
- क्या वैवाहिक संबंधों में जेन्डर की समानता पर चर्चा करना संभव है?
- क्या मध्यमवर्गीय उपभोक्ता विचार पूरी तरह से नारीवाद विरोधी हैं?

इस प्रकार के प्रश्न उठाने से एक ऐसा संदर्भ तैयार होगा जिसके अंतर्गत यौनिकता, आधुनिकता, उपभोक्तावाद, विवाह तथा भारतीयता से जुड़े अर्थों पर बहस की जा सकती है। इन विषयों पर बहस होना वैसे भी बहुत लंबे समय से आवश्यक हो गया है। यदि नारीवादी नारीवाद का पुनः आविष्कार करने के इच्छुक हों जिसमें उपभोग से आनंद प्राप्त करने की इच्छा को सम्मिलित किया जाए, केवल तभी हम रचनात्मक और संभवतः प्रभावी रूप से यौनिकता के विषय पर प्रचलित विचार–विमर्श कर सकेंगे।

अभीस्वीकृतियाँ

इस लेख में व्यक्त बहुत से विचार लक्ष्मी लिंगम, अंजली मॉन्टिरियो, रेणू खन्ना, सुन्दरी रविन्द्रन, राधिका चन्दिरामणि, गीतांजलि मिश्र, कैरॉल वैंस, अभय सरदेसाई और राहुल श्रीवास्तव के साथ बातचीत के दौरान विकसित हुए और मैं उन सभी को धन्यवाद देना चाहती हूँ। मैं स्वास्थ्य और वैज्ञानिक अध्ययन के अच्युता मैनन केन्द्र, त्रिवेन्द्रम की भी आभारी हूँ जिन्होंने मेरे इस अनुसंधान के लिए अनुदान सहायता प्रदान की।

नोट्स

1. उदाहरण के लिए पवन वर्मा द्वारा लिखित लेखों (1998) को पढ़ें।

2. चाह अर्थात *एस्पीरेशनेलिटी* वाक्यांश के प्रयोग का सुझाव अभय सरदेसाई ने इस लेख पर विचार–विमर्श के दौरान दिया था।

3. 'मम्मीज़ मैज़िक'

4. इससे प्रायः हिन्दुत्व की राजनीति को विचारात्मक और भौतिक समर्थन भी प्राप्त होता है।

5. उदाहरण के लिए फैमिना पत्रिका में प्रकाशित यौन निकटस्थता प्रदर्शित कर रहे प्रत्येक चित्र के लिए विशेष रूप से यह स्पष्टीकरण दिया जाता है कि यह दृश्य केवल दिखाने के लिए ही तैयार किया गया है।

6. वेलेन्टाइन दिवस पर किए गए विरोध प्रदर्शन और मुबई के संदर्भ में हुए विरोध से, जहाँ छिटपुट घटनाओं में दम्पत्तियों को सार्वजनिक स्थलों पर एक दूसरे के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने से मना किया जाता है, यह स्पष्ट हो जाता है। (मिड डे, 26 अप्रैल 2002)

7. भारतीय जनता पार्टी के एक मंत्री के कथन का उद्धरण दिया गया था जिसमें उन्होंने कहा था कि किसी व्यक्ति को अपनी पत्नी के साथ नग्नावस्था में चित्र खिंचवाने की अनुमति नहीं दी जा सकती (शर्मा 1995, जॉन 1998)

8. एक समाचार के अनुसार एमआरए मार्ग पुलिस स्टेशन के वरिष्ठ निरीक्षक ए पी खान को यह कहते बताया गया था, "हम नियमित रूप से विशेष जाँच करते रहते हैं परन्तु फिर भी व्यावसायिक यौनकर्मियों को पहचान पाना कठिन हो जाता है"। (ऐनन 1999)

9. 'सैक्सी सैक्सी सैक्सी मुझे लोग बोलें.....' बोल से यह गाना बाद में बदल कर 'बेबी, बेबी, बेबी,.....' के रूप में पुनः रिकॉर्ड किया गया परन्तु सभी निजी टेलीविज़न चैनलों ने इस गाने का 'सैक्सी....' वाला रूप दर्शाना ही जारी रखा (घोष 1999)।

10. उदाहरण के लिए पश्चिमी सभ्यता में सूसन बॉर्दो (1993) द्वारा खान–पान के दोषों के सांस्कृतिक निर्माण तथा सैंड्रा बार्तकी (1988) द्वारा महिलाओं के शरीर और चेहरों को प्रतिबिंबित किए जाने के विषय पर किए गए कार्यों से पता चलता है कि किस प्रकार यह अनुशासन महिला होने को सामान्य रूप प्रदान करते हैं और कम से कम दूसरे प्रकार के किन्हीं भी व्यवहारों को अस्वीकार्य या संदेहास्पद मानते हैं।

11. यह केवल एक विचार मात्र है जिसका उद्देश्य सभी भारतीय नारीवादियों की प्रतिक्रियाओं को चित्रित करना नहीं है। वास्तव में व्यक्तिगत रूप से बुद्धिजीवियों ने समकालिक यौन प्रक्रियाओं के बारे में अति संवेदी और जटिल लेख भी लिखे हैं। (जॉन 1998, थापन 1997 के लेख देखें)

संदर्भ और बिब्लियोग्राफी

एग्नेस एफ 1999 *लॉ एण्ड जैन्डर इन इक्वैलिटी : द पॉलिटिक्स ऑफ वीमैन्स राइट्स इन इंडिया,* दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस।

अज्ञात 1999, *सिटीज़ विमैन ऑफ दी शैडोज़ गो अनफेज़्ड ऑन देयर फोर्ट वॉक्स,* टाइम्स ऑफ इंडिया 12 जून।

बार्तकी एस, 1998 द्वारा ली क्वीनबी तथा इरीन डायमन्ड द्वारा संपादित *फैमिनिज़्म एण्ड फॉकॉल्ट: पाथ्स ऑफ रजिस्टैन्स,* पुस्तक में 'फॉकॉल्ड, फैमिनिटी एण्ड दी मॉडर्नाइजेशन ऑफ पैट्रिएकल पॉवर' शीर्षक से प्रकाशित लेख पृष्ठ 61–86, बॉस्टन, नार्थ ईस्टर्न यूनीवर्सिटी प्रेस।

बासु ए, 1995, द्वारा तनिका सरकार और उर्वशी बुटालिया द्वारा संपादित पुस्तक *वीमैन एण्ड द हिन्दू राइट्स* में 'फैमीनिज़्म इनवर्टेड : द जैन्डर्ड इमेजिरी एण्ड रियल वीमैन ऑफ हिन्दू नैशनलिज़्म' शीर्षक से प्रकाशित लेख। पृष्ठ 158–180, नई दिल्ली, काली फॉर वूमैन।

बॉर्दो एस 1993, *अनबियरेबल वेट : फैमिनिज़्म, वैस्टर्न कल्चर एण्ड दी बॉडी,* बर्कले, यूनीवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।

चन्दिरामणि आर, एस कपाड़िया, आर खन्ना और जी मिश्र, 2002, *सैक्सुऑलिटी एण्ड सैक्सुऑल बिहेवियर, ए क्रिटिकल रिव्यू ऑफ सैलेक्टेड स्टडीज़ (1990–2000) नई दिल्ली*। दी जेन्डर एण्ड रिप्रोडक्टिव हैल्थ रिसर्च इनिशियटिव तथा क्रिएटिंग रिर्सोज़ फॉर इम्पावरमैन्ट इन एक्शन (क्रिया)।

गीता वी 1998, द्वारा मैरी जॉन और जानकी नायर द्वारा संपादित *ए क्वैश्चन ऑफ साइलेंस: दी सैक्सुऑल इक्नॉमीज़ ऑफ मॉडर्न इंडिया* नामक पुस्तक में 'ऑन बॉडिली लव एण्ड हर्ट' शीर्षक से लेख। पृष्ठ 304–331, नई दिल्ली, काली फॉर वूमैन।

घोष एस द्वारा क्रिस्टीन ब्रॉसियस तथा मैलिसा बूचर द्वारा संपादित *इमेज जर्नीज़* पुस्तक में 'दि टर्बल्ड एक्सीस्टैंस ऑफ सैक्स एण्ड सैक्सुऑलिटी: फैमिनिस्ट्स एंगेज विद सैन्सरशिप' शीर्षक से प्रकाशित लेख, पृष्ठ 233–259, सेज पब्लिकेशन्स।

जॉन एम. ई द्वारा 1998 में मैरी जॉन और जानकी नायर द्वारा संपादित *ए क्वैश्चन ऑफ साइलेंस: दी सैक्सुऑल इक्नॉमीज़ ऑफ मॉडर्न इंडिया* नामक पुस्तक में 'ग्लोबलाइजेशन एण्ड दी विज़ुऑल फील्ड: इश्यूज़ एण्ड नॉन–इश्यूज़ फॉर कल्चरल क्रिटीक' शीर्षक से लेख पृष्ठ 368–396 नई दिल्ली काली फॉर वूमैन।

कपूर आर तथा बी कॉस्मैन, 1996, *सबवर्सिव साइट्स : फैमिनिस्ट एंगेज़मैन्ट विद लॉ इन इंडिया*, नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स।

मैनन एन द्वारा 1999 में निवेदिता मैनन संपादित पुस्तक *जेन्डर एण्ड पॉलिटिक्स इन इंडिया* में 'राइट्स, बॉडीज़ एण्ड लॉ: रीथिंकिंग फैमिनिस्ट पॉलिटिक्स ऑफ जस्टिस' शीर्षक से प्रकाशित लेख पृष्ठ 262–293, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटीज़ प्रेस।

_____, 2000 द्वारा पार्था चटर्जी एवं प्रदीम जगन्नाथन संपादित *सबऑल्ट्रन स्टडीज़ 11: कम्युनिटी, जेन्डर एण्ड वॉयलेंस* पुस्तक में 'एमबॉडिंग दी सैल: फैमिनिज़्म, सैक्सुऑल वॉयलेंस एण्ड दी लॉ' शीर्षक से प्रकाशित लेख पृष्ठ 66–105, नई दिल्ली, रवि दयाल।

संगारी के, 2003 द्वारा इन्दिरा चन्द्रशेखर तथा पीटर सी सील सम्पादित *बॉडी सिटी–सिटिंग कन्टैम्परेरी कल्चर इन इंडिया* में 'न्यू पैट्रिऑटिज़्म : ब्यूटी एण्ड दी बॉम्ब' शीर्षक से प्रकाशित लेख, पृष्ठ 198–217, बर्लिन, दिल्ली। द हाउस ऑफ वर्ल्ड कल्चर्स एण्ड तूलिका बुक्स।

सरकार टी 1995, द्वारा तनिका सरकार व उर्वशी बुटालिया संपादित *विमैन एण्ड दी हिन्दू राइट* में 'हिराइक विमैन, मदर गॉडेसेसः फैमिली एण्ड आर्गनाइजेशन्स इन हिन्दुत्व पॉलिटिक्स' शीर्षक से प्रकाशित लेख, पृष्ठ 181–215, नई दिल्ली, काली फार वूमैन।

शर्मा के, 1995, 'द मीडियम इज़ दी मैसेज', द हिन्दू, 17 अगस्त

थापन एम, 1997 द्वारा मीनाक्षी थापन संपादित *एमबॉडिमैन्टःऐसेज़ ऑन जेन्डर एण्ड आइडैन्टी* नामक पुस्तक में 'फैमिनिटी एण्ड इटज़ डिस्कन्टैन्टसः विमैन्स बॉडी इन इंटीमेट रिलेशनशिप्स' शीर्षक से प्रकाशित लेख, नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटीज़ प्रेस।

वर्मा, पी के 1998, *द ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास*, नई दिल्ली, पैंग्विन।

इंटरसैक्शनैलिटी[1] प्रिज़्म के माध्यम से : भारत में समलैंगिक यौनिकताओं की स्थिति

जया शर्मा व दीपिका नाथ

इस लेख में प्रिज़्म संगठन के दृष्टिकोण के विषय में बताया गया है, प्रिज़्म एक ऐसा संगठन है जो समलैंगिक यौनिकताओं से जुड़े विषयों पर कार्यरत है, यौनिकता का अध्ययन करता है और इस दृष्टिकोण के माध्यम से हमें हमारी कार्यशीलता की जानकारी देता है। लेख का आरंभ प्रिज़्म के बारे में एक संक्षिप्त विवरण से किया गया है। इसके पश्चात भारतीय संदर्भ में समलैंगिक यौनिकताओं पर चर्चा की गई है जिनके मध्य हम प्रगतिवादी आंदोलनों की प्रतिक्रिया को खोजते हैं और समलैंगिक यौनिकताओं के बारे में अपने वर्तमान कार्यों का चित्रण करते हैं। मध्य भाग में यह बताया गया है कि यह बताया गया है कि किस प्रकार प्रिज़्म एक मंच के रूप में स्थापित हुआ। इस भाग में हमारे विचारों में हुए महत्वपूर्ण फेरबदल पर चर्चा की गई है और यौनिकता के विषय पर हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन से हमारे कार्यों पर पड़ने वाले प्रभावों के उदाहरण दिए गए हैं। लेख के अंत में वर्तमान और संभावित चुनौतियों पर चर्चा की गई है।

प्रिज़्म के बारे में

प्रिज़्म भारत के नई दिल्ली महानगर में स्थित नारीवादी विचारधारा वाले व्यक्तियों का अपंजीकृत संगठन है जो किसी भी वित्तीय स्रोत से सहायता प्राप्त नहीं करता। प्रिज़्म में सभी जेन्डर और यौनिक विचारों और पहचानों पर चर्चा की जाती है। प्रिज़्म संगठन का मिशन विषमलैंगिक सामान्य मानकों से बाहर की समलैंगिक यौनिकता से जुड़े विषयों को उठाना है और विषमलैंगिकता के इन मानकों पर प्रश्न चिन्ह लगाना है।

---

१ इंटरसैक्शनैलिटी या अंतरवर्गीयता एक नारीवादी सिद्धान्त है। यह अनुसंधान कार्यों की एक प्रक्रिया और सामाजिक न्याय के विषय पर कार्य आरंभ करने हेतु आधार उपलब्ध कराता है। इस सिद्धान्त के मूल में यह मान्यता है कि सामाजिक संबंधों, इतिहास और शक्ति संतुलनों के कारण लोग एक से अधिक प्रकार की बहुस्तरीय पहचान का जीवन जीते हैं। विभिन्न वर्गों के इस इंटरसैक्शनल विश्लेषण का उद्देश्य इन अनेक पहचानों को उजागर करना है और विभिन्न पहचानों के एक साथ प्रस्तुत होने के कारण उत्पन्न भेदभाव की स्थिति का पता लगाना है। इसका उद्देश्य महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करने वाले जातिवाद, पितृसत्ता, वर्ग और भेदभाव उत्पन्न करने वाली अन्य असमानताओं के हल खोजना भी है। इस विश्लेषण में ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनैतिक संदर्भों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की पहचानों के कारण व्यक्तिगत अनुभवों को भी पहचाना जाता है। – (एडब्ल्यूआईडी – *"इंटरसैक्शनैलिटी : अ टूल फॉर जेन्डर एण्ड इकॉनॉमिक जस्टिस"* – *वीमैन्स राइट्स एण्ड इकॉनॉमिक चेन्ज, नम्बर 9, अगस्त, 2004)*

जया शर्मा और दीपिका नाथ, थ्रू द प्रिज़्म ऑफ इंटरसेक्शनेलिटी : सेम सेक्स सेक्शुएलिटीस् इन इंडिया, सेक्शुएलिटी, जेन्डर एंड राइट्स (सम्पादन : गीतांजली मेनन और राधिका चंद्रिरमनी) सेज पब्लिकेशन्स 2005 अनुवाद : सोमेन्द्र कुमार और रोकेश चन्द्र ध्यानी

यौनिकता के विषय पर हमारी जानकारी यौनिकता के मूल सिद्धान्तों पर प्रश्न खड़े करने से आरंभ होती है। हम यौनिकता के अंतर्गत 'अच्छे' और 'बुरे' के सिद्धान्त पर प्रश्न उठाते हैं और साथ ही साथ पुरुष के साथ पुरुषत्व एवं नारी के साथ नारीत्व गुणों पर भी प्रश्न खड़े करते हैं। हम एकल विवाह, जबरन विषमलैंगिता और विषमलैंगिक संबंधों को सामन्य माने जाने, विवाह संस्था और जन्म से ही निर्धारित यौनिक पहचान और व्यवहारों से संबंधित सामाजिक सिद्धान्तों पर भी प्रश्न उठाते हैं।

हम जानते हैं कि राज्य और परिवारों जैसी संस्थाओं तथा व्यक्तियों द्वारा निर्धारित प्रभावी विचारधारायें वर्ग, जाति, धर्म, जातीयता या लिंग का भेदभाव किए बिना सभी व्यक्तियों और समूहों की यौनिकता पर नियंत्रण एवं प्रबंधन चाहती है। इन प्रयासों से शक्तियों के असमान वितरण, संसाधनों, तकलीफों, आनंद और विचार अभिव्यक्ति के स्थान को यथावत बनाये रखने का प्रयास किया जाता है जोकि मानवीय यौनिकता और लोगों के मानवाधिकारों के संपूर्ण एवं स्वतंत्रत अभिव्यक्ति के विचारों को शोषित करता है।

विशेष रूप से प्रिज़्म समलैंगिक यौन व्यवहारों से जुड़े विषयों को संबोधित करता है जिनमें समलैंगिक स्त्रियां, पुरुष, द्विलिंगी और ट्रांसजेन्डर्ड लोग (एलजीबीटी)[1] सम्मिलित होते हैं। हमारा प्रयास है कि हम इन विषयों को समाज की मुख्यधारा में लायें, मानवाधिकारों के उल्लंघन पर प्रतिक्रिया करें और यौनिकता को, इसे निर्मित एवं नियंत्रित करने वाले जेन्डर, जाति एवं धर्म जैसे कारकों से जोड़ कर देखें। इस संबंधों पर ध्यान आकर्षित करते हुए हम प्रगतिवादी आंदोलनों द्वारा समाज की मुख्यधारा से अलग–थलग पड़ी यौनिकताओं को अपनी प्राथमिकताओं में शामिल किए जाने की आवश्यकता को स्थापित करना चाहते हैं।

जेन्डर/यौन व्यवहारों का वर्तमान और सामान्य से अलग व्यवहारों का परिप्रेक्ष्य

भारत में यौनिकता, विशेषकर शहरी मध्यम वर्ग के संदर्भ में यौनिकता विषय पर चर्चा नहीं की जाती या फिर यौनिकता पर चर्चा को जेन्डर (महिलाओं) से जोड़ दिया जाता है और इसे केवल प्रजनन स्वास्थ्य (मुख्य रूप से जन्म पर नियंत्रण) और यौन हिंसा (मुख्य रूप से महिलाओं के विरुद्ध हिंसा) तक ही सीमित रखा जाता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सामान्य व्यवहारों के अतिरिक्त जेन्डर/यौन व्यवहारों (समलैंगिक यौन व्यवहार) पर आमतौर पर कोई चर्चा नहीं की जाती और इनसे जुड़े विषयों को मानवाधिकारों के अत्यधिक उल्लंघन के बाद भी महत्वहीन घोषित कर दिया जाता है।

इन उल्लंघनों में सबसे कपटपूर्ण उल्लंघन विषमलैंगिकता को सामान्य मानना और पुरुष तथा पुरुषत्व एवं नारी तथा नारीत्व के संबंधों को स्वीकार करना है। इस प्रकार के विचारों को अपनाये जाने का परिणाम यह होता है कि स्वयं को इस सामान्य व्यवस्था से बाहर पाने वाले लोगों के मन में अलग–थलग पड़ जाने का डर उत्पन्न हो जाता है। उन पर लगातार अपने बारे में यथार्थ को छुपाने का दबाव बना रहता है और उन्हें हमेशा इस भावना के साथ जीना पड़ता है कि वह इस तरह का अनुभव करने वाले एकमात्र व्यक्ति हैं।

जब असामान्य जेन्डर/यौनिक व्यवहारों अथवा पहचान को घोषित किया जाता है अथवा इसकी जानकारी मिलती है तो व्यक्तियों को अपने ही परिवारों के मानसिक उत्पीड़न, घर में बंद रखने या निकाल दिए जाने, नौकरी छूटने, जबरन विवाह किए जाने, पुलिस के हाथों उत्पीड़न और धन उगाहने या मानसिक रोग विशेषज्ञों द्वारा ठीक किए जाने (इसमें आमतौर पर तेज दवायें या बिजली के झटके दिए जाते हैं) जैसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अधिकारों के इन उल्लंघनों के अनुभव जेन्डर, जाति और वर्ग पर निर्भर करते हैं।

यहाँ यह जानना महत्वपूर्ण है कि विरोध और बातचीत द्वारा अपने विचार मनवा लेने की प्रक्रिया सदैव चलती रहती है। कुछ लोग अपने विचारों को स्पष्ट रूप से या छुपा कर व्यक्त करने में सफल होते हैं जबकि अन्य लोग पारंपरिक और नए उभरने वाले समुदायों में शरण लेते हैं। बहुत से अन्य लोग विषमलैंगिक–पितृसत्तात्मक विचारधाराओं के प्रति स्पष्ट राजनीतिक चुनौतियाँ खड़ी करते हैं।

<u>प्रगतिवादी समूहों की प्रतिक्रिया</u>

भारत में विकास के क्षेत्र में कार्यरत और मानवाधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे संगठन आमतौर पर यौनिकता से जुड़े विषयों को संबोधित करने में असफल रहे हैं। विकास कार्यों के क्षेत्र में यौनिकता (विकलांगता और स्त्री शिक्षा के साथ) सबसे अंतिम प्राथमिकता होती है।

इस विषय पर महत्व न दिए जाने से उस विचारधारा का पता चलता है जिसमें निर्धनता, भुखमरी और धार्मिक कट्टरवाद जैसी ज्वलंत समस्याओं के होते हुए यौनिकता के विषय पर विचार करने को विलासिता माना जाता है और निर्धन समुदायों में यौनिकता को प्राथमिक विषय नहीं समझा जाता। बैठकों के दौरान यौनिकता के विषय को उठाने से परहेज़ करने वाले समूहों को कारण बताने के लिए विवश किए जाने पर उनके द्वारा ऐसे विचार प्रकट किए जाते रहे। आमतौर

पर यौनिकता के विषय को उठाने से इंकार किए जाने से गैर–विषमलैंगिक यौनिकताओं के प्रति कड़े विरोध का भी पता चलता है।

यद्यपि स्वायत्त महिला समूहों ने गैर–विषमलैंगिक लोगों के विरुद्ध उल्लंघनों पर विरोध प्रकट किया है फिर भी हमने अभी तक महिलाओं के यौनिकता के अधिकार के समर्थन में सकारात्मक और सक्रिय पहल नहीं देखी है। भारत में प्रगतिवादी समूहों ने अभी तक ऐसी कोई विचारधारा तैयार नहीं की है जिसमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विश्लेषण में समलैंगिक स्त्रियों और अन्य असामान्य यौनिकताओं को स्थान दिया गया हो और न ही इन यौनिकताओं द्वारा इस विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक व्यवस्था के समक्ष प्रस्तुत किन्हीं चुनौतियों की पहचान की गई है। जेन्डर, जाति और धर्म के अंतर्गत असमानताओं को निर्मित करने और बनाये रखने के लिए यौनिकता को प्रयोग किए जाने की प्रक्रियाओं की पहचान नहीं हो पाई है।

भारत में समलैंगिक यौनिकताओं से जुड़े कार्यों में अनेक प्रकार के दृष्टिकोण और गतिविधियाँ शामिल हैं जिन्हें मुख्य रूप से समर्थनकारी समूहों, एचआईवी/एड्स संबंधी कार्यों और सक्रिय राजनीतिक गतिविधियों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

समर्थनकारी समूह आमतौर पर किसी विशेष यौनिक व्यवहारों से जुड़े लोगों (उदाहरण के लिए समलैंगिक स्त्रियो) या किसी विशिष्ट पहचान में न आने वाले समलैंगिक व्यवहारों वाले लोगों (समलैंगिक पुरुषों) के साथ कुछ सीमित महानगरों में कार्य करते हैं और मुख्य रूप से मध्यमवर्गीय एवं उच्च मध्यमवर्गीय व्यक्तियों की सहायता में कार्यरत हैं। विशेष रूप से पुरुषों के साथ किए जाने कार्यों में जेन्डर और यौनिकता के निर्माण तथा इनके द्वारा यौन इच्छाओं एवं अन्य सामाजिक वास्तविकताओं को नियंत्रित किए जाने पर सैद्धान्तिक रूप से कोई चर्चा नहीं की जाती। समलैंगिक पुरुषों के मध्य कार्यरत संगठनों की अधिकारों के हनन के अन्य विषयों के लिए सीमित संघर्ष से इस सैद्धान्तिक अंतरक्रिया की अनुपस्थिति का पता चलता है।

एचआईवी/एड्स की रोकथाम और इसके प्रसार पर नियंत्रण के कार्यक्रमों में यौन व्यवहारों को बदलने पर ध्यान दिया जाता है परन्तु समलैंगिकता से जुड़े विषयों और समाज में इनकी स्वीकार्यता पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। ट्रॉंसजेन्डर्ड और समलैंगिक पुरुषों का शोषण करने वाली विचारधाराओं को चुनौती देने के साथ–साथ पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष के रूप में जन्म लेने से प्राप्त होने वाले विशेषाधिकारों पर भी विचार किए जाने की आवश्यकता है। विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक संस्था के रूप में विवाह के अंतर्गत भी समलैंगिक पुरुषों के बारे में

चर्चा नहीं की जाती। समलैंगिक पुरुषों के साथ एचआईवी/एड्स के विषय पर कार्य कर रहे संगठनों ने यद्यपि अनेक प्रकार की सहयोगी गतिविधियाँ आरंभ करने सफलता पाई है जिनमें समर्थनकारी समूह, पीड़ितों के लिए केन्द्र और सामाजिक गतिविधियाँ शामिल हैं।

समलैंगिक यौनिकता से जुड़े कार्यों का एक अन्य वर्ग विशिष्ट रूप से सक्रिय राजनीतिक कार्यकर्ताओं के समूह हैं। इन समूहों में मुंबई स्थित लाबिया (जिसे पहले स्त्री संगम के नाम से जाना जाता था), नई दिल्ली स्थित प्रिज़्म और अन्य समूह शामिल हैं जिनकी राजनीतिक सक्रियता उनके संसाधन संगठन (जैसे संगमा, हमजिन्सी और ऑल्टरनेटिव लॉ फोरम) होने के साथ परिलक्षित होती है। इन समूहों के सदस्य आमतौर पर अन्य प्रगतिवादी आंदोलनों से भी जुड़े होते हैं। संगमा देश के कुछ उन संगठनों में से एक है जो सामाजिक आंदोलनों और निर्धन एलजीबीटी समुदायों के मध्य संबंध बनाने के क्षेत्र में कार्यरत है।

हालांकि समलैंगिक पुरुषों के साथ काम कर रहे समूह अन्य प्रगतिवादी समूहों या आंदोलनों से जुड़े नहीं होते फिर भी महिलाओं के लिए तैयार समर्थनकारी समूह प्रायः एक या अधिक महिला संगठनों से संबंधित होते हैं यद्यपि इनके संबंधों के स्वरूप और विशेषताओं में अंतर होता है। अभी कुछ समय पूर्व तक एलजीबीटी समर्थनकारी समूहों, समलैंगिक पुरुषों के साथ एचआईवी/एड्स पर कार्यरत संगठनों और यौनकर्मियों के अधिकारों के लिए संघर्षरत संगठनों के मध्य किसी प्रकार का जुड़ाव नहीं था। जनवरी, 2004 में मुंबई में आयोजित *वर्ल्ड सोशल फोरम* में इसी स्वरूप के *रेनबो प्लैनेट* नामक गठबंधन की स्थापना से अब इस स्थिति में बदलाव आया है।

प्रिज़्म का इतिहास

आरंभिक स्थापना

प्रिज़्म की स्थापना अगस्त 2001 में हुई। प्रिज़्म को स्थापित करने के लिए एक साथ एकत्रित हुए 7 व्यक्ति उत्तरी भारत के लखनऊ में समलैंगिक पुरुषों के बीच कार्यरत भरोसा ट्रस्ट और नाज़ अंतर्राष्ट्रीय फाउंडेशन के कार्यकर्ताओं पर झूठे आरोप लगाकर उन्हें प्रताड़ित किए जाने के समय से ही[2] इस अभियान में सक्रिय रूप से सम्मिलित थे। हममें से कुछ लोग एलजीबीटी समर्थक समूहों के सदस्य थे जबकि कुछ अन्य विकास कार्यों से जुड़े गैर–सरकारी संगठनों की गतिविधियों के अंतर्गत यौनिकता विषयों पर कार्यरत थे। हम सब मिलकर यौन अल्पसंख्यक समूहों के मानवाधिकारों से जुड़े विषयों पर कार्य एवं उनकी पैरवी के लिए एक मंच तैयार करने के प्रयोजन से इक्कठे हुए। समलैंगिक पुरुषों के मध्य कार्य कर

रहे समूहों की भाँति भरोसा ट्रस्ट और नाज़ अंतर्राष्ट्रीय फाउंडेशन और दूसरे संगठनों के तहत अलग–थलग रूप से कार्यरत हैं। इनके कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी से यह वास्तविकता प्रकट हो गई कि यौनिकता से जुड़े विषयों पर कार्य कर रहे समूहों को हमेशा ही मानवाधिकारों के उल्लंघनों का सामना करना पड़ सकता है इसलिए वे अन्य गैर–सरकारी संगठनों और जन अभियानों के साथ मिलकर नहीं चल सकते।

पहले पहल हमने अपने इस समूह को *'द थर्सडे फ़ोरम'* का नाम दिया क्योंकि हम प्रायः हर वृहस्पतिवार को बैठक किया करते थे परन्तु शीघ्र ही हमने समूह का नाम बदल कर *प्रिज़्म* कर दिया जिसका आरंभिक अर्थ *पीपल फ़ॉर दी राइट्स ऑफ़ इंडियन सैक्सुएलिटी माइनॉरिटीज़* अर्थात भारतीय यौनिक अल्पसंख्यकों के अधिकारों के लिए कार्यरत कार्यकर्ता था। अपने विचारों पर आरंभ में चर्चा करते हुए हमने, अधिकांश दूसरे एलजीबीटी समूहों के विपरीत जो विशिष्ट यौनिक व्यवहारों पर कार्यरत थे, स्वयं को अनेक प्रकार के यौन व्यवहारों पर कार्य करने के लिए कटिबद्ध किया। इस वास्तविकता को पहचानते हुए कि समाज की मुख्यधारा से अलग–थलग होने की प्रत्येक घटना आपस में संबंधित होती है, हमने अन्य आंदोलनों के साथ सहयोग स्थापित करने के प्रयास किए। हालांकि अब पीछे मुड़कर देखने पर हमें लगता है कि हमने इस विषय पर विस्तृत चर्चा नहीं की थी कि किस प्रकार समाज की मुख्यधारा से अलग–थलग पड़े व्यवहारों में आपस में संबंध होते हैं या अन्य आंदोलनों के साथ हमारे जुड़ाव की प्रकृति किस रूप में होगी।

प्रिज़्म की स्थापना के पहले 6 महीनों में ही यह नाम (प्रिज़्म) मात्र एक संक्षेपाक्षर नहीं रह गया था। नाम में इस परिवर्तन से हमारे विशिष्ट पहचान वाले यौनिक अल्पसंख्यकों से हटकर इंटरसैक्शनैलिटी की संरचना में कार्य करने के प्रयास दिखाई दिए। इनके अंतर्गत हमने सक्रिय और व्यापक रूप से यौनिकता को निर्मित एवं नियंत्रित करने वाले सामाजिक कारकों जैसे जेन्डर, धर्म और वर्ग में यौनिकता को पहचानने के प्रयास किए।

वर्ष 2002 में क्रिया और तारशी संगठनों द्वारा आयोजित[3] 'यौनिकता और अधिकार संस्थान' नामक गहन शैक्षिणिक पाठ्यक्रम में हमारे 2 सदस्यों के भाग लेने के साथ ही प्रश्न उठाने की वह प्रक्रिया आरंभ हुई जिससे दृष्टिकोण में यह परिवर्तन संभव हुआ। प्रशिक्षण में पहचान आधारित राजनीतिक प्रक्रिया के आलोचकों के साथ विचार–विमर्श के दौरान आरंभ में तो प्रिज़्म के सदस्य विभिन्न विचारों की इंटरसैक्शनैलिटी और पहचान आधारित संरचना को त्यागने के प्रति तीव्र विरोध से सम्मोहित हो गए थे। हमने पाठ्यक्रम आयोजित करने वाले एक व्यक्ति से यह विचार–विमर्श किया कि हालांकि पश्चिमी देशों में इंटरसैक्शनैलिटी का सिद्धान्त

बहुत कारगर हो सकता है परन्तु भारत में एलजीबीटी विषयों पर चुप्पी होने के कारण किसी बड़ी संरचना में शामिल किए जाने से पूर्व पहचान आधारित यौनिकता को स्पष्ट रूप से उजागर करना आवश्यक होगा।

प्रशिक्षण के दौरान उन्हें यौनिकता और यौनिकता पर आधारित पहचानों के सामाजिक निर्माण की सैद्धान्तिक संरचना की जानकारी मिली। हमारे समक्ष यह चुनौती भी रखी गई कि हम इस संभावना पर विचार करें कि यौनिकता के बारे में हमारे विचार मान्यताओं पर आधारित थे – उदाहरण के लिए यह विचार कि यौनिकता ही सभी पहचानों का मूल है। विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं के कारण उपजे इस विचार पर चर्चा करने से यौनिकता पर पहचानों की पकड़ के बारे में हमारे स्वयं के विचार कुछ शिथिल हुए।

हमने निर्माण और नियंत्रण की अन्य धुरियों से अलग–थलग यौनिकता पर विचार करने की सीमितताओं को पहचानना सीखा। हमने यह भी जाना कि किस प्रकार कट्टरवाद और मौजूदा सैक्स तथा जेन्डर व्यवस्थाओं में यौनिकता की भूमिका को जानना इतना आवश्यक है।

इस पाठ्यक्रम की समाप्ति से पूर्व प्रिज़्म के दोनों सदस्य इस बात पर सहमत थे कि हमारे संगठन के नाम के संक्षेपाक्षर के अर्थ अब बदल दिए जाने चाहिए। हम अपने संगठन को एक नया नाम देने तक के लिए तैयार थे और इसके लिए हमने *'पीपल फॉर दी राइट्स टू सैक्स .....* तथा ऐसे ही अन्य कई नामों पर भी विचार किया था। दिल्ली वापस लौटने पर हमने लगातार प्रिज़्म के अन्य सदस्यों के साथ पाठ्यक्रम के दौरान उठाये गये विषयों विशेषकर पहचान आधारित राजनीति विषय पर गहन चर्चा की।

बॉक्स-4.1 : प्रिज़्म द्वारा पहचान आधारित राजनीति की समालोचना

यद्यपि पहचान आधारित राजनीति बहुत से राजनीतिक संगठन कार्यों का केन्द्र बिन्दु होती है परन्तु फिर भी इससे समुदाय के बारे में प्रतिबंधक और एक समान दृष्टिकोण विकसित होते हैं। चूंकि सभी सदस्यों से समुदाय के नियमों का पालन करने की अपेक्षा की जाती है इसलिए पहचान आधारित समूह से जुड़ने से कार्यक्षेत्र के सीमित हो जाने का खतरा बना रहता है। पहचान आधारित राजनीति के अलग–थलग पड़ने और दमनकारी व्यवस्थातंत्र निर्मित होने का खतरा रहता है।

पूर्व में पश्चिमी देशों में एलजीबीटी विषय पर पहचान आधारित राजनीति के अंतर्गत यह माँग की गई थी कि सहभागी उपलब्ध पहचानों में से किन्हीं एक का चयन करें और फिर उसका धर्मांध पालन करें। आंदोलन के भीतर भी द्विलिंगियों

के प्रति संदेह, अत्यधिक असमान व्यवहार व वेषभूषा तथा गे होने के सही तरीके के विद्यमान रहने के मिथकों से नियंत्रण के विभिन्न स्तर दिखाई पड़ते हैं।

पहचान आधारित राजनीति में प्रायः यह मान लिया जाता है कि समलैंगिक इच्छायें रखने वाले लोग अपनी यौनिकता को अपने व्यक्तित्व का केन्द्र मानते हैं। भारत के संदर्भ में हमें यह पहचानने की आवश्कयता है कि अपनी यौन इच्छाओं (भले ही समलैंगिक हों अथवा अन्य प्रकार की) को अपने जीवन का मूलमंत्र मानना केवल उन्हीं लोगों के लिए सही है जो स्वयं को समलैंगिक पुरुष, स्त्री, द्विलिंगी, विषमलैंगिक या बहुत सी देशी यौनिक पहचानों का भाग मानते हैं। ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जो समलैंगिक यौन इच्छायें तो रखते हों परन्तु इनमें से किसी पहचान के अंतर्गत नहीं आते। वास्तविकता तो किसी भी विवरण के समय यह जानना आवश्यक है कि किसी भी पहचान के अंतर्गत आने वाले लोग वास्तव में समलैंगिक इच्छायें रखने वाले एक बड़े वर्ग का उपसमूह मात्र हैं। भारतीय संदर्भ में यह विचार विशेष रूप से और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि यहाँ 'मुख्यधारा' के लोग समलैंगिक इच्छायें रखने वाले लोगों को 'पश्चिमी सभ्यता में रंगे या विशेष वर्ग से संबंध रखने वाले लोग' मान लेते हैं। पहचान आधारित राजनीति से हमें विभिन्न प्रकार के दमनकारी कार्यों के मूल में समानताओं का पता नहीं चलता जैसे भारत में मुसलमानों को 'बाहरी' मानकर शोषण करने और समलैंगिक इच्छायें रखने वाले लोगों के शोषण के बीच संबंधों का पता नहीं चलता। इसलिए पहचान आधारित राजनीति इसकी उत्पत्ति की विविधता के ही पूरी तरह से विपरीत है।

पहचान की राजनीति को स्वयं में सीमित हो जाने वाले विषय के खतरों को पहचानते हुए हम मानते हैं कि एक ऐसे परिदृश्य में जहाँ समलैंगिक इच्छाओं को कलंक की दृष्टि से देखा जाता है, व्यक्तियों (इस लेख के लेखकों सहित) और समुदायों के लिए इन पहचानों के अर्थ को कम करके नहीं आंका जा सकता। राजनीतिक कार्यक्रमों के लिए, विशेषकर अधिकारों के उल्लंघन को देखते हुए, यौनिकता की पहचान, लोगों को संगठन के रूप में संघटित करने तथा एकजुटता और शक्ति के विचारों की उत्पत्ति में लाभदायक हो सकती है। पहचान आधारित राजनीति में जुड़ने वालों को किन्तु इस तरह की राजनीति से जुड़े खतरों के बारे में जानकार होना चाहिए।

जेन्डर समीकरणों की तटस्थता पर उभरने वाले नए विचार

प्रिज़्म द्वारा यौन आक्रमण अधिनियम पर किए गए कार्यों से – महिला समूहों द्वारा देश में वर्तमान बलात्कार कानून में बदलाव लाने के लिए तैयार किए गए अधिनियम का मसौदा – इंटरसैक्शनैलिटी की सोच से पहले के हमारे दृष्टिकोण

का पता चलता है। प्रिज़्म के सदस्यों ने महिला समूहों और अधिवक्ताओं द्वारा आयोजित बैठकों में भाग लिया तथा इस अधिनियम का मसौदा तैयार करने और अधिनियम के बारे में अपना योगदान दिया। इस चर्चा के दौरान मुख्य रूप से यह प्रश्न उठा कि क्या यह अधिनियम जेन्डर संवेदी होना चाहिए या तटस्थ होना चाहिए (वर्तमान बलात्कार कानून जेन्डर संवेदी है जिसका अर्थ यह है कि केवल एक महिला ही किसी पुरुष के विरुद्ध बलात्कार का मामला दर्ज करा सकती है। जेन्डर के प्रति तटस्थ नियम का अर्थ यह होगा कि कोई भी महिला या पुरुष किसी भी अन्य महिला या पुरुष के विरूद्ध ऐसा मामला दर्ज करा सकता है)।

प्रिज़्म में केवल अवयस्कों के लिए विशेष प्रावधानों को छोड़ इस अधिनियम के जेन्डर के प्रति तटस्थ होने का कड़ा विरोध किया। हमारी स्थिति हमारी नारीवादी विचारधारा और भारत में एलजीबीटी विषयों के बारे में हमारी समझ से प्रभावित थी। हमारा मानना था कि इस कानून में यौन आक्रमण के सांख्यिकीय साक्ष्य दिखाए जाने चाहिए जिससे यह पता चलता है कि अधिकांश आक्रमणकारी पुरुष होते हैं जबकि इन आक्रमणों की अधिकांश शिकार महिलायें होती हैं। हमारा यह भी विश्वास था कि भारत में महिलाओं के लिए समर्थनकारी प्रयास किए जाना अभी भी समय की माँग थी।

हमारा यह भी मानना था कि भारतीय समाज में भेदभाव के स्तर – इसमें पुलिस और न्यायपालिका द्वारा किए जाने वाले भेदभाव सम्मिलित हैं – को देखते हुए और एलजीबीटी लोगों द्वारा अपनी पहचान घोषित करने की असमर्थता/ अनिच्छा के कारण इस जेन्डर तटस्थ नियम को समलैंगिक संबंधों के अंतर्गत यौन आक्रमण का शिकार होने वाले लोग प्रभावी रूप से प्रयोग नहीं कर पायेंगे। हम इस अधिनियम के जेन्डर तटस्थ प्रावधानों का गलत प्रयोग किए जाने को स्पष्ट रूप से देख पा रहे थे। इनके अनुसार परिवार के सदस्यों से प्रोत्साहन के कारण सहमतिपूर्वक एलजीबीटी संबंधों पर यौन आक्रमण के झूठे मामलों का खतरा बढ़ जाता और पुरुषों के बलात्कार का शिकार महिलाओं को भी पुरुषों के झूठे आरोपों का सामना करना पड़ता।

हमने इस तथ्य का भी जमकर विरोध किया कि कानून के अनुसार समलैंगिक व्यवहार को नकारात्मक रूप से देखा जाए। वर्तमान विषमलैंगिक संदर्भ में जेन्डर के प्रति तटस्थता से समलैंगिक व्यक्तियों के प्रति घृणा प्रकट करने को एक कानूनी मंच मिल जायेगा। इस समय समलैंगिक व्यक्तियों को पारिवारिक उत्पीड़न या त्याग दिए जाने, विवाह करने का दबाव, कार्यस्थलों पर विपरीत व्यवहार और पुलिस के शोषण का सामना करना पड़ता है और इस अधिनियम के बाद यह घृणा यौन आक्रमण का आरोप लगाने की धमकी या वास्तविक रूप से आरोप लगाये जाने में भी परिवर्तित हो सकता है।

हाल ही में किए गए विचार–विमर्शों में हमने इस जेन्डर तटस्थ स्थिति और हमारे पहचान आधारित दृष्टिकोण के बीच संबंधों की व्याख्या का प्रयास किया। हमारे एक सदस्य ने यह तर्क दिया कि जेन्डर संवेदी और पहचान आधारित दृष्टिकोण का अर्थ हमारे विचारों पर ग्रहण लगने जैसा होगा। अन्य शब्दों में तात्कालिक वास्तविकताओं पर प्रतिक्रिया करते हुए हम भविष्य के अपने उद्देश्यों को ओझल कर देंगे।

वहीं दूसरी ओर जेन्डर तटस्थता या इंटरसैक्शनैलिटी से सर्वोच्च आदर्श स्थिति प्राप्त की जा सकती है। इसमें सभी लोगों को, उनके जेन्डर और यौनिकता में ध्यान दिए बिना, समर्थ करने वाले कानूनी प्रावधान न्याय प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। जेन्डर सापेक्ष और पहचान आधारित राजनीति, दोनों में ही पुरुषों और महिलाओं या विषमलैंगिकों या समलैंगिकों की तरह इनके बीच के आवश्यक अंतरों को सुदृढ़ करने का खतरा बना रहता है। हमने इस बात पर विचार किया कि यदि यह विचार–विमर्श हमारे द्वारा पहचान आधारित राजनीति की समालोचना विकसित करने के बाद आरंभ होते तो क्या जेन्डर तटस्थता के बारे में हमारा वर्तमान विरोध कुछ अलग होता। प्रिज़्म के सदस्यों के बीच यह विचार–विमर्श अभी भी जारी है।

पहचान आधारित राजनीति से आगे

प्रिज़्म द्वारा विषयों को समझने और इनके प्रति हमारे दृष्टिकोण में पूरी तरह बदलाव आ चुका है। आरंभ में उद्देश्यों पर विचार करते समय हमने अनेक पहचानों के विद्यमान होने को स्वीकारा था और हम स्वयं को पहचान आधारित विषयों (मानों इन विषयों को स्पष्ट रूप से वर्गीकृत किया जा सकता हो) तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। हम उन पहचानों का आदर करने के लिए भी कटिबद्ध थे जो एलजीबीटी वर्गों के अधीन नहीं आती थीं।

अब हम यह जान गए हैं कि उत्तरदायी रूप से प्रभावी कार्य करने में केवल अनेक प्रकार की पहचानों को जान लेने मात्र से अधिक बहुत कुछ करना होता है। इस उदारवादी और बहुसांस्कृतिक स्थिति में दमनकारी कार्य अछूते रह जाते हैं और संभव है कि वे और भी अधिक अलग–थलग हो जाएं। पहचान आधारित राजनीति में निहित एक अन्य खतरा यह है कि किसी विशेष पहचान से संबंध रखने वाले लोग ही उससे जुड़े विषयों की पैरवी कर सकते हैं। हमारा विश्वास है कि यौन अधिकारों पर किए गए कार्यों का लक्ष्य केवल एलजीबीटी को बढ़ाकर एलजीबीटीक्यूकेजेएच (LGBTQKJH) कर देना ही नहीं है[4]। इन कार्यों से विस्तृत सामाजिक/ राजनीतिक विचार–विमर्श प्रक्रिया आरंभ होनी चाहिए कि यौनिकता

का निर्माण किस प्रकार होता है और कैसे इसे विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता है।

इंटरसैक्शनैलिटी के बारे में हमारी समझ में दमन को समानांतर न मानते हुए, इसे ताने–बाने में बुना हुआ, परस्पर कार्यरत और एक–दूसरे के लाभ के लिए रचनात्मक माना गया है। हम उस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते जिसके अंतर्गत कोई व्यक्ति अपने ऊपर होने वाले शोषण का हल, अपनी जाति, यौनिकता, धर्म या विकलांगता के आधार पर खोजता है।

सहभागिताओं का निर्माण

समय के साथ–साथ यौनिकता, जेन्डर, जाति, वर्ग तथा धर्म के बीच की इंटरसैक्शनैलिटी के विचार से प्रिज़्म द्वारा सहभागितायें निर्मित करने के प्रयासों को बल मिला है। हमने यौनिकताओं को मुख्यधारा से अलग करने तथा पितृसत्तात्मक और धार्मिक कट्टरवाद जैसी विचारधाराओं के विषय को उठाते हुए अन्य आंदोलनों के साथ सहभागितायें निर्मित करने के प्रयास किए हैं। हमने आम जनता की जागरूकता के स्तर को बढ़ाने के लिए बच्चों के अधिकारों के लिए कार्यरत समूहों के साथ मिलकर काम किया है और (गुदा मैथुन) (here the word sodomy implies sexual exploitation of boys. We have put GUDA MAITHUN as well as Ladkon ke yaun soshan - you may choose one) लड़कों के यौन शोषण को आपराधिक दृष्टि से न देखे जाने के आह्वान में भी भाग लिया है। परन्तु अभी तक प्रिज़्म द्वारा सहभागितायें निर्मित करने के अधिकतर प्रयासों में महिला समूहों के साथ सहभागितायें करना ही शामिल रहा है क्योंकि हमारे बहुत से सदस्य महिला आंदोलनों से भी जुड़े हैं और यह समूह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बारे में समान दृष्टिकोण रखता है।

इंटरसैक्शनैलिटी के दृष्टिकोण के साथ सहभागिता निर्माण के लिए उन विचारधाराओं और दृष्टिकोणों की गहन समझ होनी आवश्यक है जिनके साथ हम यौनिकता को सामने लाने के लिए सहभाग करना चाहते हैं। परन्तु दमन और विरोध के अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को जानने और उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए समय और परिस्थितियों की आवश्यकता होती है जो पहले से ही बहुत कम है। इसके परिणामस्वरूप अभी हमने केवल यौनिकता, धार्मिक कट्टरवाद और राष्ट्रीयता के बीच के संबंधों को उजागर करने के प्रयास आरंभ किए हैं। हमने इन क्षेत्रों में पहले कार्य कर चुके लोगों को सार्वजनिक विचार–विमर्श के लिए आमंत्रित कर अपनी जानकारी में वृद्धि की है।

महिला समूहों के साथ सहभागिता निर्माण

प्रिज़्म का हमेशा से यह विचार रहा है कि यौनिकता से जुड़े विषयों को महिला समूहों के मुख्य मुद्दों में शामिल किया जाना चाहिए। यौनिकता आधारित अधिकारों के उल्लंघनों को अपने विषयों से जुड़े होने को न पहचानकर, प्रगतिवादी समूह न्याय के अपने लक्ष्यों के प्रति पूरी तरह से कटिबद्ध नहीं रहे हैं। इसके अतिरिक्त इंटरसैक्शनैलिटी के दृष्टिकोण के अंतर्गत जेन्डर और यौनिकता पर विचार–विमर्श से जुड़कर वे बहुत अधिक लाभान्वित हो सकते हैं।

समलैंगिक महिलाओं द्वारा आत्महत्या और '16 दिवसीय सक्रियता'

वर्ष 2002 के अंत में हमने दिल्ली स्थित महिला समूहों को महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के अभियान के भाग के रूप में समलैंगिक महिलाओं द्वारा आत्महत्या किए जाने पर विचार–विमर्श के लिए इक्कठा करने का प्रयास किया। इस प्रयास को 2002 के अंतिम दिनों में '16 दिवसीय सक्रियता' कार्यक्रम के अंतर्गत आरंभ किया गया। उस वर्ष अक्टूबर और नवम्बर के बीच समाचार पत्रों में तीन समलैंगिक दम्पत्तियों के बारे में समाचार छपे थे जिन्होंने देश के विभिन्न भागों में आत्महत्या कर ली थी। यह सभी युवा महिलायें थीं जिन्होंने मृत्यु को इसलिए चुना क्योंकि इनके संबंधों को इनके समाज और परिवार द्वारा स्वीकार नहीं किया जा रहा था। इन तीन मामलों में से 2 मामलों में इन युवा महिलाओं पर जबरन विवाह के लिए दबाव डाला जा रहा था।

जब हमने महिला समूहों का ध्यान आत्महत्या की इन घटनाओं की ओर आकर्षित किया तो उन्होंने तुरन्त सकारात्मक प्रतिक्रिया की। परन्तु यह और भी रूचिकर था कि उन्होंने प्रिज़्म से प्रयास आरंभ करने के लिए कहा और अपना सहयोग देने का वचन दिया। हमने यह प्रश्न किया कि यौनिकता के विषय पर कार्यशील कोई समूह क्यों इस प्रकार की सक्रियता के लिए प्राथमिक रूप से उत्तरदायित्व ले। क्या यह महिलाओं के प्रति हिंसा का ऐसा मामला नहीं था जिसे इस अभियान से जुड़े सभी समूहों द्वारा हल किया जाना चाहिए? यद्यपि समूह ने हमारे इस तर्क को सही माना फिर भी इस कार्य के लिए संदेश तैयार करने का कार्य प्रिज़्म द्वारा ही किया गया।

> क्या आत्महत्या इन महिलाओं के लिए अंतिम उपलब्ध विकल्प था?
>
> महिलाओं के विरुद्ध हिंसा में बलात्कार, यौन शोषण और दुल्हन को जलाना शामिल होता है। किसी महिला की इच्छा के विरुद्ध उसका विवाह होने पर भी हिंसा होती है। किसी महिला के प्रसन्न रहने की इच्छा होने पर स्वयं को दोषी मानने पर भी यह घटित होती है और

का निर्माण किस प्रकार होता है और कैसे इसे विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयोग किया जाता है।

इंटरसैक्शनैलिटी के बारे में हमारी समझ में दमन को समानांतर न मानते हुए, इसे ताने–बाने में बुना हुआ, परस्पर कार्यरत और एक–दूसरे के लाभ के लिए रचनात्मक माना गया है। हम उस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते जिसके अंतर्गत कोई व्यक्ति अपने ऊपर होने वाले शोषण का हल, अपनी जाति, यौनिकता, धर्म या विकलांगता के आधार पर खोजता है।

सहभागिताओं का निर्माण

समय के साथ–साथ यौनिकता, जेन्डर, जाति, वर्ग तथा धर्म के बीच की इंटरसैक्शनैलिटी के विचार से प्रिज़्म द्वारा सहभागितायें निर्मित करने के प्रयासों को बल मिला है। हमने यौनिकताओं को मुख्यधारा से अलग करने तथा पितृसत्तात्मक और धार्मिक कट्टरवाद जैसी विचारधाराओं के विषय को उठाते हुए अन्य आंदोलनों के साथ सहभागितायें निर्मित करने के प्रयास किए हैं। हमने आम जनता की जागरूकता के स्तर को बढ़ाने के लिए बच्चों के अधिकारों के लिए कार्यरत समूहों के साथ मिलकर काम किया है और (गुदा मैथुन) (here the word sodomy implies sexual exploitation of boys. We have put GUDA MAITHUN as well as Ladkon ke yaun soshan - you may choose one) लड़कों के यौन शोषण को आपराधिक दृष्टि से न देखे जाने के आह्वान में भी भाग लिया है। परन्तु अभी तक प्रिज़्म द्वारा सहभागितायें निर्मित करने के अधिकतर प्रयासों में महिला समूहों के साथ सहभागितायें करना ही शामिल रहा है क्योंकि हमारे बहुत से सदस्य महिला आंदोलनों से भी जुड़े हैं और यह समूह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बारे में समान दृष्टिकोण रखता है।

इंटरसैक्शनैलिटी के दृष्टिकोण के साथ सहभागिता निर्माण के लिए उन विचारधाराओं और दृष्टिकोणों की गहन समझ होनी आवश्यक है जिनके साथ हम यौनिकता को सामने लाने के लिए सहभाग करना चाहते हैं। परन्तु दमन और विरोध के अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को जानने और उन्हें व्यावहारिक रूप देने के लिए समय और परिस्थितियों की आवश्यकता होती है जो पहले से ही बहुत कम हैं। इसके परिणामस्वरूप अभी हमने केवल यौनिकता, धार्मिक कट्टरवाद और राष्ट्रीयता के बीच के संबंधों को उजागर करने के प्रयास आरंभ किए हैं। हमने इन क्षेत्रों में पहले कार्य कर चुके लोगों को सार्वजनिक विचार–विमर्श के लिए आमंत्रित कर अपनी जानकारी में वृद्धि की है।

महिला समूहों के साथ सहभागिता निर्माण

हर बार किसी महिला को इसलिए मरना पड़ता है क्योंकि वह समाज को स्वीकार्य नहीं होती।

समलैंगिक महिलाओं द्वारा आत्महत्या किया जाना समाज द्वारा महिलाओं के विकल्पों को सीमित रखने और उनके जीवन पर नियंत्रण रखने का ही परिणाम है।

हम इन मृत्युओं को सभी महिलाओं के विरुद्ध हिंसा मानते हुए इसका विरोध करते हैं।

इस संदेश में व्यक्त विचार और इसके द्वारा जेन्डर और यौनिकता को संबंधित किए जाने की प्रक्रिया से हमें यह विश्वास हो गया है कि सामाजिक मान्यताओं के बाहर महिलाओं के जीवन की विशिष्टताओं से न्याय करते हुए भी इंटरसैक्शनैलिटी की संरचना के अधीन कार्य करना संभव हो सकता है।

<u>एक नये सैक्स जेन्डर विचार को स्वीकारना</u>

प्रिज़्म ने सक्रिय रूप से नारीवादी मंचों पर आमंत्रित किए जाने के प्रयास किए हैं ताकि यह महिला समूहों का ध्यान समलैंगिक इच्छायें रखने वाली महिलाओं के अनुभवों की ओर आकर्षित कर सके। इस संबंध में महिला समूहों से उन्हें बहुत सकारात्मक प्रतिक्रियायें प्राप्त हुई हैं। प्रिज़्म यह बताने में भी कार्यरत है कि गैर मान्यता प्राप्त यौनिकताओं से जुड़े विषयों को गंभीरतापूर्वक उठाने से महिला आंदोलनों को किस प्रकार के लाभ मिल सकते हैं।

प्रिज़्म द्वारा आरंभ किए गए एक अध्ययन समूह ने ट्रॉंस–सैक्सुअॅल और ट्रॉंसजेन्डर विषयों पर ध्यान केन्द्रित किया। महिला आंदोलनों में प्रायः जेन्डर की विशिष्ट भूमिकाओं को चुनौती देते हुए जेन्डर विषय पर विचार किया जाता है जबकि महिला या पुरुष होने की वास्तविकता को स्वीकारा जाता है। ट्रांसजेन्डर लोगों के अनुभवों की पड़ताल करने से हमें नारी व नारीत्व तथा पुरुष व पुरुषत्व के बीच के सामंजस्य को पूरी तरह से तोड़ पाने में सहायता मिलती है। सैक्स के पुनर्निधारण करने की शल्य क्रिया की वास्तविकता को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि हम सैक्स तथा जेन्डर व समाज से इसके संबंधों के बारे में अपनी जानकारी पर प्रश्न खड़े करें।

इस दृष्टिकोण से इस गहन अध्ययन को भी बल मिलता है कि हमारे समाज में लोग नारीत्व को किस प्रकार अनुभव करते हैं और किस तरह अनेक तरीकों से जेन्डर जैविक और सामाजिक सीमाओं को पार कर जाता है। अंत में हम जीव विज्ञान के विषय के रूप में सैक्स और सामाजिक विज्ञान के विषय के रूप में

जेन्डर के अंतर पर प्रश्न खड़े कर सकते हैं जो इस नारीवादी जेन्डर विचारधारा का आधार हैं। इन सभी प्रश्नों में न केवल ट्रॉंसजेन्डर या ट्रॉंससैक्सुअॅल लोगों बल्कि हम सभी के लिए अनेक संभावनायें छिपी हुई हैं।

इंटरसैक्शनैलिटी कीसंरचना में अपनी पहचान बनाये रखना

अपनी सक्रियता के दौरान हमने जेन्डर और यौनिकता जैसी धुरियों के बीच संबंधों को उजागर करने का प्रयास किया है और हमने योजनाबद्ध तरीके से पहचानों को भी आगे बढ़ाया है। प्रिज़्म ने 2002 में मुवनेश्वर में आयोजित *इंडियन एसोसिएशन ऑफ वीमैन्स स्टडीज़ (आईएडब्ल्यूएस)* के सम्मेलन में दो प्रस्ताव तैयार करने की प्रक्रिया में भाग लिया। उनमें से एक प्रस्ताव ऐसा था जिसमें पहली बार आईएडब्ल्यूएस के किसी सम्मेलन में समलैंगिक इच्छायें रखने वाली महिलाओं के विषय को संबोधित करने वाला कोई प्रस्ताव पास किया गया था। दूसरे प्रस्ताव में धार्मिक कट्टरवाद और यौनिकता के बीच के संबंधों पर प्रकाश डाला गया था।

इंटरसैक्शनैलिटी और एकजुटता

भले ही हमने यौनिकता को छोड़ दिए जाने के खतरों या इसे सम्मिलित करने से होने वाले लाभों की ओर ध्यान आकर्षित किया हो, हमारा उद्देश्य केवल यह स्थापित करना रहा है कि अधिकारों के लिए लड़ने वाले सभी लोगों को केवल गठजोड़ बनाने की अपेक्षा अपने वर्तमान कार्यों में यौनिकता के विषय को शामिल करना चाहिए। यह इंटरसैक्शनैलिटी का एक महत्वपूर्ण परिणाम होगा जिसके अंतर्गत पहचान से जुड़े किसी विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए किसी विशिष्ट पहचान का भाग होना आवश्यक नहीं होगा।

महिलाओं द्वारा अपने यौन व्यवहारों के कारण उल्लंघनों का सामना किए जाने के प्रति महिला समूहों और समानता और न्याय से जुड़े अन्य समूहों की प्रतिक्रिया इस जानकारी पर आधारित होनी चाहिए कि किस प्रकार यौनिकता का प्रयोग सभी महिलाओं को निर्मित एवं नियंत्रित करने के लिए किया जाता है। यह प्रतिक्रियायें केवल सहभागियों के रूप में नहीं होनी चाहिए जो केवल अधिकारों का उल्लंघन झेल रहे किसी यौनिक अल्पसंख्यक समूह का बचाव करें बल्कि उनकी प्रतिक्रिया एक पूर्ण निवेशित प्रतिक्रिया होनी चाहिए।

एलजीबीटी कार्यकर्ताओं के साथ सहभागितायें बनाना हमेशा ही सरल नहीं रहा है क्योंकि एलजीबीटी समुदायों के कुछ भाग यौनिकता और सांप्रदायिकता जैसे विषयों के बीच संबंधों को समझ पाने में असफल रहते हैं। उदाहरण के लिए अक्टूबर 2002 में *इंटरनेशनल लेस्बियन एंड गे एसोसिएशन* द्वारा मुंबई में

आयोजित प्रथम एशिया स्तर के सम्मेलन में हमने भाग नहीं लिया। उस समय प्रिज़्म का तर्क था कि केवल कुछ विषयों को समलैंगिक स्त्रियों या पुरुषों के विषय मान लेना और एलजीबीटी के विषय को आगे बढ़ाने के लिए यौनिकता को हमारे जीवन के अन्य पहलुओं से अलग कर देना नैतिक रूप से गैर–जिम्मेदाराना प्रतिक्रिया होगी।

अभी भी हमारा यह मानना है कि एक ओर यौनिकता (व्यवहार व पहचान) के आधार पर व्यक्तियों और समुदायों को मुख्यधारा से अलग करने और दूसरी ओर धार्मिक कट्टरवाद, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, जाति आधारित भेदभाव व वर्ग के आधार पर शोषण में सीधा और स्पष्ट संबंध है।

चुनौतियाँ

यौनकर्मियों से जुड़े विषयों को सम्मिलित करना

यौनिकता के क्षेत्र में कार्यरत नारीवादी कार्यकर्ताओं ने अब विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं की आलोचना करना और उनके मूल सिद्धान्तों को चुनौती देना आरंभ कर दिया है। उन्होंने अब अंतरंगता और सैक्स के बीच के संबंधों पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए इच्छाओं की उस व्यवस्था पर प्रश्न खड़े करने आरंभ कर दिये हैं जो विवाह की अवधि में जीवनपर्यन्त एक साथी के प्रति वफादार रहने को विशेष स्थान देती है और विवाहेतर संबंधों को कलंकित दृष्टि से देखती है। जैसे–जैसे हम और अधिक प्रगतिशील नैतिकता पर आधारित यौन अधिकारों पर जानकारी बढ़ाते जायेंगे, प्रिज़्म आगे भी इन विषयों पर कार्य करता रहेगा। यौन कर्म से जुड़े विषयों को इन विचार–विमर्शों और जानकारियों में सम्मिलित किए जाने की आवश्यकता है।

एलजीबीटी और समलैंगिक पुरुषों के समूहों के साथ मिलकर काम करना

वर्तमान एलजीबीटी समुदायों के और अधिक सदस्यों के साथ काम न करने का हमारा विचार संभवतः एलजीबीटी संगठनों के साथ अधिक राजनीतिक अंतरक्रियाओं की अपेक्षाओं पर आधारित है। यह एक ऐसी अपेक्षा है जिसने हमें कई बार निराश किया है। सहभागिता निर्माण करने और मिलकर काम करने की दिशा में और अधिक प्रयास न करने को हम अपनी विफलता मानते हैं। एलजीबीटी और समलैंगिक पुरुषों के समूहों के साथ जेन्डर और यौनिकता विषयों पर बातचीत आरंभ करने से विभिन्न पहचानों और उपसंस्कृतियों के बारे में हमारी जानकारी बढ़ेगी और इससे जेन्डर और यौनिक व्यवहारों पर आलोचनात्मक प्रतिक्रिया करने, विशेषकर प्रतिबंधक विशिष्ट भूमिकाओं के संबंध में प्रतिक्रिया करने में सहायता मिलेगी।

बॉक्स 4.2 : लखनऊ में निर्मित सहभागिता

भरोसा ट्रस्ट, नाज़ अंतर्राष्ट्रीय फाउंडेशन और लखनऊ के महिला संगठनों के बीच संबंध तब स्थापित हुए जब वर्ष 2001 में इन दो गैर–सरकारी संगठन के कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया गया। महिला संगठन इन कार्यकर्ताओं की सहायता के लिए बढ़–चढ़कर आगे आये यद्यपि उन्हें एलजीबीटी विषयों के बारे में बहुत कम जानकारी थी। तब से लेकर यह संबंध और अधिक प्रगाढ़ हो गए हैं। इन दो गैर–सरकारी संगठनों के नवयुवक सदस्य इन महिला संगठनों द्वारा आयोजित सभी सार्वजनिक आयोजनों में भाग लेते हैं और यथासंभव सहयोग करते हैं। महिला समूहों के साथ काम करते हुए यह संगठन अब सांप्रदायिक विरोधी गतिविधियों से भी जुड़े हैं (यह एक उल्लेखनीय परिवर्तन है क्योंकि इससे पहले उनके समूह केवल समलैंगिक पुरुषों के यौन व्यवहारों पर ही ध्यान दिया करते थे)। हाल ही में महिलाओं के एक संगठन ने भरोसा ट्रस्ट से जुड़े कोथी पुरुषों के लिए जेन्डर प्रशिक्षण कार्यक्रम का आयोजन किया जिसमें इन संबंधों के बीच की भूमिकाओं और शक्ति संतुलनों पर विचार किया गया।

दीर्घकालिक उद्देश्यों को पूरा करना

अभी तक प्रिज़्म केवल विशिष्ट कार्यक्रमों के आयोजन करने और उनमें भाग लेने के कार्यों से जुड़ा रहा है। यद्यपि इन कार्यों के बारे में हमें बहुत अधिक प्रतिक्रियायें मिलती रही हैं और प्रिज़्म की राजनीतिक जानकारी भी बढ़ी है परन्तु अब प्रिज़्म दीर्घकालिक कार्यक्रमों पर ध्यान देने का इच्छुक है। समलैंगिक यौन व्यवहारों और पहचान वाल महिलाओं द्वारा दिल्ली में मानवाधिकारों के उल्लंघन के अनुभवों को अभिलिखित करने के प्रयासों के साथ ही यह प्रक्रिया आरंभ हो गई है।

इस दिशा में एक सकारात्मक घटना *वॉयसेज़ अगेन्स्ट 377* नामक एक मंच की स्थापना है। यह दिल्ली के महिला समूहों, मानवाधिकार समूहों, स्वास्थ्य और शिक्षा पर कार्यरत समूहों, यौन अधिकारों तथा *क्वीयर* कार्यकर्ताओं समूहों सहित अनेक प्रगतिवादी समूहों का गठबंधन है। इस गठबंधन को आरंभ करने की प्रक्रिया भारतीय दंड विधान की धारा 377 के संबंध में न्यायिक सुधारों के आरंभ होने की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रिज़्म द्वारा की गई है। इस धारा में 'प्रकृति के विरुद्ध'[5] माने जाने वाले यौन कर्मों को आपराधिक माना जाता है। आरंभ में 'वॉयसेज़' को प्रिज़्म द्वारा ही चलाया जाता रहा और इस दौरान ऐसे अनेक अवसर आये जब हमें लगा कि दूसरों को विशिष्ट कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त लोगों की सहभागिता बढ़ाना एक अलाभकारी कार्य ही है परन्तु हम इस कार्य से जुड़े

रहे और कार्ययोजनायें बनती रहीं। कुछ ही महीनों में हम ऐसी स्थिति में आ गये जब सदस्य संगठनों द्वारा इस फोरम को स्वीकार किये जाने का बहुत अधिक स्तर दिखाई देने लगा। हमारे सदस्यों द्वारा इस मंच का नाम बदल देने की आवश्यकता भी महसूस की गई है क्योंकि अब धारा 377 के अतिरिक्त समलैंगिक इच्छायें रखने वाले लोगों को मुख्यधारा से अलग–थलग करने से जुड़े विषयों पर भी चर्चा आरंभ हो गई है। वास्तव में सभी गैर–मान्यता प्राप्त यौनिकताओं को इसमें सम्मिलित किए जाने पर चर्चायें आरंभ हो गई हैं जिनके बारे में अनेक समूहों का मानना है कि वे व्यक्तियों के रूप में और संगठन के मध्य अपने कार्यों के कारण इन विषयों से और बेहतर रूप से जुड़ सकते हैं। हम *बॉयसेज़* को प्रिज़्म की इंटरसैक्शनैलिटी की राजनीति का एक ठोस रूप मानते हैं।

आंतरिक चुनौतियों का सामना

प्रिज़्म की लोचतापूर्ण और अनौपचारिक संरचना के अनेक लाभ हैं। इससे खुलेपन को बढ़ावा मिलता है और दूसरे शहरों व देशों में रहने के कारण नियमित रूप से बैठकों में शामिल न होने वालों को भी पर्याप्त स्थान मिलता है और वे इससे सुविधा अनुभव करते हैं। इसका अर्थ यह है भी है कि प्रिज़्म की गतिविधियों में और अधिक सम्मिलित होने की इच्छा रखने वालों के लिए हमेशा ही पर्याप्त स्थान रहता है।

परन्तु अब हमने यह देखा है कि इस प्रकार किसी संरचना केअंतर्गत कार्य न करने की कुछ सीमितितायें भी हैं। संभव है कि उत्तरदायित्वों के निर्वहन की औपचारिक व्यवस्था से समूह को लाभ हो। इसी प्रकार निर्णय लेने की प्रक्रिया और विचार–विमर्श से अधिक सदस्यों को प्रिज़्म और इसके दृष्टिकोण का सटीक प्रतिनिधित्व करने में सहायता मिलेगी। यद्यपि संगठन के अंतर्गत व्यवस्थाओं को प्रायः अफसरशाही माना जाता है फिर भी इनसे कार्य करने की कुशल और पारदर्शी प्रक्रिया विकसित हो सकेगी। हमने कुछ व्यवस्थाओं को स्थापित करने की प्रक्रिया आरंभ तो कर दी है परन्तु अभी तक इन्होंने जड़ नहीं पकड़ी है।

हमें प्रिज़्म जैसे खुले और लोचतापूर्ण मंच में मिली–जुली राजनीतिक विचारधारा बनाये रखने की चुनौती का सामना भी करना पड़ रहा है। प्रिज़्म के दृष्टिकोण पर मिल जुलकर, विशेषकर नए सदस्यों के साथ विचार–विमर्श के लिए समय और स्थान निर्धारित करने आवश्यक हैं। हम सभी – नए और पुराने सदस्यों – के लिए आवश्यक है कि हम इस साझा दृष्टिकोण के इर्द–गिर्द चर्चा को जारी रखें।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रत्येक विषय पर हम सबकी समान राय हो। किसी विषय पर आमराय तैयार करने की अपेक्षा अनेक राजनीतिक विषयों पर

विभिन्न दृष्टिकोणों के अंतर्गत चर्चा करना हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण है। हममें से कोई भी उस स्थिति से प्राप्त होने वाले जोश के अनुभव को नकार नहीं सकता जब हम एक साथ बैठकर भोजन करते हुए भाषा, व्यवहारों, पहचानों, सैक्स, आनंद, जेन्डर, हिंसा, एकल विवाह, विवाह, कानूनों, आयु से जुड़े प्रश्नों, वर्ग, धर्म, कार्यक्षेत्र, परिवारों, प्रेमियों, द्विलैंगिकता, विषमलैंगिता, यौन उत्पीड़न, भेदभाव, वेषभूषा आदि विषयों पर चर्चा करते हैं और बीच–बीच में व्यक्तिगत अनुभव और चुटकले भी सुनाते हैं। जैसे–जैसे दिन समाप्त होता है हम अपनी कुर्सियों में पसर जाते हैं, हमारी आँखें काँच की सी प्रतीत होने लगती हैं, अंजाने में ही हम बिना सोचे कोई भी प्रस्ताव रख देते हैं और फिर अंत में हम सब एक–दूसरे को यह याद दिलाते हुए अलग–अलग हो जाते हैं कि अगली बार मिलने तक हमें कौन–कौनसे कार्य पूरे करने हैं।

---

[1] एलजीबीटी शब्द का प्रयोग इस वर्ग में आने वाले लोगों के अतिरिक्त अन्य बहुत से लोगों को सम्मिलित करने के लिए संक्षेपाक्षर के रूप में किया गया है। इन विषयों पर काम करने वाले अधिकांश समूह इस संक्षेपाक्षर का प्रयोग करते हैं।

[2] जुलाई 2001 में कुछ पुलिसकर्मी लखनऊ एक पार्क में पहुँचे जहाँ भरोसा ट्रस्ट के कार्य विस्तार कार्यकर्ता समलैंगिक पुरुषों के साथ कार्यरत थे। नाज़ अंतर्राष्ट्रीय फाउंडेशन के एक कार्यकर्ता सहित कुछ पुरुषों को गिरफ्तार किया गया। बाद में पुलिस ने इन दोनों संगठनों के कार्यालयों पर दबिश की और शैक्षिणिक सामग्री को अपने कब्जे में ले लिया जिसे बाद में पुलिस वालों ने अश्लील सामग्री कहकर प्रस्तुत किया। उन्होंने 4 अन्य कर्मचारियों को भी गिरफ्तार कर लिया। पुरुषों पर यौन शोषण निरोधक नियम (भारतीय दंड विधान की धारा 377 के अंतर्गत) तथा महिलाओं को असम्मानजनक रूप से दर्शाने संबंधी अन्य नियमों के अधीन कार्यवाही की गई।

[3] क्रिया और तारशी दिल्ली स्थित गैर–सरकारी संगठन है जो जेन्डर और यौनिकता से जुड़े विषयों पर काम करते हैं। इस संबंध में इस अंक का अध्याय 7 भी देखें।

[4] एलजीबीटी के अतिरिक्त इसमें क्यू क्वीयर के लिए तथा जे, के और एच क्रमशः *जोगप्पा, कोथी और हिंजरों* जैसी भारतीय यौनिक पहचानों के लिए प्रयुक्त किए गए हैं।

[5] धारा 377 लागू करते हुए समलैंगिक इच्छायें रखने वाले लोगों के विरुद्ध अनेक प्रकार से मानवाधिकारों का उल्लंघन किया जाता रहा है।

निवेदिता मेनन सामान्य व्यवहार कितना प्राकृतिक हैं? नारीवाद एवं अनिवार्य विषमलैंगिकता (नारायण अरविन्द व भान गौतम, *परिचय*, बिकॉज़ आई हैव अ वॉयस : क्वीयर पॉलिटिक्स इन इंडिया, योदा प्रेस, 2005) हिन्दी अनुवाद : सोमेन्द्र कुमार व राकेश चन्द्र ध्यानी

सामान्य व्यवहार कितना प्राकृतिक हैं? नारीवाद एवं अनिवार्य विषमलैंगिकता*

निवेदिता मेनन

भारत में यौन इच्छाओं के विषय को उठाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को हमेशा ही इस कठोर चेतावनी का सामना करना पड़ा है कि हमारे समक्ष इसके अतिरिक्त निर्धनता और वर्गों के मध्य संघर्ष, जाति और सांप्रदायिकता जैसे और भी अधिक गंभीर विषय हैं जिन्हें पहले हल किया जाना आवश्यक है। यह जानकारी यौनिकता के संदर्भ से कहीं अधिक बढ़कर उपयोगी साबित होती है। यह एक ऐसा तर्क है जिसके समक्ष प्रचलित सामान्य व्यवहारों, चाहे वे वामपंथी राजनीति या पारंपरिक मध्यवर्गीय व्यवहार हों, को चुनौती देने वाला प्रत्येक विषय अर्थहीन हो जाता है। उदाहरण के लिए आरक्षण के मामले में आपको प्रायः यह सुनने को मिल जायेगा कि नौकरियों में आरक्षण देने मात्र से दलितों का कोई विशेष भला नहीं होने वाला और यह कि भूमि सुधार जैसे आधारभूत परिवर्तनों के आ जाने के पश्चात ही उनकी स्थिति में वास्तविक सुधार होगा। ऐसे में छोटे–छोटे भागों में सुधार के प्रयास क्यों किए जायें? जबतक पूरी तरह से स्पष्ट बदलाव नहीं हो जाते तब तक हमें स्थिति को यथावत रखना चाहिए। किसी एक प्रकार के विचारों द्वारा निर्धारित मानदंडों को आधार बनाकर इस तरह के तर्कों से सामाजिक उत्पीड़न का एक लंबा सिलसिला आरंभ हो जाता है। यदि आपके विचार इन प्रचलित विचारों से मेल न खाते हों और आप बार–बार इस बात पर बल देते रहें कि आपके अपेक्षित समूह के उत्पीड़न का विषय भी किसी भी अन्य विषय के समान महत्वपूर्ण और शीघ्र हल किये जाने वाला है तो आप पर 'अलग पहचान बनाने की राजनीति करने' और आम राय कायम करने के प्रयासों को धक्का पहुँचाने का आरोप लग जाता है।

'अलग पहचान बनाने की राजनीति' करने का आरोप उन लोगों द्वारा लगाया जाता है जो महिला, मुस्लिम, दलित या समलैंगिक जैसी किसी पहचान की अपेक्षा 'भारतीय नागरिक' जैसी काल्पनिक पहचान को ओढ़े होते हैं। मेरा विश्वास करें कि यदि आप वास्तव में अत्यंत सौभाग्यशाली होंगे यदि आप 'नागरिक' होने के इस काल्पनिक डिजाइनर लेबल को ओढ़ने का साहस कर सकें। यदि आप किसी विशेष वर्ग से संबंध रखने के कारण अच्छी स्थिति में हों तो ही आप यह भूल सकते हैं कि आप उपरोक्त किसी एक पहचान का भी भाग हैं। इस सबके बावजूद अधिकांश महिलाओं, गैर–विषमलैंगिकों, दलितों और मुसलमानों को अपने अनुभवों के आधार पर

---

* यह लेख दो प्रस्तुतियों को आधार बनाकर लिखा गया है। पहला प्रस्तुतीकरण अक्टूबर, 2003 में मुंबई में आयोजित लर्जिश फिल्म समारोह में किया गया जिसे बाद में अप्रैल, 2004 में *स्क्रिप्ट्स* क्रमांक 4 में प्रकाशित किया गया। दूसरा प्रस्तुतीकरण मुंबई में आयोजित विश्व सामाजिक फोरम 2004 में प्रिज़्म द्वारा गठित पैनल के समक्ष किया गया जिसे बाद में 'अप्राकृतिक यौनिकता बनाम प्राकृतिक न्याय' नाम से 21 जनवरी, 2004 के *इंडियन एक्सप्रेस* समाचार पत्र में प्रकाशित किया गया।

यह पता है कि वे चाहे कितने ही ऊँचे स्वर में यह कहते रहें कि वे भी केवल 'नागरिक' ही हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि वे शोषित होते हैं और उन्हें उनकी पहचान के आधार पर चिन्हित (चिन्हित होना किसी डिजाइनर चिन्ह की भांति नहीं बल्कि पशुओं पर लगाये जाने वाले चिन्हों की तरह) कर दिया जाता है भले ही उन्हें यह पसन्द हो या नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहचान बनाने की राजनीति को लोकतांत्रिक कहकर परिभाषित किया जा सकता है क्योंकि पहचान का दावा करने के बहुत से अलोकतांत्रिक परिणाम भी हो सकते हैं। इसी तरह पहचान बनाने की राजनीति की प्रत्येक घटना को उनके द्वारा स्वयं को समाज के संदर्भ में परिभाषित किए जाने पर ध्यान दिये बिना ही उन्हें बुरा भी नहीं कहा जा सकता।

अब जहाँ तक पितृसत्ता का प्रश्न है तो इस धरती पर नारीवादियों के उदगम के समय से ही उन्हें 'उत्पीड़न की व्यवस्था' का सामना करना पड़ा है। पहले उन्हें कहा जाता रहा कि श्वेत कर्मियों को वोट देने के अधिकार के बाद उन्हें यह अधिकार मिलेगा। बाद में इसमें अश्वेतकर्मी भी जुड़ गये। फिर उन्हें कहा गया कि क्रान्ति हो जाने के बाद देश की आजादी के पश्चात वे वोट दे पायेंगे। आमतौर पर जेन्डर को किसी भी 'व्यापक पहचान या समूह' के साथ जोड़कर देखा जाता है और वर्ग, जाति, साम्प्रदायिकता, विकास के साथ जेन्डर को जोड़ दिया जाता है। यह केवल 'सूप' में कुछ अन्य पदार्थ मिलाकर उसे अधिक स्वादिष्ट कर देने के प्रयास मात्र जैसा होता है। फिर आपसे पूछा जाता है कि साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं, जातीय उत्पीड़न और शक्तिविहीनों को हाशिये पर लाने वाली विकास की कार्ययोजनाओं से महिलायें और बच्चे किस प्रकार प्रभावित होते हैं। कभी भी यह नहीं कहा जाता कि पुरुष और बच्चे इनसे कैसे प्रभावित होते हैं। इस तरह जितने अधिक प्रश्न रूप में पूछे जायेंगे उतना ही इस मुख्य विषय को पहचान पाना कठिन हो जायेगा कि यदि आप गंभीरता से जेन्डर को उत्पीड़न की धुरी समझते हैं तो वर्ग, जाति और राष्ट्र स्वयं ही बहुत अलग नज़र आयेंगे। आप केवल इनमें जेन्डर को जोड़कर हिला नहीं सकते।

ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक यौनिकता का प्रश्न है, नारीवादियों ने पितृसत्ता के अपने अनुभवों से बहुत कुछ सीखा है। यद्यपि सक्रिय रूप से इसमें स्वयं को डरने की भावना प्रकट नहीं होती फिर भी, आमतौर पर हमारे आंदोलन में यही कहा जाता है कि 'अभी नहीं, अभी सही समय नहीं है'। परन्तु क्या वास्तव में 'यौन व्यवहार और इच्छायें' (यह एक ऐसी परिभाषा है जो यहाँ पर उठाये गए अत्यंत गंभीर और डराने वाले विषय को भी पालतू बना देती है परन्तु उसके बारे में हम बाद में चर्चा करेंगे) केवल नारीवादिता के साथ जोड़ दिये गये विशेषण मात्र ही हैं। या फिर इस प्रश्न को इस तरह से अनुवाद कर प्रस्तुत किया जाये ताकि कोई भी नारीवादी इसे समझ सके – क्या जेन्डर केवल राष्ट्रवाद या विकास के साथ जोड़ कर देखा जाने वाला विषय मात्र है? क्या हम नारीवादियों ने 50 वर्षों तक छात्रवृत्ति लेकर और राजनीति करते हुए 'जेन्डर को जोड़ो और हिलाओ' की प्रवृत्ति को केवल इसलिए चुनौती दी कि हम यौनिकता के विषय पर स्वयं ही इसे लागू कर देंगे।

नारीवादियों के रूप में हमें विशेष रूप से यह जानने की आवश्यकता है कि विषमलैंगिकता को सामान्य व्यवहार मानने में ही पितृसत्ता का मूल है। पितृसत्ता को

जारी रखने के लिए आवश्यक है कि विषमलैंगिकता को अनिवार्य रखा जाये। (यहाँ नोट करें कि प्राकृतिक की अपेक्षा अनिवार्य शब्द का प्रयोग हुआ है, इस पर हम बाद में चर्चा करेंगे) परन्तु अनिवार्य विषमलैंगिकता व्यक्ति की पहचान के अन्य स्वरूपों को भी पोषित करती है। जाति, वर्ण और सामुदायिक आधार पर व्यक्ति की पहचान जन्म से निर्धारित होती है। इसी तरह किसी देश के नागरिक के रूप में पहचान भी जन्म से ही निर्धारित होती है। इन सभी पहचानों और सामाजिक संरचनाओं की शुद्धता तथा संपत्ति आधारित संबंधों को सुरक्षित रखने के लिए महिलाओं की यौनिकता पर कड़ा नियंत्रण रखा जाता है। केवल परिवार के पितृसत्तात्मक वर्तमान स्वरूप को ही सामाजिक अनुमति दी जाती है ताकि देश और समुदाय बने रह सकें।

मेरे विचार को स्पष्ट करने वाली हाल ही की एक घटना है जब सोनिया गाँधी के विदेशी मूल पर चर्चा आरंभ हुई थी। क्या इस बात में कोई शक है कि यदि इंदिरा गाँधी की बेटी किसी इतालवी पुरुष से विवाह करती तो उस व्यक्ति को भारत में कोई भी राजनैतिक पद देने पर सोनिया गाँधी के वर्तमान समर्थक भी कभी विचार नहीं करते। महिला के विवाह के पश्चात वह अपने पति की पहचान को अपना लेती है और किसी इतालवी पति के भारतीय होने की अपेक्षा उसकी भारतीय पत्नी ही इतालवी मूल की हो जाती है। सोनिया गाँधी को मिल रहे लोगों के समर्थन का एक कारण लोगों की यह मान्यता है कि बहु की कोई जाति नहीं होती। विवाह से पहले वह कुछ भी हो परन्तु बहु बनने के बाद वह हममें से ही एक हो जाती है। (एक पाठक ने यह भी तर्क दिया कि कुछ भी रही हो सही नहीं है क्योंकि क्या हम किसी गोरी, जापानी या अश्वेत बहु को भी ऐसे ही स्वीकार करते?) जहाँ तक बेटियों के राजनैतिक उत्तराधिकार का प्रश्न है तो कुछ इस क्षेत्र में आती हैं तो कुछ नहीं। यदि उत्तराधिकारी बनने के लिए उसका कोई भाई हो तो लड़कियों के उत्तराधिकारी बनने की संभावनायें कम हो जाती हैं। जहाँ तक परिवार का नाम या संपत्ति पाने जैसे उत्तराधिकारों का प्रश्न है तो वहाँ लड़कियों का कोई स्थान नहीं है। वे केवल नाम के लिए विद्यमान होती हैं।

पितृसत्तात्मक परिवारों को प्राकृतिक मान लिये जाने का एक और उदाहरण देखें — *मृत्युदंड* शीर्षक से बनी फिल्म में स्पष्ट रूप से गर्भवती दिख रही शबाना, जिसका पति नपुंसक है, से पूछा जाता है कि *"यह किसका बच्चा है"*? इस प्रश्न के उत्तर में वह सामान्य रूप से उत्तर देती है *"मेरा"*। यह तो स्पष्ट है कि उसके पेट में पल रहा शिशु उसी का है परन्तु पितृसत्तात्मक समाज में यह प्रश्न अधिक महत्व रखता है कि इस बच्चे का बाप कौन है, वह किसकी जाति का होगा और किसकी संपत्ति पर अधिकार करेगा? यह तो स्पष्ट है कि यदि परिवार यह स्वरूप भंग हो जाये तो राष्ट्र, जाति, वर्ण या समुदाय की पहचान को बनाये नहीं रखा जा सकता, कम से कम उनके वर्तमान स्वरूप में तो नहीं। इसके अतिरिक्त संपत्ति के बंटवारे की कोई प्रणाली भी स्थापित नहीं रह सकती। यदि अन्य शब्दों में कहा जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि पितृसत्ता, पूंजीवाद और पहचान बनाने की अलोकतांत्रिक राजनैतिक प्रक्रिया को चुनौती देना विषमलैंगिक परिवार की प्राकृतिक स्थिति को चुनौती देने के समान ही होगा।

संभवतः हिन्दु धार्मिक कट्टरपंथियों द्वारा *वैलन्टाइन्स डे* का विरोध किये जाने का यही मुख्य कारण है। 'प्रेम' के व्यापारीकरण का विरोध करने के हमारे अलग–अलग

कारण हो सकते हैं — किसी को केवल प्रेम करना ही पर्याप्त न हो और आपको अपना प्रेम सिद्ध करने के लिए कुछ खरीदना भी पड़े। व्यक्तिगत रूप से प्रेम करने के कुछ अस्वीकार्य परिणाम भी हो सकते हैं जैसे युवा व्यक्ति किसी अन्य जाति या समुदाय के व्यक्ति या अपने ही लिंग के किसी व्यक्ति से प्रेम न कर बैठें। ऐसे किसी भी समुदाय का स्वरूप क्या होगा जिसमें प्रत्येक परिवार में हिन्दू हों, दलित हों, मुसलमान हों और समलैंगिक भी हों तथा न जाने कहाँ से गोद लिए गए बच्चे भी हों।

सामाजिक दायरों की निगरानी मात्र करना ही वैवाहिक संस्था का एकमात्र कार्य नहीं है। 1984 में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा यह निर्णय दिया गया कि पारिवारिक परिभाषा के अंतर्गत समानता और स्वतंत्रता के मौलिक अधिकारों का कोई स्थान नहीं है। विद्वान न्यायाधीश का विचार था कि इस प्रकार के अधिकार देना किसी सांड को चीनी के बर्तनों की दुकान में ले जाने के समान होगा और वास्तव में वे पूरी तरह से सही थे। भारत के परिवार एक अत्यंत असमान धरातल पर आधारित हैं जिसमें सबसे पहले शादी के बाद पत्नी अपनी जाति बदलती है, जहाँ लड़कियों को संपत्ति में अपने भाई के समान अधिकार नहीं मिलते। सभी व्यक्तियों को स्वंत्रतता और समानता प्रदान करने से परिवार का वर्तमान स्वरूप छिन्न–भिन्न हो जाएगा। अब हम विवाह की दूसरी मुख्य विशेषता पर ध्यान दें जिसे सांस लेने की प्रक्रिया की तरह ही स्वाभाविक माना जाता है — यह है लिंग के आधार पर काम का विभाजन जो घर पर महिलाओं द्वारा बिना वेतन के किए गए कार्य को वैधानिक दर्जा देता है। यह कार्य 'प्रेम की वशीभूत होकर' किया जाता है — केवल टेनिस ही ऐसा खेल है जिसमें 'लव' या 'प्रेम' का अर्थ होता है कुछ नहीं। विवाह की विचारधारा यह सुनिश्चित करती है कि मनुष्य जाति को पैदा करने और उनके द्वारा काम करने की क्षमता विकसित करने के लिए महिलाओं द्वारा किए गए शारीरिक एवं मानसिक श्रम (शिशु जन्म व पालन–पोषण, खाना पकाना और साफ–सफाई करना) को 'अकर्म' समझा जाए और इस प्रकार के सभी अकर्म केवल महिलाओं द्वारा किए जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में निहित शोषण की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और स्वयं महिलायें भी यह बात नहीं समझ पातीं कि जब वे सब काम प्रेम के वशीभूत होकर करती हैं तो फिर वे इस कभी न खत्म होने वाली अथक मेहनत से इतनी अप्रसन्न क्यों रहती हैं?

भारत में हम नारीवादियों ने विषमलैंगिक परिवारों के महत्व को चुनौती देने से सदा ही परहेज किया है। यह सही है कि हमने लगातार परिवारों में महिलाओं और बच्चों के शोषण पर अंगुली उठाई है परन्तु फिर भी समान नागरिक संहिता या दहेज प्रथा पर किए गए अपने अंतक्षेपों के द्वारा हम किसी न किसी रूप से वर्तमान पारिवारिक व्यवस्थाओं को और अधिक सुदृढ़ करते रहे हैं। इन दोनों ही उदाहरणों में हमने विषमलैंगिक, पितृसत्तात्मक और एकल विवाह की संस्था की आलोचना नहीं की बल्कि हम केवल इसके इर्द–गिर्द विद्यमान बहुविवाह, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा जैसे विषयों को ही अपनी आलोचना का निशाना बनाते रहे। इस तरह के प्रत्येक अंतक्षेप के बाद हम इस बात को और सुदृढ़ कर देते हैं कि किसी भी अच्छे विवाह में इनका कोई स्थान नहीं है। यह सही है कि हम इस प्रकार के अंतक्षेपों को रोक नहीं सकते परन्तु

क्या वास्तव में हमारे पास अग्निशमन के ऐसे अंतक्षेपों के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध है?

आइये अब हम 'यौनिक व्यवहार' के विषय को देखें। समलैंगिक व्यवहार के प्रति सीमित आलोचना करने का एक तरीका यह है कि इस बात पर बल दिया जाये कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी गोपनीयता बनाये रखने का अधिकार होता है और नारीवादियों को यह जान लेना चाहिए कि बहुत से लोग विषमलैंगिक नहीं होते। कुछ न करने से इस तरह की आलोचना करना अधिक बेहतर है परन्तु यह किसी भी तरह विषमलैंगिकता के प्रति कोई चुनौती उत्पन्न नहीं करता क्योंकि यह विषमलैंगिक व्यवहारों की अनिवार्यता को नहीं पहचानता। यदि आपस में सहमत वयस्कों का मामला हो तो यौनिक व्यवहार पूर्णतः निजी मामला जिसमें कानून को कोई दखल नहीं देना चाहिए, इस औचित्य के पीछे यह विचारधारा निहित है कि 'यौनिकता' एक निजी मामला है और 'सामान्य' यौनिक व्यवहार प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता है तथा इसका इतिहास या संस्कृति से कुछ लेना देना नहीं है। परन्तु यदि हम यह मान लें कि यौनिक व्यवहार संस्कृति से प्रभावित होते हैं तो हमें इस विचार का भी सामना करना पड़ेगा कि यौनिकता मनुष्य द्वारा बनाया गया व्यवहार है और यह 'प्राकृतिक' रूप से उत्पन्न नहीं होता।

अब इस संभावना पर भी गौर करें कि मनुष्य द्वारा निर्मित यौनिक व्यवहार से संबंधित नियम यातायात के नियमों की तरह अलग–अलग होते हैं ताकि किसी एक प्रकार की व्यवस्था को बनाया रखा जा सके – उदाहरण के लिए भारत में आप सड़क के बाईं ओर चलते हैं तो संयुक्त राज्य अमरीका में दाहिनी ओर। इसके आगे अगर यह कहा जाये कि आप यातायात नियमों को निर्धारित करने वाली सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह उठायें कि दिल्ली में यातायात नियमों को इस तरह तैयार किया गया है कि वे अमीरों का ध्यान रखते हैं और निर्धनों के प्रति द्वेष रखते हैं, या फिर यह कि इन नियमों से पेट्रोल की खपत करने वाले वाहनों के उपयोग को बढ़ावा मिलता है जबकि साईकिल, सार्वजनिक यातायात और पैदल चलने जैसे ऊर्जा संरक्षण के उपायों को बढ़ावा नहीं दिया जाता। इसके पश्चात आप ऐसे किसी शहर की व्यवस्था पर भी प्रश्न खड़ा कर सकते हैं जो बड़ी संख्या में यहाँ रहने वालों को प्रतिदिन स्कूल या काम पर जाने के लिए लंबी दूरी तय करने को बाध्य करती है। सहजता, समानता और प्राकृतिक संसाधनों के दीर्घकालिक होने को आधार बनाकर आप इस तरह के यातायात नियमों और शहरी योजना की अच्छाइयों के बारे में भी बहस कर सकते हैं। कम से कम कोई भी व्यक्ति गंभीर रूप से यह नहीं कह सकता कि यातायात नियमों की कोई भी व्यवस्था प्राकृतिक होती है।

आइये, अब हम इसी विचार को यौनिकता पर लागू करें। सबसे पहले तो यदि 'सामान्य' व्यवहार इतना ही प्राकृतिक होता तो उसे व्यवस्थित रखने के लिए इतने अधिक नियंत्रणों की आवश्यकता नहीं होती। कुछ उदाहरण देखें : जेन्डर के आधार पर वेषभूषा का निर्धारण। कल्पना करें कि दाढ़ी वाला कोई व्यक्ति घाघर पहन कर किसी सार्वजनिक स्थल पर देखा जाये : इससे 'सामान्य' समाज की नींव किस तरह से हिल जायेगी जब तक कि उसे हिजड़े के रूप में न देखा जाये और अलग व्यवहार के

कारण सामाजिक व्यवस्था में हाशिये पर रख दिया जाये। केवल गलत शरीर पर गलत तरह के कपड़े पहनने मात्र से प्राकृतिक और सामान्य यौनिक पहचान की जड़ें हिलने लग जाती हैं। दूसरा उदाहरण देखें कि स्कूलों, परिवारों, मीडिया, शिक्षा और धर्म के माध्यम से हमारे विचारों को अनुशासित करने का प्रयास किया जाता है। इन सभी माध्यमों से आपको यह बताया जाता है कि समान लिंग के किसी व्यक्ति के साथ यौन करने का विचार करना भी पाप, पागलपन और नियम विरुद्ध होता है। तीसरा उदाहरण : यदि अन्य सभी तरीके विफल हो जायें तो लोगों को विषमलैंगिक बनाये रखने के लिए राजकीय सत्ता बिजली के करंट लगाने जैसी शारीरिक यातनायें भी अपनाती हैं। उदाहरण के लिए हाल ही में केरल में समलैंगिक स्त्रियों के एक युगल को उनके माता–पिता द्वारा आरंभ किए गए पुलिस मामलों को बंद कराने के लिए न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। चौथा : बहुत से कानून जैसे हमारे देश में धारा 377 का कुख्यात नियम जो प्राकृतिक व्यवहार के विरुद्ध किसी भी यौन व्यवहार को दंडित करता है। हमें किसी भी प्राकृतिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए नियमों की आवश्यकता क्यों होती है। क्या लोगों को खाने या सोने के लिए बाध्य करने के लिए भी कोई नियम बनाये गये हैं? परन्तु किन्हीं कारणों से आपको ऐसे नियमों की आवश्यकता होती है जो यह सुनिश्चित करे कि लोग प्राकृतिक यौन व्यवहार ही करें।

यहाँ रोचक तथ्य यह है कि मनुष्य जाति वास्तव में पूरी तरह प्राकृतिक जीवन नहीं जीती। ऐसा प्रतीत होता है मानो संपूर्ण सभ्यता का एकमात्र लक्ष्य प्रकृति से अधिक से अधिक दूरी बनाये रखना है। हमने अपने नंगे शरीरों को ढका (निश्चित ही समलैंगिकता की आलोचना करने वाले इस बात पर बल देंगे कि प्राकृतिक नंगेपन को ढका जाना आवश्यक है)। हम प्रकृति द्वारा प्रदत्त कच्चे भोजन को पकाते हैं, हम प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए बसेरे बनाते हैं। हम गर्भनिरोधकों का प्रयोग करते हैं (यहाँ भी यौन को प्रजनन मात्र का उपाय मानकर समलैंगिकता का विरोध करने वाले भी गर्भनिरोधकों के प्रयोग का विरोध नहीं करेंगे)। इससे यह स्पष्ट है कि 'अप्राकृतिक' को 'अनैतिक/गलत' के साथ समान रूप से देखने से एक कभी न खत्म होने वाली बहस होती रहती है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि वह कौनसी सामाजिक व्यवस्था है जिसे 'सामान्य' यौन व्यवहार के नियम व्यवस्थित रखना चाहते हैं। यह सुनिश्चित करना क्यों आवश्यक है कि पुरुष केवल महिलाओं के साथ ही वैधानिक यौन संबंध रखें? यहाँ *वैधानिक* शब्द पर विशेष ध्यान दें क्योंकि समलैंगिकों के मध्य यौन संबंध तो मानव सभ्यता जितने ही प्राचीन रहे हैं। यह सुनिश्चित करने की भी क्या आवश्यकता है कि महिलायें केवल अपने विवाहित पुरुष साथियों के साथ ही यौन संबंध रखें क्योंकि हम सभी जानते हैं कि यौन संबंधों में पवित्रता बनाये रखने और एक ही साथी के साथ संबंध रखने के नियम केवल महिलाओं पर ही लागू होते हैं।

यदि परिवार का अर्थ केवल वस्तुओं या मानसिक योगदान देने की व्यवस्था से ही है तो किसी भी व्यवहार वाले लोगों के एक समूह को परिवार माना जा सकता है। क्या यह संभव नहीं है कि मनुष्य अनेक प्रकार के यौन व्यवहारों को अपनाने की इच्छा रखते हों और विषमलैंगिकता उनमें से केवल एक व्यवहार हो। यहाँ विचार करने वाली

बात यह है कि केवल विषमलैंगिक पितृसत्तात्मक परिवारों को ही मान्यता दी जाती है और इस तरह के परिवारों का उद्देश्य भी पुरुषों के माध्यम से संपत्ति और वंश को आगे बढ़ाना होता है। इसके लिए आवश्यक 'सामान्य' व्यवहार को राजसत्ता, नियमों और सामाजिक संस्थाओं द्वारा तैयार किया जाता है, बनाया रखा जाता है और इसकी रक्षा की जाती है। यह तो प्राकृतिक या निजी व्यवहार से कोसों दूर हैं।

अन्य शब्दों में, धारा 377 में किसी असामान्य व्यवहार वाले 'क्वीयर' लोगों का वर्णन नहीं है जिनके असामान्य यौन व्यवहारों को सामान्य व्यक्ति मानव विज्ञानियों की तरह देख सकते हों। धारा 377 तो सामान्य पुरुष और सामान्य नारी के व्यवहारों के गठन से संबंधित है और यही वह आखिरी कील है जो इस विचार को अभी तक बनाए रखे है कि 'सामान्य व्यवहार' की उत्पत्ति प्रकृति द्वारा होती है।

संभवतः हमने असामान्य यौन व्यवहार या 'क्वीयर' के विध्वंसनात्मक परिणामों पर गौर नहीं किया है। इस वक्तव्य को किसी भी भारतीय भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता क्योंकि यह पश्चिमी देशों में समलैंगिक व्यवहारों के विरोधी गैर विषमलैंगिक राजनैतिक आंदोलनों से उत्पन्न हुई है। इस परिभाषा का इतिहास और जड़ें उस संघर्ष के मूल से जुड़े हैं। परन्तु यहाँ केवल इस शब्द को अनुवाद करने की समस्या मात्र नहीं है जिससे ऐसे प्रश्न भी खड़े हो जायेंगे कि क्यों नही हम भी अपने इतिहास में झांकने का प्रयत्न करते। यहाँ प्रश्न है कि हम उस संघर्ष से प्राप्त अनुभवों और वहाँ प्रयोग में लाई जा रही इस परिभाषा का प्रयोग स्वयं को यह स्मरण कराने के लिए करें कि हमारे यहाँ यौन इच्छाओं को अनुभव करने, निर्मित करने और उन्हें बनाये रखने में अनेक तरह के व्यवधान और लोचता रही है। इस क्षेत्र में अध्ययन आरंभ किये जाने (उदाहरण के लिए गीति थडानी या रूथ वनीता व सलीम किदवई के अध्ययन) से आधुनिक युग से पहले की दक्षिण एशियाई सामाजिक व्यवस्थाओं में यौन पहचानों की अतृप्त होने और साम्राज्यवादी आधुनिकता की प्रक्रिया के एक भाग के रूप में विषमलैंगिक पहचान को सामान्य मान लिये जाने का पता चलता है। मैं किसी भी तरह से यह नहीं कहना चाहती कि आधुनिक युग से पहले के समय में पूरी स्वतंत्रता रही थी। मेरा सुझाव केवल यह है कि विषमलैंगिकता के अतिरिक्त किसी भी यौनिक व्यवहार को मान्यता देने से विषमलैंगिक व्यवहार जैसी व्यवस्थाओं की दृढ़ता में कमी आती है।

भारत में नारीवादी आंदोलन हमेशा ही समलैंगिकता का विरोधी रहा है। अपने उच्चतम स्तर पर भी यौनिकता के बारे में इसके उच्चतम विचार केवल 'निजी इच्छाओं का आदर करने' तक ही सीमित रहे हैं। हमने देखा है कि इस तरह के विचारों से विषमलैंगिकता ही एकमात्र विकल्प बना रहता है अर्थात 'हममें से अधिकांश लोग विषमलैंगिक हैं और कुछ दूसरे लोग ही समलैंगिक स्त्री या पुरुष हैं। विषमलैंगिक व्यवहारों को न अपनाने वाले इन दूसरे लोगों की संख्या असीमित है। परन्तु यदि हम यह जान लें कि इस 'सामान्य' प्रतीत होने वाली विषमलैंगिकता को अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, बायो–मेडीकल और आर्थिक नियंत्रणों द्वारा निर्मित और व्यवस्थित रखा जाता है ताकि वर्ग, जाति और जेन्डर की वर्तमान व्यवस्थाओं को जारी रखा जा सके

तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि हम सब भी एक प्रकार से क्वीयर व्यवहार वाले लोग हैं अथवा इस तरह का व्यवहार करने में सक्षम हो सकते हैं।

चलो सेक्स की बात करें[1]

प्रमदा मेनन

मैं लोगों को उकसाने का काम हमेशा करती रही हूँ। 90 के दशक के दौरान विकास के क्षेत्र में अधिकारों पर होने वाली मीटिंगों के दौरान मैं हमेशा पूछती, 'आप जेन्डर के बारे में क्या सोचते हैं?' यह सवाल सुनकर चेहरों पर उभरने वाले भाव मुझे आज भी याद हैं। उनके भावों में एक तड़प थी 'हे भगवान! ये नारीवादी है!' एक दशक गुजरने के बाद मैं अभी भी महिला अधिकारों की मीटिंगों में अपने आपको सवाल पूछते हुए पाती हूँ। अब सवाल होता है 'और यौनिकता के बारे में आपके क्या विचार है?' यह सवाल सुनकर चेहरों पर अलग तरीके के भाव दिखाई देते हैं। यह भाव 'गुमराह/गंदी' से लेकर 'हे भगवान! यह लेस्बियन है' तक होते हैं। सूरतेहाल अजीब स्थिति रही है। दो दशक से मुझे ऐसे देखा जा रहा है जैसे कि मैं एक डरावनी चीज़ हूँ और इसलिए ऐसे डरावने सवाल पूछूँगी जिनका ज़रूरी नहीं कि हमेशा जवाब दिया भी जा सके।

मगर क्या ये सवाल ऐसे हैं जो पूछने नहीं चाहिएँ? क्या जेन्डर और यौनिकता हमारी ज़िन्दगियों के स्वाभाविक अंग नहीं हैं? क्या हमें ये सवाल इसलिए नहीं पूछने चाहिए, ताकि इन सवालों से उपजी चर्चाओं से कुछ हद तक हमारे आसपास की दुनिया में बदलाव आ सके? इन शब्दों में ऐसा क्या है जिससे लगता है कि ऐसा कुछ अप्रिय सामने आ जाएगा जिसको संभालना असंभव होगा?

पिछले दस सालों में लोग मुझसे इसलिए डरते रहे हैं क्योंकि मैं यौनिकता के बारे में बात करती हूँ और इन मुद्दों पर प्रशिक्षण भी देती हूँ। इसकी तुलना में जेन्डर बहुत आसान शब्द लगता है। मैंने जानने का प्रयास किया कि ऐसा क्या है जिससे लोग इतना डर रहे हैं। इन दोनों शब्दों में ऐसा क्या है कि लोग इन्हें अपने काम में शामिल नहीं कर पाते हैं।

जब मैंने 'विकास (या जो भी शब्द आप इस्तेमाल करना चाहें) के क्षेत्र में काम करना शुरू किया – या आजकल की राजनैतिक रूप से सही भाषा में मुझे कहना चाहिए कि जब मैंने मानव अधिकार के मुद्दों पर काम करना शुरू किया – तब जेन्डर को एक राजनैतिक शब्द माना जाता था। कितने बरसों तक हमारे पास ऐसा कोई उपयुक्त तरीका नहीं था जिससे औरतों की अहमियत का अंदाज़ा हो सके। यहाँ तक कि हमें ये भी नहीं पता था कि हमारा गांव में जाकर एक बूढ़े पुरुष से गाँव की औरतों की समस्याओं के बारे में पूछना ठीक नहीं है। सालों तक इस तरह की स्थिति के बाद जेन्डर शब्द हमें मिला था। जेन्डर एक ऐसा शब्द था जिससे कि मर्दों को अपनी गृहपत्नि के बारे में यह कहने से रोका जा सकता था कि वो काम नहीं करती। इससे भी अधिक ज़रूरी, जेन्डर शब्द की वजह से मर्दों को यह कहने से भी रोका जा सकता था कि अगर औरतें पैसे नहीं कमातीं, तो उनकी कोई अहमियत नहीं है। जेन्डर से ऐसी क्रांति आई जिसकी वजह से कई खोजें हुईं। जैसे कि कैरोलीन मोसेर द्वारा विकसित प्रैक्टीकल जेन्डर नीड्स और स्ट्रैटिजिक जेन्डर नीड्स। जेन्डर से कई ढांचे तलाश किए गए – हारवर्ड अनैलिटिकल फ्रेमवर्क और

---

1 सेमिनार, अनइक्वल स्टेटस, अंक 583, मार्च 2008, अनुवाद : मीनू पान्डे

जेन्डर अनैलिसिस। इससे जेन्डर सजगता और जेन्डर समानता में बेहतर क्या है, इसके बारे में चर्चाएं हुईं। और ज़ाहिर है जेन्डर मुख्यधारा की निराली दुनिया भी जेन्डर से ही मिली।

फिर जेन्डर का इस्तेमाल एक राजनैतिक साधन के रूप में होना बंद हो गया। यह एक ऐसी चीज़ बन गई जो सभी संस्थाएं करने लगीं, क्योंकि उनके डोनर और महिला संगठन इसकी मांग करने लगे। हर प्रशिक्षण मापांक की शुरूआत सैक्स (लिंग) और जेन्डर के फर्क से होने लगी जिसमें सैक्स को जैविक ठहराया जाता और जेन्डर को सामाजिक। इसके साथ होने लगे औरतों के लंबे काम के और मर्दों के कम काम के वर्णन। इन सर्वव्यापक जेन्डर प्रशिक्षणों के लिए बहुत सी औरतों को नियुक्त किया जा रहा था, और संस्थाएं दावा करने लगीं कि चूंकि उनके कर्मचारियों ने जेन्डर के एक प्रशिक्षण में भाग ले लिया है, उनकी जेन्डर मुख्यधारा पर काम की भागीदारी पूरी हो गई है।

यह सब देखकर मैं हताश होने ही लगी थी कि मुझे महसूस हुआ कि यौनिकता शब्द महिला आंदोलन के शब्दकोष में फैल चुका है और एक ठोस राजनैतिक साधन भी माना जाने लगा है। इससे मुझे आश्चर्य के साथ खुशी भी हुई। उसी समय मुझे समझ आया कि सिर्फ जेन्डर भूमिका के बारे में बात करना फिजूल होगा। मुझे एक बड़ा और पेचिदा संसार सामने दिखने लगा जिसमें दमनकारी विषमलैंगिक विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव था। मुझे नज़र आया कि जेन्डर के अनुरूप न चलने से लोगों को बहुत समस्याएं हो रही थीं शादी के बिना साथ रह रहे लोगों को अपमान का सामना करना पड़ रहा था, उन पर ज़बरदस्ती शादी थोपी जा रही थी। स्कूल दूर होने की वजह से लड़कियों का स्कूल छुड़ाया जा रहा था। अभिभावकों को लड़कियों की सुरक्षा की चिंता थी और/या लड़की की चाहत की इच्छा से, जो कि गर्भ धारण में बदल सकता है, डर था। वहीं भारत के नारी आंदोलन को ल शब्द (लेस्बियन) कहने में हिचकिचाहट थी और यौनिकता को हर बार हिंसा से जोड़ दिया जाता था।

तब मैंने जेन्डर और यौनिकता को संयुक्त रूप से देखा और वही पुराने सैक्स विपरीत जेन्डर के विवाद पर पुनः विचार किया। हम समझते हैं कि सैक्स (लिंग) जैविक/नैसर्गिक है और मर्द और औरत के अंगों को दर्शाता है, जबकि जेन्डर समाज ने बनाया है और औरत और मर्द की भूमिकाओं को दर्शाता है। इसके बावजूद मेरी सोच और सीख ने यह स्पष्ट किया कि सैक्स का निर्माण भी किया जा सकता है और यदि कोई अपना सैक्स बदलना चाहता है, तो उसे रोक नहीं जा सकता।

इस वजह से मैंने सैक्स की अपनी परिभाषा को बदला: सैक्स का मतलब है वे जैविक लक्षण जो व्यक्ति को औरत या मर्द निर्धारित करते हैं। यह जैविक लक्षण परस्पर भिन्न नहीं हैं, क्योंकि ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनमें दोनों जैविक लक्षण शामिल हैं। यह लक्षण व्यक्तियों में औरत या मर्द का फर्क निर्धारित करते हैं। इस परिभाषा में मैंने जोड़ा कि अगर कोई चाहे तो सैक्स को बदला या बनाया भी जा सकता है।

इसके बाद आया यौनिकता का संसार जिसमें जेन्डर, सैक्स और बहुत कुछ साथ में शामिल था। अब हमको संवेदना, व्यवहार, जेन्डर पहचान और भूमिका, यौनिक रूझान, कामुकता, आनंद, घनिष्ठता और प्रजनन – इन सबको ध्यान में रखना था। हमें चर्चा करनी थी कि यौनिकता को किस तरह सोच में, सपनों में, इच्छाओं में, धारणा में, रवैयों में, परंपराओं में, बर्ताव में, दस्तूर में, भूमिकाओं में और रिश्तों में अनुभव और प्रकट किया जा रहा है। हमें यह भी मंजूर करना था कि जबकि यौनिकता के यह सब आयाम

हो सकते हैं, सभी आयाम हमेशा अनुभव या प्रकट नहीं किए जाते हैं। हमें यह बात भी ध्यान में रखनी थी कि यौनिकता पर जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, कानूनी, ऐतिहासिक, धार्मिक और आत्मिक – इन सबका प्रभाव पड़ता है।

तो भारत में हमारा अचानक सैक्स और यौनिकता की नई दुनिया से साक्षात्कार हो गया है। हम कोशिश कर रहे हैं ऐसे तरीके खोजने की जिससे यह सब एक ऐसी भाषा में तबदील हो सके जो सभी समझ सकें और अपनी समझ को चैलेंज देने के लिए इस्तेमाल भी कर सकें। यह करने में चुनौतियाँ बहुत हैं।

हम किस तरह अस्थिरता के मुद्दों का सामना कर सकते हैं? हम एक ऐसी दुनिया से परिचित हैं जिसमें सिर्फ औरत और मर्द ही शामिल किए जाते हैं। अब हमें इस पूरी व्यवस्था को नए नज़रिए से देखने का मौका मिला है। हमारे आस पास मर्द जैसे दिखने वाली औरतें हैं और औरतों जैसा महसूस करने वाले आदमी। अदल–बदल, उलट–फेर, हर तरफ, हर समय संभव है। अगर हम अपनी दुनिया को दोहरा न बनाएँ, तो हमारे सामने अनन्त सम्भावनाएँ होंगी और हमें अपने आपको किसी भी तरह से सीमित करने के लिए बाध्य नहीं होना पड़ेगा।

हम सहमति/स्वीकृति के बारे में क्या सोचते हैं? हमने देश में कानूनी सुधारों मे बहुत समय लगा दिया है। इस काम में हमारा तर्क रहा है कि स्वीकृति यह पता लगाने का आधार है कि कोई यौनिक क्रिया बलात्कार है या नहीं। हम औरत के हाँ या ना कहने की क्षमता में तो यकीन करते हैं, लेकिन जब बात यौन कर्मियों की हो, या लेस्बियन, या औरतों को चाहने वाली औरतों की, तो हम उन पहचानों को पुष्टि और उनकी यौनिक पहचान के साथ उनको मान्यता देने को तैयार नहीं होते। हम उनकी यौनिकता को घृणित रुप से देखते हैं और उन्हें उनके वर्तमान से निकालने की बात करते हैं।

युवतियों की यौनिकता के बारे में हमारी सोच क्या होती है? हम युवतियों की यौनिकता को स्वीकारने में हिचकिचाते हैं और सोचते हैं कि वे तभी लैंगिक रिश्ते रखेंगी जब कानूनी उम्र की हो जाएँगी। यह सोच उस समय है जब देश में कई लड़कियों की बालिग होने से पहले ही शादी हो जाती है और वे माँ भी बन जाती हैं।

हम विषमलैंगिकता और समलैंगिकता की दमनकारी विचारधारा को किस प्रकार देखते हैं? हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं, जहाँ औरत और मर्द ही शादी करते हैं और परिवार बनाते हैं। इस व्यवस्था में किसी और तरीके की भागीदारी स्वीकृत नहीं है। वहीं, समलैंगिक समाजों में, हम एक ही तरह की चाहत देखना चाहते हैं और इसलिए उन औरतों को शामिल नहीं कर पाते जो मर्दों और औरतों, दोनों को चाहती हों या वे औरतें जो अपने आपको कुछ समय के लिए ही लेस्बियन कहना पसंद करती हों।

हिंसा का असर सब पर होता है, इसपर हमारे क्या विचार हैं? जब हम लैंगिक उत्पीड़न या हिंसा की बात करते हैं, हम सिर्फ औरतों के बारे में सोचते हैं। हम इसमें उन मर्दों को शामिल नहीं करते जो 'मर्दानगी' के ढांचे में न आने के कारण लैंगिक उत्पीड़न का सामना करते हैं। न ही हम उन औरतों की बात करते हैं जो औरतों जैसी नहीं दिखतीं।

उसी तरह, यौनिकता और विकलांगता के बारे में सोचते समय, हम जिस विचारधारा को मानते हैं, उसमें सिर्फ 'योग्य' शरीर के लोग ही शामिल हैं और कोई नहीं।

यौनिकता हमारे सामने एक ऐसी दुनिया प्रस्तुत कर रही है जिसमें हम फिर से प्रश्न उठा सकते हैं और आज की व्यवस्था बदल सकते हैं। इसके बावजूद हम उसी सोच के साथ बंधना चाहते हैं जिससे हम पिछले कई सौ सालों से बंधे हैं। यह दुनिया बदल रही है और हमें इस बदलाव का सामना करना चाहिए ताकि इस दुनिया की औरतों के सामने पहले से ज्यादा विकल्प हों, वे बिना बंधनों के अपना जीवन जी सकें और एक ऐसे भविष्य की तरफ जा सकें जो उनकी चाहतों और सपनों के अनुरूप हों।

स्त्री-मुक्ति, देह की राजनीति, अर्थशास्त्र और हिंदी के आलोचक

लेखक – अर्चना वर्मा (वरिष्ठ कवयित्री और लेखिका)

इस आलेख में मुक्ति और स्वाधीनता के बीच अर्थ–संदर्भों में एक बुनियादी अंतर मान कर प्रयोग किया जा रहा है. मुक्ति की धातु वही है जो मोचन की है. अर्थात् छूटना, छुड़ाना. छूटना बंधन से, दबावों से, क़ैद से होता हैं. स्वाधीनता, यानी स्वयं अपनी अधीनता से मुक्ति की बाद की सीढ़ी है. स्वाधीनतापूर्वक भी कुछ बंधनों का चुनाव और स्वीकार संभव है. स्त्री की मुक्ति की यात्रा का प्रस्थान बिंदु देह की मुक्ति है. एक स्त्री की हैसियत से मेरे लिए इस बात का अर्थ मेरी देह के बोझ, बंधन और निरंतर असुरक्षित होने के अहसास से जुड़ा है. घर के भीतर से लेकर बाहर सड़क तक, पैदल चलने से लेकर यातायात के सार्वजनिक साधनों के प्रयोग तक, निरंतर नोच–खसोट से लेकर अधिक संगीन क़िस्म के शारीरिक सलूक का वह अनुभव जिसे बलात्कार के विविध स्तरों की तरह देखा और पहचाना जा सकता है, मेरे अस्तित्व की विधि है. यह अन्य तरह–तरह के निषेधों और अवसरहीनताओं का उत्स भी है. यह तो अस्तित्व का वह प्राथमिक बिंदु है जिससे अन्य आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक भेदभाव फूटते हैं. इस अस्तित्वगत स्थिति के दबावों से देह की मुक्ति की कामना केवल किसी आंदोलन का प्रथम चरण नहीं, यह किसी जलसे जलूस की नारा छाप ऐसी मांग भी नहीं जिसे किसी हड़तालग्रस्त सत्ताप्रतिष्ठान के साथ बातचीत, भावताव, या मोलतोल के ज़रिए हल किया जा सकता हो. यह उसका प्राथमिक अनुभव संसार है, जीवन की वह विधि है जो जन्म के साथ उसके लिए निश्चित है एक प्रदत्त परिस्थिति. पुरुष कभी सामूहिक रूप से इतना संवेदनशील और सहानुभूतिमय होगा कि स्त्री घर से लेकर हाट बाज़ार और दफ़्तर दुकान तक स्वयं को सुरक्षित महसूस कर सके, इसकी प्रतीक्षा को हम निराशा का कर्म न मानें तो भी निस्संदेह यह एक असमाप्य और असंभव प्रतीक्षा है. यह अपनी मुक्ति को दूसरे की अनुकंपा और सहयोग का विषय बना देना है जिसका मतलब स्वयं को याचक में बदल देना भी है. अगर नहीं तो इससे भिन्न और किया भी क्या जा सकता है कि अपनी देह को पुरुष के क़ब्ज़े से निकालकर खुद दख़ल कर लिया जाए.

इस विचार का व्यवहारपक्ष क्या हो सकता है? पहला अर्थ तो यही कि समाज (यानी

पुरुषसत्ताक व्यवस्था) ने खुद सर्वशक्तिमान सार्वभौम हमलावर की भूमिका अपना कर देह की 'शुद्धता' और 'पवित्रता' को प्राण देकर भी 'बचाए' रखने का जो बोझा स्त्री के सिर पर लादा है उसे वह स्वयं ही उतार फेंके और तथाकथित शुद्धता और पवित्रता के लिए लापरवाह हो जाए, लापरवाह हो जाए बलात्कार से पाई हुई चोटों के प्रति भी. इस मुक्ति के बिना सामाजिक, आर्थिक वगैरह किस्म की मुक्तियां भी संभव नहीं. और उन मुक्तियों की तह में भी (अगर वह मिलती हैं तो) यह बुनियादी मुक्ति मौजूद है, रहेगी. स्त्री--मुक्ति आंदोलन के केवल 'यहीं' और 'इतना ही' रह जाने की आशंका का न कोई अर्थ है, न प्रासंगिकता क्योंकि बात यहां इस या उस के बीच चुनाव की नहीं, समग्र मुक्ति की है. यह यात्रा का प्रस्थानबिंदु तो है, लेकिन यात्रा शुरू हो जाने के साथ पूरा या कि समाप्त हो जाने वाला कोई चरण नहीं. पूरी यात्रा ही निरंतर प्रस्थानों की एक लड़ी है और देह क्योंकि अस्तित्व का ठोस बहिरंग है जिसके द्वारा जिया जाना है, जिसके द्वारा ही कोई भी यात्रा संभव की जानी है, इसलिए इसकी मुक्ति भी यात्रा की तरह निरंतर है. यह कोई सरल या निरापद यात्रा नहीं क्योंकि मुक्ति के अनुपात में उत्पीड़न की मात्रा भी बढ़ाई जाएगी और बर्दाश्त की हद भी.

बलात्कार की आशंका और वास्तविकता के प्रति लापरवाह हो जाने का अर्थ वर्चस्ववादी, अहम्मन्य पुरुष को उसकी यह औकात बता देना है कि इससे ज़्यादा और तुग कर भी क्या सकते हो? यह उसके चंगुल के बाहर हो जाना तो है ही, पुरुष जमात के संवेदनशील, सहानुभूति संपन्न साथियों को भी यह कहकर किनारे कर देना है कि मुझे तुम्हारी अनुकंपा की ज़रूरत नहीं.

समझा जा सकता है कि पुरुष के लिए यह आशंका का सगय है. उस पुरुष के लिए भी जिसे अन्यथा हम संवेदनशील, सहानुभूतिमय मान सकते हैं. पितृसत्ताक समाज के नैतिकताबोध का यह मर्मस्थल है स्त्री की देह और उस पर दखल. किसी भी कोटि का पुरुष यही मानना चाहता है कि बलात्कार के द्वारा स्त्री को तोड़ा जा सकता है. बड़े पैमाने पर सामान्यतः स्त्री समुदाय के लिए यह बात सच भी है यानी उस स्त्री समुदाय के बारे में जो अभी पुरुष के चंगुल के बाहर नहीं है. यह बात लिखते हुए अचानक एक रोचक प्रसंग याद आ रहा है. हंस की मशहूर कहानी प्रतियोगिता, जो अंततः प्रतियोगिता नहीं थी, के निर्णायकों में से एक प्रसिद्ध कथाकार और चिंतक भाई श्री अरुण प्रकाश भी थे. शेखर मलिक की कहानी 'अस्वीकार' पर विचार करते समय, उसके प्रति मेरे सकारात्मक मनोभाव

के विरुद्ध तर्क देते हुए, उन्होंने पहला तो यह टेक्नीकल सा कारण बताया था कि इसमें बलात्कार घटित कहीं होता है और मेडिकल परीक्षा कहीं और होते हुए दिखाई गई है, और दूसरा यह विचार व्यक्त किया था कि बलात्कार जैसा दारुण दिल दहला देने वाला अनुभव स्त्री को तोड़कर रख देता है जबकि यह स्त्री तो...या ऐसे ही आशय के कुछ अन्य शब्द. पाठकों को भी शायद इसी किस्म की कोई आपत्ति उस कहानी से हुई होगी. याद होगा कि उस कहानी की नायिका एक मानवाधिकार कर्मी है और उस दारुण अनुभव से दहलने के बावजूद, बलात्कारियों के पकड़े जाने के बाद, उनके साथ पुलिस के अमानवीय व्यवहार का विरोध करते हुए, उनके मानवाधिकार के पक्ष में खड़ी होती है. इस बात का उत्तर देना आसान नहीं कि यह आचरण स्वाभाविक है या नहीं, और यह तथ्य तो कहानी के संदर्भ में कोई विश्वसनीय तर्क बन ही नहीं सकता कि वस्तुतः ठीक ऐसी ही घटना उड़ीसा की एक मानवाधिकार कर्मी स्त्री के साथ घटित हुई, उसने ऐसा ही व्यवहार भी किया, जो समाचारपत्रों में रिपोर्ट भी किया गया. अगर इस कहानी की प्रेरणाभूमि भी वही घटना या रिपोर्ट रही तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए. लेकिन कहानी की विश्वसनीयता का संदर्भ यह नहीं हो सकता, ख़ासतौर से तब, जब पाठक यथार्थ के साथ अपने परिचय के दायरे की सीमा को ही कहानी की विश्वसनीयता की कसौटी मानने को तुला हुआ हो. पर बात कहानी की विश्सनीयता की नहीं. इस संदर्भ में उसके याद आ जाने की थी. अरुण भाई मुझे, एक स्त्री को, यह समझा रहे थे कि बलात्कार का अनुभव क्या होता या हो सकता है पर स्वयं यह समझने की रत्ती भर कोशिश नहीं कर रहे थे कि एक स्त्री की सबसे बड़ी कामना उस अनुभव की दारुणता से उबरने, उसके असर से बाहर आने, और अपनी मानवीयता को बचाए रख पाने की ही होगी. वह स्त्री स्वाभाविक है या नहीं, यह तो इस बात पर अधिक निर्भर करता है कि पाठक के परिचय के दायरे में ऐसी कोई स्त्री है या नहीं, पर स्वयं स्त्री के लिए वह एक रोल मॉडल है, और निस्संदेह विरल ही सही वह नई स्त्री जन्म तो ले ही चुकी है, जिसे बलात्कार के द्वारा दंडित नहीं किया जा सकता. वह दंडित होगी ही नहीं. बलात्कार उसके लिए क्रोध का कारण होगा, एक ऐसे समाज में अपनी शारीरिक दुर्बलता का स्मारक होगा, जो दुर्बलता का लाभ उठाने से नहीं चूकता, और न उसे अकारण दंडित करने में लज्जित होता है, लेकिन फिर भी देह के कलंकित होने का प्रमाण और जीवन के असहनीय और अयोग्य हो जाने का कारण नहीं ही होगा, और न अपनी मानवीयता को खो देने का ही.

बलात्कार किसी भी समाज में स्त्री के लिए उत्पीड़न का प्रकार और सदमे का कारण है लेकिन देह की शुद्धता और कलंक की अवधारणा भारतीय हिंदू समाज का अपना सोच है. इसलिए इस समाज की स्त्री का आत्मसाक्षात्कार और मुक्ति का विचार भी कहीं अधिक जटिल है. शायद इसीलिए मुक्ति के संदर्भ में देह की केंद्रीयता न केवल पुरुष, बल्कि अधिकांश स्त्री समाज के लिए भी आशंकाजनक और असहनीय है. इस शुद्धता और पवित्रता का फलितार्थ स्त्री के विपक्ष में शक्तिविमर्श की सामाजिक राजनीति है. यह निरंतर भय और आशंका की ऐसी मानसिकता के सृजन को उद्दिष्ट है जो स्त्री को चारदीवारी और दहलीज के भीतर की दुनिया में, सुरक्षा के किसी वास्तविक आश्वासन के बिना कैद रखना चाहती है. मैं समझ सकती हूं कि अरुण भाई का ऐसा कोई मंतव्य नहीं रहा होगा, बात शायद उनके विचार में आई ही नहीं होगी, लेकिन उस वक़्त मैं यही सोच पाई कि पुरुष चाहे जिस कोटि का हो, यह सह नहीं सकता कि स्त्री उसके चंगुल से इस क़दर बाहर हो जाए कि बलात्कार के भय से भी काबू न की जा सके. और ऐसी बात क्योंकि मैं कहना नहीं चाहती थी इसलिए चुप भी रह गई. यही एक तसल्ली थी कि कहानी शेखर मलिक की लिखी हुई थी, जो एक पुरुष है, यानी कुल अंधकार ही नहीं है, आशा की जगह अभी शेष है. उस नायिका की पीड़ा का कारण बलात्कार से बढ़कर यह अहसास है कि पुलिस तो पुलिस, खुद उसके सहयोगी, स्त्रियां ख़ासतौर से, उसे उसके इस मानवीय आचरण के कारण चरित्रहीन मान रहे हैं, यानी उनका मानवाधिकार आंदोलन महज़ एक नौटंकी है और एक तरह से वे सब स्वयं बलात्कारियों से घटकर नहीं.

लीजिए कहां तो सोचा था कि गीतांजलि श्री, जया जादवानी, लवलीन और मैत्रेयी पुष्पा आदि के लेखन पर बात करते हुए, स्त्री की मुक्ति के संदर्भ में उसके अपने आत्मबोध को परिभाषित और आत्मबोध में देहबोध की जगह को आविष्कृत करने की कोशिश करूंगी, कहां बात ही शेखर मलिक की कहानी से शुरू हो गई. पुरुष का स्त्री विमर्श ही फ़िलहाल सारे फ़साद की जड़ मालूम हो रहा है. स्त्री विमर्श को लेकर दिशाभ्रंश की संभावनाओं का मूल उत्स भी और तरह–तरह की आशंकाओं का कारण भी. स्वयं मेरे मन में इस बात को लेकर कोई संदेह नहीं कि बृहत्तर स्तर पर समाज के किसी भी हिस्से का कोई भी आंदोलन वस्तुतः समूचे समाज को प्रभावित और परिवर्तित किए बिना, उसका सहयोग लिए बिना संपन्न नहीं हो सकता. स्त्री की नियति पुरुष के सहयोग के बिना नहीं बदलेगी और जो पुरुषसत्ता स्त्री की शत्रु है उसका अर्थ एक मानसिकता है न कि पुरुष का अस्तित्व.

इसलिए पुरुष का वहां होना और स्त्री–विमर्श में भागीदार होना स्वागत की बात है. गाली गलौज की भाषा में आरोपों और नीयत पर संदेहों का जो बाज़ार गरम है, और जिसमें और चाहे जो भी हो, विमर्श कदापि संभव नहीं, उससे हटते हुए देखा जाए तो तद्भव के संपादकीय में युवा कथाकार और विचारक अखिलेश के शब्दों में लगभग सभी तरह की आशंकाओं ने प्रतिनिधित्व पा लिया है.

इनकी पहली चिंता, निस्संदेह नेकनीयत, इस बात की है कि केवल 'इतने भर' को स्त्रीमुक्ति का पर्याय बना देने का अर्थ अभियान की क्षति है. इस संदर्भ में प्रायः पश्चिम के हवाले से अपनी आशंका को प्रामाणिकता देते हुए यह भी कहा जाता है कि स्त्री–मुक्ति का यह अर्थ तो 'वहां भी' है ही नहीं, जबकि आंदोलन का विचार और शास्त्रा वहीं रचा गया है. इस बहस में फ़िलहाल जाने का अवकाश नहीं लेकिन इतना याद कर लेना चाहिए कि, जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, देह की शुद्धता, पवित्राता और कलंक के नाम पर स्त्री के समूचे जीवन का निपटारा भी फ़िलहाल वहां नहीं होता और देह को लेकर पूर्वग्रह कहीं भी ऐसे कठिन नहीं जैसे भारतीय हिंदू समाज में.

इसी से जुड़ी दूसरी चिंता देह की मुक्ति के विकृत भाष्य की है, यानी कहीं इसका अर्थ देह का निर्बाध इस्तेमाल न समझ लिया जाए क्योंकि इसका परिणाम बाज़ार की शक्तियों के फ़ायदे की स्थापना में होगा. आशंका अपनी जगह पर दुरुस्त है और यह इसका एक संभव आयाम स्त्री–देह का अर्थशास्त्रा भी है, लेकिन ज़रा ठंडे दिमाग़ से सोचा जाए, क्या वाकई स्त्री अगर देह–मुक्ति की मांग नहीं करेगी तो बाज़ार की शक्तियां मिट जाएंगी? क्या इसका कोई संबंध बाज़ार की शक्तियों के फ़ायदे की स्थापना से है? क्या बाज़ार बिना इस मांग के भी, पहले से ही स्थापित नहीं है? निश्चय ही वह है, और अपने फ़ायदे के लिए कितनी ही स्त्रियों को बिना मांगे ही, देह की मुक्ति भी देता रहता है, ज़बरदस्ती.

अर्थशास्त्रा अगर जीवन का केंद्रीय शास्त्रा रहेगा तो बाज़ार भी रहेगा, बाज़ार की शक्तियां भी रहेंगी, फ़ायदा उनका सर्वोपरि तर्क भी रहेगा. इस मंडी का माल भी स्त्री है, इस्तेमाल भी स्त्री का ही है, लेकिन फ़ायदे में हिस्सेदारी के अधिकार से वह वंचित रहती आई है. स्त्री को यह आश्वासन तो दिया नहीं जा सकता कि अगर वह देह पर स्वयं अपना अधिकार नहीं मांगेगी तो बाज़ार और उसकी शक्तियां और उनके फ़ायदे का तर्क नहीं रहेगा. वह अगर रहेगा ही, तो कम से कम यही निश्चय किया जा सके कि वही स्त्री इस मैदान में हो, जिसने स्वेच्छा से इस जीवन का चुनाव किया है और जो स्वयं अपने माल

की स्वामिनी होने और इस्तेमाल को निर्धारित करने की क्षमता रखती है, और फ़ायदे की हक़दार भी है.

यह सोचना सही नहीं है कि स्त्री आंदोलन की बुनियादी मांग अगर देह की मुक्ति है तो मांगने वाली हर स्त्री के लिए इसका अर्थ देह के निर्बाध इस्तेमाल द्वारा बाज़ार का फ़ायदा ही होगा. सामान्यतः स्वयं स्त्री के लिए यह मांग परकीय प्रसंगों में प्रेम के अतिरेक में आत्मनिवेदन या पूर्ण समर्पण की गहरी भीतरी ज़रूरत से जुड़ी रहती आई थी या यूं कहा जाए कि जहां प्रेम इसके पीछे सही कारण न रहा हो, वहां भी इस भ्रम का बना रहना स्त्री के मन में अपनी दैहिक अतृप्ति और तृप्तिकामना की लज्जा के कारण स्वयं अपने समक्ष अपनी सफाई दे पाने के लिए ज़रूरी रहा होगा जबकि इस नई औरत के लिए ऐसा नहीं है. वह जानती है कि दरअसल इस स्तर पर मांग का कोई अर्थ है ही नहीं. मांग के तौर पर इस ज़रूरत को आख़िर किसके सामने रखा जा सकता है? और किससे इस संदर्भ में इजाज़त की अपेक्षा की जा सकती है? यह तो जिसे चाहिए, उसे स्वीकृत नियमों–निषेधों को तोड़ कर, स्वयं अपने आप से लेनी होगी और समाज से दंडित होने का ख़तरा उठाना होगा.

इस तरह के विद्रोह किसी की इजाज़त से नहीं हुआ करते. और इस तरह के विद्रोह व्यक्तिगत ही हुआ करते हैं. बृहत्तर सामाजिक आंदोलन के संदर्भ में इस व्यक्तिपरकता के प्रति अपनी आशंका जताते हुए अखिलेश ने कहा है कि देह एक वैयक्तिक पद है जबकि स्त्री एक सामुदायिक पद. वैचारिक नवीकरण के बीते हुए पिछले दौर के अवशेष अभी तक, जीवन में न सही, चिंतन में बाक़ी हैं जिनके तहत हम व्यक्ति और समुदाय को एक–दूसरे के प्रतिपक्ष की तरह देखने के इस क़दर आदी हो गए हैं कि इसकी हास्यास्पदता और हवाईपन की तरफ़ हमारी नज़र जाती ही नहीं. हम नहीं देखते कि समुदाय अपने आप में एक अमूर्तन है जो व्यक्ति के बहुवचन द्वारा मूर्त और जीवन्त तथा एकवचन द्वारा सृजनसक्रिय होता है. स्वाधीनता संग्राम तथा अन्य प्रकार के युद्ध इत्यादि मौक़ों की बात छोड़ दी जाए तो समुदाय का अर्थ सीमित होता है तथा उसका संघर्ष अपने से भिन्न अन्य समुदायों के विरुद्ध जा खड़ा होता है. एक हद के बाद यह बृहत्तर समुदाय के विखंडन का पर्याय हो जाता है जो किसी के भी हक़ में नहीं रहता. ऐसा सामुदायिक संघर्ष जलसे–जलूस की शक्ल में क़ायदा–क़ानून बनवाने बदलवाने में कारगर हो सकता है लेकिन बदले हुए क़ायदे–क़ानून को लागू करने का अर्थ व्यक्तिगत प्रयत्न से पूरी तरह से

अलग नहीं किया जा सकता. सामाजिक सांस्कृतिक संदर्भों में तो बिल्कुल नहीं. सामुदायिक संघर्ष को जीवन का स्थाई उपक्रम बनाया भी नहीं जा सकता. वह किसी विशेष उद्देश्य तथा कार्यक्रम से समुदाय को जोड़कर किया जाता है और उद्देश्य के पूरा होने के बाद स्वयं भी समाप्त हो जाती है. किसी साझा उद्देश्य के अभाव में समुदाय अनंत काल तक जुड़ा नहीं रह सकता. वैयक्तिकता की हानि करके तो बिल्कुल ही नहीं. वैयक्तिकताओं के अनंत गुणनफल का नाम समुदाय है और वैयक्तिक जोखिमों की साझेदारी ही किसी कारगर सामुदायिक उद्देश्य में बदलती है. इसलिए देह अगर एक वैयक्तिक पद है भी, तो कोई कारण नहीं कि विश्वजनीन बहनापे का आधार न बन सके और देह की मुक्ति अगर एक वैयक्तिक मुक्ति ही है तो भी कोई कारण नहीं उससे शुरुआत न की जाए. तथापि यह बात अपनी जगह पर सच है कि इसे पितृसत्ताक समाज द्वारा परिभाषित विवाह का अर्थ बदलने के लिए इस्तेमाल नहीं किया जा सकता. विवाह का अर्थ ही इस प्रकार की स्वतंत्राता का स्वेच्छया परिसीमन है. यह एक तरह से प्रकृति की उद्दाम ऊर्जा के विरुद्ध मनुष्य का अभियान है, जिसकी विडंबना यह है कि नियम की अपेक्षा विचलन ही अधिक प्राकृतिक और स्वाभाविक है लेकिन जितनी सहजता और स्वाभाविकता से विचलन घटित होता है उतना ही दुष्कर, असंभव और अस्वाभाविक उस विचलन का सैद्धांतीकरण दिखाई देता है. लेकिन परिवार और पारिवारिकता प्रमुख संस्कृतियों की यही बुनियाद है और संस्कृति से जो हम पाते हैं वह प्रकृति की अपेक्षा बहुत अधिक मूल्यवान है. निस्संदेह संस्कृति की इमारत एक ज़रूरी पाखंड की बुनियाद पर खड़ी हुई है.

अगली बात इस संदर्भ में यह कही गई है कि सामंतवाद में देह का उत्सवीकरण होता है तो बाज़ारवाद में देह का व्यवसायीकरण. यह शायद स्त्री के लिए एक शुभेच्छु चेतावनी है कि वह देखे कि कहीं कोई उसका बेजा इस्तेमाल तो नहीं कर रहा है. जीवन को संभव और काम्य बनाने की जितनी भी पद्धतियां हैं वे सब की सब किसी न किसी ठप्पे के द्वारा अनुचित और अयोग्य ठहराई जा सकती हैं. ठप्पा चाहे जिस बाद का हो अगर कोई किसी अन्य के लिए साधन या माध्यम न बन रहा हो, न किसी अन्य को साधन या माध्यम बना रहा हो तो उत्सवीकरण अंततः जीवन का ही होता है. देह का उत्सव तो बुनियादी तौर से जीवन का उत्सव है. क्योंकि अंतर यह है कि अब उसे इस उत्सवीकरण के लिए पुरुष के समक्ष अपने आपको कमनीय सिद्ध करने के साध्य की ज़रूरत नहीं. अब यह उसका अपना उत्सव है भले ही वह इसे करवाचौथ जैसे किसी नाम से मना कर पुरुष को भी आश्वस्त

कर देना चाहती हो.

जहां तक व्यवसायीकरण का सवाल है हमें कुछ अप्रिय सत्यों का सामना कर ही लेना चाहिए. व्यवसायीकरण अगर एक सिरे पर मुनाफ़ाखोरी है तो दूसरे सिरे पर रोज़ी–रोटी का सवाल भी है. विद्या–बुद्धि अन्य योग्यताएं, कुशलताएं, सेवाएं किसी न किसी अंश में व्यक्ति का व्यवसायीकरण ही करती हैं. कोई अपरिहार्य कारण ही होगा कि व्यवसाय जब एक आर्थिक दर्शन का रूप लेकर बाज़ारवाद की हद तक नहीं पहुंचा था, तब से लेकर आज तक भी, विश्व के प्राचीनतम रोज़गार के रूप में स्त्रीदेह का व्यवसायीकरण ही नामचीन रहता आया है, लेकिन व्यवसाय का नाम, पहचान और प्रतिष्ठा उसने कभी नहीं पाई. नतीजे में कुल हासिल यह कि रोज़गार देने और चलाने वाले यानी पुरुष तो सुरक्षित ही रहते रहे जबकि शिकार यानी स्त्री को गुनहगार भी बनना पड़ा. यूं स्थिति इतनी सरल भी नहीं कि व्यवसाय के रूप में पहचान मिल जाने भर से हल हो जाए. ताज़ा समाचार के अनुसार जर्मनी में इसे एक रोज़गार के रूप में स्वीकृति मिल चुकी है. नतीजा दिलचस्प है. वह एक कल्याणव्यवस्था का समाज होने के नाते अपने नागरिकों को बेरोज़गारी भत्ता देता है. इसके साथ जुड़ा दूसरा पक्ष यह है कि यदि एक नागरिक कोई उपलब्ध रोज़गार लेने से इंकार करता है तो उसे बेरोज़गारी भत्ते से हाथ धोना पड़ता है. समाचार यह था कि अब क्योंकि देह व्यवसाय को रोज़गार के रूप में मान्यता मिल चुकी है अतः उसे रोज़गार के रूप में ग्रहण करने से अस्वीकार करने पर भी बेरोज़गारी भत्ते से वंचित रहना पड़ेगा. इसे अब ग़नीमत क्या मानें कि क़ानून स्त्री–पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू होने वाला है. समझा जा सकता है कि इस क़िस्म के रोज़गार के अवसर किसके सामने अधिकतर रखे जाएंगे और किसे इंकार करने का नुकसान अधिकतर झेलना पड़ेगा. समझा यह भी जा सकता है कि स्वाधीनता का आधार अगर आर्थिक स्वाधीनता है तो पुरुषसत्ताक समाज स्त्री के समक्ष विकल्प क्या छोड़ता है. देह की बात छोड़ भी दी जाए तो अन्य योग्यताओं, कुशलताओं, सेवाओं, विद्या–बुद्धि आदि के आधार पर भी व्यवसाय में प्रवेश करने के लिए स्त्री के सामने जो शर्तें रखी जा सकती हैं उनके विरुद्ध स्त्री को ही सचेत करने का क्या अर्थ? उसके पास कम से कम यह न्यायोचित तर्क तो है कि अपने हिस्से की स्वाधीनता या आर्थिक आत्मनिर्भरता पाने के लिए यदि किसी दूसरे को मुनाफ़ा देना भी पड़ता है तो यह मज़बूरी भी है और ज़रूरी भी.

इन स्थितियों के रहते चमत्कार तो यह है कि सारा स्त्री समाज देह को व्यवसाय नहीं बना

बैठा. और जब बीती शताब्दियों में ऐसा नहीं हुआ तो अब ऐसा मान लेने का कारण भी कोई नहीं कि आगे भी कभी ऐसा होगा ही. लेकिन यह पुरुष की आत्मविश्वासहीनता का ही एक प्रमाण कहा जा सकता है कि स्त्री का चरित्रा उसके लिए सदैव संदिग्ध रहता है और चरित्रा का अर्थ उसके लिए पूरी तरह से शारीरिक यानी या तो अखंड कौमार्य आ फिर अविश्वसनीय और असाध्य सतीत्व हुआ करता है. जहां तक स्त्री का प्रश्न है, विशेष स्थितियों की बात अगर छोड़ दी जाए तो असाध्य उसके लिए अखंड कौमार्य अथवा सतीत्व उतना नहीं जितना कि पुरुष का विश्वास क्योंकि सबके पास पैमाना अपनी ही नाप का होता है, और अपने यौन स्वभाव और यौनव्यवहार के आधार पर अनुमान लगाते पुरुष को शायद यह लगना स्वाभाविक ही है कि कितनी असंभव कसौटी उसने स्त्री के समक्ष रखी है और उस पर खरे उतरने का दावा कितना अविश्वसनीय है. स्त्री द्वारा देहमुक्ति की मांग उसे इसी कारण शायद निर्बाध यौन स्वतंत्राता की मांग प्रतीत होती है और वह अपना परिवार, समाज, संस्कृति सबकुछ खतरे में देखकर व्याकुल है.

स्त्री जब देह पर स्वयं अपने अधिकार की बात करती है तो उसका एक अर्थ तो यह है कि विवाह के भीतर जो प्रतिबद्धता स्त्री से मांगी जाती है वही पुरुष से भी क्यों नहीं या इसके उलट, परकीय प्रसंगों की जो छूट पुरुष जिन कारणों से लेता है उन्हीं कारणों से वही छूट स्त्री के लिए भी क्यों नहीं? दूसरा यह कि जहां वह प्रतिबद्धता खंडित होती है, वहां एक ही प्रकार के विचलन के लिए स्त्री और पुरुष के साथ दो अलग–अलग प्रकार के सामाजिक सुलूक क्यों? तीसरा यह कि विवाह की सीमाओं के भीतर उसे स्वत्व की तलाश है. वह कहना यह चाहती है कि विवाह का अर्थ बलात्कार का अनियंत्रित असीमित पुरुषाधिकार नहीं हो सकता. सभी स्थितियों में कारण आर्थिक निर्भरता प्रतीत होता है लेकिन आर्थिक आत्म निर्भरता पा लेने भर से मानसिक मुक्ति संभव नहीं होती. यह सामाजिक और सांस्कृतिक संस्कार और उत्तराधिकार का मामला अधिक है जिसकी कीमत क्योंकि अकेले स्त्री से मांगी जाती है इसलिए न्यायबुद्धि को क्षुब्ध करती है. 'वही बंधन पुरुष के लिए भी हों' या फिर 'वही स्वतंत्राता स्त्री के लिए भी हो' में चुनाव स्वतंत्राता के पक्ष में होना ही स्वाभाविक है क्योंकि प्रकृति के विरुद्ध संस्कृति के अभियान में अगर बंधनों के प्रति एक ईमानदारी और प्रतिबद्धता संदिग्ध ही रहनी है तो संशोधन संस्कृति में ही करना पड़ेगा. निस्संदेह यह एक से अधिक अर्थों में पुरुष के लिए आशंका का समय है. एक तो अपनी पत्नी या अपनी बहन के संदर्भ में देह की स्वतंत्राता की कल्पना तक भी

उसके लिए अपने को आपे से इस तरह बाहर कर देने की जुगुप्साजनक, संतुलनघाती नीज़ है कि वह धैर्य के साथ, अंत तक इस विषय में सुन भी नहीं सकता, तर्क तो बाद की बात है. दूसरे, उसके साथ यह हो क्या रहा है कि एक ओर तो स्त्री वैवाहिक समीकरणों में पारस्परिक प्रतिबद्धता मांग रही है और दूसरी ओर विवाह के भीतर अपनी देह पर खुद अपना अधिकार भी. यह तो पुरुष की दैहिक प्रकृति को देखते हुए भीतर–बाहर के दरवाज़े एक साथ बंद कर देने की बात है, भले ही इसके पहले यह देखने की ज़रूरत उसे न पड़ी हो कि बाहर के दरवाज़े से जहां वह जाता रहा है वहां भी किसी की बहन या पत्नी का ही पता ठिकाना था. वस्तुतः यह अस्थि, मांस–मज्जा तक जा उतरे संस्कार के उद्वेलन और उसके आवेग की तर्कातीत समस्या है जो ख़ून ख़राबे तक ज़्यादा आसानी से जा पहुंचती है बजाय तर्कसम्मत समाधान के. स्त्री के दुख और प्रतिरोध के बाक़ी सच पुरुष के साथ साझे के दुख और प्रतिरोध के सच हो सकते हैं. लेकिन ऐसा शायद इतिहास के उत्तराधिकार के कारण है कि स्त्री तो पुरुष के दुखों और प्रतिरोधों में साझा कर सकती है लेकिन इस एक विशुद्ध स्त्री दुख में पुरुष से साझेदारी तो क्या समझदारी की अपेक्षा भी नहीं कर सकती.

कारण शायद वही है जो आलेख के आरंभ में ही कहीं कह दिया गया है. पुरुष समाज के लिए यह आशंका का समय है क्योंकि स्त्री की देह और उस पर दखल का सवाल पितृसत्तात्मक समाज के नैतिकताबोध का मर्मस्थल है. लेकिन शायद मैं ग़लती कर रही हूं. समूचे समाज के विषय में यह बात समान रूप से लागू नहीं की जा सकती. नैतिकताबोध के स्तर तो एक ही शहर की अलग–अलग बस्तियों में अलग जातियों में अलग–अलग देखे जा सकते हैं तो समूचे समाज की बात ही क्या? बात हिंदी साहित्य लिखने–पढ़ने वाले समाज की करनी चाहिए. एक अभिजात समुदाय यहां भी है तो सही जो हिंदी पर अहसान करते हुए बड़े अनुकंपा भाव से यहां प्रविष्ट हुआ है. उसके लिए देह को लेकर यह मारामारी ख़ास मतलब नहीं रखती. उनकी रचनाओं में प्रायः विषय भी परकीय प्रसंगों की ऐसी जटिलताओं को लेकर पाए जा सकते हैं जिनमें देह अपने आप सहज भाव से मौजूद रह सकती है, अलग से झंडा या नारा नहीं बनती. लेकिन यहां बात उनकी नहीं हो रही है. अधिकांशतः हिंदी साहित्य का संदर्भ संसार 'लोअर मिडिलक्लास मुफस्सल टाउन' यानी निम्नमध्यवर्गीय क़स्बाई यथार्थ जगत है. बात यहां पात्र परिवेश और कथानक की नहीं लेखकीय मानसिकता की हो रही है और इन विशेषणों का तात्पर्य यहां आर्थिक या

भौगोलिक नहीं विशुद्ध सांस्कृतिक और मूल्यपरक है. यानी किसी कस्बावासी की मानसिकता में भी महानगरीय खुलापन संभव हो सकता है जबकि महानगरीय रिहाइश और आर्थिक सुविधा संपन्नता आदि के बावजूद यह मानसिकता इस मारामारी में सक्रिय देखी जा सकती है. प्रतिवाद के लिए उठाई गई अधिकतर बातें यहां अखिलेश के शब्दों में उद्धृत की गई हैं क्योंकि शिष्ट शालीन एवं बहस के लिए उत्सुक भाषा में असहमति के लगभग सभी प्रतिनिधि बिंदु यहां दर्ज हैं लेकिन यहां इस चेतावनी की ज़रूरत है कि ये सभी तर्क मौजूदा आलोचकीय दृष्टिकोण के प्रतिनिधित्व के लिए यहां उद्धृत किए जा रहे हैं. इसका मतलब यह न समझ लिया जाए कि जिस मानसिकता की चर्चा आगे की जानी है उसके विषय में अखिलेश के लिए व्यक्तिगत रूप से कुछ कहा जा रहा है.

स्त्री देह और उसकी पवित्रता को लेकर इस प्रकार की आविष्टता और मनोग्रस्तता ऐसी ही निम्नमध्यवर्गीय कस्बाई मानसिकता में से निकलती है और इसी संसार में स्त्री को अपनी विकटतम लड़ाई भी लड़नी है. यह एक कट्टर यथास्थितिवादी मानसिकता है जिसे अपनी कट्टरता पर गर्व और इज़्ज़त पर गुमान होता है और इज़्ज़त का सबसे अधिक सुलभ ठिकाना स्त्री की देह है जिसका सारा ख़ामियाजा स्त्री को अपने बूते पर भुगतना है. आधुनिक कथा का स्वीकृत वैचारिक आधार यथार्थवाद मान रखने के बावजूद यथार्थ का अंतिम तार्किक परिणति तक अनुगमन करना इस मानसिकता के बूते की बात नहीं.

स्त्री–विमर्श के पक्ष से आक्रमण का निशाना भी यही मानसिकता है और इसी मानसिकता की तरफ़ से प्रत्याक्रमण भी सर्वाधिक प्रचंड है, भले ही उसके लिए तर्कों को कुतर्कों में ही क्यों न बदलना पड़े. इस कुतर्क के चलते कामातुरता और लम्पटपन के प्रकटीकरण को स्त्री–मुक्ति की विचारसरणि का पूरक पक्ष भी घोषित किया जा चुका है. यानी इसका एक अर्थ तो यह हो सकता है कि मुक्ति के नाम पर स्त्री लम्पटता या कामातुरता की छूट मांग रही है या फिर यह कि स्त्रीमुक्ति की पक्षधरता का अर्थ पुरुष के लिए अपनी कामातुरता या लम्पटता के लिए माल की सप्लाई का सहज प्रबंध कर लेना और इसके प्रकटीकरण को साहस का सबूत बना देना है. या कुतर्क भी क्यों कहें? इसे पूर्वोक्त मानसिकता का सहज तर्क भी कहा जा सकता है क्योंकि इस वैकल्पिक विचार की फ़ुरसत ही कट्टरपन के सशंक आत्मरक्षी चौकन्नेपन को कहां होती है कि जो कुछ कहा जा रहा है उसका अर्थ कहीं कुछ और तो नहीं. अगर अर्थ सचमुच ही कुल इतना होता तो उसके लिए इस युद्धमुद्रा की, यूं स्वयं को खुले मैदान में वेध्य और वध्य छोड़ देने की, विवशता न हुई होती.

न केवल किस्सा तोता–मैना और उसके जात की अन्य अनेक कथाएं बल्कि रहस्य–रोमांच से भरपूर अपराध और छल की अनेक सत्यकथाएं भी सबूत देंगी कि ये अभियान बिना युद्ध घोषणा और आपात् स्थिति की चेतावनी के सदियों से बड़े आराम से चलते और इत्मीनान से पलते आए हैं. तब से अब का अंतर यही है कि अब इसके पीछे सत्य को किसी दूसरे, अब तक के अपरिचित कोण से, देखने या किसी नए सत्य को पहचानने का साहस है जिसके प्रकाश में अब तक की जानी–पहचानी परिभाषाएं जीवन में तो पहले ही बदलना शुरू कर चुकी हैं, लेकिन अब तक न पहचानी गई हैं न दर्ज हुई हैं. इसीलिए उनकी अभिव्यक्ति अभी तक हमें कोई नई पहचान या नई परिभाषा सरीखी न महसूस होकर अपने नैतिक बोध और मूल्यव्यवस्था पर हमले जैसी लगती हैं.

प्रसंग इतना प्रत्यक्ष है कि संदर्भ की ज़रूरत नहीं. राजेंद्र यादव के ख़ूबसूरत दुश्मन के साथ होने सोने वाले लेख के साथ उठा गुबार अभी बैठा भी नहीं था कि 'मेरे विश्वासघात' में जोशी जी की स्वीकारोक्ति ने नया सिलसिला शुरू कर दिया. पिछले प्रसंग के सारे बहस–मुबाहिसे, तर्क–वितर्क से कोई पाठकीय दृष्टि स्फुटित हुई हो, ऐसा फ़िलहाल लगता नहीं है. इस गर्दोगुबार में कुछ व्यक्तिगत हिसाबों का निपटारा भी शायद किया जा रहा होगा, और इस सच्चाई को कहिए भी क्या कि राजेंद्र यादव ऐसे खाते खोलने में जान–बूझकर तो माहिर हैं ही, कभी–कभी अनजाने में भी कुछ खाते खुल बैठते हैं. एक बार फिर सारी बातचीत में बहस नहीं गाली–गलौज का रंग ही अधिक दिखाई दे रहा है. फिर से संभावना यही दिख रही है कि असली मुद्दा आंखों से ओझल ही रह जाए और बात बेबात में बदल जाए. शुरू से शुरू करें तो पहला सवाल यह होगा कि क्या यह केवल एक लंपटाख्यान है जिसको कह देने भर से कोई लेखकीय साहस का सबूत देने का दावा कर रहा हो ऐसी दिग्विजयों की शौर्यगाथाएं तो निजी गोष्ठियों में नर पुंगव गाते ही रहते हैं. वह तो जब कोई तस्लीमा सच बोलने पर तुल जाती है तब ऐसा होता है कि अच्छे अच्छों की बोलती बंद हो जाती है. जब बिना किसी तस्लीमा के सार्वजनिक रूप से कोई गरेबां चाक करने बैठता है, और वह भी किसी दिग्विजय की शौर्यगाथा के अंदाज़ में नहीं, तब कहानी का असली मतलब समझना ज़रूरी हो जाता है.

साहित्यरूप की तरह आत्मकथा की प्रासंगिकता का कारण यह है कि आत्मकथा भी दरअसल एक कथा ही है बावजूद इस जानकारी के कि उसके पात्र जीते–जागते सचमुच मौजूद हैं. बल्कि शायद इसी कारण वह ज्यादा विश्वसनीय है. पीढ़ी–दो पीढ़ी बाद वह

सचमुच पूरी तरह से कहानी बन चुकेगी. पर तब तक ऐसा होने का ख़तरा बना ही रहता है कि हम उसे मनुष्य की साधारण जीवनी का एक विशेष उदाहरण समझने की बजाय, उस व्यक्ति विशेष के बारे में फ़ैसला सुनाने और उसे सूली पर चढ़ाने के लिए साक्ष्य की तरह इस्तेमाल करने लगें, यह भूलकर कि इतनी छूट तो इकबालिया गुनहगार को भी दी जाती है कि, उसकी कहानी को समझने की कोशिश की जाए. ख़ासतौर से इसलिए कि उस कहानी से हमारे पूर्वग्रहों को ठेस लगती है, और हम यूं उसकी तह तक पहुंचने में असमर्थ हो जाते हैं मानो कहानी खुद अपने मतलब के खुलने का प्रतिरोध कर रही हो. ज़माना पहले साहित्य की आदर्शवादी समझ के दौर में अपने विद्यार्थी जीवन में पढ़ा था कि रचना में निषिद्ध स्थितियों का चित्राण भी किया जा सकता है लेकिन उनके प्रति वितृष्णा उपजाने के लिए, न कि गुदगुदी उत्पन्न करने के लिए. बात बहुत पुरानी, दकियानूसी, घिसी–पिटी सी है लेकिन शुरू से शुरू का क़िस्सा है. तभी किशोरीलाल गोस्वामी के विषय में यह आलोचना भी पढ़ी थी कि खलता का चित्राण तो वह निंदापूर्वक करते हैं लेकिन आकर्षक उसी को बना देते हैं. तब से लेकर आज तक मेरा अनुभव तो यही रहा कि गुदगुदी पैदा करने वाले चित्राण से शायद ही कभी किसी को कोई शिकायत हुई हो, वितृष्णा उत्पन्न करने वाली रचना पर सभी चढ़ दौड़ते हैं. प्रस्तुत बयान के इस कथ्य को छूट देने के कुछ शुभेच्छु प्रयासों ने इसे लेखनशैली की असफलता माना है लेकिन शैली की सफलता की कसौटी क्या है? अगर चित्राण ने इस तरह जुगुप्सा न पैदा की होती, गुदगुदी पैदा करके प्रसंग को सहनीय बनाया होता, तो क्या इसे सफल माना जा सकता था? रामशरण जोशी इन संदर्भों के चित्राण द्वारा वस्तुतः करना क्या चाहते थे? असफलता यह शैली की है या पाठक की पाचन शक्ति की? पाठक तो मेड टु ऑर्डर कहीं मिलता नहीं, तो क्या इसे लेखन शैली की ही असफलता माना जाए? लेकिन अगर कांतासम्मित शैली से काम न चलने वाला हो, लेखक की मंशा पाठक को झकझोर कर जगा देने की ही हो तो? सवाल अनेक हैं और लेखन की पद्धति और उद्देश्य के संदर्भ में असमंजस पैदा करते हैं. असमंजस वे इस बात को लेकर भी पैदा करते हैं कि लेखक जिस क़िस्म के उद्घाटनों में गहरी सामाजिक प्रतिबद्धता के साथ प्रवृत्त हुआ है और इस क्रम में स्वयं को कठघरे में खड़ा करने से भी हिचकिचाया नहीं है, उन्हें पुराणपंथी और संरक्षणवादी ताक़तों की बात तो अलग रही, स्वयं सामाजिक प्रतिबद्धता के घोषित पैरोकार भी गर्हित ही ठहरा रहे हैं. यही समझा जा सकता है कि–बीभत्स भी एक रस है जिसे झेलने का बूता प्रायः

पाठक में नहीं. अन्यथा रस अगर लेखकीय अनुभूति के साथ तादात्म्य का नाम है और अगर लेखक रामशरण जोशी अपने पात्र रामशरण जोशी के प्रति यह भाव पाठक में पैदा करते हैं, तो निश्चय ही वे सबसे पहले स्वयं इस भाव से होकर गुज़रे हैं. स्वयं अपना लेखक और पात्र एक साथ होने का अभियान अगर आत्मगौरव के गान और महिमामंडन में नहीं बदलता तो निश्चय ही एक पराक्रम है.

फिर साहित्य में जीवन की यथार्थवादी समझ का दौर आया और ज़्यादातर दिखाई यही दिया कि असल में यथार्थ का चुनाव भी यथार्थ के दायरे में रहने के बावजूद ऐसी सावधानी के साथ किया जा सकता है कि यथार्थ के विरुद्ध एक कवच बन जाए और हमारे आदर्शवाद और नैतिकबोध को चुनौती दिए बिना ही गुज़र जाए. अब दलित या हाशिए के अन्य विमर्शों के साथ ऐसा हो या न हो, स्त्री के संदर्भ में निश्चय ही निपट नंगे यथार्थ के साथ सामना है. यह समूची सामाजिक संरचना में हलचल का ऐसा मामला है कि एक कोना भी अगर बदला तो दूसरे कोने भी अछूते नहीं छूट सकते. स्त्री अगर अपनी देह को खुद अपने दखल में लेगी तो न केवल दाम्पत्य बल्कि परिवार, मैत्री, सामाजिक, व्यापारिक आदि संबंधों के समीकरण और चरित्र, सच्चरित्रता, नैतिकता, यौनिकता आदि बोध की परिभाषाएं भी बदलेंगी ही. निस्संदेह वे आद्यतः हमें धक्का पहुंचाने का काम भी करेंगी ही. इन बदले हुए बोध के बाद शायद पुरुष की अपेक्षा स्त्री के लिए इन सच्चाइयों को पढ़ पाना ज़्यादा आसान है और ज़रूरी भी क्योंकि मुक्ति का उसका अभियान पुरुष को समझे और समझाए बिना पूरा होने वाला नहीं.

उदाहरण के लिए एक क्रांतिकारी का अपनी यौन साहसिकताओं के विषय में यह इकबालिया बयान प्रायः पाठक को क्रोध, निराशा और लज्जा से भरता हुआ दिखता है क्योंकि यह क्रांतिकारी के विषय में उसकी स्वप्निल, रूमानी धारणा के सर्वथा विरुद्ध और विपरीत एक यथार्थ से उसका सामना कराता है. यहां तक कि यदि लेखक अपने इस व्यवहार को किसी नैतिक पाखंड से ता तो वह उसकी क्रांतिकारिता को ही पाखंड घोषित करने से नहीं चूकता. वह यह देखना भूल जाता है कि इस बयान में अंकित स्त्रियां अपनी देह को दखल कर चुकी स्त्रियां हैं. पुरुष यहां केवल एक विषय है, विषयी नहीं. पुरुष का दोष तो केवल समर्पण का है. इस दोष की अक्षम्यता का दंड तजवीज करने की उतावली में वह यह भी भूल जाता है कि जोश और उफ़ान की जिस उम्र में क्रांति का चरम होता है वही यौन ऊर्जा के चरम की उम्र भी है. बल्कि शायद यह यौन ऊर्जा का ही उफ़ान है जो

क्रांति के संकल्प में रूपांतरित होता है. रूपांतरित, न कि लुप्त जिसके मूल रूप का जब तब लौटते रहना ही स्वाभाविक है. सब के लिए प्रतिबद्धता का जो स्वभाव उसे समुदाय के सिलसिले में क्रांति के संकल्प तक ले जाता है वही व्यक्ति के स्तर पर गोपनीय को सार्वजनिक कर देने के लिए भी विवश करता है. दोनों के बीच जो दरार हमारे सोच में मौजूद है वह व्यक्ति को अकारण अपराध भाव और लज्जा से भरती है. एक ओर दुर्निवार आकर्षण के समक्ष पराजय की मजबूरी, दूसरी ओर स्वयं अपनी ही आंखों में नैतिक विचलन का अपराध और तीसरी ओर हर तरफ़ छाई हुई परिस्थिति और अपनी जीवनपद्धति जो अपने बस के बाहर के तात्कालिक प्रसंगों यहां आपातस्थिति में एक निरुद्देश्यता, संदर्भ हीनता, सारहीनता और निरर्थकता से घिरी हुई है और निरुद्देश्य ही, संयोगवश घटित होती जाती क्रिया–प्रतिक्रियाओं के द्वारा संचालित होती रहती है. यह एक विफल संकल्प की निराशा, पराजित अभियान के स्वप्नभंग, अलक्षित भविष्य की हताशा और योजनाविहीन कालयापन में से निकला हुआ घिराव और उसमें क़ैद जीवनपद्धति है. क्रांतिकारी के इसी आचरण से आलोचकों के मन में लखनपाल प्रसंग की अक्षम्यता भी जुड़ी है. सीधे–सीधे इसे आदिवासी स्त्री के यौन शोषण की तरह देखा जाएगा. शोषण तो निश्चय ही वह है भी. लेकिन शोषक कौन है? इस प्राचीनतम व्यवसाय में लखनपाल के मौजूद होने का ज़्यादा प्रासंगिक और तात्कालिक पक्ष यह है कि यह उसकी रोज़ी–रोटी का सवाल है. उसका यह शोषण यदि न हुआ तो अगले वक़्त की रोटी उसे नहीं मिलने वाली है. स्वयं उसके लिए यह एक व्यवसाय है. लखनपाल का अपना आचरण धंधा और धंधे के उसूलों से चलता है. जहां तक नायक के अनुभव का सवाल है, नवलप्रसूता पत्नी के साथ, नवजात शिशु की अभिभावकता के दायित्व की साझेदारी के उल्लास के साथ, पत्नी के वक्ष का ऐसा रसपान किसी भी नए–नए पिता के लिए सामान्यतः संभाव्य अनुभव हो सकता है. यह दाम्पत्य और गहरे प्रेमसंबंध की निकटता और पारस्परिकता का फल है. इसमें अतिशय आत्मीय संपर्क के कारण एक–दूसरे की दैहिक गंध और दुर्गंध अपूर्णताओं, अशिष्टताओं, अश्लीलताओं, पेट की गुड़गुड़ पाद और डकार जैसी फूहड़पंटी तक को अनौपचारिक अपनत्व भाव से अपने ही पूरक विस्तार की तरह ग्रहण कर लिया जाता है. यह दाम्पत्य को वासना और वात्सल्य के उस नामहीन संपृक्त घोल में बदलता है जिसके कारण वह हर तरह से एक अप्रतिम संबंध है. ऐसे अनुभव के साथ हमारे नायक का सामना एक विकट परिस्थिति और मनःस्थिति में होता है. मनःस्थिति अपने आपे के साथ अजनबीपन की है और परिस्थिति एक

अजब शारीरिक सौदा जिसमें एक अलक्षित भविष्य का सुदूर आगामी अनुभव प्रयत्न होने के पहले ही अपना संभाव्य भोलापन खो बैठा है. और इस समूचे प्रसंग में हमारे नायक का आचरण मुझे तो एक ऐसे पुरुष का आचरण प्रतीत होता है जो स्त्री की शक्ति को पहचानता है और उसकी असहायता को भी और दोनों ही स्थितियों में उसके सामने नतमस्तक होता है.

इस रामशरण जोशी नाम के पात्र को पाठक अगर एक जीते–जागते व्यक्ति के रूप में न जानता तो शायद इस बयान को असामान्य परिस्थितियों में मनुष्य के आत्माविष्कार और सच के साथ साक्षात्कार के अप्रत्याशित निष्कर्षों की प्राप्ति की तरह पढ़ सकता और बहिरंग व अंतरंग के बीच तनावों के बारे में अपनी जानकारी में खासा इजाफ़ा कर सकता था. पर हम प्रायः जानकारी से ज़्यादा रुचि निंदा और भर्त्सना में रखते हैं क्योंकि खुद छिपे रहकर दूसरे को नीचे गिरा पाने में दूध से धुले होने का आत्मतोष तो है ही जिसे पाने से हम कदापि वंचित नहीं रह जाना चाहते. इसी का पूरक पक्ष वह गौरव और अभिमान है जो सच बोलने वाला अपनी बहादुरी के लिए महसूस करता है लेकिन हम उसे इस गौरव का अवसर भी देने को तैयार नहीं. हम इसे बहादुरी नहीं बेशर्मी ही कहना चाहते हैं. नतीजे में एक ओर पाखंडी गौरव है दूसरी ओर बहादुर बेशर्मी. मुक्ति के वरण में बेशर्मी का चुनाव स्त्री के संदर्भ में विशेषतः एक श्रेयस्कर चुनाव है क्योंकि चुप्पी और दुराव हमारी सभ्यता के हाथ में ब्लैकमेल के द्वारा शोषण की ताक़त सौंप देते हैं. हमारी संस्कृति में चुप्पी को लज्जा, गरिमा, मर्यादा और सम्मान के साथ जोड़कर स्त्री को एक अनंत शोषणीयता के हवाले कर दिया गया है. इसलिए बोलना और वह भी सच बोलना पारदर्शिता और ईमानदार खुलेपन का सबूत नहीं माना जाता और जब एक पुरुष के सच बोलने का नतीजा यह हो सकता है तो स्त्री स्वयं अपनी दंडनीयता की सीमाओं का अंदाज़ा लगा ही सकती है. स्वयं यह चुनाव करके निर्भय हो चुकने के बाद वह पुरुष के संदर्भ में भी इस चुनाव का अर्थ समझ सकती है. अज्ञेय ने कभी कहा था कि अगर सच बोलना चाहते हो तो आत्मकथा के बदले उपन्यास लिखना चाहिए. उसका यह मतलब तब समझ में नहीं आया था. इसका अर्थ तब तो लगा यही था कि अपने बारे में सच कोई बोल नहीं सकता. अब लगता है कि सच तो कोई बोल भी दे वह सुना नहीं जाएगा, सुन लिया गया तो या तो माना नहीं जाएगा या समझा नहीं जाएगा.

शायद मान लेना चाहिए कि मुक्ति का यह प्रसंग फ़िलहाल अकेले का ही होना है. बंधे हुए

समाज में मुक्ति की ऐसी कथा स्वयं ही अपना उद्देश्य पराजित कर देती है जब तक कि अनंत काल तक कथा को दोहराते रहने का संकल्प ही न लिया जा चुका हो, इस उम्मीद में कि काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला. दूसरा कोई रास्ता भी मौजूद नहीं. अखिलेश ने यह आशंका प्रकट की है कि इस दुराग्रह के चलते महाश्वेता देवी, मेधा पाटेकर, सुनीता नारायण के रोल मॉडल कहीं तुकरा ही न दिए जाएं. लेकिन स्त्री होने के अपने अनुभव के तहत दर्ज मैं यह करना चाहूंगी कि देह के अहसास और उसके दबाव से मुक्त हुए बिना महाश्वेता, मेधा और सुनीता भी महाश्वेता, मेधा और सुनीता नहीं हो सकती थीं. यह मुक्ति चाहे अभिजात सामाजिक स्थिति की सुरक्षा का परिणाम हो, चाहे अपने गहरे आत्मविश्वास का, चाहे देह की तथाकथित पवित्राता के प्रति लापरवाही का.

दर्ज मैं यह भी करना चाहूंगी कि अंततः स्त्री–मुक्ति के दैहिक विचार की साहित्यिक परिणति से तनिक असहमति मेरी भी है, इस विशुद्ध कलावादी कारण से कि यह विचार कहानियों को भयानक रूप से एकरस, ऊबाऊ और दोहरावपूर्ण बना रहा है. इसी का नतीजा है कि हंस की कहानी प्रतियोगिता में से प्रशंसित कहानियों का पहला चयन जिस अंक में प्रकाशित हुआ, वह चुक्ता प्रमाणित करने के उत्साह में बलात्कार महोत्सव बन गया. दर्ज करने का सिलसिला शुरू ही किया है तो लगे हाथ यह भी यहां दर्ज कर ही दूं कि साहित्य के कलावादी विचार से राजेंद्र जी चाहे जितना चिढ़ते हों, मेरे विचार से हैं वे वास्तव में विशुद्ध कलावादी ही. कलावादी होने का अर्थ मेरी समझ में दरअसल यही है कि वह समाज के नियमों के अधीन नहीं उनका आलोचक होता है, उनके विरुद्ध खड़ा हो सकता है और समाज के प्रति अपने सरोकार और चिंता के कारण समाज के विरुद्ध होता है. हर सच्चा सामाजिक इस बिंदु पर सबसे पहले सच्चा व्यक्ति होता है.

नियामक मानदंडों और शारीरिक परिभाषाओं पर कुछ सवाल

शालिनी महाजन

हिंदी अनुवादः निधी अग्रवाल

इस बात पर अभी तक सहमति नहीं है कि लेस्बियन महिलाओं, लेस्बियन एवं बायसेक्शुअल महिलाओं, एल.जी.बी.टी समुदाय और फिर क्वीयर महिलाओं या ट्रांसजेंडर लोगों के मुद्दों पर महिला आंदोलन में हमने कब बात करना शुरू किया। लेकिन पिछले कुछ समय में, हमारे शब्दों और उन्हें व्यक्त करने के तरीकों में कई प्रकार के बदलाव आए हैं। इस लेख का उद्देश्य न तो ऐतिहासिक वृत्तांत सुनाना है और न ही इस मुद्दे का विस्तृत उल्लेख करना है, क्योंकि इन दोनों ही मुद्दों पर बात करने के लिए एक पूरी किताब लिखी जा सकती है। लेकिन मैं आशा करती हूं कि इस लेख के माध्यम से पिछले कुछ समय में उभरे उन राजनैतिक मुद्दों पर प्रकाश डाल सकूं जो क्वीयर -- महिलावादी संगठनों (विशेष रूप से लेस्बियन, बायसेक्शुअल और ट्रांसजेंडर) के बीच परस्पर चर्चाओं और भारतीय महिलावादी आंदोलन से जन्मे हैं।

किसी भी एक जगह से शुरुआत करना मुश्किल है, पर फिर भी 1987 में, भोपाल की महिला पुलिस अधिकारियों, लीला और उर्मिला को नौकरी पर वापस रखे जाने के संदर्भ में चर्चाएं एवं उनके सहयोग के लिए लिखे गए पत्र शुरुआती समय का एक महत्वपूर्ण वरण रहा।

मैं मानती हूं कि सवाल यह नहीं है कि आंदोलन में कितनी लेस्बियन महिलाएं शामिल हैं या नहीं हैं (वैसे वे कब शामिल नहीं थीं) या फिर यह कि वे सार्वजनिक स्तर पर अपनी यौनिकता अभिव्यक्त करती हैं कि नहीं। अन्य सभी हाशिये के समुदायों की तरह ही, यहां भी सवाल यही है कि (महिला आंदोलनों में) जिस महिला की बात की जा रही है, वह लेस्बियन या ट्रांसजेंडर हो सकती है या नहीं।

मैं महज़ मज़ाक में इस मुद्दे को केन्द्रीय सवाल नहीं बना रही। 'महिला' शब्द की परिभाषा में लेस्बियन महिलाओं को शामिल करने के लिए कई बार इन परिभाषाओं को बदला गया है।

अलग शब्दों में कहें तो, महिलावादी आंदोलन में 'महिला' की पहचान निर्धारित करना सबसे जटिल चुनौती रही है। दलित महिलाओं को हमेशा यही लगा (या उन्हें ऐसा महसूस कराया जाता है) कि वे दलित हैं ही नहीं। ऐसा ही अन्य समुदाय की औरतों, जैसे मुसलमान या अन्य धार्मिक/सामुदायिक पहचान की औरतों को भी महसूस हुआ, क्योंकि उनकी पहचान उनके वर्ग से की जाती रही (जिसके परिणामस्वरूप कई बार कामगार महिलाओं को लगा कि वे दरकिनार हो गईं), उनके शहरी/ग्रामीण/कस्बे की निवासी होने के नाते की जाती रही उनके शादीशुदा होने या न होने से की गई। (शादीशुदा, परित्यक्ता, अलग रहने वाली, तलाकशुदा, एकल, कभी शादी न करने की

सेमिनार, अनइक्वल स्टेट्स, अंक 583, मार्च 2008

इच्छुक...), उनके उत्पीड़न की कठोरता (ठीक है, शायद यह उपयुक्त उदाहरण नहीं है, पर अभी चर्चा के लिए मैं इसे भी यहां जोड़ना चाहती हूं), जिसके अंतर्गत एक यौन कर्मी, जो अपने काम की परिस्थितियों और उसमें हिंसा से मुक्ति के विषय में बात कर रही थी, के मुकाबले (देह व्यापार के परिणामस्वरूप) वैश्यावृत्ति में ज़बरदस्ती धकेली गई महिला पर अधिक दया दिखाई जाती रही। और इसी प्रकार के अन्य कई उदाहरण।

उपरोक्त विषयों से जुड़ा राजनैतिक सवाल यह है कि शुरुआती समय में ही यह पता चल गया था कि हालांकि हम सभी नारीवादी थे (अपनी अपनी तरह के) और कार्यकर्ता थे (हम में से काफी लोग अन्य आंदोलनों से आए थे, जिसके कारण 1980 के दशक में नारीवादी आंदोलन को उसका रंगीन एवं जीवंत स्वरूप मिला), देश में कई प्रकार की महिलाएं थीं और कई नारीवादी आंदोलन भी। हमारे लिए ज़रूरी था कि हम जल्द से जल्द इस विभाजन की पहचान कर अपनी ताकतें मिलाकर अपनी अपनी राजनीति को पुनः परिभाषित करते। क्योंकि महिलाएं होने के साथ–साथ, हमारी वास्तविकताओं में कई अन्य पहचानें जुड़ीं थीं, जिन्हें हम नारीवादी आंदोलन के लिए पीछे छोड़ने को तैयार नहीं थे।

अपने मुद्दों और अपनी राजनीति का मसौदा पुनः तैयार करने की इस प्रक्रिया में लेस्बियन महिला ने काफी देर से प्रवेश किया। परंतु पिछले एक दशक में (एक–दो साल इधर उधर होने के अतिरिक्त), इसका काफी प्रभाव रहा है और इस लेख में मैं इसी से संबंधित कुछ मुद्दों की चर्चा करूंगी।

लेस्बियन और बायसेक्शुअल मुद्दों पर संगठनात्मक कार्य की शुरुआत 1980 के दशक के अंत से, दिल्ली समूह व कुछ मुंबई की महिलाओं के साथ हुई। फिर दिल्ली में 1991 में सखी समूह की स्थापना हुई। स्त्री संगम (जो अब लेबिया के नाम से जाना जाता है) 1995 में गठित हुआ जब देश के कुछ अन्य शहरों में भी समूहों का गठन शुरु हो गया, जैसे, पुणे, दिल्ली, कोलकता, बंगलूरू, केरल और फिर वडोदरा में भी।

इन समूहों ने अलग अलग कार्य शैली और संगठनात्मक रूप से काम किया, जिनमें से कुछ का यहां वर्णन करना उपयुक्त होगा।

- स्वायत्त गैर–फंड वाले संगठन जैसे मुंबई में स्त्री संगम, पुणे में ओलावा, बंगलूरू में प्रेरणा (जिनमें से कुछ को पूर्व स्थापित महिला संगठनों से सहयोग मिला और कुछ को नहीं)।
- स्वायत्त संगठन, जिन्होंने कुछ विशिष्ट काम करने के लिए आर्थिक सहयोग लिया या जो पंजीकृत हैं, जैसे कोलकता में सैफो फौर इक्वॉलिटि, केरल में सहयात्रिका और वडोदरा में प्रेरणा।
- सेवाएं प्रदान करने वाली गैर सरकारी संस्थाएं (जो एल.जी.बी.टी. समूहों या मानवाधिकार समूहों के अंतर्गत ही गठित हुए), जैसे दिल्ली में संगिनी (नाज़

फाउन्डेशन के अंतर्गत), मुंबई में आंचल (शुरुआत में इंडिया सैंटर फौर ह्यूमन राईट्स ऐंड लौ के अंतर्गत, जो बाद में स्वतंत्र रूप से काम करने लगी), मुंबई में ही हमजिंसी (यह भी इंडिया सैंटर फौर ह्यूमन राईट्स ऐंड लौ के अंतर्गत) और बंगलूरु में लैस्बिट ग्रुप (संगमा के अंतर्गत)।

- यौनिकता अधिकारों के मुद्दों पर काम करने वाली संस्थाएं, जैसे दिल्ली में क्रिया और तारशी।
- विशिष्ट नैटवर्क एवं मंच (जो किसी खास मुद्दे या साझी राजनीति पर आधारित थे) जैसे, दिल्ली में कलेरी एवं वौईसिज़ अगेन्स्ट 377 तथा कोलकता में सैफो फौर इक्वॉलिटि।

इसके अतिरिक्त कई समूह अन्य महिला संगठनों तथा एल.जी.बी.टी. समूहों के साथ मिलकर विभिन्न नैटवर्कों तथा मंचों में भी काम करते हैं।

इन समूहों के काम का एक मुख्य अंश रहा है चाहत और अधिकारों के विषय में अभियान चलाना। इसके साथ–साथ, एल.बी.टी. समूहों के मुद्दों में विभन्न स्तरों पर फैलाव आता रहा है जैसा – नियामक मानदंडों पर सवाल उठाना, हमारे अधिकारों की मांग रखने और शारीरिक परिवेश को स्पष्ट करने के लिए राजनैतिक भाषा का विकास करना, वर्तमान आंदोलनों एवं अभियानों के साथ साझे मुद्दे तैयार करना और उनके साथ मिलकर काम करना, एक प्रगतिशील एवं बहुमुखी राजनीति का विकास, विविध सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के लिए उपयुक्त जगह बनाना और क्वीयर समुदाय की विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए सेवाएं प्रदान करना।

इसके अतिरिक्त, क्वीयर एवं क्वीयर नारीवादी आंदोलनों ने विभिन्न प्रकार के दस्तावेज़, किताबें, अध्ययन और रिपोर्ट प्रकाशित किए हैं जो यह समझने में हमारी मदद करते हैं कि हम किस दिशा में बढ़ रहे हैं। इनमें से कई प्रकाशन अन्य संस्थाओं के साथ मिलकर छापे गए हैं, या अभियानों एवं बड़े संगठनों का हिस्सा रहे हैं। इस तरह यौनिकता एवं जेंडर के मुद्दे धीरे–धीरे बदलाव की नई राजनीति का हिस्सा बन रहे हैं।

अब तक इस विस्तृत काम के माध्यम से कुछ महत्वपूर्ण राजनैतिक मुद्दे उठाए गए हैं :

- उन महिलाओं के विषय में बात करना जो शादी नहीं करना चाहतीं या अपने पैतृक या वैवाहिक घर से बाहर के क्षेत्र के अधिकारों के विषय में बात करना चाहती हैं; विवाह के सामाजिक ढांचे और नियामक विषमलैंगिकता का आलोचनात्मक विश्लेषण; ' निजी ही राजनैतिक है' को दोहराते हुए 'राजनैतिक ही निजी है' अवधारणा का भी पुर्नावलोकन, जिसके अंतर्गत यौनिकता तथा विवाह संबंधी विशेषाधिकारों पर ध्यान आकर्षित किया गया (जैसा कि पहले जाति, वर्ग और समुदाय के संदर्भ में किया गया था)।
- औरतों की चाहत और यौनिकता के मुद्दों को चर्चा में लाना, जो केवल उन पर होने वाले उत्पीड़न या हिंसा के नज़रिए पर ही केन्द्रित न हों।

- शरीर को एक कामुक विषय वस्तु एवं उसकी विविधता को पहचानना (औरतों और मर्दानगी के विषयों पर चर्चा से ही वाद–विवाद बदल जाता है)।
- 'महिला' की अवधारणा पर सवाल उठाना जिसके अंतर्गत लिंग/जेंडर के उन नियामक मानदंडों पर चर्चा हुई जिसे भारतीय नारीवादी आंदोलन ने भी स्वीकार कर लिया था।

इन मुद्दों का और अधिक विस्तार से अध्ययन करना आवश्यक है।

सबसे पहले नियामक विषमलैंगिकता का मुद्दा। नारीवादी आंदोलन ने हमेशा से पितृसत्ता एवं उससे जुड़े सामाजिक ढांचों की आलोचना की है, खासकर विवाह के सामाजिक ढांचे की। महिला मज़दूरी, उत्पादकता एवं प्रजनन, घरेलू हिंसा, जेंडर नियामक मानदंड एवं रूढ़िवादी ढांचे और उन्हें तोड़ना पिछले तीन दशकों के अभियानों के महत्वपूर्ण मुद्दे रहे हैं। विवाह के ढांचे में महिलाओं का दर्जा अक्सर इस पितृसत्तात्मक ढांचे से मिलने वाली ताकत के नज़रिए से देखा गया है।

पिछले कुछ वर्षों में विवाह के ढांचे की आलोचना एक ऐसे ढांचे के रूप में की गई है जो महिलाओं को भी कुछ सामाजिक एवं व्यक्तिगत शक्तियां प्रदान करता है और विषमलैंगिक–पितृसत्ता को बढ़ावा देते हुए उसका नियंत्रण भी करता है। यह आलोचना इस ढांचे से बाहर रह रहे लोगों ने दी है, अधिकतर कवीयर तथा यौन कर्मियों के आंदोलन द्वारा, जो अपने आप को उस समाज के हाशिए पर खड़ा महसूस करते हैं, जिस समाज में विवाह और उससे परिभाषित परिवार को समाज एवं संस्कृति का केन्द्र माना जाता है। यहां यह कहना आवश्यक है कि स्वायत्त नारीवादी आंदोलन, जिसे मुख्यधारा महिला आंदोलन का उग्र-रूपी किनारा माना जाता है, ने इन विषयों पर काफी तत्परता से चर्चा बढ़ाई है और वे इन्हें अपनी राजनीति में शामिल करने के लिए भी तैयार हैं।

इस मुद्दे के आधार पर विवाह की आलोचना करने का मतलब है उस सामाजिक एवं सांस्कृतिक शक्ति को चुनौती देना, जो विवाह के ज़रिए औरतों को मिलती है, चाहें विवाह के रिश्ते में बंधे दोनों व्यक्तियों में से उन्हें मिली शक्ति न्यूनतम ही क्यों न हो। यह शक्ति विभिन्न सामाजिक एवं कानूनी अधिकारों का भी कारण बनी है, जो उन औरतों को उपलब्ध नहीं है जो विवाह के ढांचें में बंधने के लिए तैयार नहीं हैं या उससे बाहर छूट गई हैं।

लेकिन विवाह के आलोचनात्मक विश्लेषण के कारण समलैंगिक विवाह के मुद्दे से संबंधित कुछ विशिष्ट चर्चाओं को भी बढ़ावा मिला है। एक महत्वपूर्ण सवाल, जो नारीवादियों ने भी क्वीयर समूहों से पूछा है – यदि आप विवाह का विरोध करते हैं, और अगर वह विषमलैंगिक पितृसत्ता का इतना मज़बूत स्तंभ है, तो आप समलैंगिक विवाह की मांग क्यों करते हैं? क्या लेस्बियन एवं गे समुदाय का इससे दूर ही रहना उचित नहीं है?

इस प्रश्न के विविध उत्तर रहे हैं जो केवल क्वीयर–नारीवादियों ने ही नहीं दिए हैं, बल्कि अन्य समूहों ने भी दिए हैं। हां, हमने विवाह के ढांचे की आलोचना तो की है और हम इसे एक दमनकारी ढांचा मानते हैं, परंतु वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में, अपने जन्मदायक/दत्तक परिवार के अतिरिक्त परिवार स्थापित करने का यही एक ढांचा उपलब्ध है और इसी ढांचे के अंतर्गत वे अधिकार प्राप्त किए जा सकते हैं जो केवल वैवाहिक युगल को उपलब्ध हैं। तो जब तक कुछ लोगों को यह अधिकार उपलब्ध है कि वे विवाह कर सकें, उनके रिश्ते को सामाजिक एवं कानूनी मान्यता प्राप्त हो, तब तक हमारा मानना है कि यह अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को, बिना लैंगिकता का भेदभाव किए उपलब्ध होना चाहिए।

यहां उपयुक्त उदाहरण होगा, देश भर में घर से भाग कर "शादी" करने वाली लेस्बियन औरतों का, जिसे मीडिया बड़ी दृढ़ता से नियमित रूप से दिखाती है। देश के हर कोने से, शहरों व गांवों से, अपने परिवारों व समाज के विरोध का सामना करती हुई औरतें, अधिकतर बिना किसी सहयोग के, एक दूसरे के साथ रहने का प्रयास कर रही हैं, एक दूसरे के साथ रहने की अपनी चाह की अभिव्यक्ति कर रही हैं, शादी कर रहीं हैं और उन्हें अपने हिसाब से अपनी ज़िंदगी जीने का पूरा अधिकार है। जिन मामलों में वे ऐसा नहीं कर पा रही हैं, वहां वे परिवार छोड़ कर भाग जाती हैं, मीडिया को संपर्क करती हैं जिससे कि उनके परिवार उनके लिए खतरा न पैदा कर सकें, और कुछ दुःखद मामलों में एक साथ न रह पाने के कारण आत्महत्या करने के लिए भी विवश हो जाती हैं। जब तक वैवाहिक ढांचे हमारे समाज, संस्कृति और कानूनी परिवेश को परिभाषित करते रहेंगे, यही न्यायोचित होगा कि यह ढांचे सभी के लिए उपलब्ध हों, चाहें वे समलैंगिक हों या विषमलैंगिक।

साथ ही, हमारा यह आह्वान है कि यदि विभिन्न महिला आंदोलन हर प्रकार के विवाह और उससे मिलने वाले लाभों का अंत करने के लिए तैयार है, तो उन समुदायों के लिए विवाह की मांग करने की आवश्यकता नहीं है, जिन्हें वैसे भी यह ढांचा उपलब्ध नहीं है।

अब हम एक नज़र चाहत और एल.बी.टी. समूहों द्वारा इस विषय की अभिव्यक्ति पर डालते हैं। कई मायनों में, पहचान का आधार भी चाहत, शरीर, यौनिकता ही है। इसका यह मतलब नहीं है कि लेस्बियन की परिभाषा केवल इसी पर आधारित है, परंतु अन्य पहचानों, जिनमें हमार जन्म होता है या जो हमारी परिस्थितियों के कारण हम से जुड़ जाती हैं, के मुकाबले इस संदर्भ में कुछ हद तक 'चुनाव' की भ्रांति होती है (यौन कर्मियों को भी चुनाव के इस सवाल का सामना करना पड़ता है जब वे 'सुधार' या 'पुनर्वास' कार्यक्रमों का हिस्सा बनना नहीं चाहते, बल्कि अपने अधिकारों व मांगों की बात करते हैं)। इस चर्चा का उद्देश्य यह स्थापित करना नहीं है कि कोई व्यक्ति जन्म से समलैंगिक होता है या समलैंगिक बन जाता है; यह सवाल कभी भी एल.बी.टी. संगठनों के लिए महत्वपूर्ण नहीं रहा है। लेकिन यह सवाल धार्मिक लोगों के लिए

महत्वपूर्ण है (अगर कोई इस प्रवृत्ति के साथ जन्म लेता है, तो उसके पास और कोई चारा नहीं है; वह केवल ऐसा बर्ताव न करने का निर्णय ले सकता है) या फिर समलैंगिक–विरोधी भय रखने वालों के लिए (किसी हादसे/विकृति/या नाकामयाबी के कारण व्यक्ति ऐसा बन गया हो, क्योंकि यह अप्राकृतिक है और इसलिए सामान्य नहीं हो सकता) या फिर आनुवांशिक समलैंगिक–विरोधी भय रखने वालों के लिए (तो ऐसे जीन के कारण ऐसा होता है, हमें उसकी पहचान कर उसे नष्ट कर देना चाहिए)।

यहां एक साधारण तथ्य रखा जा रहा है कि लेस्बियन जीवन जीने का चुनाव करना, या अपनी लेस्बियन पहचान व्यक्त करना, अपने आप में 'बाहर आने' की एक प्रक्रिया है, क्योंकि इस पहचान को एक चुप्पी साध कर छुपा-हुआ रखा जा सकता है। यह चुप्पी कई क्वीयर लोगों के लिए आज भी वास्तविकता है (तभी तक जब तक वे प्रत्यक्ष रूप से नियामक परिभाषाओं के अनुरूप न दिखते हों, जिससे जुड़ी अपनी समस्याएं हैं)। कुछ शुरुआती नारीवादियों की मान्यता के विरुद्ध, जो यह मानते थे कि यह चुप्पी भी एक प्रकार की ताकत है क्योंकि इससे महिलाओं की स्थिति छुपी रहती है और सुरक्षित रहती है, आंदोलन के पिछले दशक में बार बार यह दोहराया गया है, और इन संगठनों के अनुभवों से यह प्रमाणित भी होता है कि अधिकतर क्वीयर औरतों के लिए यह चुप्पी हिंसात्मक है, ताकत देने वाली शक्ति नहीं और ज्यादातर निजी स्थान (घरों व परिवारों के अंदर) हिंसा और शोषण के स्थान होते हैं। इसलिए एल.बी.टी. अधिकारों के विषय पर बात करना भी एक प्रकार से आंदोलन के अंतर्गत/और पहचान स्थापित करने के संदर्भ में बाहर आने जैसा ही है, जिसके विषय में यदि बात न की जाती तो वह अदृश्य ही रहता।

लेकिन यहां चर्चाओं में केवल यौनिक शरीर की बात नहीं की गई, शरीर किस प्रकार का हो, इस अवधारणा को भी चुनौती दी गई। विभिन्न समूहों और उनके द्वारा बारीकी से चुनी गई परिभाषाओं ने हमारे शरीर के विषय में हमारी अवधारणाओं और समझ को बदलने में मदद की है, वह शरीर जिसे हमारी राजनीति बार बार परिभाषित करती है। दलित महिला के शरीर पर उच्च जाति के पुरुषों द्वारा की जाने वाली हिंसा और यौन कर्म संबंधी चर्चाओं के संदर्भ में यह परिभाषाएं दी जाती रही हैं। हिंदुत्व राजनीति की नारीवादी आलोचना में मुसलमान पुरुषों और महिलाओं तथा हिंदू पुरुषों के शरीरों की अवधारणा पर ध्यान आकर्षित करते हुए गुजरात नरसंहार के दौरान इसके उग्र स्वरूप का वर्णन किया गया है। नारीवादी लेखों में भारत–पाकिस्तन बंटवारे और उसके बाद की हिंसा के विश्लेषण ने भी हमारी समझ बढ़ाने में मदद की है।

वंश, राष्ट्र, समुदाय, वर्ग, जाति की अवधारणाओं विषयक हमारी समझ को विकसित करने में महिला और महिला शरीर का इन अवधारणाओं के अंतर्गत संदर्भ ने काफी मदद की है। विरोध की हमारी समझ भी इन्हीं शरीरों के विरोध प्रकट करने, बदलाव और ताकत पर आधारित रही है।

महिला/पारलिंगी शरीर के विषय ने इन चर्चाओं में महत्वपूर्ण पहलू जोड़े हैं, जिसमें चाहत के साथ–साथ स्त्री/पुरुष व्यक्तित्व का पहलू भी शामिल है। हांलांकि जेंडर भूमिकाओं और हमारे 'औरत बनने' की काफी आलोचना की गई है जिसका महिला आंदोलन ने विरोध भी किया है, कि औरतों या उनकी सुंदरता के क्या मानक निर्धारित किए गए हैं; परंतु साथ ही 'पुरुषत्व' और 'पुरुष व्यवहार' का भी काफी विश्लेषण हुआ है, और ज़्यादातर यही माना जाता है कि यह व्यवहार अवांछनीय है। (जो हमें सोचने पर विवश कर देता है कि यदि यह व्यवहार अवांछनीय है तो विषमलिंगी नारीवादी 'पुरुषत्व' और उनके वाहक पुरुषों के प्रति अपनी अनिच्छा को जीवन में कैसे स्वीकर कर लेते हैं? या यह सवाल पूछना गलत है, चूंकि इसमें 'विषमलैंगिकता–विरोधी भय' या 'पुरुष–घृणा' जैसे विचारों का आभास होता है?)

सच तो यह है कि नारीवादियों की पुरुषत्व के प्रति यह विकलता उन महिलाओं के प्रति प्रकट होती है जो 'नारीत्व' के नियामक मानदंडों का पालन नहीं करतीं और यहीं से सवाल उठता है कि नारीवाद में खुद कितना नारीत्व है। कई पीढ़ियों से कई महिलाएं पुरुषत्व के प्रति दावे करती आई हैं (पर पुरुष होने की ताकत से नहीं, और इन दोनों में भेद स्थापित करना ज़रूरी है) और कर रही हैं। मेरे अनुमान से, हमारे बीच यह चर्चा 'बुच' और 'फैम'[1] शब्दों के उपयोग से शुरु हुई। लेकिन यह चर्चा जल्द ही जटिल होने के साथ–साथ अत्यंत विवादपूर्ण बन गई। तो कुछ लोगों ने इन शब्दों में बदलाव करके 'बुची–फैम्स', फैम्मी–बुचेज़', 'फच' और 'बैम्मे' बना दिया, पर काफी औरतों ने इस शब्दावली को अपनाने से ही इंकार कर दिया, खासकर यदि चर्चा रिश्तों के अंदर दोनों व्यक्तियों की भूमिकाओं से संबंधित होती।

लेकिन इस विषय पर बढ़ती चर्चाओं में यह स्थापित हो गया कि पुरुषत्व और नारीत्व एक व्यक्ति की जेंडर पहचान, उसके अपने शरीर व व्यक्तित्व, उसकी जैंडर अभिव्यक्ति तथा जेंडर व्यवहार से संबंध रखते हैं। यह सभी मुद्दे अपने आप में काफी जटिल हैं लेकिन हमारे जीवन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण भी हैं क्योंकि हमारे आसपास की दुनिया इन्हें देखती है। चूंकि हमारे व्यक्तित्व तथा शरीर की अभिव्यक्ति सांस्कृतिक रूप से नियामक जैंडर पर आधारित है, हमारे लिए खुद को व्यक्त करने के खतरे और भी बढ़ जाते हैं। दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि आम जीवन के तथ्य महिला आंदोलन में भी वैसे ही कायम हैं।

अतः सार्वजनिक एवं निजी स्तरों पर जेंडर व्यवहार के प्रति जेंडर विविधता तथा खुलापन अपनाने में समय लगता है, हांलांकि समाज में रहने के लिए इन्हें मंजूरी प्राप्त रहती है। औरतों द्वारा पुरुषत्व व्यवहार को अक्सर पुरुषों की ताकत स्थापित करने का कारण बनाया जाता है, जो कि जेंडर जैसे जटिल मुद्दे की सरलीकृत व्याख्या है। इस अवधारणा को निरंतर चुनौति दी गई है और ट्रांसजेंडर समूहों व व्यक्तियों के साथ चर्चाओं ने इसमें अब तक अदृश्य कई पहलू जोड़ने में मदद की है।

---

[1] 'बुच' शब्द का उपयोग पुरुषों जैसा व्यक्तित्व रखने वाली लैस्बियन महिलाओं के संदर्भ में किया जाता है और 'फैम' का संदर्भ 'नारीत्व' नियामक व्यक्तित्व के लिए।

इससे मैं अपने दूसरे मुख्य तर्क पर पहुंचती हूं, कि क्वीयर समूहों तथा राजनीति ने महिला आंदोलन/नों का मूल आधार बदल दिया है -- उनका यह विचार की शरीर की एक निर्धारित परिभाषा है और उससे संबंधित राजनीति स्थिर है!

महिलाओं और उनके संदर्भ में वर्ग, समुदाय, जाति आदि को परिभाषित करने के अतिरिक्त, महिला आंदोलनों ने 'लिंग' एवं 'जेंडर' के बीच अंतर किया है, जिसके अंतर्गत यह समझाने की कोशिश की गई है कि 'मर्द' और 'औरत' की अवधारणाएं स्थापित करने में विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं का योगदान है जिनके कारण कई सामाजिक, सांस्कृतिक ताकतों का फर्क इनमें निहित बन जाता है। अतः विभिन्न अभियानों और उनकी राजनीति में विभिन्न स्तरों पर होने वाली सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रभावों पर ध्यान दिया गया है, जो काफी निजी तथा ढांचागत मुद्दों को प्रभावित करते हैं; इसके अतिरिक्त, कैसे इन ताकत के मुद्दों व उनपर आधारित ढांचों से जुड़े मुद्दों को हल करके इस दुनिया को और अधिक तुल्य तथा न्यायसंगत बनाया जा सकता है।

पर अभी तक जो मुद्दा सुलझ नहीं पाया है, वह है यौन संबंधों के नियामक स्वरूप का मुद्दा; कि हम निर्धारित प्रकार के शरीरों में जन्म लेते हैं, कि केवल दो लिंग ही संभव हैं – जिसके कारण कई लोगों को या उनकी यौन अभिव्यक्ति को 'अप्राकृतिक' घोषित कर दिया जाता है और जो नियामक विषमलैंगिकता का आधार बन जाता है, और जो हमारी चाहत को ज़बरदस्ती अपने 'विलोम' के प्रति आकर्षित होने के लिए विवश करता है।

पिछले कुछ वर्षों में एल.बी.टी. समूहों, ट्रांसजेंडर एवं हिजड़ा समूहों तथा कुछ नारीवादियों तथा नारीवादी समूहों ने यह मुद्दे उठाए हैं। यहां तक कि, सातवीं राष्ट्रीय महिला आंदोलनों की संगोष्ठी की तैयारियों के दौरान, हिजड़ा एवं अन्य ट्रांसजेंडर लोगों की भागीदारी एक ज्वलंत मुद्दा रहा। सितंबर 2006 में जब यह संगोष्ठी हुई तब तक काफी हद तक इस मुद्दे पर एक असंतोषजनक सहमति बन चुकी थी कि वे हिजड़ा एवं ट्रांसजेंडर लोग, जो राजनैतिक रूप से महिला के रूप में अभिव्यक्ति करते हैं, वे संगोष्ठी में भाग ले सकते हैं।

अंततः कई हिजड़ा एवं ट्रांसजेंडर लोगों ने संगोष्ठी में भाग लिया और उनके महिलाओं के मुद्दों की समानता पर काफी चर्चाएं भी हुईं। 'जेंडर पर सवाल' नामक एक सत्र में इस विषय पर चर्चा हुई कि क्या जन्म के आधार पर स्त्रीलिंग की श्रेणी को हटा दिया जाना चाहिए, और अगर हां तो महिला समूहों और कार्यकर्ताओं के लिए इसके क्या परिणाम होंगे। संगोष्ठी के समापन सत्र में महिला आंदोलनों के समक्ष इन चुनौतियों को स्वीकार किया गया और यह माना गया कि इससे 'महिला' होने के राजनैतिक विषय पर कई सवाल उठते हैं। इस संगोष्ठी के मंच से दलित महिलाओं, विकलांग

महिलाओं, यौन कर्मियों के साथ–साथ लैस्बियन एवं ट्रांसजेंडर महिलाओं ने भी 'महिला' होने के नए आयामों के आधार पर समाज में अपनी जगह बनाने का आह्वान किया।

अब यहां से हम आगे कैसे बढ़ें? हम, नारीवादी होने के नाते, इतिहास के एक ऐसे रोमांचक मोड़ पर खड़े हैं जब जैंडर एवं लिंग की नई परिभाषाएं हमारी अपनी अवधारणाओं को पुनः परिभाषित करने पर मजबूर कर रही हैं। इससे उठने वाले जटिल सवालों के उत्तर ढूंढना असान नहीं है। खासकर ऐसी स्थिति में, जहां नारीवाद की पारंपरिक परिभाषा पर ही प्रतिघात हो रहे हैं। कोशिश यह है कि अब तक विकसित हुई समझ खोए बिना आगे का रास्ता ढूंढा जाए।

इसका सबसे सकारात्मक पहलू यह है कि यौनिकता एवं जेंडर से जुड़े मुद्दे धीरे–धीरे, लेकिन निरंतर बदलाव की नई राजनीति का हिस्सा बनते जा रहे हैं। आज हमारे सामने केवल यह उद्देश्य नहीं है कि विविध यौनिकताओं और जेंडर के परिपेक्ष्य में दुनिया को और तुल्य तथा न्यायोचित बनाया जाए, बल्कि यह भी कि यौनिकता एवं जैंडर की सामाजिक–राजनैतिक और सांस्कृतिक परिभाषाएं भी बदलें।

अनुवाद : सोमिन्द्र कुमार
लोकेश चन्द्र दयानी

ट्रांसजेन्डर, कानून एवं नागरिक अधिकार

आलोक गुप्ता

परिचय

ऐसा कितनी बार होता है कि जब हम बैठकर अपने जेन्डर या यौनिक पहचान के बारे में स्वयं से प्रश्न करते हैं? क्या हमारा जेन्डर और हमारी यौनिक पहचान जन्म के समय से हमें प्राप्त लैंगिक पहचान के समान ही होती है? क्या यह हमारे जैविक लिंग से अलग कोई स्वतंत्र पहचान का रूप नहीं ले सकती! हममें से अधिकांश लोग विस्तृत जानकारी के अभाव में यह मान लेते हैं कि हमारी यौनिकता, जिसमें हमारा लिंग, यौन व्यवहार और यौन इच्छायें शामिल हैं, का निर्धारण हमारे जन्म के समय किसी जैनेटिक अंतक्षेप के कारण 'प्राकृतिक' प्रक्रिया के रूप में होता है और इसे बदला नहीं जा सकता। हमें आरंभ से ही स्त्री व पुरुष, इन दो लिंगों की उपस्थिति और दोनों से जुड़ी अलग–अलग भूमिकाओं को मानना सिखाया जाता है। यह विषय तब और अधिक जटिल हो जाता है जब कुछ लोग लिंग और जैन्डर की इन जैविक मान्यताओं और उनसे जुड़ी भूमिकाओं पर प्रश्न खड़े करना आरंभ कर देते हैं।

आईये हम अपने बचपन के आरंभिक दिनों पर गौर करें। आपके विचार से क्यों लड़के ही कार और लड़ाकू विमानों जैसे खतरनाक और कठोर खिलौनों से खेलते हैं जबकि लड़कियों के लिए सुन्दर गुड़ियाओं और खिलौनाघरों से खेलना 'प्राकृतिक' माना जाता है। हमारे माता–पिता और समाज, लड़कों के लिए 'कठोर' और लड़कियों के लिए 'सरल' खिलौनों से खेलने को बढ़ावा देकर, जैन्डर के इस वर्गीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। बच्चे को इन दोनों विकल्पों में से किसी एक को चुनने का अवसर नहीं दिया जाता। इस प्रकार हमारा सामाजिक निर्माण या समाज के साथ हमारे व्यवहार, हमारे बड़े होने का परिवेश और वातावरण भी हमारे जैन्डर और हमारी यौनिक पहचान को निर्धारित करने में समान रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

हाल ही में टेलीविज़न पर एक विज्ञापन दिखाया जाता था जिसमें विज्ञापन का नायक एक सुन्दर महिला के प्रणय निवेदन को अस्वीकार कर देता है क्योंकि उसे पता चल चुका है कि यह आकर्षक नारी एक समय में पुरुष हुआ करती थी। यह विज्ञापन देखकर हम सभी आनन्दित होते हैं परन्तु यह इतनी हास्यपूर्ण स्थिति नहीं है। एक घटना के रूप में ट्रांससैक्सुअॅल होने के बारे में अभी हमारे समाज में पर्याप्त जानकारी विकसित नहीं हो पाई है और यही कारण है कि हम इतनी सरलता से स्वयं को इससे अलग कर पाते हैं और ऐसी घटनाओं पर हँस सकते हैं।

आलोक गुप्ता, ट्रान्सजेन्डर, लॉ एण्ड सिविल राइट्स, लॉयर्स कलेक्टिव, 2002

कोई भी व्यक्ति ट्रांससैक्सुअॅल तब माना जाता है जब उसके आंतरिक और बाहरी अंग तो किसी एक विशेष लिंग के हों परन्तु मन ही मन में उसे यह पूरा विश्वास हो कि वह दूसरे विपरीत लिंग से संबंध रखता है। आमतौर पर इस प्रकार के दृढ़ विश्वास के साथ–साथ उस व्यक्ति के मन में अपनी शारीरिक दिखावट को बदलने की इच्छा भी सदैव बलवती रहती है ताकि वह अपने इच्छित लिंग की तरह दिखाई दे। ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों और ट्रांसवैस्टाइट व्यक्तियों में बहुत अंतर होता है। ट्रांसवैस्टाइट व्यक्ति विपरीत लिंग के अनुसार वेशभूषा धारण कर (कभी–कभी या प्रायः) उस लिंग का होने की इच्छा व्यक्त करते हैं। वे अपने लिंग में परिवर्तन की इच्छा किए बिना ही विपरीत लिंग की जेन्डर पहचान को भी अपना लेते हैं। ट्रांससैक्सुअॅल होना यौनिक इच्छाओं का प्रतीक नहीं होता। एक ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्ति विषमलैंगिक, द्विलिंगी या फिर समलैंगिक स्त्री अथवा पुरुष भी हो सकता है।

वास्तविकता तो यह है कि हमारा समाज पूरे विश्व में सबसे अधिक दिखाई पड़ने वाली ट्रांसजेन्डर सभ्यता के व्यक्तियों – हिजड़ा समुदाय – का घर है। हिजड़ों को भले ही भारतीय समाज में स्वीकार कर लिया गया हो परन्तु वे सामाजिक दृष्टि से सबसे उपेक्षित वर्ग हैं जिसके कारण वह न केवल यौन रूप से बल्कि सामाजिक रूप से भी अत्यधिक उपेक्षित अल्पसंख्यक बन गये हैं। इस लेख में मैं भारतीय समाज में ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों और हिजड़ों द्वारा अपनी वैकल्पिक जेन्डर भूमिकाओं की पहचान करने और उनकी माँग करने से संबंधित दो मुख्य कानूनी पहलुओं पर चर्चा करूँगा। यह दो कानूनी पहलू इस प्रकार हैं :

अ) लिंगविच्छेन और लिंग परिवर्तन ऑपरेशन के लिए चिकित्सा सुविधाओं तक पहुँच तथा

ब) पहचान पत्रों और दस्तावेजों में नाम और लिंग की जानकारी को बदलना।

भारत में लिंग परिवर्तन के ऑपरेशन

भारत में कानून ट्रांससैक्सुअॅल होने की स्थिति की पहचान नहीं करता। यहाँ आज तक जेन्डर, लिंग और यौनिक इच्छाओं को समझने के लिए सामाजिक निर्माण के सिद्धान्तों की जानकारी दिए जाने की कानूनी प्रक्रिया कभी–भी आरंभ नहीं की गई। इसलिए कानून इन विषयों पर पूरी तरह मौन है।

लिंग परिवर्तन ऑपरेशन किसी भी ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्ति के जीवन की महत्वपूर्ण घटना होती है परन्तु कानूनी रूप से भारत में यह गैर–कानूनी है। भारतीय दंड विधान की धारा 320 के अंतर्गत किसी का लिंग विच्छेन करना उसे गंभीर चोट पहुचाने के समान है जिसके लिए सजा का प्रावधान है। भारतीय दंड विधान की धारा 322 के अंतर्गत तो जानबूझ कर गंभीर चोट पहुँचाना भी एक दंडनीय अपराध है। इसलिए यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा (और सहमति) से स्वयं का

लिंग विच्छेन करवाना चाहे तो भी कानून की इन धाराओं के तहत ऐसा करने वाला डॉक्टर दंड का अधिकारी होगा और लिंग विच्छेन कराने वाला व्यक्ति को इस अपराध में सहयोग करने के लिए दंडित किया जा सकता है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भारत में लिंग परिवर्तन ऑपरेशन उपलब्ध नहीं है। इस तरह के ऑपरेशन किए तो जाते हैं परन्तु गोपनीयता के साथ। उदाहरण के लिए 'लिंग विच्छेदन' (पुरुष से महिला बनने के लिए आवश्यक) और 'स्तन विच्छेदन' (महिला से पुरुष बनने के लिए आवश्यक) के ऑपरेशन को, केवल कैंसर का खतरा होने जैसी स्थिति में ही कानूनी ठहराया जा सकता है। इसलिए भारत में आमतौर पर डॉक्टर ऑपरेशन से पहले ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों और हिजड़ों से इस सहमति पत्र पर हस्ताक्षर करवा लेते हैं कि उन्हें कैन्सर जैसी जटिलतायें हैं और इसीलिए ऑपरेशन की आवश्यकता है। यह चिकित्सीय और कानूनी, दोनों नैतिकताओं का सीधा उल्लंघन है।

केवल डॉक्टरों को ही इस स्थिति के लिए पूरी तरह दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह तो उपयुक्त दिशा–निर्देशों के अभाव में केवल संभावित विकल्प ही खोज रहे होते हैं। भारतीय चिकित्सा परिषद भी ट्रांससैक्सुअॅल व्यवहार के विषय पर पूरी तरह मौन है। इसके परिणामस्वरूप दो प्रकार की घटनायें हो रही हैं। लिंग परिवर्तन का ऑपरेशन एक अत्यंत जटिल ऑपरेशन होता है जिसके लिए कठोर नियमों और दिशा–निर्देशों का पालन आवश्यक होता है। भारत में इन्हीं नियमों और दिशा–निर्देशों के अभाव में अस्थाई रूप से बहुत सी अपूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं। उदाहरण के लिए इस पूरी प्रक्रिया में परामर्श कार्यों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है परन्तु भारत में ट्रॉंसजेन्डर लोगों को शायद ही कभी परामर्श दिया जाता हो।

लिंग परिवर्तन का ऑपरेशन अत्यंत महंगा होता है इसलिए इसे करवाना ही कठिन होता है जिसके कारण यह आम आदमी की पहुँच से दूर और विलासिता पूर्ण उपचार बनकर रह जाता है।

अधिकांश हिजड़े (सभी नहीं) आमतौर पर लिंग विच्छेदन करवाते हैं परन्तु इस प्रक्रिया के आपराधिक होने के कारण हिजड़े लिंग बिच्छेदन के लिए सुरक्षित और स्वच्छ सुविधाओं का कानूनी रूप से प्रयोग नहीं कर सकते। वे हिजड़े ही (जिनकी वास्तविक संख्या बहुत कम है) लिंग विच्छेदन जैसे ऑपरेशन करवा पाने में सफल पाते हैं जो इस ऑपरेशन के लिए संसाधन इक्कठे कर सकें और यदि कोई चिकित्सक उनका यह ऑपरेशन करने को तैयार भी हो जाए। परन्तु फिर भी इस प्रकार के ऑपरेशन चोरी–छुपे ही किए जाते हैं जिसमें गुणवत्ता, कुशलता और उत्तरदायित्व को कोई स्थान नहीं होता। इसी स्थिति का परिणाम है कि देशभर में अधिकांश हिजड़े अभी भी लिंग विच्छेदन की पारंपरिक विधियाँ अपनाते हैं जिनका

परिणाम प्रायः जानलेवा होता है। यह उच्चतम न्यायालय द्वारा जीवन के अधिकार के रूप में स्थापित स्वास्थ्य देखभाल के अधिकार का सीधा उल्लंघन है।

इस दिशा में सबसे पहले सरकार और न्यायपालिका यह उत्तरदायित्व बन जाता है कि वह 'स्वैच्छिक रूप से लिंग विच्छेदन' करवाये जाने को आपराधिक न माने और किसी भी प्रकार की अपूर्ण प्रक्रियाओं या अस्थाई परिस्थितियों को रोकने के लिए लिंग परिवर्तन ऑपरेशन तथा लिंग विच्छेदन किए जाने की कानूनी और नैतिक व्यवस्थायें स्थापित करे। इस प्रकार के ऑपरेशनों को व्यापक, कुशल, उपलब्ध और कम खर्चीला बनाने के लिए स्पष्ट कार्ययोजना की आवश्यकता है जो इसे आपराधिक न माने जाने की कानूनी आवश्यकता की माँग करे।

यौन पहचान की स्वतंत्रता का अधिकार

ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों और हिजड़ा समुदाय के एकीकरण की दिशा में सरकार एवं न्यायपालिका द्वारा उठाया जाने वाला दूसरा महत्वपूर्ण कदम यह है कि इन लोगों को सरकारी दस्तावेजों में अपनी यौनिक पहचान में परिवर्तन करने की अनुमति दी जाए। भारत में हिजड़े प्रायः स्वयं को तीसरे लिंग के अंतर्गत समझते हैं जबकि कुछ लोग उन्हें महिलायें मानते हैं। उन्हें 'तीसरे लिंग' का माने जाने के बारे में कानून पूरी तरह से मौन है यद्यपि इस बारे में हिजड़ा समुदाय द्वारा बार-बार माँग उठाई जाती रही है। इसी तरह ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों को भी लिंग परिवर्तन ऑपरेशन के दौरान या इसके बाद महिला से पुरुष या पुरुष से महिला के रूप में अपनी आधिकारिक पहचान को परिवर्तित करने का कोई अवसर नहीं मिलता।

इस प्रकार की अनुमति न मिलने के अत्यंत गंभीर परिणाम होते हैं। भारतीय प्रशासन प्रक्रिया में पंजीकरण और नाम दर्ज कराने के प्रत्येक मामले में स्वयं को पुरुष या महिला घोषित करना आवश्यक होता है। हिजड़े, जो स्वयं को न तो स्त्री मानते हैं और न ही पुरुष, की पहचान हिजड़ों के रूप में किए जाने का कोई विकल्प उपलब्ध नहीं होता। इसके कारण हिजड़े भारतीय समाज के ताने-बाने से पूरी तरह अलग-थलग पड़ जाते हैं। उनके साथ शिक्षा, रोजगार और स्वास्थ्य देखभाल सुविधायें देते समय बहुत अधिक भेदभाव किया जाता है जोकि उनके मूल अधिकारों का सीधा एवं स्पष्ट रूप से हनन है।

यहाँ समस्या का मूल यह है कि कानून, यौनिक पहचान को केवल जन्म के समय जैविक परिभाषाओं के आधार पर निर्धारित लिंग के रूप में ही स्वीकार करता है। उदाहरण के लिए कार्बेट बनाम कार्बेट (प्रोबेट, डायवोर्स और एडमिरैलिटी संभाग के समक्ष प्रस्तुत 2 फरवरी, 1970 का मामला) मामले में यह निर्णय दिया गया था कि किसी व्यक्ति के लिंग का निर्धारण जन्म के समय स्थापित जीव वैज्ञानिक मानकों के अंतर्गत ही किया जाना चाहिए और उस व्यक्ति की मानसिक यौन

प्रवृत्तियों पर कोई ध्यान न दिया जाए। व्यक्ति की आधिकारिक पहचान और उसके दिखने के इस अंतर से बहुत सी कानूनी और सामाजिक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं।

पहचान के आधिकारिक दस्तावेजों से व्यक्ति को नागरिक पहचान मिलती है। भारतीय समाज द्वारा किसी व्यक्ति की नागरिक पहचान स्थापित किए जाने में उसकी लैंगिक पहचान एक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य श्रेणी होता है। जन्म प्रमाण–पत्र, पासपोर्ट या राशन कार्ड जैसे पहचान दस्तावेज किसी भी व्यक्ति द्वारा नागरिक या सरकारी संबंधों – ड्राईविंग लाइसेंस प्राप्त करने, कानूनी सेवायें लेने, रोज़गार प्राप्त करने, विश्व विद्यालय में दाखिला प्राप्त करने और स्वास्थ्य देखभाल जैसे आवश्यक लाभ पाने – के लिए आवश्यक होते हैं।

एक बहुत ही रोचक मामले (12 अक्टूबर, 2001 को आस्ट्रेलिया के परिवार न्यायालय में न्यायमूर्ति चिशहोल्म के समक्ष प्रस्तुत कैविन का मामला) में ऑपरेशन के बाद स्त्री से पुरुष बने ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्ति ने एक अन्य महिला के साथ अपने संबंधों को साबित कर दिया। इस व्यक्ति ने लिंग परिवर्तन ऑपरेशन के अंतिम चरण, जिसमें पुरुष प्रजनन लिंग निर्मित किया जाता है (यह भी स्वयं में एक बड़ी ही जटिल, महंगी और खतरनाक प्रक्रिया है), को पूरा नहीं किया था। न्यायालय ने कार्बेट जैसे मामलों में दिए गए निर्णय को अस्वीकार करते हुए कहा कि कार्बेट के मामले में ये विचार इस मान्यता पर आधारित हैं कि किसी भी व्यक्ति का लिंग निर्धारण जन्म के समय ही हो जाता है जिसे किसी भी ऑपरेशन या चिकित्सीय अंतक्षेप से बदला नहीं जा सकता और व्यक्ति के स्वयं के बारे में दृष्टिकोण व समाज में उसकी भूमिका भी अप्रासांगिक होती है। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि इस प्रकार का दृष्टिकोण उचित नहीं है।

लिंग परिवर्तन ऑपरेशन का समर्थन करते हुए न्यायालय ने कहा कि 'लिंग परिवर्तन ऑपरेशन को स्वीकार करने से संबंधित व्यक्ति के अधिकारों का आदर होता है। कभी–कभी इन्हें मानवाधिकारों के रूप में परिभाषित किया जाता है। लिंग परिवर्तन ऑपरेशन को स्वीकार करने से उस व्यक्ति को स्वयं को समाज के साथ एकीकृत करने में सहायता मिलती है। अपने परिवर्तित लिंग में उन व्यक्तियों के समाज में अधिक आराम से रहने और योगदान करने की संभावनायें बढ़ जाती हैं।

अन्य देशों जैसे कनाडा, अमरीका, न्यूज़ीलैण्ड और सिंगापुर में भी इसी प्रकार के सकारात्मक न्यायिक मामले देखे जा रहे हैं। इसलिए यह सुनिश्चित करना प्रशासन का दायित्व हो जाता है कि जेन्डर पहचान का प्रयोग कर किसी को भी नागरिक स्वीकार्यता से वंचित न रखा जाए। किसी व्यक्ति की जेन्डर और लैंगिक पहचान को समाहित करने वाले आवश्यक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों के

आधार पर जेन्डर पहचान की व्यापक परिभाषा का निर्धारण करने की दिशा में मैं 'जेन्डर पहचान' की उस परिभाषा की ओर संकेत करना चाहूँगा जिसे समान अवसर (जेन्डर पहचान तथा यौनिक व्यवहार) अधिनियम के अंतर्गत तैयार किया गया और जिस पर वर्ष 2000 में आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य की असैम्बली में चर्चा कर परिशोधित किया गया।

'जेन्डर पहचान' का अर्थ होगा:

किसी विशेष लिंग के व्यक्ति को प्रमाणिक रूप से विपरीत लिंग का व्यक्ति (भले ही उस व्यक्ति की पहचान इस प्रकार की जाती हो अथवा नहीं) उन परिस्थितियों में माना जा सकता है यदि उसने विपरीत लिंग की विशेषतायें अपना ली हों या फिर वह विपरीत लिंग के व्यक्ति की तरह रहता हो अथवा रहने की इच्छा रखता हो।

अथवा

किसी माध्यमिक लिंग के व्यक्ति को प्रमाणिक रूप से किसी विशेष लिंग से संबंध रखने वाला व्यक्ति (भले ही उस व्यक्ति की पहचान इस प्रकार की जाती हो अथवा नहीं) उन परिस्थितियों में माना जा सकता है यदि उसने चिकित्सीय उपचार, वेषभूषा या अन्य किसी प्रकार से उस विशेष लिंग की विशेषतायें अपना ली हों या फिर वह विशेष लिंग के व्यक्ति की तरह रहता हो अथवा रहने की इच्छा रखता हो।

'यौनिक पहचान' मानवीय व्यवहार का एक आवश्यक अंग है और भारतीय संविधान के अंतर्गत विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार में निहित है। हिजड़ों, ट्रांसजेन्डर और ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों को भारत के समान अधिकार प्राप्त नागरिकों के रूप में पहचानने के लिए भारतीय न्यायपालिका और विधायिका में भी मानव जीवन की इन जटिलताओं के बारे में पर्याप्त समझ का विकास आवश्यक है।

हिजड़े और नागरिक अधिकार

हिजड़े अपने जीवन यापन के लिए प्रायः नाचने, भीख माँगने और वेश्यावृत्ति का मार्ग अपनाते हैं। उन्हें लगातार पुलिस के उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है और उन पर शान्ति भंग करने, यौन-कर्म करने या यौन कर्म के लिए ग्राहक खोजने के आरोप लगाये जाते हैं। एचआईवी/एड्स तथा अन्य यौन संचारित रोगों के प्रसार के कारण इन रोगों के प्रति हिजड़ों की संवेदनशीलता बढ़ गई है। इसका मुख्य कारण असुरक्षित यौन संबंधों की अधिकता है जो इन असमान परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न होती है।

एचआईवी/एड्स पर नियंत्रण के अधिकार आधारित दृष्टिकोण में यह माना जाता है कि एचआईवी/एड्स के प्रति सबसे अधिक संवेदनशील लोगों के नागरिक और मानवाधिकारों को सुरक्षित रखना ही इस जीवाणु पर नियंत्रण का सबसे उत्तम तरीका है। जनसांख्यिकीय आँकड़ों से भी इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। भारतीय कानून में हिजड़ा समुदाय के साथ भेदभाव बरतने की प्रक्रिया लगातार जारी है जबकि इसे तो उनकी सुरक्षा और सहयोग का साधन होना चाहिए।

हिजड़ा समुदाय को सशक्त करने के नए मार्ग खोजे जाने चाहिए। उनमें सामाजिक और नागरिक सेवाओं के समान वितरण, जिसमें एचआईवी/एड्स जैसी महामारियों के बारे में जानकारी और देखभाल सुविधायें सम्मिलित हैं, के लिए भी नए माध्यम विकसित किए जाएं। नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का अधिनियम ऐसा ही एक माध्यम है। इस अधिनियम में 'अस्पृश्यता' के संदर्भ में भेदभाव न किए जाने पर बल दिया गया है। 1876 के अस्पृश्यता अधिनियम में 1955 में संशोधन कर इस वर्तमान अधिनियम को लागू किया गया। इस संशोधित अधिनियम में 'अस्पृश्यता' शब्द को 'नागरिक अधिकार' शब्द में बदल दिया गया। 1955 के इस संशोधित नियम में 'नागरिक अधिकारों' के आधार को और वृहत्त करने के स्थान पर इसे अभी भी 'अस्पृश्यता' के संदर्भ में सीमित रखा जाना जारी है।

नागरिक अधिकारों की परिभाषा को सीमित रखते हुए यह अधिनियम बहुत सी अन्य वास्तविकताओं को नज़रअंदाज करता है। भारतीय समाज में भेदभाव केवल 'अस्पृश्य लोगों' से भय तक सीमित नहीं है बल्कि इसमें समलैंगिकों और ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों के प्रति घृणा, यौनिकता और जेन्डर के पितृसत्तात्मक और विषमलैंगिक मानक तथा किसी भी प्रकार के वैकल्पिक यौन व्यवहारों को स्वीकार करने के प्रति द्वेष भी सम्मिलित है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि अपने जेन्डर, यौन इच्छाओं, कार्यों और व्यवहारों के कारण सामाजिक भेदभाव के शिकार लोगों को समान नागरिक एवं मानवाधिकार दिए जाने के लिए वैधानिक सुरक्षा कवच तैयार हो। हमारे समाज में हिजड़ों की स्थिति पूरे भारतीय इतिहास में अस्पृश्य और दलित लोगों की स्थिति से अलग नहीं है इसलिए और एचआईवी/एड्स रोगों के खतरों को देखते हुए, हिजड़ा समुदाय इस प्रकार के सकारात्मक वैधानिक कार्यों से समर्थन का प्रमुख पात्र बन जाता है।

यह आवश्यक है कि लिंग परिवर्तन ऑपरेशन को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए चिकित्सीय मानक और पद्धतियाँ निर्धारित की जायें तथा विभिन्न आर्थिक परिप्रेक्ष्य वाले सभी लोगों के लिए इन ऑपरेशनों को सुलभ बनाया जाए। हिजड़ों और ट्रांससैक्सुअॅल व्यक्तियों द्वारा अपनी इच्छानुसार किसी भी जेन्डर पहचान का भाग बनने के लिए सरल प्रक्रियायें स्थापित की जानी चाहिए। इस महत्वपूर्ण कदम से न केवल उनके नागरिक और राजनीतिक अधिकारों में वृद्धि होगी बल्कि

इससे वे समाज की मुख्यधारा से भी जुड़ पायेंगे। इस पूरे विषय पर मेरा संक्षिप्त शोधपत्र केवल यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक हम ट्रांसजेन्डर व्यवहार को कानूनी रूप से स्वीकार कर उन्हें समान चिकित्सीय एवं प्रशासनिक अधिकार प्रदान नहीं करते, तब तक हम मूल भेदभाव को पूरी तरह से हटाने में सफल नहीं हो सकते।

भारतीय दण्ड विधान की धारा 377 पर ऐतिहासिक निर्णय की प्रक्रिया का विवरण

नाज़ फाउण्डेशन बनाम भारत सरकार व अन्य

रिट् याचिका (सी) 7455/2001 – निर्णय की तारीख : 2 जुलाई 2009

धारा 377 के कानून का संक्षिप्त ब्यौरा

भारतीय दण्ड विधान की धारा 377 को लॉर्ड मैकॉले ने तैयार किया और इसे ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के दौरान 1860 में लागू किया गया। भारतीय दण्ड विधान की धारा 377 को "अप्राकृतिक अपराधों" के अलग उप अध्याय में शामिल किया गया। इस धारा में लिखा है कि:

> "377 : अप्राकृतिक अपराध – किसी भी पुरुष, महिला या जानवर के साथ अप्राकृतिक रूप से शारीरिक संबंध बनाने वाले व्यक्ति को आजीवन कारावास का दण्ड दिया जा सकता है, या ऐसी किसी भी समयावधि तक के लिए जेल में डाला जा सकता है जो 10 वर्ष तक हो सकती है। साथ ही इस व्यक्ति को जुर्माना भरने का दण्ड भी दिया जा सकता है।
>
> "व्याख्या – शिश्न का प्रवेश होने को इस धारा में वर्णित अपराध के लिए पर्याप्त रूप से संभोग करना समझा जा सकता है"।

कानून में 'अप्राकृतिक रूप से यौन संबंध बनाना या संभोग करने को अपराध माना गया है'। न्यायपालिका ने योनि में शिश्न के प्रवेश के अलावा हर तरह से संभोग किए जाने या यौन गतिविधियों को इस अपराध के अंतर्गत शामिल किया। इसमें गुदा रौका, मौखिक सैक्स और यहाँ तक कि यौन साथियों द्वारा परस्पर एक दूसरे का हस्तमैथुन करना भी शामिल है। व्यावहारिक रूप से इस कानून का प्रयोग लगभग हमेशा ही केवल समलैंगिकों और दूसरे अल्पसंख्यक यौन समूहों के विरुद्ध किया जाता रहा है और इसे लेस्बियन, गे, बाईसैक्सुअॅल और ट्रांसजेंडर लोगों अर्थात समलैंगिक महिलाओं, पुरुषों, द्विलिंगियों और अंतरलिंगी लोगों को डराने–धमकाने और प्रताड़ित करने के हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है।

मामले से संबंधित पक्ष

याचिकाकर्ता नाज़ फाउण्डेशन एचआईवी/एड्स की रोकथाम कार्यों के प्रयास और पुरुषों के साथ सैक्स करने वाले पुरुषों के समुदाय के बीच अंतक्षेप करने के प्रति समर्पित एक गैर–सरकारी संगठन है। इस संगठन ने धारा 377 की संवैधानिकता को चुनौती देती हुए एक जनहित याचिका दायर की। याचिकाकर्ता का तर्क था कि इस कानून के कारण सामुदायिक स्वास्थ्य बनाए रखने के अंतर्गत एचआईवी/एड्स की रोकथाम के प्रयासों पर विपरीत असर पड़ता है और इसी कारण से पुरुषों के साथ संबंध रखने वाले पुरुषों के समुदाय के स्वास्थ्य के अधिकार का उल्लंघन होता है।[1]

---

1 अ स्कीमैटिक गाइड, द राइट दैट डेयर्स टू स्पीक इट्स नेम, नाज़ फाउंडेशन बनाम यूनियन आफ इंडिया एवं अन्य, आल्टरनेटिव ला फोरम प्रकाशन, बंगलोर, 2009, हिन्दी अनुवाद : रोगेन्द्र कुमार

सामुदायिक स्वास्थ्य के तर्क का पक्ष लेते हुए धारा 377 का विरोध किया। गृह मंत्रालय का यह तर्क था कि कानून समाज से और सामाजिक परिस्थितियों से अलग नहीं हो सकता और भारतीय दण्ड विधान की धारा 377 से भारतीय समाज के मूल्य और नैतिकता परिलक्षित होती है।

स्वास्थ्य मंत्रालय के एक उप विभाग राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण संगठन (नैको) ने नाज़ फाउण्डेशन द्वारा याचिका में रखे विचारों को सही ठहराते हुए एक शपथ पत्र दायर किया कि धारा 377 के कारण वास्तव में सामुदायिक स्वास्थ्य बनाए रखने के अंतर्गत एचआईवी/एड्स की रोकथाम के प्रयासों पर विपरीत असर पड़ता है। नैको ने कहा कि धारा 377 के जारी रहने के कारण समाज में अधिक जोखिम वाली गतिविधियाँ चोरी छिपे की जाती हैं और इस कारण से एचआईवी संक्रमण के जोखिम की संवेदनशीलता का सामना कर रहे लोगों के लिए आवश्यक जानकारियाँ और सेवाएं उपलब्ध करा पाना बहुत ही कठिन हो जाता है।

वॉयसेज़ अगेन्स्ट 377 समूह महिला अधिकारों, बाल अधिकारों और एलजीबीटी लोगों के 12 समूहों का मिला-जुला गठबंधन है जो धारा 377 द्वारा एलजीबीटी लोगों की जीवनशैली को आपराधिक समझे जाने को समाप्त करने के प्रति समर्पित था। अपने शपथ पत्र में इस समूह ने भी इसी तर्क को आगे बढ़ाया कि धारा 377 के कारण समलैंगिक यौन इच्छाएं रखने वाले लोगों के प्रति आपराधिक दुर्भावना निर्मित होती है और इस कानून के जारी रहने के कारण एलजीबीटी समुदाय के मौलिक अधिकारों के हनन का वातावरण निर्मित होता है और ऐसे दमनकारी वातावरण के निर्माण में सहयोग मिलता है।

भारतीय जनता पार्टी से संबद्ध एक पूर्व राजनेता, श्री बी.पी. सिंघल ने भी एक शपथ पत्र दायर किया और यह विचार प्रस्तुत किया कि भारतीय समाज में समलैंगिकता को अनैतिक और घृणास्पद माना जाता है और इसे भारतीय समाज की सांस्कृतिक मान्यताओं के विपरीत समझा जाता है और इसीलिए समलैंगिकता को आपराधिक समझा जाना चाहिए।

ज्वाइंट एक्शन कमेटी, कन्नूर (जैक) ने नाज़ फाउण्डेशन और नैको द्वारा प्रस्तुत विचारों का विरोध करते हुए एक शपथ पत्र दायर किया और यह कहा कि धारा 377 के कारण एचआईवी/एड्स की रोकथाम तथा उपचार कार्यों पर विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। इस पक्ष का यह मानना था कि धारा 377 के कारण तो वास्तव में एचआईवी के प्रसार की रोकथाम में सहायता मिलती है क्योंकि इस कानून की मौजूदगी के कारण लोग जोखिमपूर्ण यौन गतिविधियां करने से डरते हैं। जैक पक्ष ने इस बात से भी इंकार किया कि एचआईवी के कारण एड्स रोग होता है।

इस याचिका के अन्य पक्षों में राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली की सरकार, दिल्ली राज्य एड्स नियंत्रण सोसायटी और दिल्ली पुलिस के कमिश्नर भी शामिल थे लेकिन इन पक्षों ने कोई शपथ-पत्र या लिखित बयान अदालत के सामने प्रस्तुत नहीं किया।

न्यायाधीशों की खंडपीठ का ब्यौरा

इस मामले पर दिल्ली उच्च न्यायालय के दो न्यायाधीशों की खंडपीठ द्वारा विचार किया गया जिसमें मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति ए.पी. शाह तथा न्यायमूर्ति डा. एस. मुरलीधर मनोनीत थे।

मुख्य न्यायाधीश, न्यायमूर्ति शाह ने 'बोलने और विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता, पर्यावरण से जुड़े अधिकारों, विकलांगों के अधिकारों और महिला अधिकारों' जैसे विषयों के बारे में बहुत से महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं। आनन्द पटवर्धन बनाम भारत सरकार, 1977 (1) बीसीआर 90, तथा आनन्द पटवर्धन बनाम भारत सरकार, 1997 (3) बीसीआर 438 मामलों के निर्णयों में आपके द्वारा रखे गए

विचार बहुत अधिक महत्वपूर्ण थे जिसमें न्यायालय ने सरकार द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित 'इन मैमोरी ऑफ फ्रैन्ड्स' (पंजाब में आतंकवाद तथा हिंसा के विषय पर आधारित) और 'राम के नाम' (अयोध्या मामले पर आधारित) फिल्म डाक्युमैन्ट्री को टेलीविज़न पर प्रसारित न करने के आदेशों को निरस्त कर दिया था और दूरदर्शन को इन डाक्युमैन्ट्रियों का प्रसारण करने का निर्देश दिया था। आपने सेंसर बोर्ड द्वारा हाल ही के गुजरात दंगों के विषय पर बनाई गई डाक्युमैन्ट्री 'अक्रोश' को जारी न करने के निर्णय को भी गलत ठहराते हुए यह निर्णय दिया कि इस फिल्म को सेंसर बोर्ड द्वारा प्रमाण पत्र दिया जाए।

दिल्ली उच्च न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति से पहले न्यायमूर्ति मुरलीधर मानवाधिकारों के अधिवक्ता रहे हैं और आपने राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के अधिवक्ता के रूप में काम भी किया है। आप उच्चतम न्यायालय की वैधानिक सेवा समिति में सक्रिय अधिवक्ता रहे और बाद में दो बार इस समिति के सदस्य के रूप में नियुक्त भी हुए। आपने भोपाल गैस त्रासदी से पीड़ित लोगों और नर्मदा नदी पर बनाए जा रहे बाँध के कारण विस्थापित हुए लोगों के न्यायायिक मामलों में निःशुल्क सेवाएं दी। उच्चतम न्यायालय ने अनेक जनहित याचिकाओं और फांसी की सजा पाए अपराधियों के मामलों में आपको कई बार एमिकस क्यूरी अर्थात न्यायालय के मित्र के रूप में मनोनीत किया।

मामले के निर्णय का ब्यौरा

न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि दो वयस्कों के बीच एकांत में आपसी सहमति से बनाए गए यौन संबंधों को आपराधिक मानने से संविधान द्वारा प्रदान आदर, समानता और यौन प्रवृत्तियों के आधार पर भेदभाव से स्वतंत्रता (अनुच्छेद 21, 14 व 15) की गारण्टी का हनन होता है। इस तरह न्यायाधीशों ने धारा 377 की कठोरता को कम करते हुए इसकी व्याख्या इस तरह से की कि अब इस कानून के अंतर्गत एकांत में आपसी सहमति के साथ दो वयस्कों के बीच किए गए सैक्स को आपराधिक नहीं समझा जाता।

लेकिन अपने निर्णय में न्यायाधीशों ने यह भी कहा कि आपसी सहमति के बिना वयस्कों के बीच किए जाने वाले सैक्स और बच्चों के साथ किए जाने वाले किसी भी तरह के सैक्स के विरुद्ध धारा 377 जारी रहेगी। न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि 18 वर्ष से ऊपर के व्यक्ति को वयस्क माना जाएगा जबकि 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को किसी तरह की यौन गतिविधि या सैक्स के लिए अपनी सहमति देने के योग्य नहीं समझा जाएगा।

न्यायालय ने ये आदेश दिए कि इस कानून के बारे में की गई यह व्याख्या संसद द्वारा विधि आयोग की 172वीं रिपोर्ट की सिफारिशों को लागू कर दिए जाने तक जारी रहेगी। विधि आयोग की इस रिपोर्ट में भी बलात्कार से संबंधित कानूनों में संशोधन करने और धारा 377 को खारिज किए जाने की सिफारिश की गई थी।

न्यायालय ने यह आदेश भी दिया कि इस निर्णय के कारण धारा 377 के अंतर्गत पहले निर्णय हो चुके आपराधिक मामलों पर दोबारा सुनवाई आरंभ नहीं की जाएगी।

निर्णय का आधार

न्यायाधीशों ने अपने निर्णय में भारत में और आदर, गोपनीयता, समानता तथा भेदभाव से मुक्ति के अधिकार प्रदान करने वाले कई दूसरे देशों में हुए अनेक प्रगतिवादी निर्णयों का बार-बार उल्लेख किया है। आदर, गोपनीयता, समानता तथा भेदभाव से मुक्ति के यही चार सिद्धांत न्यायालय के

निर्णय का आधार बने। हर व्यक्ति के आदर की सुरक्षा के लिए यह ज़रूरी है कि उसे गोपनीयता का अधिकार मिले जिससे कि व्यक्तिगत स्वायत्तता के मामले में व्यक्ति को राज्य के निरंकुश हस्तक्षेप से सुरक्षा मिल सके। इसी तरह समानता का सिद्धान्त तब तक अर्थहीन होगा जब तक कि किन्हीं विशिष्ट वर्ग के लोगों के विरुद्ध भेदभाव किए जाने पर रोक न लगाई जाए।

न्यायाधीशों ने इस निर्णय में समलैंगिक यौन व्यवहारों के धार्मिक रूप से सही या गलत होने पर विचार न करते हुए 'संवैधानिक नैतिकता' के एक नए विचार को प्रमुखता दी। मुख्य रूप से उनका कहना था कि सरकार को केवल संविधान में बताए गए धर्मनिरपेक्ष मूल्यों तक ही सीमित रहना चाहिए और उसे किसी भी विशिष्ट धर्म के नैतिक मूल्यों से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए।

आदर/गोपनीयता

निर्णय के आरंभ में न्यायालय ने मानवीय सम्मान को एक नए दृष्टिकोण से देखा जिसके अंतर्गत किसी व्यक्ति द्वारा अपने जीवन को जीने के बारे में स्वतंत्र रूप से निर्णय ले पाने की योग्यता को अधिक महत्व दिया गया है।

> "हमें कम से कम यह तो पूरी तरह स्पष्ट है कि संविधान के अंतर्गत आदर को प्रदान सुरक्षा को देखते हुए हमें अपने समाज के सभी सदस्यों के मूल्य और योग्यता को स्वीकार करना होगा। इस संविधानिक सुरक्षा में हर व्यक्ति को एक ऐसा स्वतंत्र प्राणी माना गया है जो अपनी इच्छा के अनुसार अपने शरीर और मन का विकास करता है। आदर की इस भावना का आधार व्यक्तिगत इच्छा की स्वायत्तता और उस व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छा से काम कर पाने की स्वतंत्रता है। मानवीय आदर की भावना के अंतर्गत मनुष्य की शारीरिक और आध्यात्मिक विश्वसनीयता, उसकी मानवीयता और एक व्यक्ति के रूप में उसके मूल्य को स्वीकार किया जाता है भले ही वह दूसरे व्यक्तियों के लिए कुछ कर पाने में सक्षम हो या नहीं"। (निर्णय का अनुच्छेद 26)

आदर के इस विचार को आधार बनाकर न्यायालय ने गोपनीयता के ऐसे सिद्धान्त का निष्कर्ष निकाला जिसमें "स्थान की अपेक्षा व्यक्ति की गोपनीयता" पर ध्यान दिया जाता है। (निर्णय का अनुच्छेद 47) इस विचार का अर्थ यह है कि गोपनीयता के अधिकार का अर्थ केवल यह नहीं है कि किसी व्यक्ति को अपने घर जैसे "व्यक्तिगत स्थान" पर कुछ भी करने का अधिकार हो बल्कि इसमें अपने जीवन को जीने के बारे में निर्णय लेने का अधिकार भी शामिल है। गोपनीयता से व्यक्तिगत स्वायत्तता को सुरक्षा मिलती है।

आदर–स्वायत्तता के इस विचार में यौन प्रवृत्तियों का अधिकार भी शामिल है जिसके अंतर्गत अपनी इच्छा से अनावश्यक सरकारी दखल के बिना यौन साथियों का चुनाव कर पाने का अधिकार है। न्यायविदों ने इस विषय को स्पष्ट करने के लिए गे और लेस्बियन लोगों के राष्ट्रीय गठबंधन बनाम न्यायमंत्री के मामले में दक्षिण अफ्रीका के संवैधानिक न्यायालय द्वारा कही गई बातों का विस्तृत उद्धरण दिया :

> "गोपनीयता का अर्थ यह है कि हम सभी को व्यक्तिगत रूप से अंतरंगता और स्वायत्तता का अधिकार है जिसके आधार पर हम बाहरी समाज के दखल के बिना मानवीय संबंध बना सकें और इनका पालन कर सकें। अपनी यौनिकता को प्रदर्शित करने के तरीके का चयन व्यक्तिगत अंतरंगता के इस पूरे विचार का केन्द्र बिन्दु है। यदि अपनी यौनिकता का पालन करते हुए कोई व्यक्ति दूसरे को नुकसान पहुंचाए बिना उसकी सहमति से कोई

काम करता है तो ऐसे में किसी भी तरह का दखल उसकी गोपनीयता का अतिक्रमण होगा"। (निर्णय का अनुच्छेद 40)

"हर व्यक्ति के मन में, भले ही वह समलैंगिक हो या नहीं, जेंडर और यौनिक प्रवृत्तियों की भावना उसके मानस पर इतनी गहरी बैठी होती हैं कि व्यक्ति अपनी पहचान के इस आयाम को हर जगह अपने साथ लेकर चलता है। कोई व्यक्ति जेंडर या यौन प्रवृत्तियों के बारे में अपनी भावनाओं को घर पर, पीछे छोड़ कर नहीं आ सकता। हर व्यक्ति के इस विशिष्ट मूल्य को पहचानते हुए संविधान यह नहीं मानता कि अधिकारों का प्रयोग करने वाला कोई व्यक्ति एक अलग-थलग, अकेला या अस्पष्ट स्वरूप है जो समाज से टूटे और अलग हुए अपने मानस को साथ लिए चलता है। संविधान मानता है कि लोग अपने शरीर, अपने समुदायों, अपनी संस्कृतियों, अपने स्थान और अपने समय में निवास करते हैं। यौनिकता को जाहिर करने के लिए एक वास्तविक या काल्पनिक साथी की आवश्यकता होती है। राज्य का यह काम नहीं है कि वह उस व्यक्ति के लिए साथी का चुनाव करे या चुनाव करने में सहायता करे बल्कि व्यक्तियों को साथी का चुनाव स्वयं करना होता है"। (निर्णय का अनुच्छेद 47)

उच्चतम न्यायालय द्वारा पूर्व में दिए गए निर्णयों के आधार पर इस मामले में न्यायाधीशों ने आदर और गोपनीयता के अधिकारों को जीवन और स्वतंत्रता के अधिकारों में निहित माना जिनकी गारण्टी भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत दी गई है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जीवन जीने के अधिकार में अपने जीवन को स्वयं परिभाषित करने का अधिकार भी शामिल है।

"भारतीय संविधान में आदर के साथ जीवन जीने और गोपनीयता के अधिकार, दोनों को अनुच्छेद 21 के भाग के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय दण्डविधान की धारा 377 केवल किसी व्यक्ति की यौनिकता के आधार पर उसके आदर के अधिकार का हनन करती है और उसके व्यक्तित्व को आपराधिक मानती है और इसीलिए इससे संविधान के अनुच्छेद 21 का उल्लंघन होता है। अपने वर्तमान स्वरूप में भारतीय दण्डविधान की धारा 377 किसी समलैंगिक व्यक्ति को अपने जीवन को पूरी तरह से जीने का अधिकार नहीं देती जिसका वर्णन संविधान के अनुच्छेद 21 के अंतर्गत स्पष्ट रूप से किया गया है"। (निर्णय का अनुच्छेद 48)

इस तरह न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि धारा 377 संविधान का उल्लंघन करती है न केवल इसलिए क्योंकि यह किसी विशिष्ट गोपनीयता वाले स्थान पर किए जा रहे कामों को आपराधिक मानती है बल्कि इसलिए भी क्योंकि इस धारा के अंतर्गत किसी व्यक्ति द्वारा चुने गए विकल्पों को भी, जो व्यक्तिगत आदर का मूल आधार है, आपराधिक मान लेती है। इसलिए न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि धारा 377 से उस गोपनीयता के अधिकार का उल्लंघन होता है जिसे किसी स्थान और अपने निर्णय के अंतर्गत निर्धारित किया जा सकता है। गोपनीयता के इस विस्तृत विचार के हनन से मानवीय आदर प्रभावित होता है।

न्यायालय ने इसके बाद कई और अध्ययनों और रिपोर्टों का हवाला देकर यह बताया कि किस तरह यदि धारा 377 को कानूनी रूप से लागू न किया जाए तो भी यह समलैंगिक व्यक्तियों के आदर का अतिक्रमण करती है। समलैंगिकों के जीवन में यह अतिक्रमण कानून की इस धारा के कारण स्वयं अपने मन में अपने जीवन के मूल्य के कम हो जाने की भावना के कारण होता है और पुलिस तथा समुदाय द्वारा प्रताड़ित किए जाने के कारण भी होता है। न्यायालय ने कहा :

> "समलैंगिकता को आपराधिक मान लिए जाने से समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग हमेशा के लिए कलंकित हो जाता है और कानून लागू करने वाली राज्य की मशीनरी के हाथों उत्पीड़न, शोषण, शर्मिन्दगी तथा क्रूर व नीचा दिखाए जाने के व्यवहार का सामना करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने को बाध्य हो जाता है"। (निर्णय का अनुच्छेद 52)

न्यायाधीशों ने इस संबंध में साम्राज्यवादी युग के आपराधिक जनजाति अधिनियम का, जिसमें हिजड़ा समुदाय को अपराधी माना गया था, विशेष उल्लेख करते हुए इसे यौनिक अल्पसंख्यकों को अपराधी माने जाने का भयावह उदाहरण बताया। यदि इन्हें वास्तविक रूप में लागू न भी किया जाए, तो भी धारा 377 जैसे कानूनों से समाज का एक पूरा वर्ग कलंकित हो जाता है, जिसके कारण नागरिकों के रूप में उनके आदर का हनन होता है।

समानता

संविधान के अनुच्छेद 14 में यह गारण्टी दी गई है कि कानून की नज़र में सभी नागरिक एक समान हैं। यही कारण है कि संविधान के अनुच्छेद 14 में किसी वैधानिक सरकारी उद्देश्य को पूरा करने से असंबद्ध किसी भी तरह के कानूनी वर्गीकरण किए जाने को प्रतिबंधित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि लोगों के किसी एक समूह के साथ बाकियों से अलग व्यवहार करने से पहले सरकार को यह सिद्ध करना होगा कि वह किसी वैधानिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा कर रही है और उसे यह भी दर्शाना होगा कि इस समूह के साथ अलग व्यवहार करने से किस तरह वह वैधानिक उद्देश्य पूरा हो पाएगा।

संविधान के अनुच्छेद 14 के अंतर्गत दी गई गारण्टी पर विचार करते समय न्यायालय ने आरंभ में यह विचार रखा कि नैतिकता की प्रचलित धारणाओं के आधार पर निजी यौन व्यवहारों पर आधारित वर्गीकरण को सही नहीं ठहराया जा सकता। इसका कारण यह है कि किसी विशेष तरह के "नैतिक" व्यवहार के दृष्टिकोण को सही ठहराना वैधानिक रूप से राज्य के हित में नहीं होगा जब तक कि इससे किसी ऐसी हानि को रोका जा सकता हो जिसके बारे में स्पष्ट रूप से व्याख्या की जा सकती हो।

> "राज्य के पास यह संवैधानिक योग्यता नहीं है कि वह नागरिकों के जीवन की गोपनीयता पर अतिक्रमण करे या उस व्यवहार को नियंत्रित करे जिसका संबंध केवल सार्वजनिक नैतिकता के आधार पर किसी नागरिक द्वारा किए गए व्यवहार से हो। एकांत में आपसी सहमति के साथ वयस्कों द्वारा यौन संबंध बनाने को बिना किसी गंभीर हानि के साक्ष्यों के आपराधिक मान लेना न केवल निरंकुश बल्कि गलत भी होगा"। (निर्णय का अनुच्छेद 92)

न्यायालय ने आगे यह निर्णय भी दिया कि हालांकि धारा 377 तकनीकी रूप से केवल कुछ व्यवहारों को ही आपराधिक मानती है और इसमें लोगों के किसी विशेष वर्ग का कोई वर्णन नहीं है फिर भी, वास्तविकता यही है कि कानून की इस धारा से मुख्य रूप से समलैंगिकों का वर्ग ही प्रभावित होता है।

इस धारा के अंतर्गत जिन यौन संबंधों को आपराधिक माना जाता है, उन सभी का संबंध समलैंगिक पुरुषों से है। इसलिए भारतीय दण्डविधान की धारा 377 का प्रभाव यह होता है कि सभी समलैंगिक पुरुषों को अपराधी की नज़र से देखा जाता है। "वास्तविकता यही है कि आपराधिक समझे जाने वाले ये सभी यौन संबंध लोगों के एक विशेष वर्ग, अर्थात समलैंगिकों से अधिक जुड़े हुए हैं"।

"जब समलैंगिकता से जुड़े हर व्यवहार, हर विचार को गलत, क्वीयर, बुरा मान लिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप समलैंगिक पुरुषों और महिलाओं के पूरे समुदाय को ही गलत व्यवहार करने वाला और विकृत मान लिया जाता है। इन लोगों के साथ बहुत अधिक भेदभावपूर्ण व्यवहार केवल इन लोगों द्वारा किए गए कामों की वजह से नहीं किया जाता बल्कि इसलिए किया जाता है कि वे समलैंगिक हैं और यह माना जाता है कि वे किस तरह के काम करते होंगे। इसका परिणाम यह होता है कि जनसंख्या का एक बड़े समूह के साथ, स्थापित यौनिक मान्यताओं का पालन न करने के कारण उनका शोषण होता है, उन्हें अलग-थलग कर दिया जाता है और वे अपने आप में ही सिमट कर रह जाते हैं"। (निर्णय का अनुच्छेद 94)

"इस पूरे विचार-विमर्श का निष्कर्ष यह है कि पुरुषों के साथ सैक्स करने वाले पुरुषों और समलैंगिकों के समुदाय के साथ किया जाने वाला यह भेदभाव गलत और दोषपूर्ण है और, इसीलिए, इससे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 का उल्लंघन होता है"। (निर्णय का अनुच्छेद 98)

भेदभाव से मुक्ति

न्यायालय ने अन्य तरीके से भी यह तर्क दिया कि धारा 377 को लागू करने से असंवैधानिक रूप से समलैंगिकों के साथ भेदभाव होता है। संविधान के अनुच्छेद 15 में सैक्स या लिंग सहित किन्हीं विशेषताओं के आधार पर किसी वर्ग विशेष के साथ भेदभाव किया जाना प्रतिबंधित है। न्यायालय ने माना कि "यौन व्यवहार या प्रवृत्तियाँ एक तरह से सैक्स या लिंग के समान ही है और यौन प्रवृत्तियों के आधार पर भेदभाव किए जाने की अनुमति अनुच्छेद 15 के अंतर्गत नहीं दी गई है"। (निर्णय का अनुच्छेद 104)

समान कारणों के आधार पर भेदभाव किए जाने के विचार तक पहुँचने के लिए न्यायालय ने कनाडा तथा दक्षिण अफ्रीका के उच्चतम न्यायालयों द्वारा दिए गए निर्णयों को आधार बनाया जिन्होंने समान आधार पर भेदभाव किए जाने को इस तरह परिभाषित किया है : "इन दोनों स्थितियों में समानता यह है कि इन दोनों के कारण ही विद्यमान मान्यताओं के आधार पर निर्णय लिए जाते हैं जो कि मामले विशेष आवश्यकताओं के आधार पर नहीं किए जाते बल्कि किन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं को देखकर ले लिए जाते हैं। ये व्यक्तिगत विशेषताएं केवल व्यक्ति की पहचान को उल्लेखनीय नुकसान पहुँचाने पर ही बदली जा सकती हैं। (निर्णय का अनुच्छेद 102)

समान आधार पर भेदभाव किए जाने के विचार का प्रयोग करते हुए न्यायाधीशों ने उन दूसरे समूहों के लिए भी दरवाजे खुले रखे हैं जो भेदभाव का सामना कर रहे हों और अनुच्छेद 15 के अंतर्गत सुरक्षा पाने के इच्छुक हों। जैसाकि न्यायाधीशों ने, एक बार फिर से दक्षिण अफ्रीका के न्यायिक मामलों को आधार बनाकर लिखा है, ये निर्धारित करने के लिए कुछ दिशा-निर्देश बनाए जा सकते हैं कि एक जैसी परिस्थितियों के आधार पर भेदभाव क्या होता है। "कुछ मामलों में इस तरह के भेदभाव बदले न जा सकने वाले शारीरिक गुणों या विशेषताओं से जुड़े होते हैं, कुछ मामलों में यह मानव द्वारा संबंध बनाने की प्रवृत्ति से जुड़े होते हैं कुछ में उनका संबंध बौद्धिक, चैत्तासिक-और धार्मिक मानवीय मान्यताओं से होता है तो कुछ मामलों में इनमें से एक से अधिक या सभी विशेषताएं भी शामिल हो सकती हैं"। (निर्णय का अनुच्छेद 103)

इस तरह न्यायाधीशों ने अनुच्छेद 15 में 'सैक्स' के अर्थ की व्याख्या करते हुए इसमें न केवल शारीरिक या जैविक सैक्स को, बल्कि यौन प्रवृत्तियों को भी शामिल कर लिया है। किसी व्यक्ति

को पहले से 'पुरुष' या 'नारी' के निर्धारित व्यवहारों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करने को सैक्स या लिंग के आधार के समान ही भेदभाव करना समझा जा सकता है। न्यायालय ने कहा :

> "सैक्स के आधार पर भेदभाव किए जाने से सुरक्षा के मौलिक अधिकार का उद्देश्य लोगों के ऐसे व्यवहार को रोकना है जिसमें 'सामान्य' या 'प्राकृतिक' जेंडर भूमिकाओं का पालन न करने वाले लोगों के साथ भेदभाव या अलग तरह का व्यवहार किया जाता हैं। यौन प्रवृत्तियों के आधार पर भेदभाव करने का आधार भी किसी भी लिंग के लोगों द्वारा किए गए व्यवहारों के बारे में पहले से निश्चित और निर्धारित नियम और मान्यताएं हैं"। (निर्णय का अनुच्छेद 99)

इसके अतिरिक्त न्यायालय ने अपने निष्कर्ष में यह भी कहा कि अनुच्छेद 15 में प्रदान किए गए अधिकार सभी पर 'एक ही तरह से' लागू होते हैं। मानवाधिकारों के बारे में सिद्धान्त तैयार करने वाले विद्वान 'वर्टिकल' (राज्य से सुरक्षा के लिए नागरिकों के अधिकार) और 'हॉरीजॉन्टल' (नागरिकों के परस्पर एक दूसरे से सुरक्षा पाने के अधिकार) अधिकारों में अंतर बताते हैं। उदाहरण के लिए यदि सरकार कोई ऐसा नियम बनाना चाहे जिसमें मुसलमानों को किसी विशेष क्षेत्र में रहने की मनाही हो तो यह स्पष्ट रूप से इस कानून द्वारा किया जाने वाला वर्टिकल भेदभाव होगा क्योंकि इस मामले में राज्य अपने नागरिकों के 'समानता के अधिकार' का हनन करेगा। इसी तरह दूसरी ओर यदि किसी मुस्लिम व्यक्ति को उसके मुस्लिम होने के कारण किसी आवासीय बिल्डिंग में घर न खरीदने दिया जाए तो यह मामला हॉरीजॉन्टल भेदभाव का होगा क्योंकि इसमें दूसरे नागरिक उस व्यक्ति के समानता के अधिकार का उल्लंघन करेंगे।

समलैंगिकों को पुलिस के अलावा गुंडों जैसे सरकार से असंबद्ध दूसरे लोगों के अत्याचारों का भी सामना करना पड़ता है। इस वास्तविकता को देखते हुए न्यायाधीशों ने यह स्पष्ट कर दिया कि सैक्स के आधार पर भेदभाव न बरते जाने का यह संवैधानिक अधिकार एक हॉरिजॉन्टल अधिकार है अर्थात सभी नागरिकों को भी इसका पालन करना होगा। 'अन्य शब्दों में इस अधिकार द्वारा सार्वजनिक स्थानों पर पहुँच को रोकने के लिए एक नागरिक द्वारा दूसरे नागरिक के साथ किया जाने वाला भेदभाव भी प्रतिबंधित है'। (निर्णय का अनुच्छेद 104) इससे समलैंगिकों पर अत्याचार की स्थिति में पुलिस द्वारा कुछ न किए जाने के मामलों पर ध्यान दिया जा सकता है। चूंकि भेदभाव से सुरक्षा का अधिकार एक हॉरिजॉन्टल अधिकार है, इसलिए पुलिस समलैंगिकों के साथ दूसरे नागरिकों द्वारा भेदभाव किए जाने पर स्वयं कुछ करके भी इस अधिकार का उल्लंघन कर सकती है। इस तरह की सुरक्षा यदि उपलब्ध न हो तो संभव है कि पुलिस दूसरे लोगों द्वारा एलजीबीटी लोगों के विरुद्ध किए जा रहे अत्याचारों और अपराधों के प्रति आँखें मूंद ले और एक तरह से अधिकारों का हनन किए जाने की इस प्रक्रिया को निजी हाथों में सौंप दे।

अदालत द्वारा तैयार इस नियम के प्रभाव उत्पीड़न और अत्याचारों के जटिल मामलों के अतिरिक्त रोजमर्रा होने वाले भेदभाव पर भी हो सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 15 में ऐसे विशेष स्थानों का उल्लेख है जहाँ सैक्स या लिंग के आधार पर भेदभाव किया जाना प्रतिबंधित है। इन स्थानों में दुकानें, रेस्तरां, होटल और मनोरंजन के सार्वजनिक स्थान आदि शामिल हैं। इस तरह यदि किसी एलजीबीटी व्यक्ति को उसकी यौन प्रवृत्तियों या यौनिक पहचान के कारण किसी दुकान से वापस भेज दिया जाए तो यह निश्चित रूप से उसके भेदभाव न किए जाने के अधिकार का

उल्लंघन होगा[9]।

स्वास्थ्य का अधिकार

न्यायमूर्तियों ने यह कहा कि संविधान के अनुच्छेद 21 द्वारा प्रदत्त जीवन के अधिकार की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय को स्वास्थ्य के अधिकार को भी इसमें सम्मिलित मानना होगा। स्वास्थ्य के इस अधिकार में कई तरह के अधिकार और योग्यताएं शामिल हैं, जैसे कि एक कार्यकारी स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली तक पहुँच पाने के समान अवसरों की उपलब्धता।

न्यायाधीशों ने कहा कि आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के अंतरराष्ट्रीय समझौते (आईसीईएससीआर) में यह निर्धारित किया गया है कि यौन प्रवृत्तियों या व्यक्ति की एचआईवी की स्थिति के आधार पर उसके साथ भेदभाव किए जाने से स्वास्थ्य के अधिकार का उल्लंघन होता है। इसके बाद उन्होंने विस्तार से एचआईवी/एड्स के विरुद्ध संघर्ष कर रही अंतरराष्ट्रीय और क्षेत्रीय संस्थाओं की नीतियों का ब्यौरा भी दिया जिनमें संयुक्त राष्ट्र की कई संस्थाओं की घोषणाएं भी शामिल हैं। इसके बाद न्यायाधीशों ने केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री द्वारा 2008 में दिए गए उस वक्तव्य का उल्लेख भी किया जिसमें कहा गया था कि धारा 377 के अंतर्गत यौनकर्मियों और पुरुषों के साथ सैक्स करने वाले पुरुषों के साथ कलंक की भावना को जोड़े जाने के कारण एचआईवी/एड्स की रोकथाम के प्रयासों में एक गंभीर व्यवधान उत्पन्न होता है।

अतिरिक्त महाधिवक्ता द्वारा यह तर्क दिए जाने पर कि धारा 377 को निरस्त कर दिए जाने से एचआईवी संक्रमण का प्रसार कई गुना बढ़ जाएगा, न्यायाधीशों ने उन्हें तीखी फटकार लगाते हुए कहा कि उनके द्वारा दिया गया तर्क 'पूरी तरह निराधार है क्योंकि यह गलत और अनुमान मान्यताओं पर आधारित है'। (निर्णय का अनुच्छेद 72) न्यायाधीशों ने कहा कि इस तरह के कोई वैज्ञानिक साक्ष्य मौजूद नहीं है जिनसे पता चलता हो कि समलैंगिकता को आपराधिक न समझने और एचआईवी के प्रसार की दर में बढ़ोतरी में परस्पर कोई संबंध है। वास्तविकता तो यह है कि नैको द्वारा प्रस्तुत शपथ पत्र से यह लगता है कि समलैंगिकता को आपराधिक न समझे जाने से एचआईवी की रोकथाम प्रयासों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। न्यायाधीशों ने इसलिए यह निष्कर्ष निकाला कि दण्डविधान की धारा 377 सार्वजनिक स्वास्थ्य के मार्ग में उत्पन्न होने वाली बाधा है जो विशेष रूप से एलजीबीटी लोगों के स्वास्थ्य के अधिकार का उल्लंघन करती है।

संभव है कि सार्वजनिक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखना राज्य द्वारा गोपनीयता के अधिकार को सीमित रखे जाने के लिए पर्याप्त कारण हो। लेकिन न्यायालय का मानना था कि इस कारण को यदि मान लिया जाए तो वास्तव में राज्य को स्वयं ही धारा 377 को खारिज करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा क्योंकि धारा 377 निश्चित रूप से एचआईवी/एड्स की रोकथाम प्रयासों में विघ्न उत्पन्न करती है।

संवैधानिक नैतिकता

सरकार और श्री बी.पी. सिंघल का मुख्य तर्क यह था कि कानून को नैतिकता से अलग करके लागू नहीं किया जा सकता बल्कि कानून से तो समाज में व्याप्त व्यापक नैतिकता ही परिलक्षित

---

9 हॉरिजॉन्टल अधिकारों के प्रभावों पर विस्तृत चर्चा के लिए इसी अंक में तरुणाभ खेतान द्वारा लिखित लेख देखें।

होती है। उनका कहना था कि इसी कारण से राज्य सामान्य जनसाधारण की 'सार्वजनिक नैतिकता' को सुरक्षित रखने के लिए लोगों के मौलिक अधिकारों को सीमित कर सकता है। यह एक गुरुत्व प्रश्न था जिसका उत्तर न्यायाधीशों को देना था।

न्यायालय ने यह तर्क दिया कि सरकार लोगों के मौलिक संवैधानिक अधिकारों का हनन केवल उन परिस्थितियों में कर सकती है यदि ऐसा करने के लिए उसके पास ऐसा करने के पर्याप्त और ठोस कारण हों। उदाहरण के लिए हिंसक विरोध होने की स्थिति में राज्य लोगों के मुक्त रूप से यहाँ–वहाँ जाने पर रोक लगा सकता है क्योंकि इसमें राज्य के समक्ष कानून और व्यवस्था बनाए रखने तथा लोगों को सुरक्षा प्रदान करने का पर्याप्त कारण होता है। न्यायालय ने कहा कि सरकार यदि चाहे तो एकांत में भी वयस्कों और अल्प वयस्कों के बीच सैक्स को आपराधिक मान सकती है क्योंकि ऐसा करना राज्य द्वारा बच्चों को यौन उत्पीड़न से सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक होगा।

हालांकि न्यायाधीशों ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रचलित सार्वजनिक नैतिकता को सुरक्षित रखना ऐसा पर्याप्त कारण नहीं है जिससे कि सरकार एलजीबीटी लोगों के आदर, गोपनीयता और समानता के अधिकार को सीमित करने को सही ठहरा सके। इसलिए जनसाधारण की नैतिक राय और विचारों को एलजीबीटी के मौलिक अधिकारों को सीमित करने का पर्याप्त कारण नहीं माना जा सकता। न्यायालय ने कहा :

> "नैतिकता के बारे में प्रचलित मान्यताओं या किसी विशेष तरह के व्यवहारों पर सार्वजनिक अनुमोदन न मिलना अनुच्छेद 21 के अंतर्गत प्रदत्त संवैधानिक अधिकारों को सीमित करने के लिए पर्याप्त और ठोस कारण नहीं है। नैतिकता के बारे में प्रचलित मान्यताओं और संवैधानिक नैतिकता में अंतर होता है। क्योंकि प्रचलित मान्यताओं में हमेशा सही या गलत की धारणाओं में परिवर्तन आता रहता है जबकि संवैधानिक नैतिकता का आधार संवैधानिक मूल्य है। यदि कोई नैतिकता सरकार द्वारा किए जाने वाले अति आवश्यक कार्यों की कसौटी पर खरी उतर सकती है तो वह 'संवैधानिक नैतिकता' ही होगी न की 'प्रचलित नैतिकता'। (निर्णय का अनुच्छेद 79)

> "नैतिक आक्रोश, कितना भी अधिक क्यों न हो, किसी भी तरह किसी व्यक्ति के आदर और गोपनीयता के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करने का पर्याप्त कारण नहीं हो सकता। हमारे यहाँ की परिस्थितियों में संवैधानिक नैतिकता, सार्वजनिक नैतिकता के तर्क से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है भले ही बहुसंख्या में लोग सार्वजनिक नैतिकता के पक्ष में विचार रखते हों"। (निर्णय का अनुच्छेद 86)

न्यायालय ने जिस 'संवैधानिक नैतिकता' की पहचान की है वह उदार लोकतांत्रिक मूल्यों जैसे भारतीय संविधान के आधार स्तंभों पर आधारित है न की किसी विशेष धार्मिक या सांस्कृतिक परंपरा या प्रथा पर। न्यायाधीशों ने यह विचार डा. अम्बेडकर के सिद्धांतों को आधार बनाकर प्रस्तुत किया, जिन्होंने संवैधानिक सभा में रहते हुए यह कहा था, "संवैधानिक नैतिकता केवल एक प्राकृतिक विचार नहीं है बल्कि इसे तैयार करना होता है। हमें यह समझना होगा कि हमारे लोगों को अभी तक इसकी जानकारी नहीं है। भारत में लोकतंत्र केवल ऊपरी सतह पर मौजूद है और वास्तव में भारत की व्यवस्था मोटे तौर पर अलोकतांत्रिक है"। (निर्णय का अनुच्छेद 79)

इस सिद्धांत या परिकल्पना से नैतिकता पर आधारित इस बहस को एक बिल्कुल ही अलग स्तर पर ले जाने का अवसर मिलता है; न्यायाधीशों ने केवल इतना कहा कि संविधान से लिए गए

केवल 2 नैतिक मूल्यों को लोगों के उन मौलिक अधिकारों को सीमित करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है जो अधिकार स्वयं संविधान द्वारा ही लोगों को दिए गए हैं। इस संबंध में धार्मिक नैतिक मान्यताएं पूरी तरह से अप्रासंगिक हैं। 'निजी' नैतिकता तथा दण्डविधान के कानूनों के बीच सरल अंतर करने की बजाए न्यायाधीशों ने धार्मिक और नागरिक नैतिकता के बीच अंतर करने वाली एक बड़ी ही महीन और जटिल रेखा खींच दी है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि कानून निश्चित तौर पर नैतिकता पर आधारित होता है, परन्तु यह नैतिकता बहुत ही विशेष प्रकार की नैतिकता अर्थात संवैधानिक नैतिकता है।

इसके बाद न्यायाधीशों ने यह निष्कर्ष भी निकाला कि, "भारत का संविधान विविधता को मानता है, सुरक्षित रखता है और इसमें गर्व करता है। समलैंगिकों को केवल उनकी यौन प्रवृत्तियों के आधार पर कलंकित करना या उन्हें अपराधी समझना संवैधानिक नैतिकता के विरुद्ध होगा"। (निर्णय का अनुच्छेद 80)

बहुसंख्यक विचारों की विरोधी संस्था के रूप में न्यायालय की भूमिका

अतिरिक्त महाधिवक्ता द्वारा दिए गए इस तर्क का सामना भी न्यायाधीशों को करना पड़ा कि कानूनों की वैधानिक शक्तियों की पुनरीक्षा करते समय न्यायाधीशों को वैधानिक आत्म संयम बरतना चाहिए। यह तर्क देते हुए अतिरिक्त महाधिवक्ता का विचार यह था कि न्यायालयों को यह मामला वापस कार्यपालिका के पास भेज देना चाहिए क्योंकि कार्यपालिका लोगों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करती है और वही यह निर्णय लेने में सक्षम है कि समुदाय के लिए क्या बेहतर होगा। न्यायाधीशों ने यह स्वीकार किया कि आमतौर पर न्यायालय मामलों को कार्यपालिका के विवेक पर छोड़ देंगे लेकिन यह इस बात पर निर्भर करता है कि न्यायालय के समक्ष किस तरह के मामले पर विचार किया जा रहा है।

> "जब 'बहुत अधिक संवैधानिक महत्व' के मामले जैसे कि संविधान में निहित मानवाधिकारों के मामलों पर विचार हो रहा हो तो न्यायालयों का यह कर्तव्य है कि वे अपने अधिकार क्षेत्र का पालन करते हुए इस तरह के मामलों को कार्यपालिका के पास भेज देने को कम महत्व दें जितना कि वे दूसरे किन्हीं मामलों को कार्यपालिका को सौंपने में देंगे"। (निर्णय का अनुच्छेद 118)

न्यायालयों की भूमिका के बारे में अपनी समझ के बारे में और विस्तार से बताते हुए उन्होंने कहा,

> "न्यायालय का दायित्व है कि वह मौलिक अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करे। आधुनिक लोकतंत्र बहुसंख्यकों के शासन के सिद्धान्त पर आधारित है और इसमें स्पष्ट रूप से यह माना जाता है कि जिन लोगों के विचार बहुसंख्यक विचारों से मेल न खाते हों या जो लोग इन विचारों से हटकर व्यवहार कर रहे हों, उनके मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रखने की भी आवश्यकता है। इसलिए यह न्यायपालिका का दायित्व है कि वह सिद्धान्तों में संतुलन को बनाए रखे और यह सुनिश्चित करे कि केवल संख्या के आधार पर सरकार या राज्य को मौलिक अधिकारों से अधिक महत्व न दिया जाए। मौलिक संरचना तैयार होने के निर्णय के बाद उसकी पूरी वैधानिक पुनरीक्षा करना भी संवैधानिक कार्ययोजना का ही अभिन्न अंग है"। (निर्णय का अनुच्छेद 125)

> "इस संबंध में न्यायपालिका की भूमिका को परिभाषित करते हुए इसे संविधान के निर्देशानुसार बहुसंख्या में लोगों के विचारों के प्रतिकूल विचार रखने वालों के हितों की सुरक्षा करने की संस्था कहा जा सकता है"। (निर्णय का अनुच्छेद 120)

न्यायाधीशों ने विख्यात वेस्ट वर्जिनिया स्टेट बोर्ड ऑफ एजूकेशन बनाम बार्नेट मुकदमे के निर्णय में शामिल अनुच्छेद का संदर्भ दिया।

> "अधिकारों के कानून का मसौदा प्रस्तुत करने का एकमात्र उद्देश्य कुछ विशेष विषयों को राजनीतिक विवाद की उठा–पटक से सुरक्षित रखना था ताकि यह विषय अधिकारियों और बहुसंख्यकों की पहुंच से दूर हो जाए और इन्हें न्यायालयों द्वारा कानूनी सिद्धान्तों के रूप में प्रयोग किया जाए। किसी व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति, विचारों की स्वतंत्रता, स्वतंत्र प्रेस, प्रार्थना करने और एकत्रित होने की स्वतंत्रता और दूसरे मौलिक अधिकारों के विषय पर मत प्राप्त नहीं किए जाते; ये अधिकार किसी भी तरह के चुनाव के परिणामों से प्रभावित नहीं होते"। (निर्णय का अनुच्छेद 120)

यह विचार प्रस्तुत करते हुए न्यायाधीशों ने कार्यपालिका में बहुमत को अनदेखा करते हुए मौलिक अधिकारों को सुरक्षित रखने के न्यायपालिका के उत्तरदायित्व को दोहराया। इस तरह एक संस्था के रूप में न्यायपालिका का यह उत्तरदायित्व है कि "कार्यपालिका में बहुमत या बहुसंख्यक विचार यदि अल्पसंख्यकों के विरुद्ध हो जाए तो मताधिकार के भव्य और स्पष्ट परिणामों को अनदेखा न किया जा सके"। (निर्णय का अनुच्छेद 125)

निष्कर्ष

अपने निर्णय में न्यायालय ने भारतीय संविधान में निहित समानता के सिद्धान्त को आधार बनाते हुए संविधान निर्माताओं के उस समय के विचारों और एलजीबीटी लोगों को आज के समय में भेदभाव से सुरक्षित रखने के बीच सक्रिय संबंध स्थापित किया। न्यायालय द्वारा निर्णय में दिए गए कुछ विचार इस प्रकार हैं :

> "भारतीय संविधान में निहित समानता का विचार पंडित जवाहर लाल नेहरू द्वारा 13 दिसम्बर 1946 को प्रस्तुत 'वस्तुपरक संकल्प' पर आधारित है। यह संकल्प प्रस्तुत करते हुए अपने भाषण में नेहरू ने यह इच्छा जाहिर की कि सदन को इस संकल्प पर केवल इसकी संकुचित कानूनी शब्दों के आधार पर गौर नहीं करना चाहिए बल्कि इस संकल्प के पीछे की भावना पर विचार करना चाहिए। उन्होंने कहा, 'शब्द बहुत बार जादुई करामात दिखाते हैं लेकिन कभी–कभी शब्दों का जादू भी मानवीय आत्मा और किसी देश की इच्छाओं के जादू की बराबरी नहीं कर सकता। इस संकल्प में बड़े ही सौम्य तरीके से दुनिया को यह बताने की कोशिश की गई है कि अभी तक, इतने लंबे समय तक हमारे सपने क्या रहे हैं और हम आने वाले भविष्य में क्या प्राप्त कर लेने की आशा रखते हैं।" (निर्णय का अनुच्छेद 129)

नेहरू की वस्तुपरक घोषणा से उद्धरण देने के बाद न्यायालय ने आगे कहा :

> "यदि कोई एक ऐसा संवैधानिक विचार या सिद्धान्त है जिसे भारतीय संविधान की आत्मा कहा जा सकता है, तो वह 'सभी को साथ लेकर चलने' का विचार है। इस न्यायालय का मानना है कि भारतीय संविधान में भारतीय समाज के मूल्य परिलक्षित होते हैं जिन्हें कई पीढ़ियों तक पोषित किया गया है। आज भी समाज में हर व्यक्ति के लिए कोई न कोई भूमिका को पहचानने में भी भारतीय समाज की सबको साथ लेकर चलने की यही प्राचीन परंपरा हर क्षेत्र में दिखाई पड़ती है। बहुसंख्यकों द्वारा जिन लोगों को 'हटकर व्यवहार

करने वाले' या 'अपने से भिन्न' समझा जाता है उन्हें भी इस कारण से अलग–थलग या कलंकित नहीं किया जाता"। (निर्णय का अनुच्छेद 130)

"जहाँ समाज में सबको साथ लेकर चलने और आपसी समझबूझ दिखाई पड़ती है वहाँ इस तरह के भिन्न व्यवहारों वाले लोगों को भी आदरपूर्ण जीवन जीने और भेदभाव न होने के प्रति आश्वस्त किया जा सकता है। नेहरू ने 'संकल्प के पीछे जिस आत्मा या विचार' की बात कही थी, वह यही विचार या विश्वास हैं। हमारे विचार से भारतीय संवैधानिक न्याय में इस बात की अनुमति नहीं है कि वैधानिक आपराधिक नियमों को इन भ्रामक लेकिन प्रचलित विचारों के आधार पर बंदी बना कर रखा जाए कि एलजीबीटी लोग कौन हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भेदभाव समानता के बिल्कुल विपरीत होता है और केवल समानता को स्वीकार करने से ही प्रत्येक व्यक्ति में आदर की भावना को बल मिलेगा"। (निर्णय का अनुच्छेद 131)

यौन उत्पीड़न कानून[1]

मैत्रेयी कृष्णन और पौन्नी अरसू

इस दस्तावेज़ में असंगठित कार्यक्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं तथा यौन उत्पीड़न और उससे संबंधित न्याय प्रक्रिया का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। पहले अंश में, नारीवादी कानून के लिए संघर्ष के संदर्भ में इतिहास का पुनर्वलोकन किया गया है – खासकर यौन उत्पीड़न से संबंधित जिससे कि इस मुद्दे को महिला आंदोलन के ऐतिहासिक संदर्भ में समझा जा सके। दूसरे अंश में, सभी कानूनों (मौजूदा एवं भविष्य में आने वाले) तथा विशाखा दिशानिर्देशों के अध्ययन के माध्यम से वर्तमान समय के कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न संबंधी कानूनी परिपेक्ष पर टिप्पणी की गई है। अंतिम अंश में, यौन उत्पीड़न कानूनों की आलोचनाओं की जांच की गई है – जिसमें कार्यकारी रणनीति के रूप में असंगठित कार्यक्षेत्र की महिलाओं के नज़रिए से कानून का एक नारीवादी विश्लेषण किया गया है।

विशाखा फैसले के लिए अभियान की शुरुआत तब हुई जब भारतीय नारीवादी आंदोलन ने हिंसा को एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में पहचाना। सती, बलात्कार, दहेज तथा अन्य कई पारिवारिक कानूनों के विषय पर भारतीय महिला आंदोलन में काफी चर्चा रही है और कानून बनाए जाने के लिए अभियान भी चले हैं। इसके अतिरिक्त, भारतीय नारीवादी आंदोलन में कानून बनाया जाना बदलाव के लिए एक महत्वपूर्ण कदम माना गया है। यह कानून भी ऐसे समय में आया जब नारीवादी कानूनों की संरचना की मांग का जा रही थी और काफी लोगों ने महिला अधिकारों की दृष्टि से इसे एक 'सकारात्मक कानून' माना।

विशाखा केस एक वर्ग–विशेष याचिका थी, जिसे कई सामाजिक संगठनों तथा गैर सरकारी संस्थाओं ने कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के लिए कानूनी हल निकालने के लिए दायर किया था। 1997 में सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला दिया कि कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के कारण महिलाओं के बराबरी के अधिकार का हनन होता है तथा यह मालिकों की ज़िम्मेदारी है कि वे इससे बचाव के लिए उचित कदम उठाएं और ऐसा होने पर उचित कार्यवाही करें।

असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों का इतिहास भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इस कार्यक्षेत्र में महिलाओं के संघर्षों पर 1990 के दशक की शुरुआत में ध्यान आकर्षित हुआ जब इस कार्यक्षेत्र में मज़दूर यूनियन बननी शुरु हुई, जिनमें ज़्यादातर महिलाएं ही शामिल थीं।

ध्यान देने योग्य बात है कि कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न के संदर्भ में संघर्ष उसी समय शुरु हुए जब असंगठित कार्यक्षेत्र के मज़दूरों ने यूनियनें बनानी शुरु कीं।

---

[1] कृष्णन मैत्रेयी और अरसू पौन्नी, यौन उत्पीड़न कानून, सेमिनार अनइक्वल स्टेटस, अंक 583, मार्च 2008, अनुवाद : निधी अग्रवाल

इसी पृष्ठभूमि में महिला–केन्द्रित कानूनों, असंगठित कार्यक्षेत्र के विकास तथा ढांचागत पुनर्सुधार कार्यक्रमों के कारण महत्वपूर्ण आर्थिक बदलावों के संदर्भ में हमें यौन उत्पीड़न की चर्चा करनी होगी, खासकर असंगठित कार्यक्षेत्र पर ध्यान देते हुए।

1990 के दशक के अंत तक कानूनों पर अत्यधिक ज़ोर दिए जाने के विषय पर भी नारीवादी आंदोलन में आलोचना शुरु हो गई थी। इसका कानून बनवाने पर केन्द्रित नारीवादी संघर्षों तथा भारतीय नारीवादी कानूनी विचारधारा पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न की चर्चाओं, खासकर असंगठित कार्यक्षेत्र में यौन उत्पीड़न की चर्चाओं में इन विवादों की गूंज सुनाई देती है।

इस अंश में विशाखा फैसले के रूप में मौजूदा कानून व यौन उत्पीड़न के लिए प्रस्तावित विधेयक का अध्ययन किया गया है। विशाखा फैसले से पहले एक 'यौन उत्पीड़ित व्यक्ति' के लिए केवल सीमित कानूनी प्रावधान उपलब्ध थे – वे थे भारतीय दंड संहिता के अंतर्गत अश्लील कर्म[1], महिला अस्मिता को भंग करने[2] तथा महिलाओं की अश्लील तस्वीरें छापना[3]।

कानूनी प्रक्रिया की सबसे पहली समस्या है उस तक पहुंच पाना तथा अदालतों की कार्यकुशलता। इसके अतिरिक्त, महिलाओं पर सबूत पेश करने का दबाव भी बहुत ज़्यादा रहता है। मुज़रिम को सज़ा देने के लिए दो तथ्य स्थापित करना ज़रूरी होता है – कि प्रार्थी की 'अस्मिता' है और उस पर हमला हुआ है तथा मुज़रिम ने 'शक की कोई गुंजाईश न रखते हुए' उसका हनन किया है।

विशाखा फैसले के आने से लगा कि इसके माध्यम से वह खाली जगह भर गई जो कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न संबंधी कानून न होने से लेकर दिशानिर्देशों के प्रारूप के बीच थी। वर्तमान समय में कार्यस्थल पर महिलाओं के विरुद्ध यौन उत्पीड़न से सुरक्षा विधेयक, 2007[4] मौजूद है जिसके माध्यम से दिशानिर्देशों को लागू किया जा सकता है तथा यौन उत्पीड़न कानून बनाया जा सकता है।

विशाखा फैसले का आधार इसके अंतर्गत दिए गए 'सुरक्षित' कार्यस्थल वातावरण के प्रावधान में है, जहां यौन उत्पीड़न से बचाव हो तथा उसके लिए उचित हल मौजूद हों, जिससे संविधान की धारा 21[5] के अंतर्गत दिए गए जीवन के अधिकार, धारा 14, 15[6] के अंतर्गत बराबरी का अधिकार, धारा 19[7] के अंतर्गत कोई भी व्यवसाय या उद्यम चलाने का अधिकार सुनिश्चित हो सके। इस व्यवस्था के माध्यम से कार्यस्थल पर होने वाले यौन उत्पीड़न के लिए संस्थान/मालिक को ज़िम्मेदार ठहराया गया है।

दिशानिर्देशों और विधेयक, दोनों का मुख्य पहलू है कि इनमें यौन उत्पीड़न से बचाव व हल की ज़िम्मेदारी[8] संस्थान/मालिक पर डाली गई है। बचाव के लिए सभी कदम, जैसे कि यौन उत्पीड़न प्रतिबंधित करने की नीति बनाना, उस नीति को छाप कर उसका प्रचार करना तथा जागरुकता बढ़ाना – सभी मालिक की ज़िम्मेदारी है। मालिक द्वारा एक शिकायत कमिटि स्थापित की जानी चाहिए, जो यौन उत्पीड़न के मामलों की सुनवाई करेगी। इस शिकायत कमिटि में उचित प्रतिनिधित्व के साथ–साथ महिला अध्यक्षा होनी चाहिए[9]। इस कमिटि को अधिकार है कि वह दोषी के खिलाफ अनुशासनिक कार्यवाही करे। शिकायतकर्ता को मुआवज़ा दिए जाने का सुझाव दे जिसे

लागू करने की ज़िम्मेदारी मालिक की है।[10] विशाखा दिशानिर्देशों में कोशिश की गई है कि शिकायतकर्ता को उसकी नौकरी खोने का कोई ख़तरा न हो — इसके लिए सुनवाई की अवधि में उसके खिलाफ कोई भेद भाव न किए जाने का प्रावधान है। इसके अंतर्गत शिकायतकर्ता के अनुरोध पर दोषी का तबादला किए जाने का प्रावधान भी है। लेकिन प्रस्तावित विधेयक में शिकायतकर्ता को सुरक्षा दिए जाने के बजाए, कमिटि द्वारा शिकायत गलत करार दिए जाने की दशा में शिकायतकर्ता को दंड दिए जाने का प्रावधान दिया गया है।[11]

विशाखा दिशानिर्देशों की एक कमी यह है कि वे केवल व्यवस्थित कार्यालयों पर ही लागू होती हैं, असंगठित कार्यक्षेत्रों पर नहीं, जहां मालिक—नौकर का रिश्ता स्पष्ट नहीं होता। प्रस्तावित विधेयक में इस स्थिति के सुधार के लिए असंगठित कार्यक्षेत्र के लिए खास प्रावधान किया गया है, जिसके अंतर्गत स्थानीय स्तर पर एक शिकायत कमिटि गठन की जा सकती है जो संस्थान के बाहर शिकायतों की सुनवाई कर सकती है।[12] यह स्थानीय कमिटि उन सभी कार्यक्षेत्रों के मामलों में सुनवाई कर सकती है जहां आंतरिक शिकायत कमिटियां नहीं हैं — किसी भी असंगठित कार्यक्षेत्र में, या ऐसे मामले जहां यौन उत्पीड़न की शिकायत मालिक के ख़िलाफ हो। यहां कहना उचित होगा कि एक अन्य प्रस्तावित विधेयक में काम के वातावरण व सामाजिक सुरक्षा के प्रावधान हैं[13], उसमें सह-कर्मियों व मालिक द्वारा यौन उत्पीड़न के लिए भी प्रावधान शामिल हैं।

प्रस्तावित यौन उत्पीड़न विधेयक में एक कमी यह है कि इसमें मज़दूरों के प्रयासों के लिए कोई प्रावधान नहीं है, जबकि विशाखा दिशानिर्देशों में इसका प्रावधान है। इसके अंतर्गत मज़दूरों को अधिकार है कि वे मज़दूर सभाओं, मालिक—मज़दूर बैठकों तथा अन्य उपयुक्त जगहों पर यौन उत्पीड़न के मुद्दे उठा सकते हैं।

ऊपर दिए गए कानून व सामाजिक आंदोलनों के संदर्भ में हम असंगठित क्षेत्र में महिलाओं के स्तर की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट कर सकते हैं कि वे किस प्रकार यौन उत्पीड़न के मुद्दे पर बने कानून व सामाजिक चर्चाओं की आलोचना करती हैं व उनकी पुष्टि करती हैं। इन्हीं महिला मज़दूरों के नज़रिए से हम इन कानूनों तथा सामाजिक दिशाओं में बदलाव के भी सुझाव देंगे।

सबसे पहले इस बात पर ध्यान देना ज़रूरी है कि विशाखा दिशानिर्देशों के बाद से वर्तमान कानूनी प्रावधान कार्यालयों से बाहर काम करने वाले कर्मचारियों/मज़दूरों पर लागू नहीं होते। अतः भारत की 90 प्रतिशत महिलाएं, जो असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं, इन दिशानिर्देशों के दायरे से बाहर हैं। पर फिर भी ज़रूरी है कि असंगठित कार्यक्षेत्र की महिलाओं के नज़रिए से यौन उत्पीड़न के मुद्दे को समझा जाए क्योंकि यौन उत्पीड़न पर प्रस्तावित विधेयक उनको भी प्रभावित करता है। साथ ही, इसके माध्यम से संभव है कि यौन उत्पीड़न के मौजूदा सीमित दायरे को चुनौती देते हुए कुछ आधारभूत सवाल उठाएं जा सकें।

विशाखा दिशानिर्देशों की कुछ कमियां तो तभी स्पष्ट हो गई थीं जब उन्हें असंगठित कार्यक्षेत्र की महिलाओं के नज़रिए से देखा गया था। इनके अनुसार यौन उत्पीड़न से बचाव व समाधान के रास्ते निकालने की ज़िम्मेदारी मालिक पर है। लेकिन

कई कार्यक्षेत्र ऐसे हैं (खासकर असंगठित कार्यक्षेत्रों में) जहां केवल 2 व्यक्ति होते हैं – एक मज़दूर और एक मालिक। बहुत सारे मज़दूरों की स्थिति में भी, जैसे कि दिहाड़ी मज़दूर, मालिक का रिश्ता व ज़िम्मेदारी अनौपचारिक होती है।

एक मज़दूर और एक मालिक के मामले में भी इस ज़िम्मेदारी का कोई मतलब नहीं रहता, अतः इस स्थिति में यह प्रावधान बेकार है। परंतु प्रस्तावित यौन उत्पीड़न विधेयक में, कुछ हद तक इस स्थिति का हल दिया गया है – इसके अंतर्गत एक स्थानीय कमिटि असंगठित कार्यक्षेत्र के यौन उत्पीड़न मामलों की सुनवाई कर सकती है। हालांकि इस प्रावधान में ज़िम्मेदारी मालिक के हाथ से निकालकर राज्य सरकार के हाथों में सौंप दी गई है। मज़दूर अभी भी इसके दायरे से बाहर ही हैं।

असंगठित कार्यक्षेत्र में औपचारिक प्रक्रियाएं न होने के कारण विशाखा दिशानिर्देशों की एक और कमी सामने आती है जिसका संबंध मज़दूरों की सुरक्षा से है। किसी भी कामकाजी महिला के लिए यौन उत्पीड़न की शिकायत करना एक गंभीर बात है, क्योंकि इसके कारण वह कभी भी अपनी नौकरी खो सकती है, सुनवाई के दौरान या उसके बाद। यह स्थिति असंगठित क्षेत्र की महिलाओं के लिए और भी संगीन हो जाती है चूंकि उनका रोज़गार अनौपचारिक होता है। साथ ही, हालांकि मज़दूर कानूनों के प्रावधानों के अनुसार किसी विवाद के मामले में मज़दूर को नौकरी से नहीं निकाला जा सकता, यह प्रावधान यौन उत्पीड़न के मामलों में लागू नहीं होते।

विवाद निपट जाने के बाद भेदभाव से बचाव के लिए, खासकर यौन उत्पीड़न के मामलों में, वैसे भी उचित प्रावधान उपलब्ध नहीं हैं। असंगठित क्षेत्र की महिलाओं के लिए, इन प्रावधानों की कमी उनकी पहले से नाजुक स्थिति को और भी कमज़ोर कर देती है।

एक और पहलू जो अकसर सामने आता है, वो है दिशानिर्देशों का पक्षपाती न होना, जो असल में इतना उपयोगी नहीं है। इसके अनुसार, शिकायत निवारण बोर्ड द्वारा कार्यक्षेत्र के पदों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए और न ही जाति या वर्ग पर। मामले की सुनवाई के दौरान शिकायतकर्ता या दोषी के पद के आधार पर कोई फर्क नहीं किया जाना चाहिए। यौन उत्पीड़न के मामलों में कानूनी भाषा में केवल लिंग का फर्क माना जाता है।

कई स्थितियों में, जैसे कि कौलेज/विश्वविद्यालयों में, हमने औरतों और मर्दों के परस्पर संबंधों में कुछ अलग तरह का फर्क देखा है। यह फर्क फिर यौन उत्पीड़न के मामलों को भी प्रभावित करता है। दिशानिर्देशों और शिकायत निवारण बोर्ड में यौन उत्पीड़न के मामलों में इस फर्क पर ध्यान नहीं दिया गया है। यह आलोचना दिशानिर्देशों या बोर्ड के विषय में न हो कर 'सामाजिक जीवन'[14] से ज़्यादा संबंध रखती है, जिसे कानून में भी अनदेखा कर दिया गया है। वर्तमान परिभाषा काफी हद तक कानून द्वारा दी गई परिभाषा पर ही आधारित है, जो कि काफी सीमित है तथा यौन उत्पीड़न से जुड़े पेंचीदा मुद्दों पर ध्यान नहीं देती।

संगठित एवं असंगठित कार्यक्षेत्रों में जाति/वर्ग जैसे मुद्दों का प्रभाव अलग अलग तरह से पड़ता है। यह याद रखना ज़रूरी है कि असंगठित कार्यक्षेत्र में भी काफी व्यवसाय ऐसे हैं जो काम करने वालों की जाति पर आधारित होते हैं। शौचालयों की

सफाई करना। ऐसा ही एक काम है। यौन उत्पीड़न की कानूनी परिभाषा में जाति/वर्ग का भेदभाव शामिल न होने, जिसे कार्यकर्ताओं तथा मुद्दे से संबंधित अन्य लोगों ने भी अपना लिया है, के कारण इस पेंचीदा मुद्दे की समझ अधूरी रह गई है। अगर इस समझ को कानूनी परिभाषा में शामिल किया गया होता तो शायद आज हमारे हाथ में एक समग्र कानून होता।

विभिन्न नारीवादी चिंतकों ने यौन उत्पीड़न कानूनों की विचारधारा का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। यौन उत्पीड़न व उससे जुड़े कानूनों से पैदा होती समझ के कारण अकसर देखा गया है कि कार्यक्षेत्र में महिला–पुरुष संबंधों पर चौकसी रखने तथा आपसी बर्ताव के लिए नियम बना दिए जाते हैं। 'बाकई में (यौन उत्पीड़न की) परिभाषा के कारण आमतौर पर यौनिक संबंधों, महिलाओं की यौनिकता तथा यौनिक प्रक्रियाओं से जुड़ी मुख्यधारा अपभ्रांतियों को बढ़ावा मिला है।'[15]

ऊपर दिए गए रत्ना कपूर के तर्क से कई महत्वपूर्ण सवाल उठते हैं जो मौजूदा सामाजिक परिवेष में यौन उत्पीड़न से जुड़ी नैतिक बिसंगतियों को उजागर करते हैं। शिकायत एवं बचाव, दोनों पक्षों पर नैतिकता का भारी प्रभाव होता है, जो कार्यक्षेत्र के अन्य मामलों में नहीं होता। जहां 'यौनिकता' का मुद्दा उठता है वहां शिकायतकर्ता तथा दोषी, दोनों के चरित्र पर भी सवाल उठ खड़ा होता है। लेकिन इस मामले में इसका प्रभाव शिकायतकर्ता पर अलग और संभावित दोषी पर अलग होता हैं। इससे अकसर शिकायत करने वाली महिलाओं के लिए कार्यक्षेत्र के माहौल में अचानक महत्वपूर्ण बदलाव आ जाते हैं, जिसके कारण न केवल उसके लिए काम करना मुश्किल हो जाता है, बल्कि भविष्य में भी उसके साथ हिंसा होने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

असंगठित कार्यक्षेत्र में, माहौल में इस बदलाव के कारण व्यक्ति के आर्थिक एवं रोजमर्रा के व्यवसायिक संबंधों में भी भारी बदलाव आ सकते हैं। काम की अनौपचारिक प्रवृत्ति के कारण इस बदलाव का असर शिकायत करने वाले को भविष्य में काम मिलने की संभावनाओ पर भी पड़ सकता है या उसका मौजूदा काम उसके हाथ से जा सकता है। इस तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि यौन उत्पीड़न की वर्तमान समझ के कारण यौनिकता पर बरकरार चुप्पी तथा उससे जुड़े नैतिकता एवं उसके नियंत्रण के मुद्दों का हल निकलने के बजाए उन्हें और बढ़ावा ही मिला है। इसके कारण 'यौन कर्म' के मुद्दे पर चुप्पी बनाए रखना तथा किसी भी प्रकार की यौन अभिव्यक्ति को 'गंदा', 'खतरनाक' या 'छिपा कर' रखने वाला मुद्दा माना जाता है। लंबे समय में इसका यौन कर्म, यौनिकता या यौन उत्पीड़न से जुड़े मुद्दों का हल निकालने पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

अंततः, यौन उत्पीड़न कानून, अन्य महिला कानूनों की तरह ही 'यौन उत्पीड़न', 'उत्पीड़ित' तथा 'उत्प्रेरक' को अलग अलग श्रेणी में बांटकर अलग अलग परिभाषा दे देता है। यह सभी श्रेणियां महिलाओं के प्रति कुछ ऐसी नकारात्मक धारणाओं को बढ़ावा देती हैं, जो लगभग हर महिला संबंधित कानून में मौजूद हैं। इसमें सर्वोपरि है महिला कर्मचारी को एक शोषित व्यक्ति के रूप में देखना। इस धारणा के कारण महिला को उत्पीड़ित किए जाने का केवल एक ही रास्ता बचता है। निवारण बोर्ड भी

फिर इसी समझ के साथ काम करता है। चूंकि महिलाओं को आमतौर पर भी एक शोषित व्यक्ति के रूप में देखा जाता है, उसे न्याय पाने के लिए 'शक की गुंजाईश छोड़े बिना' साबित करना पड़ता है कि उसके साथ कुछ गलत हुआ है। यदि महिला के हाथ में थोड़ी भी शक्ति हो, तो इस 'शोषित व्यक्ति' की छवि को ठेस पहुचती है।

अतः 'न्याय' पाने के लिए ज़रूरी है कि 'शोषित व्यक्ति' की अवधारणा कायम रहे। असंगठित कार्यक्षेत्र में महिलाओं को जबरन अपनी शक्ति को छिपा कर रखना पड़ता है, क्योंकि उनकी सुरक्षा के लिए किसी भी औपचारिक संस्था के अभाव के कारण, उन्हें निवारण बोर्ड के सामने अपने आप को एक शक्ति–विहीन शोषित व्यक्ति के रूप में ही पेश करना पड़ता है।

एक अन्य समस्या है जिस तरह किसी भी सार्वजनिक क्षेत्र में महिलाओं के प्रति एक चौकसी का माहौल बना कर रखा जाता है। इस संदर्भ में शिल्पा फड़के का तर्क काम आता है : 'सार्वजनिक स्थलों पर महिलाओं के लिए सुरक्षा का संबंध राज्य की ज़िम्मेदारी और ग्राहक की अवधारणा से जुड़ा है। महिलाओं के लिए खासकर, ग्राहक की यह अवधारणा, सुरक्षा के माहौल से जुड़ी है और यह महिलाओं पर निर्भर है कि वे अपनी इज्ज़त बनाए रखते हुए साबित करें कि वे इस सुरक्षा के काबिल हैं। इससे महिलाओं के लिए सार्वजनिक स्थानों पर जगह बढ़ने के बजाए और भी घट जाती है।'[16]

जैसा कि पहले भी कहा गया है, महिलाओं व असंगठित कार्यक्षेत्र की महिला मज़दूरों की रोज़मर्रा की ज़िंदगी से यौन उत्पीड़न के हल निकालने के लिए कई रास्ते मिल सकते हैं। इससे राज्य तथा कानून द्वारा ज़बरन सुरक्षा थोपे जाने के साथ–साथ औरतों के नैतिक व्यवहार की ज़िम्मेदारी उजागर होती है, जिस के आधार पर ही उन्हें सुरक्षा प्रदान की जाएगी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महिला अधिकारों के मुद्दे पर अभी भी 'एक सुरक्षात्मक समझ कायम है और उनकी यौनिकता को 19वीं सदी की सोच के आधार पर ही आज भी नियंत्रित रखे जाने की कोशिश है।'[17]

जैसा कि पहले लिखा है, विशाखा दिशानिर्देश काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इनके अंतर्गत "यौन उत्पीड़न" की एक श्रेणी को परिभाषित किया गया है और इस मुद्दे को आम लोगों के बीच चर्चा के लिए खड़ा किया। इन दिशानिर्देशों के पहले और इनके बाद के संघर्षों व दिशानिर्देशों के कारण इस मुद्दे पर ध्यान आकर्षित हुआ और इसका समाधान निकालने के लिए सकारात्मक कदम भी लिए गए।

लेकिन इनके अध्ययन और यौन उत्पीड़न की समझ से कई ऐसे बिंदु सामने आए हैं जिससे इनकी आंतरिक समस्याएं स्पष्ट हो गई हैं। नैतिक चौकीदारी तथा दंड देने की प्रक्रिया स्थापित होने के कारण एक ऐसा नैतिक माहौल बन गया है जिसमें यौन संबंधों तथा यौनिकता की नकारात्मक अवधारणाएं और भी मज़बूत होती हैं। दंड प्रक्रिया के कारण मुद्दा व्यक्ति–केन्द्रित हो गया है, जिससे सामूहिक रूप से यौन उत्पीड़न के समाधान निकालने के विकल्पों को नकार दिया गया है।

इसके साथ, कर्ता और कर्म की परिभाषा को निर्धारित करने के बाद उत्पीड़ित व्यक्ति, दोषी व कृत्य को किसी और नज़रिए से देखने की संभावना नहीं रहती। इससे—

मानवीय रिश्तों के अन्य पहलुओं, जैसे कि चाहत या हिंसा के विभिन्न अनुभवों के लिए भी कोई जगह नहीं रहती।

चौकीदारी तथा सुरक्षा की अवधारणाओं को लिंग, यौन संबंध तथा यौनिकता की विस्तृत चर्चाओं के माध्यम से चुनौती दी जा सकती है। यहां ज़रूरी हो जाता है कि इस प्रकार की चर्चाएं संस्थान या राज्य के परिपेक्ष के बाहर से शुरु हों – जैसे कि 'कामगारों के अपने प्रयासों'[18] से। यौन उत्पीड़न के मामलों के विरुद्ध साथी मज़दूरों की भूमिका व प्रतिनिधित्व के विषय में जितना कहा जाए उतना कम है। इससे हो सकता है कि यौन उत्पीड़न से जूझने की प्रणाली सभी कामगारों का सम्मिलित प्रयास बन जाए और गालिक और/या राज्य का हथियार न रहे।

सबसे पहली चुनौती यह है कि इस कानून की कमियों को जानते हुए भी इसका उपयोग कैसे किया जाए। अगर हम इन कमियों को जानते हुए चर्चा आगे बढ़ाएं तो शायद हम यौन उत्पीड़न के मुद्दे के लिए महत्वपूर्ण सवाल उठा पाएं। इस प्रकार की आलोचनात्मक प्रक्रिया से ही हम दिशानिर्देशों तथा कानूनों के सकारात्मक प्रावधानों को संगठित एवं असंगठित कार्यक्षेत्रों में यौन उत्पीड़न के मामलों में उपयोग कर पाएंगे। जहां अभी हम असंगठित क्षेत्र के संदर्भ में एक कारगर प्रक्रिया लागू करने से कोसों दूर हैं, वहीं औपचारिक प्रक्रियाओं के अभाव में हमारे सामने मौका है कि असंगठित क्षेत्र की महिलाओं के अनुभवों से सीख सकें तथा यौन उत्पीड़न से जुड़े कुछ आधारभूत सवाल पूछ सकें। सवाल उठाने की इस प्रक्रिया का न केवल असंगठित कार्यक्षेत्र की महिलाओं पर बल्कि सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने वाली हर महिला पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

[1] भारतीय दंड संहिता की धारा 294 में लिखा है – जो भी, दूसरों को परेशान करने के लिए : (क) सार्वजनिक जगह पर अश्लील काम करे, या (ख) सार्वजनिक जगह पर अश्लील गाने, कविता या शब्द गाए, बोले या बड़बड़ाए, उसे 3 महीने तक का कारावास व/या जुर्माना हो सकता है।

[2] भारतीय दंड संहिता की धारा 354 में लिखा है - जो भी किसी महिला पर हमला करता है या उस पर गैर कानूनी रूप से जोर का इस्तेमाल करता है, जिससे उस महिला की अस्मिता भंग होती हो, उस व्यक्ति को 2 साल का कारावास व/या जुर्माना हो सकता है।

[3] महिलाओं के अश्लील प्रदर्शन (का प्रतिबंधन) अधिनियम, 1986 की धारा 4 में लिखा है – कोई भी व्यक्ति किसी भी प्रकार की किताब, पर्चा, दस्तावेज़, चित्र, फिल्म, लेख, तस्वीर, जिसमें महिलाओं को अश्लील तरह से दिखाया गया हो नहीं बना सकता, या बेच, किराए पर, बांट या डाक से नहीं भेज सकता।

[4] कार्यस्थल पर महिलाओं के विरुद्ध यौन हिंसा से सुरक्षा विधेयक, 2007 http://india.gov.in/outerwin.htm?id=http://www.wcd.nic.in/proshbill2007.htm

[5] भारतीय संविधान की धारा 21 में लिखा है – कानूनी प्रक्रिया के अतिरिक्त, किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन या उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता।

[6] भारतीय संविधान की धारा 14 में लिखा है : राज्य कानून के सामने किसी भी व्यक्ति को उसके बराबरी के अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।

धारा 15 में लिखा है : (1) राज्य किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध उसके धर्म, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकता। (2) किसी व्यक्ति को केवल उसके धर्म, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर किसी प्रकार की विकलांगता, जिम्मेदारी, प्रतिबंध या शर्त का पात्र नहीं बनाया जा सकता, जिसका संबंध (क) दुकान, रेस्तरां, होटल या मनोरंजन के स्थान से हो; (ख) कुएं, टंकी, नहाने के घाट, सड़क और जन सुविधाओं के उपयोग से हो (3) इस धारा के आधार पर राज्य महिलाओं तथा बच्चों के लिए विशेष प्रावधान बनाने से पीछे न रहे।

[7] भारतीय संविधान की धारा 19 (1) (एफ) में लिखा है : सभी नागरिकों को अधिकार है कि वे -- (एफ) कोई भी व्यवसाय या व्यापार कर सकते है।

[8] विशाखा दिशानिर्देशों के अनुसार यौन उत्पीड़न की परिभाषा में अवांछनीय यौन व्यवहार (चाहें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष) जैसे कि : शारीरिक नज़दीकी, यौन व्यवहार की मांग या गुज़ारिश, यौन संदर्भ रखने वाली बातें; अश्लील फिल्में दिखाना या किसी भी अन्य प्रकार का अवांछनीय यौन प्रवृत्ति का शारीरिक, मौखिक या गैर–मौखिक व्यवहार शामिल है।

प्रस्तावित विधेयक की खंड 3 में परिभाषा के दूसरे भाग को विस्तृत रूप से लिखा गया है : किसी भी महिला कर्मचारी के साथ यौन उत्पीड़न नहीं होना चाहिए जिसमें अवांछनीय यौनिक कर्म, शारीरिक नज़दीकी, इशारे करना, यौन अभिप्राय की बातें करना, अश्लील फिल्में दिखाना, यौन संबंध की अपेक्षा या मांग करना या अन्य किसी भी प्रकार का मौखिक, लिखित, भौतिक, चित्र संबंधी या दूर संचार के माध्यम से अवांछनीय व्यवहार करना शामिल है। इसके अंतर्गत शामिल है (1) नौकरी में पक्षपात का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष वायदा करना, या (2) नौकरी में बुरे बर्ताव की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धमकी देना, या (3) भविष्य में नौकरी की स्थिति के विषय में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष धमकी देना; (4) ऐसा बर्ताव जिससे काम करने में समस्या आए या काम का वातावरण खराब हो, या (5) ऐसा बर्ताव जिससे स्वास्थ्य या सुरक्षा को खतरा पैदा हो।

[9] कार्यस्थल पर महिलाओं के विरुद्ध यौन उत्पीड़न से सुरक्षा विधेयक, 2007 में लिखा है : (1) इस अधिनियम के आधार पर हर मालिक को चाहिए कि वह, कार्यालय प्रपत्र के माध्यम से, एक आंतरिक शिकायत कमिटि का गठन करे।

यदि कार्यस्थल की अलग अलग शाखाएं हैं या प्रशासनिक इकाइयां हैं तो हर इकाई में एक अलग कमिटि गठित की जाए।

(2) कमिटि में निम्नलिखित सदस्य होने चाहिए : (क) एक अध्यक्ष, जो कर्मचारियों में से चुना गया हो, जो उच्च स्तर पर कार्यरत महिला हो और महिलाओं के गुटों के लिए प्रतिबद्ध हो। यदि कोई उच्च स्तर पर कार्यरत महिला उपलब्ध नहीं है तो अध्यक्ष का चयन किसी सहभागी संस्था या गैर सरकारी संस्था से भी किया जा सकता है। (ख) कर्मचारियों में से कम–से–कम 2 सदस्य जो महिला गुटों के लिए समर्पित हों या जिनका सामाजिक कार्य में अनुभव हो; और (ग) एक सदस्य गैर सरकारी संस्था से जो महिलाओं के मुद्दों पर काम करती हो। तथा इस प्रकार चुने गए सदस्यों में से कम–से–कम 50 प्रतिशत महिलाएं हों।

[10] इस विधेयक की धारा 11 (3) में लिखा है : जहां कमिटि या स्थानीय कमिटि इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दोषी के खिलाफ शिकायत सही है, तो वह मालिक/ज़िलाधिकारी को सुझाव दे सकती है कि (क) नौकरी के नियमों के अनुसार उस पर अनुचित व्यवहार की कार्यवाही की जाए, या जहां ऐसे कोई नियम नहीं हैं वहां उचित कार्यवाही की जाए, या (ख) धारा 13 के अंतर्गत, दोषी के वेतन में से उचित रकम काटकर महिला को दिया जाए या उसके विरासती हकदारों को; या दोषी को निर्देश दे कि वह मुआवज़ा महिला को दे।

[11] विधेयक की धारा 12 में लिखा है : यदि कमिटि इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि शिकायत गलत है या महिला ने गलत सबूत पेश किए हैं, तो कमिटि यह सुझाव दे सकती है कि मालिक/ज़िलाधिकारी उस महिला के खिलाफ कदम ले या उस व्यक्ति के खिलाफ जिसने शिकायत दायर की थी तथा नौकरी के नियमों के अनुसार उस पर दंडात्मक कार्यवाही करे। अगर ऐसे नियम नहीं हैं तो उचित कार्यवाही की जा सकती है।

[12] इस विधेयक की धारा 6 में लिखा है : कार्यस्थल पर यदि कमिटि बनाना संभव न हो, या जहां शिकायत मालिक के खिलाफ हो तो ज़िला अधिकारी प्रत्येक खंड में एक स्थानीय शिकायत कमिटि बना सकता है।"

[13] असंगठित कार्यक्षेत्र में उद्यमों के राष्ट्रीय कमीशन, जो भारत सरकार द्वारा इस क्षेत्र के प्रशासन के लिए कानूनी व नीतिगत बदलाव सुझाने के लिए गठित किया गया था, ने 2 विधेयक प्रस्तावित किए हैं – खेतीहर मज़दूरों के काम की स्थिति तथा सामाजिक सुरक्षा विधेयक, 2007 तथा असंगठित गैर–कृषि मज़दूर काम की स्थिति तथा सामाजिक सुरक्षा विधेयक, 2007 – दोनों को लागू करने के लिए सरकार द्वारा नियम बनाने की ज़रूरत है जिससे कि इनके अंतर्गत यौन हिंसा के मुद्दे के लिए भी जगह बनाई जा सके।

[11] अजय खन्ना द्वारा अप्रकाशित सैद्धांतिक अवधारणा, जो भारत में बच्चों के यौन शोषण संबंधी कानून के संदर्भ में लिखी गई है और अन्य कानूनों के विश्लेषण में भी काम आ सकती है।
[12] रत्ना कपूर, 'सैक्सकैपेड्स ऐंड द लौ', सेमिनार पत्रिका, 505, सितंबर 2001
[13] शिल्पा फड़के, 'डेन्जरस लायेज़न्स विमेन ऐंड मैन : रिस्क ऐंड रैपुटेशन इन मुंबई', इकनौमिक ऐंड पौलिटिकल वीकली, अप्रैल 2007
[14] रत्ना कपूर, जैसा ऊपर दिया गया है।
[15] विशाखा दिशानिर्देशों के अनुसार कर्मचारियों द्वारा कर्मचारी बैठकों तथा अन्य उचित सभाओं में यौन उत्पीड़न संबंधी मुद्दे उठाए जा सकते हैं और उन पर रचनात्मक चर्चा की जानी चाहिए।

संदर्भ :

निवेदिता मेनन, 'एम्बौडीयिंग द सैल्फ : फैमिनिज़्म, सैक्शुअल वायलैंस ऐंड द लौ', पार्थ चैटर्जी और प्रदीप जगन्नाथन (संपादक), कम्यूनिटी, जैन्डर ऐंड वायलैंस, सब आल्टर्न स्टडीज़ XI, पर्मानैन्ट ब्लैक, दिल्ली, 2000, 66–105।

नंदिता गांधी एवं नंदिता शाह, द इशूज़ ऐट स्टेक : थियरी ऐंड प्रैक्टिस इन द कन्टैम्परेरी विमैन्स मूवमैंट इन इंडिया, काली फौर विमैन, नई दिल्ली, 1991।

मैत्रेयी मुखोपाध्याय, लीगली डिसपोज़ैस्ड : जैन्डर, आईडैन्टिटी ऐंड द प्रोसैस आफ लौ, स्त्री, कलकत्ता, 1998।

मेरी ई. जौन तथा जानकी नायर (संपादक), अ वचैरचन औफ साइलैंस? द सैक्शुअल इकौनमीज़ औफ मौडर्न इंडिया, ज़ैड बुक्स, लंदन, 1998।

रत्ना कपूर, 'सैक्सकैपेड्स ऐंड द लौ : इवैलुएटिंग द सैक्शुअल हैरेसमैंट गाईडलाईन्स', सैमिनार 505, (टुवर्ड्स इक्वैलिटि : अ सिम्पोज़ियम औन विमैन, फैमिनिज़्म ऐंड विमैन्स मूवमैंट्स), सितंबर 2001।

प्रतीक्षा बक्षी, 'सैक्शुअल हैरेसमैंट', सैमिनार 505, सितंबर 2001।

शिल्पा फड़के, 'डेन्जरस लायेज़न्स विमेन ऐंड मैन : रिस्क ऐंड रैपुटेशन इन मुंबई', इकनौमिक ऐंड पौलिटिकल वीकली, 28 अप्रैल 2007, 1510–1518।

विशाखा तथा अन्य बनाम राजस्थान सरकार व अन्य (ए.आई.आर. 1997 एस.सी 3011)।

महिलाओं के विरुद्ध कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से सुरक्षा विधेयक, 2007।

http://india.gov.in/outerwin.htm?id=http://www.wcd.nic.in/protshbill2007.htm

भारतीय दंड संहिता, 1860।

खेतीहर मज़दूरों के काम की स्थिति तथा सामाजिक सुरक्षा विधेयक, 2007

असंगठित गैर–कृषि मज़दूर काम की स्थिति तथा सामाजिक सुरक्षा विधेयक, 2007

http://nceus.gov.in/Report_Bill_July_ 2007.htm//chap10

यौनिकता और विकलांगता

"मेरे यौनिकता मेरे लिये कभी कोई समस्या नहीं बनी, मगर मेरा विचार है कि दूसरों के लिये ऐसा जरूर रहा है।"

– डस्टी स्प्रिंगफील्ड

"इसे कम वासना या बेरोक यौनिकता नहीं बल्कि प्रेम कहा जायेगा। अगर जरूरत या इच्छा के अलावा चाहे जाने वाले व्यक्ति को सिर्फ अपने आनंद देने की कोशिश की जाये"

– मोर्टिमर एडलर

"यौनिकता, विकलांग लोगों के लिये इतने दिनों से तकलीफ, अलग थलग किये जाने और अपने आप पर शक करने के एहसास का ऐसा क्षेत्र रही है कि कभी–कभी इसके बारे में न सोचना ही ठीक लगता है। गरीबी और अलगाव को समाप्त करना एक अच्छी कार क्रीड़ा के लिये अभियान चलाने से ज्यादा जरूरी होता है।"

– टाम शेक्सपियर

24 वर्षीय रीना के लिये हिलना डुलना मुश्किल था। 5 दिन तक वह अपने पति के साथ संभोग नहीं कर सकी। उसके पति की उलझन बढ़ती गई और वह एक विकलांग लड़की से शादी करने पर पछताने लगा। उसने रीना को महिला डाक्टर के पास जाने और यह पता करने के लिये मजबूर किया कि वह उसे यौन संतुष्टि क्यों नहीं दे पा रही। डाक्टर ने उस पर एक नजर डाली और बिना कोई जांच किये कह दिया "पोलियो से ऐसा ही होता है। तुम्हें शादी ही नहीं करनी चाहिये थी। मैं एक जेली लिख देती हूँ। भगवान करे तुम अपने पति को संतुष्ट कर सको, मगर ज्यादा उम्मीद न रखना।"

इस उदाहरण में हिलने–डुलने में परेशानी महसूस करने वाली यह लड़की हमारे लिये एक बेचैन कर देने वाला सवाल प्रस्तुत करती है। यह नौजवान लड़की कई अस्थिर कर देने वाली धारणाओं की शिकार है। इनमें कोई भी बिल्कुल स्पष्ट देख सकता है कि डाक्टर के पास सिर्फ पत्नी को जाना पड़ता है। यह पितृसत्ता का खुला उदाहरण है। जहाँ पुरुष को विश्वास है कि उसमें दोष हो ही नहीं सकता। डाक्टर भी महिला होने के बावजूद इस धारणा से सहमत नजर आती है। वह यह भी सोचती है कि संभोग में स्त्री की भूमिका सिर्फ पुरुष को संतुष्ट करना है। मगर यह बातें तो अक्सर ही की जाती हैं। यहां मेरे लिये इससे ज्यादा महत्वपूर्ण, कहने की एक और बात है। जिस पर डाक्टर ने भी जोर दिया है। वह यह कि रीना की

लेख : 24-2-3 जून 2003 से लिया गया। लेखिका : उन्नीला घई

Source : In plainspeak 2007, issue 4 (इन प्लेनस्पीक, 2007 अंक 4)

अनुवाद : आसमा सलीम

विकलांगता संतुष्टिदायक यौन संबंध न बना पाने का कारण हो सकती है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां जाकर कोई उपाय बताने से पहले ही उस समाज की हां में हां मिलाती दिखाई दे रही है, जो हमेशा विकलांग लोगों के बारे में भ्रांतिपूर्ण धारणायें पालती रही है। यह प्रमाणित हकीकत बन चुकी है कि समाज ने विकलांग लोगों की यौनिकता के बारे में एक ऊंचे समझे मौन की साजिश रच रखी है और विकलांग लोगों के सरगर्म पक्षधर भी इसे कोई ज्यादा महत्व नहीं देते।

इस बारे में निशः का कहना है "विकलांगता और यौनिकता के सवाल को भारत में विकलांगता के विमर्श में कोई स्पष्ट स्थान प्राप्त नहीं है। इससे संबंधित अभियान में सुविधाओं, रोजगार इत्यादि पाने के अधिकारों से संबंधित सामाजिक परिवर्तन पर ही ध्यान दिया गया है।" जबकि पिछले दो एक दशकों में बराबर के अवसर देने वाले कानूनों के रूप में परिवर्तन तो आया है, मगर विमर्श आज भी चिकित्सा या मानव अधिकारों से संबंधित विचारों से ही संचालित हो रहा है। इस उपेक्षा का कारण यह भी हो सकता है कि विकलांग लोग आम तौर पर उन स्थानों में नजर नहीं आते, जहाँ व्यवस्था में भूल जाने की प्रवृत्ति और संवाद की अनगिनत रुकावटें पाई जाती हैं। यह मामला पश्चिमी देशों में भी कुछ अलग नहीं है। यह बात विकलांगता और यौनिकता से संबंधित हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक से स्पष्ट होती है, जिसमें रोल शद्ल वर्थ ने कहा है :

ऐतिहासिक तौर से, विकलांगता अधिकार अभियान सुविधाओं, शिक्षा और रोजगार जैसे सामाजिक परिवर्तन को आगे बढ़ाने वाले मुद्दों पर ही अपनी सारी ऊर्जा केंद्रित करता रहा है....."

विकलांग लोगों से संबंधित यौनिकता के मुद्दों को नजरंदाज करके, इस अभियान ने विकलांगता और यौनिकता के व्यक्ति और चिकित्सा आधारित विचारों को ही सुदृढ़ किया है, जो पहले ही से बहुत मजबूत है। इस बात की गूंज अमेरिका में विकलांगों की एक वरिष्ठ पक्षधर एन फिंगर [*] के 1999 में व्यक्त किए इन विचारों में भी सुनाई देती है :

यौनिकता अक्सर हमारे बहुत गहरे दमन (oppression) का स्रोत होती है। यह अकरार हमारी बहुत गहरी तकलीफ का भी स्रोत होती है। रोजगार, शिक्षा और घर होने के बारे में बातें करना और इससे संबंधित भेदभाव की राजनीति बनाना, इसे यौनिकता एवं प्रजनन से अलग किये जाने के बारे में बात करने से ज्यादा आसान होता है (फिंगर, 999)।

इसी तरह विकलांगता पर कार्य करने वाली मूनाइटेड किंगडम की लेखक की का कहना है, मैं इनेजा से सोचती रही हूँ कि विकलांगता अधिकारों से संबंधित सबसे जरूरी अभियान वही है जो इन दिनों शेल्टर, शिक्षा, घर, परिवहन वगैरह के लिये चलाये जा रहे हैं और यह कि इनके सामने यौनिकता जैसे मुद्दे को लगभग अनदेखा किया जा सकता है। लेकिन आज पहली बार मैं यह बात मानने लगी हूँ कि यौनिकता दूसरे तमाम उपेक्षित मुद्दों में सबसे ऊपर है, जिसे उन उद्देश्यों में केंद्रीय महत्व प्राप्त है, जिनके लिये हम काम कर रहे हैं (.....)' ऐसा नहीं है कि किसी एक क्षेत्र में अलग से सफलता प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि सारी चीजें आपस में एक दूसरे से जुड़ी हैं। मगर आप स्वयं या 'लोगों के साथ रहने में सच्चाई की तह तक यौनिकता के बगैर नहीं पहुंच सकते, क्या आप पहुंच सकते हैं?' (क्रो 99)

इसी तरह जेंडर और यौनिकता से संबंधित काम में भी विकलांग लोगों के इन मुद्दों से संबंधित अनुभवों की उपेक्षा की गई है।

खास तौर से भारत में यौनिकता के मुद्दों पर विचार करने वाले विद्वानों ने विकलांगता के साथ इसके संबंध पर विचार नहीं किया है। जान और नायर (998) कहते हैं कि 'भारत में यौनिकता के बारे में खामोशी की जो साजिश रची गयी है, वह राजनैतिक या सामाजिक अभियानों में हो या स्कालरशिप में, वह उन जगहों को हमारी दृष्टि से ओझल कर देती है, जहाँ यौनिकता छिपी है। मगर यह दोनों विद्वान भी विकलांगता को उन जगहों में शामिल नहीं समझते। इस सिलसिले में ध्यान देने योग्य एक अपवाद निवेदिता मेनन हैं, जिन्होंने हाल ही में अपनी पुस्तक में विकलांगता के संबंध में यौनिकता के मुद्दों को अनदेखा किये जाने पर ध्यान दिया है। उनका कहना है, 'एक ऐसी संस्कृति में जहां सर्वमान्य धारणाओं से थोड़ा भी हटना दुर्व्यवहार माना जाता है, वहाँ किसी भी प्रकार से अक्षम शरीर की अपूर्णता का पर्याय समझा जाता है। सुन्दर/ कसरती/उत्कृष्ट शरीर का मिथक अक्षम शरीर को अस्वीकार्य और अनिच्छित शरीर के रूप में देखता है। इस सोच की जड़ें भारत के पौराणिक उदाहरणों में पाई जाती हैं। जहां राम के भाई लक्ष्मण, राम में रुचि लेने वाली रावण की बहन सूर्पनखा की नाक काट लेते हैं। यह बात कि लक्ष्मण इस अस्वीकार्य व्यवहार का जवाब सिर्फ एक कुरूप महिला राक्षस का चेहरा बिगाड़ कर ही दे सकते हैं, इस बात की परिचायक है कि भारतीय मानस में चेहरा बिगाड़ना या विकलांगता और यौन–विहीनता एक जैसी चीजें हैं।

इसके नतीजे में, यह बात कि यौनिकता निजी और सामाजिक पहचानें बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, अकसर अनदेखी कर दी जाती है। जैसा कि फूको ने कहा है, 'यौनिकता को ऐसा विशेष स्थान किस तरह प्राप्त हुआ, जहाँ हमारी गहरी सच्चाई' को पढ़ा और व्यक्त किया जा सकता है? क्योंकि यह बहुत जरूरी तथ्य है..... यह जानने के लिये कि आप क्या हैं, आपकी यौनिकता क्या है (फूको 988)। अपने आप को जानने के लिये यह समझना जरूरी है कि हम केवल एक शरीर युक्त जीव हैं। ऐसे में सांस्कृतिक अवमूल्यन और यौनिकता एवं विकलांगता के संबंध को नकारे जाने की हद तक, विकलांग लोगों के लिये और भी आवश्यक हो जाता है कि वे एक सकारात्मक पहचान हासिल करें। मुद्दा सिर्फ यह नहीं है कि किसी विकलांग को अपनी यौनिकता पर अधिकार प्राप्त करने के लिये लड़ना चाहिये, बल्कि यह भी है कि इसे पहले यौनिकता को स्थापित करना चाहिये। यहाँ जो गलत है, वह यह है कि इस समाज में विकलांग व्यक्ति की यौनिकता होती ही नहीं।

इस प्रकार की धारणा उत्तरी भारत की पंजाबी संस्कृति में पाई जाती है। यहाँ लड़कियों को अपने रिश्ते के भाइयों के साथ मिलने जुलने दिया जाता है। मगर उन्हें इनके साथ एक ही कमरे में रहने की अनुमति नहीं दी जाती। दूसरी ओर विकलांग लड़कियों पर ऐसी कोई पाबंदी नहीं होती। जैसा कि किसी के बयान से पता चलता है, बचपन में मैं अपने रिश्ते के भाई विपिन के कमरे में सोने जाने पर रोमांचित होती थी। मगर बड़े होने पर मैंने जाना कि मेरे परिवार की यह कृपा दृष्टि इसलिये थी कि मेरे शरीर को पूरी तरह यौनिकता विहीन समझा जाता था। बाद में इसी रिश्ते के भाई ने मुझसे कहा कि वह मेरी यौन इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है, अगर मैं चुप रहूं और इस अवैध संबंध को आम न करूं। यह वही चीज है, जिसे हान (थाम्सन 997 में कोट की गई) 'यौनिकता विहीन वस्तुकरण' कहता है। इससे यह बात विकलांग लड़कियों के साथ होने वाली यौन हिंसा के खतरों को अनदेखा किये जाने का भी सुबूत/प्रमाण है।

यह धारणा कि यौनिकता और विकलांगता अलग अलग हैं, इस बात को भी नकारती है कि अलग तरह से व्यवहार करने वाले शरीर में भी यौन इच्छायें होती हैं और उनके अलग होने के बावजूद उनकी अलग यौनिकता को स्वीकार नहीं करती। जैसा कि मैंने कहीं और कहा है (घई 00)

अपने बचपन में मैं अपने आपको इस तरह पेश करती थी कि मैं अनगिनत स्वास्थ समस्याओं का अच्छी तरह सामना कर सकती हूँ और शक्ति प्राप्त कर सकती हूँ। मेरे पास अपनी जीवन स्थिति के वास्तविक

मूल्यांकन के लिये समय ही नहीं था, जो मेरी सनझ से अपेक्षाकृत संतोषजनक और खुशहाल थी। कभी सड़क पर चलते हुये लड़के सीटी बजाते और उल्टी सीधी बातें करते, जिसे उस दिनों परेशान करने वाली बात समझा जाता था। (इसके वास्तविक अर्थ को कोई भी नहीं जानता था) मेरी नारीवादी सहेलियां इसका विरोध करती थीं, मगर मैं उनकी यह बात नहीं मानती थी कि मैं हर कामुक निगाह में डूब जाना चाहती हूँ; दरअसल मैं और मेरी एकमात्र विकलांग सहेली हर अश्लील शब्द का मज़ा लेते थे। मुझे इस पर कुछ असुविधा महसूस होने लगी, जब मैंने महिलाओं के मुद्दों पर ध्यान देना शुरू किया। लेकिन अपनी इस सहेली के साथ रहना मैं पसंद करती थी। हम साथ-साथ फिल्में देखते, किताबें पढ़ते, हंसी मजाक करते तो हमें बड़ा मज़ा आता। मगर अब मेरी सहेली अकसर उदास हो जाती है। उस समय मैं उसकी मानसिक स्थिति को समझ नहीं पाती थी। विशेषकर तब जब वह कहती थी कि चलो पार्क में चलें, लड़कों को अपनी बैसाखियाँ दिखायें और उन्हें तेजी से भागता हुआ देखें।'

मैं विकलांग क्यों रहूँ? मैं विकलांग औरत की तरह जीना नहीं चाहती। मैं एक सचमुच की औरत होना चाहती हूँ। मैं वास्तविक जीवन चाहती हूँ। मैं खुश रहना चाहती हूँ। कितने विकलांग ऐसे हैं, जो अपनी यौनिकता, अपनी तरह से बरतने से पहले उसके होने का सुबूत देते हैं और हम में से कितने इसे साबित कर पाते हैं? दिमागी लकवे का शिकार 20 वर्षीय नौजवान आलोक क्या कहता है :—

अपने अविकलांग साथियों से अलग, मेरे लिये दूसरे नौजवान लोगों से मिलना, जो एक दूसरे के संभावी पार्टनर हो सकते हैं, बहुत कठिन है। उन्हें यह बता पाना बहुत बड़ा काम है कि मेरे अंदर भी काम-इच्छायें हैं। क्योंकि अविकलांग हमारी यौनिकता के बारे में कुछ सोचते ही नहीं।'

आलोक की बात याद दिलाती है कि विकलांगों के लिये शारीरिक संबंध बना पाने और यौन इच्छाओं को व्यक्त करने में वही रुकावटें हैं जो उन्हें मुख्यधारा समाज में शामिल होने में पेश आती है। जैसा कि स्टीवन सीडमैन कहते हैं यौनिकता शायद वह आखिरी मानव स्थिति है, जिसके बारे में हम में से बहुत से लोग समाज निर्मित, ऐतिहासिक रूप से बदलती हुई और गहराई के साथ राजनीतिक होने की बात स्वीकार नहीं करते (सीडमैन, 99)।

एक 27 वर्षीय दृष्टि विहीन महिला अनुपमा[4] कहती है :— विकलांग लोगों के लिये शारीरिक आकर्षण का इतना महत्व नहीं होता। यौनिकता के लिये पूरी तरह सक्षम होने से ज्यादा अपने आप पर विश्वास की

जरूरत होती है। अच्छी शिक्षा और रोज़गार के बगैर मैं यह आत्म विश्वास कैसे पा सकती हूँ? अगर मेरी आमदनी अच्छी हो तो कोई मुझसे शादी करने को तैयार हो सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि भौतिक स्थितियां यौनिकता की पूरी अभिव्यक्ति में रुकावट बनती हैं। फिर भी यहां यह हरगिज़ नहीं कह रही कि समझने बूझने की कोशिशों और पालीसियां बनाने से यौनिकता की अभिव्यक्ति को सुनिश्चित किया जा सकता है, क्योंकि सांस्कृतिक और नैतिक धारणायें भी यौनिकता को दबाती हैं।

जहाँ यौनिकता की अभिव्यक्ति संस्थागत व्यवस्थाओं जैसे शादी से संबंधित होती है, वहाँ यह मामला और भी जटिल हो जाता है। चल फिर न सकने वाली एक महिला 24 वर्षीय रक्षा का कहना है समाज अब भी यही मानता है कि अगर मैं शादीशुदा नहीं हूँ तो मुझे यौन जीवन का कोई अधिकार नहीं है। यह एहसास बड़ा पीड़ादायक होता है क्योंकि दूसरी औरतों की तरह मेरी भी शारीरिक आवश्यकतायें हैं। इनके फलस्वरूप मुझे मजबूर हो कर चोरी छिपे यौन संबंध बनाने पड़ते हैं, जिससे मेरी इच्छायें ज़रूर पूरी हो जाती हैं, मगर मेरी ज़िंदगी का अकेलापन दूर नहीं होता। फिर यह डर भी रहता है कि मेरा क्या होगा अगर लोगों को मालूम हो जाये कि मैंने अपनी सीमायें पार कर ली हैं। ऐसे हालात में विरोध पर उतरने से हंगामा हो सकता है। जैसा कि स्नेहा कहती हैं, अगर मैं उन संहिताओं को तोड़ डालूं जो मुझे बाँधे हुए हैं तो भी मैं अपना साथी कैसे तलाश करूंगी? मेरे चाचा ने एक बार कहा कि वह मेरी मदद कर सकते हैं, मगर क्या मैं इस बारे में अपने माता-पिता शिकायत कर सकती हूँ? दोनों तरह मौत मेरी ही है, क्योंकि उनके अनुसार अच्छा लगने की स्थिति मेरे साथ कोई संबंध नहीं रखती। उन्होंने हमेशा मुझे इतना मूल्यहीन समझा है कि मेरी समझ में नहीं आता कि मैं प्यार और स्वीकार किये जाने के लिये कहाँ जाऊँ।

जैसा कि ल्योनोर टाइफेर ने लिखा है, ज़रा सोचिये कि आपको इस हालत में कैसा लगेगा अगर जिनसी खेलने और अच्छी तरह खेलने को खुश होने और परिपक्व होने का निशान समझा जाए, लेकिन आपको यह खेल खेलना सिखाया ही न गया हो और आपने किसी को इसे खेलते देखा हो, और आपको जो कुछ भी पढ़ा लिखा है, उसमें यह बताया गया हो कि आम और स्वस्थ लोग किसी न किसी तरह यह खेल खेलना जान लेते हैं, और उन्हें पहली कोशिश में ही इसमें मज़ा आने लगता है (49)। वह इस बात पर भी ज़ोर देती है कि यौन शिक्षा विकलांग लोगों को अपनी यौनिकता व्यक्त करने में मदद दे सकती है। अधिकतर विकलांग को स्कूल या घर में किसी भी तरह की यौन शिक्षा नहीं दी जाती। यहाँ यह भी मान लिया जाता है कि उन्हें यौनिकता के विचार से दूर रहने को लिये नहीं कहा जा रहा होगा। विकलांग लोगों

को अच्छी यौन शिक्षा से दूर रखने के लिये किसी एक ऐजन्सी को जिम्मेदार नहीं माना जा सकता। चाहे यह सरकार है, स्कूल हैं, चाहे आम या विशेष विकलांगों से संबंधित संस्थायें और अभियानकर्ता हों या फिर घर के लोग या सेवा प्रदान करने वाले हों, सच्चाई यह है कि इस मामले में ज़िम्मेदारी सब की है। जैसा कि राधा का कहना है, 'आम एहसास यह है कि उन्हें वह शिक्षा नहीं मिली जो उन्हें चाहिये और जो उनका अधिकार है। वह कहती है कि वह ऐसे विद्यार्थियों को भी जानते हैं जो सैक्स के बारे में बुनियादी बातें तक नहीं जानते और इसीलिये उनके दुर्व्यवहार का शिकार होने का ख़तरा बना रहता है।

सीमा जिसे कम सुनाई देता है, कहती है कि उसने जो भी यौन शिक्षा पाई है, बस अपनी सहेलियों से पाई है। उसकी दादी ने उसे मासिक धर्म के बारे में बताया था लेकिन किसी ने भी औरत होने के बारे में कुछ भी नहीं बताया 'फलस्वरूप' यौनिकता के बारे में बात करने का मौका ही नहीं मिला। फिर भी जब तक कोई मुझसे शादी करने को तैयार न हो तब तक सैक्स के बारे में जानकारी का फायदा भी क्या है? समाज अब भी यही सोचता है कि मुझ जैसों को सैक्स जीवन का अधिकार नहीं है। मुझे इस बात का बड़ा दुःख होता है, क्योंकि मेरा शरीर भी अन्दर से किसी दूसरी औरत की तरह ही है।' विकलांग लोग आसानी से दुर्व्यवहार का शिकार हो सकते हैं, यह जानते हुये उन्हें ठीक और सुरक्षित यौन संबंधों के बारे में बताया जाना चाहिये। मगर हम अकसर देखते हैं कि एचआईवी और एसटीडी के कार्यक्रमों मे विकलांगता के मुद्दों को पूरी तरह शामिल नहीं किया जाता।

दी सैक्सुअल पालिटिक्स ऑफ डिसेबिलिटी के लेखकों में से एक डा0 टाम शेक्सपियर कहते हैं कि ज्यादा विशेष जानकारी उपलब्ध कराई जानी चाहिये। वह कहते हैं, ' इस दिशा में काफी कोशिशें नहीं की जा रही हैं और मैं नहीं समझता कि जो कोशिशें की जा रही हैं, वे सब के लिये हैं सैक्स और रिश्ते ऐसी चीजें हैं, जिनके बारे में अधिकतर लोग असुरक्षा, अनिश्चितता की भावना रखते हैं वह कहते हैं कि नौजवानों को यौन शिक्षा देते हुये विकलांगों को अनदेखा करने के लिये कोई बहाना नहीं बनाया जा सकता। उनका कहना है 'मैं समझता हूँ कि बहुत से माँ–बाप इस बात से परेशान होते हैं कि उनकी विकलांग संतान में यौनिक सक्रियता है और इसीलिये वह चाहते हैं कि उसे इसके बारे में कुछ पता ही नहीं चलने दिया जाये।'

फिर भी बहुत से लोग, जिनमें सेवा प्रदान करने वाले लोग और विकलांगता के शिकार लोगों के माता–पिता भी शामिल हैं, ऐसे विकलांगों के बारे में गलत धारणायें रखते हैं। गहरी जांच से पता चलता है

कि माता–पिता सामाजिक धारणाओं को आत्मसात कर लेते हैं। विकास विकलांगताओं (developmental disabilities) के शिकार लोगों के बारे में 'हमेशा से बच्चा' होने की धारणा बड़ी मज़बूत है। यौन शिक्षा को इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिये कि बहुत सारा शोध कार्य साबित करता है कि विकलांगता के शिकार लोग हर समय यौनिकता समेत जीवन में जीवंत पहलुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करते रहते हैं। ये लोग सामुहिक और निजी जीवन में फ़र्क करने की पूरी क्षमता रखते हैं। मिसाल के तौर पर वह यह जानते हैं कि हस्त मैथुन निजी स्थानों पर ही करना उचित है।

विकलांग लोग प्रचलित सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों और 'सामान्य' तथा 'असामान्य' के फ़र्क में धारणाओं को चुनौती दे कर ही अपने बारे में प्रचलित दूसरों पर आश्रित, कामविहीन या विकृत होने की धारणाओं का मुक़ाबला कर सकते हैं और अपनी एक नई पहचान बना सकते हैं। हमें इस मान्यता की चुनौती देनी होगी कि हमारी शारीरिक अवस्था, हमारी नियति है और यह कि पहचान को बदला नहीं जा सकता। यह काम यूँ तो बहुत मुश्किल मालूम होता है, लेकिन अगर यह मान लिया जाये कि दुनिया के बारे में हमारा ज्ञान अकारण तथ्यों पर आधारित नहीं, बल्कि खुद हमारे निजी अर्थों का बनाया हुआ है तो इससे परिवर्तन में तेज़ी लाई जा सकती है। मीडिया यौनिकता के मुद्दों पर पुनः विचार के मामले में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

विकलांग लोगों की हैसियत से, हमारा दूसरों की नज़रों से ओझल होना इस बात से और भी बढ़ जाता है कि विज्ञापनों में 'सामान्य' शरीर को ही पसंदीदा समझा जाता है। मीडिया इस बात पर बार–बार ज़ोर देता है कि शरीर का आदर्श वज़न, साइज़ और रंग होता है। इस संदेश को आत्मसात कर लेने के बाद, विकलांग लोग अविकलांगों के 'प्रतिमानों' का शिकार हो जाते हैं। इसके नतीजे में आराम और स्वास्थ्य को 'सामान्य' दिखाई देने के लिये त्यागा जा सकता है।

चूंकि विकलांग लोग समाज में अलग थलग रहने पर मजबूर होते हैं, इसलिये उनका संघर्ष कष्टदायक होता है और इसे कभी कभी बग़ावत भी समझ लिया जाता है। जब फूको कहता है कि शरीर रणभूमि होते हैं तो उसका इशारा इसी तरफ़ होता है कि हम पुरानी सामाजिक धारणाओं में उलझे हुये हैं। अगर कुछ पहचानों को हमेशा के लिये विकलांगता से जुड़ा हुआ मान लिया जाये तो इस धारणा को उन लोगों की ओर से सीधी चुनौती दी जायेगी, जो अपनी पारम्परिक पहचानों के अतिक्रमण की कीमत चुकाने

को तैयार हैं। जब तक इन संघर्षों को व्यक्तिगत स्तर पर राजनैतिक संघर्ष का दर्जा नहीं दिया जायेगा, तब तक अत्याचार जारी रहेगा। यौनिकता को अभिव्यक्ति देने की लड़ाई जो कभी कभी छलपूर्ण भी हो जाती है, तभी लड़ी जा सकती है, जब हम समाज की दी हुई छवियों के साथ जीने से इनकार करने पर अटल हों।

अंत में टाम शेक्सपियर को दोबारा कोट किया जा सकता है। वह कहते हैं:–

'विकलांग यौनिकता से संबंधित हमारे काम को तंगनज़री के साथ सिर्फ़ काम इच्छाओं और शारीरिक संबंधों तक सीमित नहीं समझा जाना चाहिये। इसे विकलांगता अभियान के पुनःअवलोकन की प्रक्रिया का हिस्सा होना चाहिये। इस अभियान में विकलांग लोगों के जीवन के हर क्षेत्र की पहचान और सुदृढ़ता, अधिकार और सम्मान शामिल हैं और वह विकलांग और अविकलांग लोगों की एक मिली जुली बिरादरी बनाता है। इसे इक्कीसवीं सदी में सैक्स की भूमिका पर पुनः अवलोकन का हिस्सा भी होना चाहिये।'

क देखिये http://www.infochangeindia. org/agenda_.jsp

ख सेक्सुअलिटी रिसर्च एंड सोशल पालीसी जर्नल आफ़ एन सी आर सी देखिये http://nsrc. sfsu.edu

ग एन फिंगर, फारबिडन फ्रूट न्यूं इंटरनेशनलिस्ट, न. ,99

घ The narratives reported in the paper are from an ongoing research study on the sexuality issues of disabled people

ङ ल्योनोर टाइफेर, सैक्स इज नाट ए नेचुरल एक्ट, बोल्डर: वेस्टव्यू प्रेस,99

डा0 अनीता घई मनोविज्ञान विभाग, जीसस एण्ड मैरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में सीनियर रीडर हैं। वह विकलांगता के तहत शिक्षा, स्वास्थ्य और जेण्डर के पहलुओं पर शोध करती हैं। उन्होंने '(डिस) एम्बाडीड फार्म : इशुज आफ़ डिस एबल्ड वीमेन' नाम की किताब लिखी है और 'दि मेन्टली हेंडीकैप्ड : पि डिक्शन ऑफ वर्क परफारमेंस' की सह–लेखिका हैं। विकलांगता के मुद्दों पर संवेदना पैदा करने के लिये यात्रायें करती हैं और विकलांग लोगों के अधिकारों को आगे बढ़ाने वाली कई संस्थाओं के बोर्ड में शामिल हैं।

के पता–पता सामाजिक धारणाओं को आत्मसात कर लेते है। विकास विकलांगताओं (developmental disabilities) के शिकार लोगों के बारे में हमेशा से बच्चा होने की धारणा बड़ी मजबूत है। यौन शिक्षा के इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिये कि बहुत सारा शोध कार्य साबित करता है कि विकलांगता के शिकार लोग हर स्तर चौनिकता समेत जीवन में जीवंत पहलुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करते रहते हैं। ये लोग 'सामुहिक' और 'निजी' जीवन में फर्क करने की पूरी क्षमता रखते हैं। मिसाल के तौर पर वह यह जानते हैं कि हस्त मैथुन निजी स्थानों पर ही करना उचित है।

विकलांग लोग प्रचलित सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों और 'सामान्य' तथा 'असामान्य' के फर्क में धारणाओं को चुनौती दे कर ही अपने बारे में प्रचलित दूसरों पर आश्रित, कामविहीन या विकृत होने की धारणाओं का मुकाबला कर सकते हैं और अपनी एक नई पहचान बना सकते हैं। हमें इस मान्यता को चुनौती देनी होगी कि हमारी शारीरिक अवस्था, हमारी नियति है और यह कि पहचान को बदला नहीं जा सकता। यह काम यूं तो बहुत मुश्किल मालूम होता है, लेकिन अगर यह मान लिया जाये कि दुनिया के बारे में हमारा ज्ञान अकारण तथ्यों पर आधारित नहीं, बल्कि खुद हमारे निजी अर्थों का बनाया हुआ है तो इससे परिवर्तन में तेजी लाई जा सकती है। मीडिया यौनिकता के मुद्दों पर पुनः विचार के मामले में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

विकलांग लोगों की हैसियत से, हमारा दूसरों की नजरों से ओझल होना इस बात से और भी बढ़ जाता है कि विज्ञापनों में 'सामान्य' शरीर को ही पसंदीदा समझा जाता है। मीडिया इस बात पर बार बार जोर देता है कि शरीर का आदर्श वजन, साइज और रंग होता है। इस संदेश को आत्मसात कर लेने के बाद, विकलांग लोग अविकलांगों के प्रतिमानों का शिकार हो जाते हैं। इसके नतीजे में आराम और स्वास्थ्य को सामान्य दिखाई देने के लिये त्यागा जा सकता है।

चूंकि विकलांग लोग समाज में अलग थलग रहने पर मजबूर होते हैं, इसलिये उनका संघर्ष कष्टदायक होता है और इसे कभी कभी बगावत भी समझ लिया जाता है। जब फूको कहता है कि शरीर रणभूमि होते हैं तो उसका इशारा इसी तरफ होता है कि हम पुरानी सामाजिक धारणाओं में उलझे हुये हैं। अगर कुछ पहचानों को हमेशा के लिये विकलांगता से जुड़ा हुआ मान लिया जाये तो इस धारणा को उन लोगों की ओर से सीधी चुनौती दी जायेगी, जो अपनी पारम्परिक पहचानों के अतिक्रमण की कीमत चुकाने

को तैयार हैं। जब तक इन संघर्षों को व्यक्तिगत स्तर पर राजनैतिक संघर्ष का दर्जा नहीं दिया जायेगा, तब तक अत्याचार जारी रहेगा। यौनिकता को अभिव्यक्ति देने की लड़ाई जो लगी कभी छलपूर्ण भी हो जाती है, तभी लड़ी जा सकती है, जब हम समाज की दी हुई छवियों के साथ जीने से इनकार करने पर अटल हों।

अंत में टाम शेक्सपियर को दोबारा कोट किया जा सकता है। वह कहते हैं–

'विकलांग यौनिकता से संबंधित हमारे काम को तंगनजरी के साथ सिर्फ लाग इच्छाओं और शारीरिक संबंधों तक सीमित नहीं समझा जाना चाहिये। इसे विकलांगता अभियान के पुनःअवलोकन की प्रक्रिया का हिस्सा होना चाहिये। इस अभियान में विकलांग लोगों के जीवन के हर क्षेत्र की पहचान और सुदृढ़ता, अधिकार और सम्मान शामिल हैं और वह विकलांग और अविकलांग लोगों की एक मिली जुली बिरादरी बनाता है। इसे इक्कीसवीं सदी में सैक्स की भूमिका पर पुनः अवलोकन का हिस्सा भी होना चाहिये।'

क देखिये http://www.infochangeindia.org/agenda_.jsp

ख सेक्सुअलिटी रिसर्च एंड सोशल पालीसी जर्नल आफ एन सी आर सी देखिये http://nsrc.sfsu.edu

ग एन. फिगर, फारबिडन फ्रूट: यू इंटरनेशनलिस्ट, न.,99

घ The narratives reported in the paper are from an ongoing research study on the sexuality issues of disabled people.

ङ ल्योनोर टःइफेर, सैक्स इज नाट ए नेचुरल एक्ट, बोल्डर: वेस्टव्यू प्रेस,99

डा0 अनीता घई मनोविज्ञान विभाग, जीसस एण्ड मैरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में सीनियर रीडर हैं। वह विकलांगता के तहत शिक्षा, स्वास्थ्य और जेण्डर के पहलुओं पर शोध करती हैं। उन्होंने (डिस) एम्बाडीड फार्म : इशुज आफ डिस एबल्ड वीमेन नाम की किताब लिखी है और 'दि मेन्टली हेंडीकैप्ड : पि डिक्शन ऑफ वर्क परफारमेंस' की सह–लेखिका हैं। विकलांगता के मुद्दों पर संवेदना पैदा करने के लिये यात्रायें करती हैं और विकलांग लोगों के अधिकारों को आगे बढ़ाने वाली कई संस्थाओं के बोर्ड में शामिल हैं।

विवाह, यौनिकता एवं विकलांगता से ग्रस्त औरतें

रीना मोहंती
एएफआरसी

प्रस्तावना

'विकलांगता से ग्रस्त औरत' से हमारा आशय क्या है?

विकलांगता से ग्रस्त औरतें ऐसी औरतें हैं जिनके एक या एक से ज्यादा अंग विकृत अथवा असामान्य हैं और इस वजह से वह समाज में रुकावटों का सामना करती हैं। इस श्रेणी में ग्रामीण और शहरी इलाकों की विकलांगता से ग्रस्त सभी लड़कियों और औरतों को शामिल किया जाता है। इन औरतों की विकलांगता का स्तर अलग-अलग है, उनकी यौन प्राथमिकताएं अलग-अलग हैं और उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी अलग-अलग है।

विकलांगता से ग्रस्त औरतें

विकलांगता से ग्रस्त औरतों की सामाजिक हैसियत अलग-अलग समाज और अलग-अलग देशों में अलग-अलग रहती है। पश्चिम देशों की विकलांग औरतें आमतौर पर ज्यादा कुरूपतादेह स्थिति में दिखाई देती हैं। इन देशों में विकलांगता से ग्रस्त औरत के लिए शिक्षा या रोजगार हासिल करना केवल मुश्किल ही नहीं बल्कि अक्सर नामुमकिन सांचित होता है। उसे आसानी से हाशिए पर धकेल दिया जाता है। समाज में उसके लिए कोई जगह नहीं बचती। वह जरूरतों से जुड़ी अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाती – वह आम समझ के पैमाने पर "अच्छी पत्नी", या "अच्छी मां" नहीं बन सकती। वह अपनी रोजी-रोटी का इंतजाम भी नहीं कर सकती क्योंकि उसकी पहुंच बहुत सीमित होती है और बहुत सारे पूर्वाग्रह उसके रास्ते में रोड़ा बन जाते हैं। इसके बावजूद, विकलांगता से ग्रस्त औरतें सामाजिक बदलाव के संघर्ष के हर मोर्चे पर सक्रिय हैं।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों की स्थिति

- विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों में 51 प्रतिशत औरतें हैं।
- अंतर्राष्ट्रीय विकास कार्यक्रमों में भी विकलांगता से ग्रस्त औरतों की जरूरतों को विरले ही कभी संबोधित किया जाता है। समुचित विकास कार्यक्रमों में भी उनकी सुध नहीं ली जाती।
- हर देश के विकलांगताग्रस्त व्यक्ति गरीबों में भी सबसे गरीब होते हैं।
- विकलांगता की वजह से औरतों की समस्याएं बढ़ जाती हैं। मिसाल के तौर पर, औरतों को एचआईवी संक्रमण से बचाने के लिए चलाए जाने वाले अभियानों में औरतों को अब संबोधित नहीं किया जाता जाहिर है कि जो औरतें विकलांग हैं उनकी तो और उपेक्षा की जाती है।
- बहुत सारे विकलांगता ग्रस्त व्यक्ति, खासतौर से विकलांगता से ग्रस्त बूढ़ी औरतें अकेलेपन की जिंदगी जीती हैं। वह अपने घर से तो बाहर नहीं ही निकल पातीं, वह घर-घर के भीतर भी चलने फिरने से लाचार हो जाती हैं।
- ज्यादातर देशों में कम से कम दो तिहाई विकलांग व्यक्ति बेरोजगार हैं। विकलांगता से ग्रस्त औरतों को रोजगार ढूंढने में विकलांगता ग्रस्त पुरुषों के मुकाबले चार गुना ज्यादा मुश्किलों का सामना करना पड़ता है।
- संसाधन एवं सूचनाओं तक पहुंच सीमित रहती है जो पहिलाएं सुनने-देखने से लाचार हैं या जो किसी चीज को सीख नहीं पातीं उनकी समस्या और बढ़ जाती है।

रवैया : अकेलापन और खामोशी

विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों के बारे में प्रचलित रूढ़ छवियों और नकारात्मक दृष्टिकोणों की वजह से हमारे जैसे लोगों को बहुत नीची नजर से देखा जाता है। विकलांगता से ग्रस्त औरतों के साथ होने वाला ज्यादातर भेदभाव इस सोच पर आधारित है कि हम वैसी नहीं हैं जैसी बाकी औरतें हैं इसलिए हमें वैसे अधिकार और आकांक्षाएं नहीं मिल सकतीं जो बाकी औरतों को मिलती हैं।

यूं तो जेंडर आधारित नजरिये की वजह से औरतों के साथ लगभग हर स्तर पर ही भेदभाव होता है मगर विकलांगता से ग्रस्त औरतों को तो दोगुना भेदभाव झेलना पड़ता है। वह औरत होने के नाते तो भेदभाव झेलती ही है, विकलांग होने की वजह से और ज्यादा भेदभाव झेलती हैं। संस्कृति, परंपराओं, सोच और पूर्वाग्रहों के आधार पर एकांत व शैरेवंद जीवन जीने की वजह से विकलांग पुरुषों के मुकाबले विकलांग औरतों पर ज्यादा बुरा असर पड़ता है। कुछ समाजों में तो बच्चे की विकलांगता के लिए भी मां को ही दोषी ठहराया जाता है और अगर मां पहले ही विकलांग है तो तब तो वह इस लांछन से बच ही नहीं सकती। जेंडर

आर्थिक गैरनिर्भरता की वजह से विकलांगताग्रस्त औरतों और पुरुषों को अलग अलग तरह की मनोदशाओं का सामना करना पड़ता है। सामान्य रूप से पुरुषों को परिवार के कमाऊ सदस्य और समाज के मुखिया की तरह देखा जाता है इसलिए अगर कोई पुरुष विकलांग हो तो उसे इन जिम्मेदारियों के योग्य नहीं माना जाता। इसी तरह अगर कोई औरत विकलांग है तो उसे पत्नी, जीवनसाथी या मां की प्रचलित स्त्री-सुलभ छवियों और भूमिकाओं से वंचित कर दिया जाता है। कई बार तो विकलांग औरतों के बच्चे भी उनसे अलग कर दिए जाते हैं।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों के प्रति अलगाव और उनसे दूरी की समस्या आम औरतों के साथ-साथ खुद नारीवादी आंदोलन के भीतर भी मौजूद है। मुख्यधारा में मौजूद औरतें और महिला आंदोलन भी हमारे अधिकारों और पहचान को मान्यता नहीं देते। विकलांग औरतों को मजदूर या मां की सामान्य भूमिकाओं में बिरले ही कभी देखा जाता है।

सूचनाओं और पहुंच का अभाव

सूचनाओं तक पहुंच के अभाव से विकलांग औरतों की सेहत, कल्याण, सुरक्षा, अवसरों और अधिकारों पर बहुत बुरा असर पड़ता है। बहुत सारी विकलांग औरतें गोपनीयता तथा प्राइवेसी के अभाव और पूर्वाग्रहों एवं पहुंच में कठिनाइयों की वजह से अपने स्वास्थ्य पर भी नियंत्रण नहीं रख पाती हैं। विकलांग औरतों को सेक्स और यौनिकता से जुड़ी जानकारियां प्रायः ज्यादा नहीं मिलतीं। इस तरह की जानकारियां मुहैया कराने की जिम्मेदारी परंपरागत रूप से परिवार के सदस्यों पर आती है मगर वह भी विकलांग लड़कियों को नजरअंदाज कर देते हैं। उन्हें विवाह के योग्य नहीं माना जाता। यह केवल हमारे अधिकारों का निषेध नहीं है बल्कि इसकी वजह से हम अनचाहे गर्भ, यौन दुराचार और बीमारियों का भी शिकार बनती हैं। विकलांग औरतों को शरणगाह सेवाओं, बलात्कार परामर्श केंद्रों, स्वास्थ्य केंद्रों, परिवार नियोजन केंद्रों, कपड़े की दुकानों, नाई की दुकान आदि बहुत सारी ऐसी जगहों पर भी जाने का मौका नहीं मिलता जो सिर्फ औरतों के लिए वजूद में हैं। यह तथ्य इस मान्यता को रेखांकित करता है कि हमें औरत नहीं माना जाता है। यानी लोगों ने मान लिया है कि हमें अपने चेहरे-मोहरे की चिंता नहीं रहती और न ही हम अपनी यौनिकता व सेहत के बारे में खुद कुछ तय कर सकती हैं।

यौनिकता और संबंध

'यौनिकता क्या है?' ज्यादातर लोग इस शब्द के पहले हिस्से – यौन – के अलावा बाकी अक्षरों पर ध्यान नहीं देते। मगर यौनिकता इससे कहीं ज्यादा व्यापक अवधारणा है। इस अवधारणा में जेंडर, देह की छवियां, पहचान और स्वाभिमान जैसे कई पहलू शामिल हैं। जैसे-जैसे हम यौन भावनाओं से लैस व्यक्ति के रूप में अपने प्रति जागरूक होती जाती हैं, ये सारे आयाम भी महत्वपूर्ण होते जाते हैं। यौनिकता शारीरिक, सामाजिक, भावनात्मक और बौद्धिक के स्तर पर जन्म से लेकर मृत्यु तक हमारी अभिव्यक्ति का स्रोत है। यौनिकता के कई पहलू होते हैं और उसे कई तरह से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

सकारात्मक स्वाभिमान और आत्मगौरव यौन अभिव्यक्ति के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। जो लोग खुद को स्वीकार करते हैं और जो खुद को यौन भावनाओं से लैस मानते हैं वह औरों के लिए आकर्षक साबित होते हैं। मगर जब व्यक्ति अपनी देह के प्रति सम्मान खो देता है तो वह प्यार व आकर्षण को महसूस या अभिव्यक्त करने में भी कठिनाई महसूस करने लगता है।

एक अच्छा यौन संबंध तब तक संभव नहीं है जब तक उस रिश्ते में शामिल दोनों व्यक्ति समान रूप से आदान-प्रदान करने में सक्षम न हों। विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों के बारे में यह धारणा बहुत लंबे समय से प्रचलित है कि उनके लिए इससे बड़ा संतोष और कुछ नहीं है कि वह अपने साथी को संतुष्ट करें। ऐसे एकतरफा यौन संबंधों में अपराधबोध और असंतोष अपरिहार्य होते हैं। आगे चल कर इस तरह की नकारात्मक भावनाएं न केवल दोनों साथियों को कष्ट पहुंचाती हैं बल्कि इससे उनका संबंध भी नष्ट हो सकता है।

हमारी यौनिकता और यौन संबंधों को प्रभावित करने वाले ये सिर्फ कुछ पहलू हैं। समाज के रवैये की वजह से विकलांगताग्रस्त औरतों के लिए ये मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। दुर्भाग्यवश, अगर विकलांगता से ग्रस्त कोई महिला गर्भधारण करना चाहती है तो इस बारे में उसे कोई सहायता या जानकारी नहीं मिल पाती। और तो और, स्वास्थ्य विशेषज्ञों के पास भी इस बारे में पर्याप्त एक्सपर्ट और जानकारी नहीं होती कि यदि विकलांग महिला गर्भधारण करती है तो किस तरह के परिणाम सामने आ सकते हैं। कई बार ये विशेषज्ञ सिर्फ अंदाजे के आधार पर उन्हें जानकारी दे देते हैं। मां बनने या न बनने के फैसले को ज्यादातर एक चिकित्सकीय फैसले की तरह देखा जाता है। यानी यह संकट जीवन की गुणवत्ता को मुद्दा नहीं है। बहुत सारी कम उम्र लड़कियों के मामले में, खासतौर से बौद्धिक विकलांगता से ग्रस्त लड़कियों के मामले में तो प्रजनन संबंधित फैसले हमेशा न्यायालय या परिवार ही लेते हैं। वही तय करते हैं कि बौद्धिक विकलांगता से ग्रस्त लड़की को बच्चे पैदा करने की इजाजत दी जा सकती है या नहीं। लेकिन यहां एक नैतिक मुद्दा पैदा हो जाता है। सवाल यह उठता है कि इन लड़कियों के बारे में फैसला लेने का अधिकार किसको है? वह कौन से पहलू हैं जो प्रजनन संबंधी फैसलों को जीवन के अन्य फैसलों से अलग करते हैं?

हमारे समाज में लिंग आधारित भूमिकाएं तय हो चुकी हैं। इसी वजह से यौनिकता को भी केवल यौन गतिविधियों की बराबरी के आधार पर ही देखा जाता है। कहने का आशय यह है कि औरतों को केवल उनकी यौन गतिविधियों या लैंगिक भिन्नता के आधार पर ही देखा जाता है। प्रतिरूप की बजाय केवल देह के आधार पर ही उनका महत्व तय होता है। लड़की

जब दुनिया में पहली साँस लेती है तभी से वह गुलाबी और सफ़ेद गुड़ियों की दुनिया में रख जाती है, वह एक सुसभ्य औरत की तरह कम्यू तरीके से पेश आने लगती है, उसे खामोशी से सिर झुका कर बात सुनने की हिदायत दी जाती है। पितृसत्तात्मक समाज में औरतों की भूमिका केवल यौन साथी के ही रूप में देखी जाती है। औरतों और मर्दों के वैवाहिक एवं यौन जीवन में यह बात बड़ी साफ़ दिखाई देती है। यौनिकता एक बहुआयामी मुद्दा है और वह औरतों की जिंदगी में एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। परंतु पितृसत्तात्मक समाज में यौनिकता ही औरत की जिंदगी को निर्धारित करती है। अगर कोई औरत विकलांग है तो वो लोग सामान्य औरतों की तरह सेक्सी/कामोत्तेजक/खूबसूरत नहीं मानते।

विकलांग औरतों को अपनी यौनिकता पर ध्यान देने के लिए प्रेरित नहीं किया जाता। अगर वह यौन संबंध बनाती हैं तो माना लिया जाता है कि यह उनकी मजबूरी है और अगर इसके बदले में उनके साथ दुर्व्यवहार होता है तो उन्हें जवाब नहीं खोजनी चाहिए। चूंकि उन्हें अनावश्यक माना जाता है इसीलिए उन्हें यौनेच्छा से भी रहित मान लिया जाता है। अगर औरत विकलांग है तो इस बात पर भी सवाल खड़ा कर दिया जाता है कि वह परंपरागत तरीके से यौन सुख देने और पाने करने की क्षमता रखती है या नहीं। विकलांगता और उससे संबंधित उपचार व दवाइयां यौन संबंधों की इच्छा, उत्तेजना, यौनांगों में चिकनाहट, यौन संतुष्टि की क्षमता और प्रजनन क्षमता आदि पहलुओं पर गहरे प्रभाव डाल सकती हैं। विकलांगता के शारीरिक आयामों से यौन संबंधों में स्वत:स्फूर्तता, संवेग के स्वरूप, आसन/मुद्रा और दोनों व्यक्तियों के बीच संचार की शैली प्रभावित हो सकते हैं। जो औरत बचपन होने के बाद विकलांग हो जाती है उसे अपने शरीर में आए बदलावों, अपनी नई दैहिक छवि और सामाजिक हैसियत के हिसाब से खुद को नए सिरे से ढालना पड़ता है लेकिन जो औरत जन्म से ही विकलांग होती है उसे तो नकारात्मक सामाजीकरण का दंश पूरे जीवन झेलना पड़ता है। नदरहल, रचनात्मक समस्या समाधान पद्धति, खुले संवाद, सहायक नेटवर्कों और यौनिकता की विस्तृत परिभाषा के जरिए विकलांग या गैर-विकलांग, हर औरत अपनी यौन अभिव्यक्ति के रास्ते ढूंढ सकती है। लेकिन दिक्कत यह है कि किसी औरत के संभावित यौन साथी/साथियों के दिलोदिमाग से उसकी यौनिकता के बारे में जमे नकारात्मक मान्यताओं को नष्ट करना कहीं ज्यादा मुश्किल होता है।

विडंबना यह है कि जो प्रोफेशनल विकलांगता से ग्रस्त औरतों की यौन अभिलाषा और संतुष्टि पर अंकुश लगाने की कोशिश करती हैं वह भी उन्हें यौन उत्पीड़न और दुराचार से नहीं बचा पातीं। वजह साफ है – यौन उत्पीड़न और दुराचार की घटनाओं का संबंध यौनेच्छा की बजाय सत्ता संबंधों से ज्यादा होता है। विकलांगता से ग्रस्त औरतों को विरोध करने में असहाय पाया जाता है और उनसे यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह अपने साथ होने वाले दुराचार के बारे में किसी को बता देंगी। इसी वजह से उन पर हमला करने वाले का साहस और बढ़ जाता है। अनुसंधानों से पता चलता है कि विकलांगता से ग्रस्त औरतों व लड़कियों को अन्य औरतों के मुकाबले कहीं ज्यादा यौन एवं शारीरिक अत्याचारों का सामना करना पड़ता है। इन अनुसंधानों से यह भी जाहिर हुआ है कि अपने साथ होने वाले इस अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने और एक सुरक्षात्मक व्यवस्था हासिल करने के लिहाज से उनके रास्ते में कई गुना ज्यादा रुकावटें आती हैं। पुलिस थाने, संकट परामर्श केंद्र और शेल्टर आदि आकार उनकी पहुंच के बाहर रहते हैं। कई बार तो अधिकारी व काउंसिलर भी यौन दुराचार की शिकार विकलांग औरतों की बात पर विश्वास नहीं करते। वह खुद ही उसे काल्पनिक और अतार्किक मानकर चलते हैं।

जिन संस्कृतियों और समाजों में शादियां मां-बाप की मर्जी से तय होती हैं वहां तो विकलांग औरतों को शादी के लायक भी नहीं माना जाता।

विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों को अपनी यौनिकता और प्रजनन तंत्र पर नियंत्रण का अधिकार नहीं मिलता। यह अब जाकर हुआ है कि जिन लोगों को सीखने में मुश्किल पेश आती है उनकी नसबंदी के फैसले पर लोग गंभीरता से सवाल खड़ा करने लगे हैं। यह एक ऐसा मुद्दा है जिस पर कानून के जानकारों को भी गंभीरता से सोचना चाहिए। चीन में एक कानून बनाया गया है जिसके तहत आनुवांशिक विकार की विकलांगता से ग्रस्त औरतों की जबरन नसबंदी कर दी जाती है। वहां किशोर उम्र की लड़कियों की नसबंदी को सही ठहराने के लिए यह दलील दी जाती है कि ये लड़कियां अपने मासिक स्राव की वजह से पैदा होने वाली समस्याओं को नहीं संभाल सकतीं।

दुनिया भर में औरत की शारीरिक छवि ही यह तय करती है कि उसके विवाह या यौन संबंधों की कितनी संभावना है। वह बच्चे पैदा कर सकती है या नहीं और उसे अच्छी मां माना जाता है या नहीं, इससे भी उसकी उपयोगिता और छवि तय होती है। अनुसंधानों से पता चलता है कि अगर कोई विकलांग औरत गर्भ धारण करती है तो उस पर गर्भपात और नसबंदी के लिए दबाव डाला जाता है।

आंकड़ों से पता चलता है कि गैर-विकलांग औरतों के मुकाबले विकलांग औरतों के साथ यौन दुर्व्यवहार की आशंका ज्यादा रहती है। कई बार दुर्व्यवहार करने वाला व्यक्ति विकलांग औरत को फुसलाने की कोशिश करता है या वह उसे इस बात का अहसास कराता है कि वह उस पर अहसान कर रहा है क्योंकि किसी अपाहिज औरत के साथ कोई रेप्स नहीं करेगा। इस बात की बहुत विकलांग व्यक्ति के साथ दुराचार के मामले के अदालत तक पहुंच पाने की गुंजाइश बहुत कम रहती है। हर अदालत में औरतों के बाहरी रूप-रंग और कद-काठी पर बहुत ज्यादा जोर दिया जाता है इसलिए विकलांगता से ग्रस्त औरतों को अन्य औरतों के मुकाबले कमतर माना जाता है। यह नकारात्मक आत्मछवि, पीड़िता को खामोश कर देने की संभावना या उस पर अविश्वास के

साथ साथ आरोपी को सजा न मिलने की वजह से भी विकलांगता से ग्रस्त औरतों के साथ यौन दुराचार की आशंका बढ़ जाती है।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों के मामले में यौनिकता और विवाह का मुद्दा बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। हमारे समाज में एक 'चेतना' व्यक्तित्व पर बहुत जोर दिया जाता है इसलिए यह समाज इन मूलभूत आवश्यकताओं की सार्वभौमिकता को अभी भी स्वीकार नहीं कर पा रहा है। इसीलिए हमारे समाज में विकलांग व्यक्तियों को अलैंगिक माना जाता है और इस प्रकार उनकी यौनिकता का दमन किया जाता है।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों को अपनी यौनिकता की पड़ताल करने के पर्याप्त अवसर नहीं मिले हैं। इसी का नतीजा है कि अपने विकलांग बच्चे की लगन से देखभाल करने वाले मां-बाप को उस वक्त बड़ी बेचैनी होती है जब उनका बच्चा किशोर उम्र में पहुंच जाता है। अपने बच्चे की हिफाजत करने के चक्कर में वह उसकी नई आकांक्षाओं को नजरअंदाज करने लगते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उसकी ये इच्छाएं कभी पूरी नहीं होने वाली हैं। वह बच्चे के व्यक्तित्व में यौनिकता के लक्षणों को देखकर परेशान रहने लगते हैं। ऐसे बच्चों की यौनिकता से संबंधित समाजीकरण पर लगी बंदिशों पर ज्यादा जोर दिया जाता है। इस मामले में लड़कों को तो फिर भी थोड़ी-बहुत छूट मिल जाती है मगर लड़कियों को ऐसी कोई छूट नहीं मिलती। लड़कियों के मामले में शुचिता को एक बुनियादी गुण माना जाता है।

इस सोच की वजह से विकलांग व्यक्ति, खासतौर से लड़कियों का पूरी तरह अयौनीकरण कर दिया जाता है। इसी वजह से मांओं पर इस बात के लिए दबाव डाला जाता है कि वह अपनी विकलांग बेटियों को यौन दुराचार से बचाएं क्योंकि वह घर में भी इस समस्या का शिकार बन सकती हैं। लेकिन विडंबना यह है कि बहुत सारी मांओं को भी यही लगता है कि विकलांग बेटों के मुकाबले विकलांग बेटी का होना कम सामंजस्यप्रद रहता है क्योंकि लड़कों की यौनिकता को नियंत्रित करना कठिन रहता है।

अगर विकलांगता से ग्रस्त औरत का विवाह कर दिया जाता है तो भी उसे हर कदम पर समझौते करने पड़ते हैं। जिस परंपरा में शादी को जीवन भर का संबंध माना जाता है वहां अगर विकलांग होते हुए भी जैसे-तैसे आपको कोई जीवन साथी मिल जाता है तो भी इस भीषण स्थिति से बाहर निकल आना मुमकिन साबित होता है।

विवाह, पारिवारिक जीवन और मातृत्व

विकलांग व्यक्तियों के सामने शादी की संभावना काफी कम रहती है। विकलांग पुरुषों के मुकाबले विकलांग औरतों के सामने तो यह उम्मीद और भी क्षीण हो जाती है। विकलांग पुरुषों के मुकाबले विकलांग औरतों के सामने तलाक की आशंका भी ज्यादा रहती है।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों के लिए अनुचित या अस्वीकार्य माने जाने वाले कुछ तथ्यों पर पड़ताल करना बहुत जरूरी है। मिसाल के तौर पर, लंबे समय से यह माना जाता रहा है कि विकलांगता से ग्रस्त औरतें बच्चे पैदा नहीं कर सकतीं। वास्तविकता यह है कि ये औरतें भी काफी सक्षम होती हैं और वह बच्चे पैदा करने के अलावा बाकी सारे काम भी आसानी से कर सकती हैं। वैसे भी, विकलांग औरत बच्चे पैदा कर सकती है या नहीं, इसके आधार पर वह कम मानवीय, कम स्त्री, और यौनिकता को अनुभव करने में कम सक्षम नहीं हो जाएंगी। यह भी सच है कि समाज के किसी भी अन्य व्यक्ति की तरह विकलांगता से ग्रस्त औरतें भी अच्छे या बुरे मां-बाप साबित हो सकते हैं। कई बार तो दर्द का अनुभव उन्हें भावनात्मक रूप से ज्यादा मजबूत, ज्यादा सहिष्णु, धैर्यवान और संवेदनशील बना देता है। और ये सारे गुण एक आदर्श अभिभावक के गुण हैं।

अलबत्ता कुछ विकलांगताग्रस्त औरतों को गर्भावस्था, बच्चों के पालन-पोषण और घरेलू कामों में अतिरिक्त मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। मगर प्रचलित विश्वास को चुनौती देते हुए असंख्य विकलांग औरतों ने यह साबित कर दिया है कि वह इन सारी जिम्मेदारियों को भी बखूबी निभा सकती हैं। इस मामले में अपनी विकलांगता से जूझने और एक परायी दुनिया में जीने की जद्दोजहद में विकसित हुई नियोजन क्षमता एवं भावनात्मक ताकत से उन्हें बड़ा सहारा मिलता है।

हमारे समाज में औरत ब्याह कर पति के परिवार में चली जाती है। वहां उससे उम्मीद की जाती है कि वह पूरे परिवार की सेवा करेगी। लेकिन विकलांग औरतों को शादी-ब्याह के लिए अच्छा उम्मीदवार नहीं माना जाता क्योंकि ज्यादातर लोग मान लेते हैं कि वह पारिवारिक जिम्मेदारियों का बोझ नहीं उठा सकतीं।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों की जिंदगी का सबसे मुश्किल दौर उनकी किशोरावस्था होती है। बहुत सारे मां-बाप ने बताया कि वह किसी विकलांग औरत को अपनी बहू नहीं बनाना चाहते।

कुछ पुरुषों को लगता है कि विकलांगता से ग्रस्त औरत उनके लिए शर्मिंदगी का बायस होती है इसलिए वह कभी ऐसी औरत से शादी की कल्पना भी नहीं कर सकते। अन्य पुरुषों का मानना था कि कोई विकलांग औरत घर-परिवार और बच्चों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी नहीं उठा सकती।

अब वक्त आ गया है कि एक समाज के रूप में हम विकलांग औरतों को भी सम्मान दें और उनके वजूद को स्वीकार करें। हमारे सामने बहुत सारी विकलांग औरतें हैं जो कई तरह से सक्षम और बुद्धिमान होते हुए भी समाज द्वारा हाशिए पर धकेल दी गई हैं। क्यों? क्योंकि कोई औरत विकलांगता से ग्रस्त है और क्योंकि ज्यादातर मां-बाप विकलांग बहू नहीं चाहते। इसीलिए

विकलांगता से ग्रस्त औरत को शादी के लायक भी नहीं समझा जाता और ऊपर से तुर्रा ये कि समाज अपनी पुरानी परंपराओं का पालन कर रहा है।

क्योंकि शादी भी औरतों की जिंदगी का एक अहम पहलू है इसलिए उनके जीवन में यौनिकता का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। यह मान्यता बहुत बड़े पैमाने पर प्रचलित है कि शादी के वक्त औरत को एक जानकार कैसी कैसा होना चाहिए। इस रोल से औरतों की यौनिकता को बहुत बढ़ावा मिला है। मगर यह अपेक्षा स्पष्ट कर देती है कि औरतों को सिर्फ यौन संतुष्टि का साधन माना जाता है। यानी उनकी भूमिका सिर्फ पुरुषों की शारीरिक जरूरतों को पूरा करने तक सीमित है। पुरुष को संतुष्ट करने के अलावा औरतों के लिए जेंडर आधारित भूमिकाएं भी तय हैं जिन्हें समाज और संस्कृति ने उनके लिए तय कर दिया है। खाना पकाने, बच्चों का पालन-पोषण करने और घर के बड़े-बूढ़ों की देखभाल करने की जिम्मेदारी उन्हीं की मानी जाती है। वह घर का काम भी करती है और बच्चे पैदा करने का भार भी वहन करती है। इसे प्रजनन स्वास्थ्य की संज्ञा भी दी जा सकती है। औरतों को इन सारे कामों के बदले न तो कोई मेहनताना मिलता है और न कोई मान्यता। इसके बावजूद शादी के बाद उसे ये सारे काम करने ही पड़ते हैं। यह डरे बगैर नहीं रह सकती। औरत चाहे तो घर के बाहर भी काम कर सकती है मगर घर के कामों से उसे तब भी छुटकारा नहीं मिलेगा। कोई भी समाज व संस्कृति इस नियम का उल्लंघन बर्दाश्त करने को तैयार नहीं है। क्योंकि शादी एक सामाजिक संस्था है इसलिए यह संस्था भी समाज से बाहर नहीं है। यहां यह कहना ज्यादा बेहतर है कि औरत की यौनिकता ही उसकी मुक्ति की राह में एक बड़ी अड़चन बन गई है।

भारत ही नहीं बल्कि ज्यादातर एशियाई देशों में औरतों की यौनिकता को उनकी शादी से जोड़कर देखा जाता है। यहां काले या सांवले रंग की औरतों को शादी के लिए उतना पसंद नहीं किया जाता जितना गोरी औरतों को किया जाता है। जाहिर है कि अगर कोई औरत किसी तरह की विकलांगता से ग्रस्त है तो तब तो उसकी शादी की उम्मीद और भी घट जाती है। एक अनुसंधान में पाया गया कि हमारे देश के शहरों में रहने वाली विकलांगता ग्रस्त 74 प्रतिशत औरतें अविवाहित हैं। इससे पता चलता है कि हमारा समाज विकलांगता से ग्रस्त औरतों को एक लैंगिक व्यक्ति के रूप में देखता है और उनके साथ बच्चों जैसा बर्ताव करता है।

आज अधिकांश नारी आंदोलन औरतों के सामने पेशेवर विकल्पों को और विस्तार देने की कोशिश कर रहा है, तब भी विकलांगता से ग्रस्त औरतों को पत्नी और मां की सदियों पुरानी परंपरागत स्त्री-सुलभ भूमिकाओं से भी वंचित किया जा रहा है। अध्ययनों से पता चलता है कि विकलांगता से ग्रस्त औरतों के मामले में शादी की संभावना कम रहती है, उनकी शादी देर में हो पाती है, उनके तलाक की आशंका ज्यादा रहती है और उन्हें अंतरंग साथी नहीं मिल पाते। इस स्थिति की एक वजह तो यह है कि कम से कम इतरलैंगिक संबंधों में औरतों को अभी भी इसी आधार पर चुना जाता है कि वह शारीरिक सुंदरता के सांस्कृतिक मानकों की कसौटी पर कितनी उतर पा रही है या नहीं। इस पैमाने पर देखा जाए तो प्रत्यक्ष विकलांगता से ग्रस्त औरतें और वैसाखी या सहायक उपकरणों के सहारे चल सकने वाली औरतों को आदर्श जीवन साथी के रूप में नहीं देखा जा सकता। पुरुष तो औरतों को अपनी देखभाल के लिए चुनते हैं मगर यदि औरत विकलांगता से ग्रस्त है तो उससे यह अपेक्षा भी पूरी नहीं हो पाती क्योंकि उसे अपनी ही देखभाल के लिए काफी समय की जरूरत पड़ती है।

विकलांगता की वजह से परंपरागत जेंडर आधारित भूमिकाओं के निर्वाह में काफी मुश्किल पेश आती है। हालांकि विकलांगता से ग्रस्त औरत व—ह, देखी ही अपनी जेंडर आधारित भूमिकाओं को निभाने में मुश्किल महसूस करते हैं लेकिन यदि कोई पुरुष विकलांग होते हुए भी कमाई कर पा रहा है तो उसके विवाह और परिवार चलाने की संभावना विकलांगता ग्रस्त औरत के मुकाबले काफी बढ़ जाती है। मगर विकलांगता से ग्रस्त औरत को इस योग्य नहीं माना जाता कि वह पत्नी, मां और गृहिणी की परंपरागत भूमिकाओं को निर्वाह कर सकती है। वास्तव में भले ही वह इन भूमिकाओं का निर्वाह कर सकती हो लेकिन शादी का सवाल आते ही उसे खारिज कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए, अगर किसी औरत को चलने-फिरने में दिक्कत है तो मान लिया जाता है कि उसे खुद को संभालने में भी मदद की जरूरत पड़ेगी इसलिए वह घर के ऐसे काम नहीं कर सकेगी जिनमें बार-बार चलना-फिरना पड़ता है। कई अध्ययनों का निष्कर्ष है कि विवाह के अवसर विकलांगता से ग्रस्त पुरुषों के मुकाबले विकलांगता से ग्रस्त औरतों के सामने बहुत कम होते हैं। ऐसा मुख्य रूप से इस बारे में प्रचलित नकारात्मक रवैये और रूढ़ छवियों की वजह से है कि विकलांगता से ग्रस्त औरतें क्या कर सकती हैं और क्या नहीं कर सकतीं। जिन समाजों में शादी-ब्याह फैसला भी घर-कुटुंब के अन्य सदस्य ही करते हैं वहां तो यह समस्या और गंभीर दिखाई देती है क्योंकि ऐसी व्यवस्था में विवाह दो व्यक्तियों की बजाय दो परिवारों के बीच होने वाले अनुबंध की शक्ल ले लेता है। यह धारणा भी बड़े पैमाने पर मौजूद है कि शारीरिक विकलांगता की वजह से औरत किसी भी दायरे में दक्षतापूर्वक काम नहीं कर सकती। इसके अलावा, क्योंकि विकलांगता से ग्रस्त औरतों के सामने सकारात्मक आदर्श बहुत कम हैं इसलिए भी उनके बारे में बहुत सारी भ्रांतियां पैदा हो गई हैं। इसका नतीजा यह होता है कि विकलांगता से ग्रस्त बहुत सारी औरतें भी खुद को एक ऐसा व्यक्ति मानने लगती हैं जिसका कोई वजूद नहीं है, जिसके कोई अधिकार नहीं हैं, जिसकी कोई जिम्मेदारियां या उपादेयता नहीं है, जिसकी जिंदगी का कोई मकसद नहीं है, जिसके पास जानने-दूसरे या संतुष्टि की कोई इच्छा नहीं है।' विकलांगता से ग्रस्त औरतों के सामने अपने संभावित जीवन साथी से मुलाकात की संभावना भी बहुत कम रहती है क्योंकि उनकी आवाजाही और स्वतंत्रता पहले ही सीमित रहती है। कुछ मामलों में ऐसा भी हुआ है कि विकलांगता से ग्रस्त औरत को उसके परिवार वालों ने 'पालतू' व्यक्ति से ब्याह दिया। कहने का आशय यह है कि कई बार विकलांग लड़की को पहले से ही विवाहित व्यक्ति के साथ ब्याह दिया जाता है ताकि लड़की के घर वाले उसकी

देखभाल के 'बोझ से मुक्ति' या सक्षम विकलांगता से ग्रस्त औरत से शादी के एवज में दहेज की मांग भी बढ़ जाती है। विकलांग औरतों के तलाक या पति द्वारा छोड़ दिए जाने की आशंका भी ज्यादा रहती है।

भारतीय उपमहाद्वीप के परंपरागत समाजों में शादी की तर्ज पर बच्चे पैदा करना भी औरत की स्वाभाविक नियति माना जाता है। अगर किसी औरत के बच्चे पैदा नहीं होते हैं तो उसे अपशकुनी और अभागी माना जाता है। अपनी इस दुर्दशा के लिए भी उसी को जिम्मेदार ठहराया जाता है। इस मामले में विकलांगता से ग्रस्त औरतों की स्थिति तो और खराब हो जाती है। उनकी विकलांगता की वजह से लोग सहज ही मान लेते हैं कि उन्हें लगातार देखभाल की जरूरत पड़ेगी। यह भी माना जाता है कि बच्चों की देखभाल के लिए मां को शारीरिक रूप से स्वस्थ और सक्षम होना चाहिए जबकि विकलांगता से ग्रस्त औरतों में कई बार इस क्षमता का अभाव रहता है। इन कारणों के चलते विकलांगता से ग्रस्त औरतों को एक अच्छी मां की भूमिका के लायक नहीं माना जाता। बहुत सारे लोग इस आशंका में रहते हैं कि विकलांगता से ग्रस्त औरत के बच्चे भी विकलांग पैदा होंगे। विकलांगता से ग्रस्त औरत को गर्भावस्था और प्रसव के विषय में आवश्यक सूचनाएं और स्वास्थ्य सुविधाएं भी नहीं मिल पातीं।

जब घरेलू जिम्मेदारियों का सवाल आता है तब ऐसा हो सकता है कि विकलांगता से ग्रस्त औरत को घर के सारे काम निपटाने में मुश्किल पेश आए या हो सकता है उसे सारे काम करने में सामान्य से ज्यादा समय लगे या उसे बार-बार मदद की जरूरत पड़े।

उनकी विकलांगता और सीमित आवाजाही की वजह से समाज विकलांगतायुक्त औरतों को गृहिणी की परंपरागत भूमिकाओं के योग्य नहीं मानता।

प्रजनन संबंधी अधिकार

अन्य व्यक्तियों की तरह विकलांगता से ग्रस्त औरतों को भी अंतर्राष्ट्रीय कानूनों और परंपराओं में सूचीबद्ध सभी मानवाधिकार प्राप्त हैं। प्रजनन संबंधी अधिकार भी ऐसी ही मूलभूत स्वतंत्रताओं और अधिकारों की श्रेणी में आते हैं। इन अधिकारों में बराबरी और गैर-भेदभाव का अधिकार; विवाह करने और परिवार बसाने का अधिकार; परिवार नियोजन, मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा, एवं सूचना सहित समुचित प्रजनन स्वास्थ्य व्यवस्था का अधिकार; नसबंदी व गर्भपात सहित सभी चिकित्सकीय क्रियाओं के लिए सचेत सहमति देने का अधिकार; और यौन उत्पीड़न एवं शोषण से मुक्ति का अधिकार शामिल हैं।

विकलांगता से ग्रस्त औरतों के प्रजनन संबंधी फैसले लेने की प्रक्रिया में उनकी क्षमता के अनुसार पूरी हिस्सेदारी मिलनी चाहिए। अगर कोई औरत सचेत सहमति या असहमति दे सकती है तो उसे यह अधिकार जरूर मिलना चाहिए। विकलांगता से ग्रस्त औरतों के व्यक्तित्व में कुछ ऐसी विशिष्ट कमजोरियां भी हो सकती हैं जिनकी वजह से उन्हें यौन या अन्य प्रकार के शोषण से विशेष सुरक्षा मिलनी चाहिए। उनकी यौन स्वतंत्रता पर असामान्य बंदिशों का कोई औचित्य नहीं है। प्रजनन स्वास्थ्य सेवाओं, खासतौर से गर्भनिरोध, नसबंदी और गर्भपात के मामले में उनके साथ जोर-जबर्दस्ती नहीं की जानी चाहिए। विकलांगता से ग्रस्त औरतों के स्वास्थ्य संबंधी अधिकारों में स्वास्थ्य सेवाएं प्राप्त करने के साथ-साथ उन सेवाओं को खारिज करने का अधिकार भी शामिल है।

अगर कोई व्यक्ति भारी विकलांगता का शिकार हो या किसी गंभीर मानसिक अस्थिरता अथवा मस्तिष्कीय विकार की वजह से सचेत सहमति देने की स्थिति में नहीं हो तो उसकी ओर से किसी अन्य व्यक्ति को फैसले लेने का अधिकार दिया जा सकता है। यदि विकलांगता से ग्रस्त किसी औरत की निर्णय क्षमता का निषेध किया जाता है या उस पर किसी तरह की बंदिश लगाई जाती है तो इसके लिए भी एक वस्तुपरक प्रक्रिया का पालन किया जाना चाहिए। औरत को निर्णय लेने के अधिकार से वंचित करने के पहले समुचित वैधानिक प्रावधानों का पालन किया जाना चाहिए ताकि उसके अधिकारों का कोई दुरुपयोग न हो सके। इस काम के लिए विशेषज्ञों के जरिए विकलांग व्यक्ति की क्षमताओं का मूल्यांकन कराया जाना चाहिए। न केवल इस मूल्यांकन की समय-समय पर समीक्षा की जानी चाहिए बल्कि उस पर अपील का भी प्रावधान किया जाना चाहिए। अगर समुचित आधार पर यह तय हो चुका है कि कोई औरत अपनी सहमति या असहमति व्यक्त करने में सक्षम नहीं है तो जिन्हें उसकी ओर से प्रजनन संबंधी निर्णय लेने का अधिकार दिया जाता है उन्हें भी उसकी निजी जरूरतों को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। उसके प्रजनन संबंधी अधिकारों को सीमित करने वाली कोई भी क्रिया अधिकतम संक्षिप्त होनी चाहिए और यह क्रिया औरत की सुविधा के आधार पर ही चलनी होनी चाहिए। अगर को औरत किसी तरह के मस्तिष्कीय विकार से ग्रस्त साबित हो जाती है तो स्वाभाविक रूप से यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि संबंधित व्यक्ति बौद्धिक रूप से असक्षम है और उसके निर्णय लेने के अधिकार को किसी अन्य व्यक्ति के हवाले कर दिया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में (1) समानता और पक्षपात के निषेध का अधिकार; (2) विवाह करने और परिवार बसाने का अधिकार; (3) परिवार नियोजन, मातृत्व स्वास्थ्य सेवाओं, सूचना व शिक्षा सहित प्रजनन स्वास्थ्य के बारे में फैसले लेने का अधिकार; तथा (4) अपनी देह पर नियंत्रण का अधिकार आदि महत्वपूर्ण हैं। इन अधिकारों को कई अंतर्राष्ट्रीय मानवाधिकार संधियों में जगह दी गई है और उन्हें बहुत सारे देशों की सरकारों से स्वीकृति मिल चुकी है।

संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न सम्मेलनों के फलस्वरूप औरतों के प्रजनन संबंधी अधिकारों के बारे में कई अंतर्राष्ट्रीय समझौते भी संपन्न हो चुके हैं। हालांकि उपरोक्त अधिकारों और संधियों की तरह इन समझौतों को लागू करने के लिए किसी सरकार को कानूनन बाध्य नहीं किया जा सकता। मगर ये सहमति पत्र इस बात का सबूत जरूर हैं कि संबंधित सरकार अपने नागरिकों के प्रजनन

संयुक्त अधिकारों की सुरक्षा, सम्मान और परिपूर्णता सुनिश्चित करने के लिए कदम उठाना चाहती है। इसके अलावा कई अन्य अंतर्राष्ट्रीय दस्तावेजों में भी विकलांग व्यक्तियों के अधिकारों को संबोधित किया गया है और इन अधिकारों को साकार करने के लिए सरकारों की तरफ से व्यक्त की गई प्रतिबद्धताओं का उल्लेख किया गया है। इनमें संयुक्त राष्ट्र महासभा के निम्नलिखित प्रस्ताव प्रमुख हैं : विकलांग व्यक्ति अधिकार घोषणापत्र; विकलांगतायुक्त व्यक्तियों हेतु अवसरों की समानता नियमावली; मानसिक रुग्णताग्रस्त व्यक्तियों की सुरक्षा एवं मानसिक स्वास्थ्य व्यवस्था में सुधार के सिद्धांत; तथा विश्व विकलांग व्यक्ति कार्यक्रम।

दलित महिलाओं के अधिकार और उनके सवाल

डॉ. आंबेडकर का लैंगिक समानता पर सवाल

संवैधानिक रूपरेखा

मूल अंग्रेजी: डॉ. सुरेश माने
हिन्दी अनुवाद : छवि टंडन

भारतीय शीर्षस्थ पैतृक सामाजिक सूची स्तंभ में भारतीय संविधान की स्थापना तक भारतीय महिलाओं के अलग मानवीय स्तर को नकारते हुए पुरुषों द्वारा अधिकृत वस्तु के रूप में समझा जाता था, इस तरह की सभ्यता को तथाकथित जाति, धर्म तथा धार्मिक संहिताओं व वेदों का समर्थन प्राप्त था जिसने महिलाओं के जीवन को जानवरों से भी बदतर व असहनीय बना दिया था। यह एक बड़ी विडम्बना है कि भारत देश में जहाँ स्त्री को देवी के रूप में पूजा जाता है और एक ऊँचा दर्जा दिया जाता है वहीं वह दूसरी ओर गुलामी और दमन के बंधनों का विषय बन जाती है। धर्म के नाम पर उसको गुलाम बनाकर रौंदा जाता था। हम इसे गुजरे हुए कल के तथ्य के रूप में सोच सकते हैं फलतः इसका वर्तमान में कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी यह उचित नहीं है। बोधिसत्व गौतम वी. शुभ्र चक्रवर्ती के मामले में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के सर्वेक्षण से इसकी वास्तविक सत्यता का उचित रूप पता चला। इस मामले में एपेक्स कोर्ट ने वक्तव्य दिया, "दुर्भाग्यवश, एक महिला किसी समाज या समूह से संबंधित होकर हमारे देश में कई सामाजिक बंधनों और रुकावटों के कारण अलाभ की स्थिति में होते हुए पुरुषों के हाथों उत्पीड़न का शिकार होती है जबकि वो भाग्यवश उसके साथ संविधान के अन्तर्गत समान अधिकार का आनन्द उठा सकती है।

सामाजिक सर्वहारा वर्ग के स्वयं होने के कारण व भगवान बुद्ध व महात्मा फुले के शिष्य डॉ. आंबेडकर ने एक संविधान निर्माता के रूप में समतावादी समाज के स्तम्भों पर भारत के पुर्ननिर्माण व पुर्नगठन का मार्गदर्शन किया। परिणामस्वरूप डॉ. आंबेडकर ने, सभी उपेक्षित, दलित, हाशिये पर किये गये जिसमें महिलायें शामिल थीं जातिवाद को दरकिनार करके सभी की समान भागीदारी के आश्वासन व सम्मानपूर्ण जीवन को संविधान निर्माण की प्रक्रिया में सर्वोच्च मुद्दा बनाया।

वास्तव में डॉ. आंबेडकर को भारतीय सामाजिक व्यवस्था की गहरी सूझबूझ थी, इसलिये वो लैंगिक असमानता व महिलाओं के शोषण के रचनातन्त्र से पूर्णतः परिचित थे। अपनी जाति, वर्ण सभ्यता की सही सूझबूझ में उनका दृढ़ विचार था कि जातियों की उत्पत्ति का मूलभूत कारण सजातीय विवाह को विजातीय विवाह के ऊपर थोपना ही है। उनके अपने सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण संभाषणों में से एक "जातिप्रथा का सर्वनाश" है जिसने महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति के ध्यान को भी अपनी ओर आकर्षित किया। डॉ. आंबेडकर के अनुसार हिन्दू सजातीय विवाह की व्यवस्था बनाये रखने के लिये महिला का दो तरीके से प्रबंध करते थे, एक उसे उसके मृत पति के साथ चिता पर जलाकर उससे छुटकारा पा लेते थे और दूसरा सारी जिंदगी उसे वैधव्यपूर्ण जीवन अपनाने के लिये विवश करके। इन उदाहरणों से भारतीय सामाजिक क्रम में महिलाओं के स्थान व लैंगिक भेद की अन्याय की तीव्रता का पता चलता है। ऐसी हानिकारक प्रथाओं को बन्द करने के लिये सुझाव के रूप में उन्होंने कहा, "प्रत्येक स्त्री व पुरुष को शास्त्रों की दासता से मुक्त कर देना चाहिए। उनके मन मस्तिष्क पर से शास्त्रों की इन हानिकारक धारणाओं की छाप मिटा देनी चाहिए तथा स्त्री पुरुष एक साथ अन्तर्भोज ग्रहण कर

सकते है व अन्तर्विवाह को अपना सकते हैं। जातिप्रथा को बन्द करने का पुरजोर अनुरोध करते हुए उन्होंने कहा, "समाज को तर्क पर आधारित होना चाहिए न कि जाति व्यवस्था रूपी हानिकारक प्रथाओं पर।

मुंबई वैधानिक सभा के सदस्य के रूप में 1938 में उन्होंने जन्म दर नियंत्रण संबंधी विधेयक प्रस्तुत किया। विधेयक प्रस्तुत करते वक्त उन्होंने भारतीय महिलाओं के स्तर, कम उम्र में शादी तथा बालविवाह पर अपनी चिन्ता व्यक्त की। चिरस्थापित विचारधारा, "महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता जनसंख्या वृद्धि को कम कर सकेगी" का खण्डन करते हुए कहा कि "आर्थिक आत्मनिर्भरता में इतनी शक्ति नहीं होती कि वो व्यक्ति को कुप्रथाओं के शिकंजों से मुक्त कर सके। यहाँ तक कि आज भी निम्न जाति की महिलाएं अपनी कमाई से अपने परिवार की सहायता करती हैं, परन्तु यह तथ्य परिवार की सीमितता में सहायक होता दिखायी नहीं पड़ता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आंबेडकर का ध्यान परिवार में विद्यमान महिला के दोयम दर्जे की स्थिति की ओर था।

भारत में हिन्दुओं में व्याप्त सामाजिक बुराइयाँ चारों तरफ प्रसिद्ध हैं। आंबेडकर ने अपने लेखों में व दूसरे निबन्धों में पूर्ण रूप से इन कुप्रथाओं 'जातिवाद का विरोध' 'महिलाओं के उत्थान पतन' हिन्दु संहिता विधेयक में केन्द्र बिन्दु बनाया। उन्होंने मुस्लिम धर्म में भी व्याप्त बुराइयों, अधिकारों से वंचित करना और महिलाओं की स्वतंत्रता को मुद्दा बनाया। उनके लिखे मील के पत्थर लेखों में से एक में 'पाकिस्तान आर द पार्टीशन ऑफ इंडिया' में मिस्र के मुस्लिम नेता का उदाहरण देते हुए उन्होंने पाया कि मुस्लिम महिला संसार की सबसे असहाय व्यक्ति है। "इस्लाम ने महिलाओं पर हीनता की मोहर लगा दी है तथा सामाजिक कुप्रथाओं को धार्मिक मान्यता देकर उसको उसके अपने विचारों की स्वतंत्रता व व्यक्तित्व विकास से वंचित कर दिया है।" उन्होंने कहा "किसी भी मुस्लिम महिला में इतना साहस नहीं कि वह अपने विवाह को अस्वीकार कर सके। कोई भी मुस्लिम महिला इसको ठीक नहीं समझेगी कि उसके वैवाहिक अनुबन्ध में विवाह विच्छेद का अधिकार संरक्षित हो।

1946 से 1950 तक संविधान निर्माण की प्रक्रिया के कर्णधार बनकर और तत्पश्चात 1951 तक भारत के प्रथम कानून मंत्री रहने तक डॉ. आंबेडकर ने अपने लेखों में 1936 में दिये गये सुझावों को निगणित जातिप्रथा का विध्वंस, भूमि के मौलिक अधिकार के साथ ही साथ मूलभूत सामाजिक विधि, निर्माण, जैसे हिन्दू संहिता विधेयक की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया।

विधानसभा के घटकों के सामने प्रस्तुत की गयी अपनी संविधान योजना में, राज्यों और अल्प संख्यकों के मूलभूत अधिकारों की सूची में उन्होंने महिलाओं को समान अधिकार प्रदान किया। अनुच्छेद (II) दो के भाग एक में नागरिकों के मौलिक अधिकार शीर्षक के अर्न्तगत, उन्होंने स्त्री पुरुष में भिन्नता, न रखते हुए 'सभी व्यक्तियों', 'सभी नागरिक' जैसी अभिव्यंजनाओं का प्रयोग किया। अपनी योजना के उपखण्ड 6 के अर्न्तगत इसका भी प्रावधान किया कि किसी को भी लिंगभेद के आधार पर अलग नहीं किया जायेगा। इस प्रकार उन्हें भारत के संविधान की रूपरेखा बनाते समय महिलाओं के अधिकारों को सुनिश्चित करने का सुनहरा अवसर मिला।

पैतृकता, सामाजिक क्रम में असमानता और आधुनिक नारीवादिता की चुनौतियों के प्रत्युत्तर में भारतीय संविधान भारतीय महिलाओं को समानता की व्यवस्था के साथ-साथ विशेष सुरक्षा प्रदान करता है। अनुच्छेद 15(3) और 46 के अन्तर्गत, राज्यों को, कमजोर वर्गों, अनुसूचित व पिछड़ी जनजातियों, महिलाओं व बच्चों के लिये "विशिष्ट प्रावधान" से रोका नहीं गया है। आगे भी भारतीय

संविधान में लिंग के आधार पर स्त्री पुरुष में किसी भी तरह के विभेदीकरण की स्पष्ट रूप से रोकथाम की गयी है। इस प्रकार संविधान का सुधारात्मक व सकारात्मक कार्यक्रम लैंगिक न्याय की प्राप्ति के लिये सुनिश्चित मापदण्ड है।

समानता की इस संवैधानिक संस्कृति को आगे बढ़ाते हुए भारत के प्रथम विधि (कानून) मंत्री के रूप में डॉ. आंबेडकर ने हिन्दू महिलाओं को समाज के अन्यायपूर्ण नियमों व बंधनों से मुक्त करने के लिये साहसपूर्वक संसद में हिंदू संहिता विधेयक को प्रस्तुत किया। संवैधानिक संवर्धन व समानता की संस्कृति की उनकी अपनी चाह ने डॉ. आंबेडकर को इस साहसिक कदम को उठाने के लिये प्रेरित किया। केन्द्रीय सभा के रूप में भी कार्यरत संघटक सभा में 24 फरवरी 1949 हिंदू संहिता विधेयक पर बहस करते हुए उन्होंने कहा, "यह किसी भी अर्थ में क्रांतिकारी मापदंड नहीं है, मैं कहता हूँ कि यहाँ तक कि यह मूलभूत मापदंड भी नहीं है। यह विधेयक उत्तराधिकार, दत्तक ग्रहण, न्यायिक विच्छेद और वैवाहिक अधिकारों के पुनः प्रतिस्थापन के मामले में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं करता। इसमें वैवाहिक कानून के संदर्भ में किसी भी तरह की कोई जबरदस्ती नहीं है। रूढ़िवादी उनके धर्म के अनुसार उचित सोच के लिये पूर्णतः स्वतंत्र हैं, सुधारक जो धर्म से ज्यादा तर्क तथा अपने अन्तःकरण की आवाज को महत्व देते हैं वो भी अपनी सोच के लिये स्वतन्त्र हैं । मेरी आशा है जो नये मार्ग का अनुसरण करेंगे वही अन्ततः जीतेंगे। फ्रेंच क्रांति के विरुद्ध महान किताब लिखने वाले महान राजनैतिक दर्शनशास्त्री बुर्के ने कहा कि संरक्षण की चाह रखने वालों को सुधार के लिये तत्पर रहना चाहिये और जो कुछ भी मैं इस सभा से कह रहा हूँ वह यह है कि यदि आप हिन्दू संस्कृति हिन्दू समाज व हिन्दू व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं तो जहाँ भी सुधार की आवश्यकता है वहाँ सुधार करने में संकोच न करें। यह विधेयक हिन्दू व्यवस्था की उन (रीति रिवाज) प्रथाओं में सुधारों के बारे में है जो जीर्ण-शीर्ण हो गयी हैं।"

प्रारंभ में प्रधानमंत्री नेहरू ने इस विधेयक को पूर्ण समर्थन देने का आश्वासन दिया। 19 दिसंबर 1949 को विधेयक का समर्थन करते हुए नेहरू ने कहा कि इसके विशिष्ट वाक्यांशों के कारण से नहीं अपितु इतनी बड़ी सामाजिक, आर्थिक समस्या के प्रति इसकी प्राथमिकता को देखकर इस विधेयक को बहुत महत्व देना चाहिए। हमने इस देश में राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त की है, राजनैतिक स्वतंत्रता जो कि यात्रा में एक अवस्था है और वहाँ दूसरी आर्थिक, सामाजिक अवस्थाएं भी हैं। यदि कोई समाज आगे बढ़ना चाहता है तो उसे यात्रा की उन सभी अवस्थाओं पर से गुजरकर एक साथ आगे बढ़ना होगा।" लेकिन भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद ने स्वयं इस विधेयक पर कई आपत्तियाँ उठाईं। उनको मुख्य रूप से आपत्ति विधेयक की विभेदीकरण नीति पर थी जैसे कि ये अल्पसंख्यकों के व्यक्तिगत कानून पर लागू नहीं होता था और ससद को साधारण चुनाव की शाम को, पूर्ण बहुमत प्राप्त किये बिना इस विधेयक को अधिनियमित नहीं करना चाहिये। उन्होंने स्पष्ट किया कि यदि नेहरू ने इस विधेयक को आगे बढ़ाया तो वह संसद को संबोधन करने के अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करेंगे। 1949 अप्रैल में मद्रास में भारतीय महिलाओं के संगठन की सभा में अपने संबोधन में उन्होंने इस विधेयक का खुला विरोध किया। यहाँ तक कि जब विधेयक संसद में विचाराधीन था उन्होंने नेहरू को चेतावनी देते हुए कहा कि मुझे इस विधेयक के विरोध में कुछ मूलभूत आपत्तियाँ हैं और प्रबल सुधारक मापदंडों वाले इस विधेयक को पारित करने का संसद को कोई अधिकार नहीं है और ऐसे मामले में, मैं, राष्ट्रपति होने के नाते सबको स्वीकृति के अधिकारों को अपने पास रखते हुए इस

विधेयक को इसके गुणों के कारण पारित कर सकता हूँ या रोक भी सकता हूँ।" नेहरू नाराज हुए परन्तु वह असहाय थे।

डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने विधेयक को इस प्रकार विवेचित किया, "यह हिन्दू सभ्यता के शानदार ढांचे को नष्ट कर देगा और गतिशील सार्वभौमिक जीवन के तरीके को, जिसने सदियों से हो रहे परिवर्तनों को अपने में अपनाया है, निष्प्रभाव कर देगा।" सरदार भूपेन्द्र सिंह मान ने हिन्दू संहिता को धर्म परिवर्तन कानून की संज्ञा दी और कहा कि आंबेडकर धर्म के नये मनु को उन पर थोपा नहीं जाना चाहिए। मदन मोहन मालवीय ने सरकार को कानून के सम्मान की चादर को नष्ट न करने की चेतावनी दी।

संघटक सभा में उपस्थित लगभग सभी रूढ़िवादी हिंदुओं ने संगठित होकर आंबेडकर व उनके विधेयक का विरोध किया। दूसरी तरफ प्रादेशिक संसद की बहुत सी महिला सदस्यों ने हिंदू विधेयक को अपने संविधान में निष्ठा का प्रमाण मान लिया जबकि वीर सावरकर की अभिव्यक्ति अनुसार यदि हिंदू विधेयक वास्तव में देश को मददगार है तो कांग्रेसी नेताओं को इसे आगे बढ़ाना चाहिए। उन्हें चुनाव को ध्यान में रखकर इसे छोड़ने व आगे बढ़ाने का निर्णय नहीं लेना चाहिए। पं. नेहरू ने कांग्रेस पार्टी के पहले आम चुनावों में कांग्रेस पार्टी की चुनावी संभावनाओं को देखते हुए व कांग्रेस पार्टी के भीतर चल रहे इस विधेयक के कड़े विरोध के कारण हिन्दू विधेयक को छोड़ दिया।

उसी समय के दौरान न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर ने 12 व 13 अप्रैल 1951 को कर्नाटक विश्वविद्यालय में हिंदू संहिता विधेयक पर दो भाषण दिये। अपने इन भाषणों में उन्होंने कानून विशेषज्ञों से विधेयक की केवल आलोचना न करते हुए वैज्ञानिक रूप से इसका परीक्षण करने का अनुरोध किया। उन्होंने कहा, "समाज की भलाई के लिये जल्दबाजी में किसी भी विधि प्रक्रिया को पूरा करना, व सामाजिक अन्तःकरण की वजह से व्यक्तिगत कानून पीछे रह जाये यह पूर्णतः अवांछनीय होगा। सामाजिक प्रगति की आवश्यकता के लिये व कानून को जीवंत रखने के लिये समय-समय पर व्यक्तिगत कानून, प्रचलित रीति-रिवाजों, प्रथाओं व आस्था के मध्यस्थ दूरियों को घटाना चाहिए। हम उन दिनों में जी रहे हैं जब जीवन के पुराने धार्मिक विचार निरर्थक हो जायेंगे और हमारा यह कर्तव्य होगा कि हम उन्हें त्याग दें। परोक्ष रूप से न्यायधीश गजेन्द्र गडकर ने कानून की गति को बनाये रखने वाले आंबेडकर के मूलभूत प्रयास का पक्ष लिया।

खराब स्वास्थ्य के बावजूद डॉ. आंबेडकर ने समानता की संवैधानिक भावना के अनुरूप हिन्दू संहिता विधेयक के माध्यम से सामाजिक बदलाव के मुद्दे को बड़े कठोर परिश्रम से आगे बढ़ाया। अन्ततः सरकार द्वारा हिन्दू विधेयक को छोड़ने का निर्णय आंबेडकर के विचारों में उनके साथ एक बड़ा विश्वासघात था। हिन्दू विधेयक के प्रति सरकार की इस उदासीनता के कारण 27 सितम्बर 1951 को डॉ. आंबेडकर ने विधि मंत्रालय से त्यागपत्र दे दिया। अन्ततः समय ने डॉ. आंबेडकर को सही सिद्ध कर दिया और उनके द्वारा बनाये गये हिंदू संहिता विधेयक को चार विधेयकों में विभाजित करके 1955-1956 में भारतीय लोकसभा द्वारा अलग-अलग पारित किया गया।

अन्ततः निष्कर्ष के रूप में एक बात को समझना बहुत आवश्यक है कि आज कुछ महिला आन्दोलन व लैंगिक समानता, लैंगिक न्याय के लिये हो रहे महिला सशक्तिकरण आन्दोलन दुर्भाग्यवश इस पूरे घटनाक्रम को एकांकी दृष्टिकोण से देखते हैं जो कि उचित नहीं है। यहाँ तक कि लोकसभा राज्यसभा में आजकल के 33% महिला आरक्षण के विधेयक को भी अकेले महिला सशक्तिकरण के

दृष्टिकोण से भी नहीं देखा जा सकता क्योंकि यह सारे मुद्दे देश के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संस्थानों के ढांचों से जुड़े हुए हैं। इसलिये उपाय स्वरूप इन मुद्दों पर हमें व्यापक सोच बनानी होगी और उसे अपनाना होगा। डॉ. आंबेडकर ने महात्मा फुले के समान लैंगिक समानता को एक सिर्फ मुद्दा न समझते हुए लैंगिक समानता के मुद्दों को पूर्ण सशक्तिकरण कार्यक्रम का एक भाग समझकर विचार किया, यहाँ तक कि आजकल के समय में यही एक रास्ता है जिसे अपनाने की सबको जरूरत है।

***

पीपल्स एज्यूकेशन सोसायटी के डॉ.आंबेडकर कॉलेज ऑफ कॉमर्स एवं इकोनोमिक्स के द्वारा प्रकाशित एवं ललिता धारा द्वारा संपादित पुस्तक "भारतरत्न डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर एवं महिलाओं के सवाल" से साभार।

कुछ याद रखने लायक तारीखें

25.12.1927	:	डॉ. आंबेडकर ने मनुस्मृति को उसके जाति एवं लिंग पक्षपात के लिए जला दिया था।
28.07.1928	:	डॉ. आंबेडकर ने बॉंबे लेजिसलेटिव काउंसिल के सदस्य के तौर पर मेटरनिटी बेनिफिट बिल को सपोर्ट किया था।
10.11.1938	:	डॉ. आंबेडकर ने बॉंबे लेजिसलेटिव असेंबली के सदस्य के नाते महिलाओं, के लिए जन्म नियंत्रण सुविधाओं के लिए सिफारिश की थी।
20.07.1942	:	डॉ. आंबेडकर वाईसरॉय की कार्यकारिणी समिति के श्रमिक सदस्य बने, उन्होंने महिला कामगारों के लिए बेहतर कामकाज की समिति निर्माण करने के लिए कई प्रगतिशील कानून बनाए।
11.04.1947	:	डॉ. आंबेडकर ने हिन्दु कोड बिल का प्रारूप तैयार करके उसे पार्लियामेन्ट में प्रस्तुत किया था।
29.08.1947	:	डॉ. आंबेडकर कोंस्टीट्यूशन ड्राफ्टिंग कमिटि के चेयरपर्सन बने।
27.09.1951	:	हिन्दू कोड बिल ड्रॉप होने के बाद उसके विरोध के तौर पर उन्होंने कानून मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया।

डॉ. आंबेडकर और महिलाओं के सवाल

मूल अंग्रेजी: पुष्पा भावे
हिन्दी अनुवाद: हेता उपाध्याय

नारीवादी ऐतिहासिक लेखन का परिप्रेक्ष्य:

स्त्रियों का प्रश्न अंग्रेजों के जमाने से उठता चला आ रहा है। यह प्रश्न आज भी उठता है। परंतु हर दशक का अपना सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं राजनैतिक अभिप्राय होता है।

जब हम नारी समर्थन की बात करते हैं तो सबसे पहले नाम आता है ज्योतिबा फुले और सावित्री बाई फुले का। 1848 का वर्ष या जब दोनों ने मिलकर महिलाओं के लिए पहला शिक्षा केंद्र खोला। 19वीं सदी के अंतिम दौर से लेकर 20वीं सदी की शुरूआत का वक्त आम तौर पर सुधारों की अवधि के रूप में वर्णित हैं। कुछ लोग पुर्नजागरण या जागरण परियोजना को केवल ध्यान में रखते हैं, परंतु, महिलाओं के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो जो पारिवारिक बदलाव उच्च वर्ग एवं मध्यम वर्गीयों में आया है वह ज्योतिबा फुले के सत्यशोधक श्रमिकों और उनके दृष्टिकोण से अलग है।

इससे पहले कि हम सामाजिक स्तरीकरण और उसके समकालीन दृश्य पर प्रतिक्रिया का विश्लेषण करें तो हमें पहले स्वतंत्रता के पहले और बाद के ऐतिहासिक लेखन पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि वह हमें इतिहास की प्रवृत्ति का अभ्यास करने में मदद करेगा।

अंग्रेजों के राज के वक्त भारतीय नारी को हमेशा दया की दृष्टि से देखा जाता था। भारतीय नारी और ब्रिटिश नारी (जो समाज में उच्च वर्गीय मानी जाती थी) में तुलना होती थी। इसके उत्तर में ब्राह्मण लेखक अपना लेखन वैदिक नारी से प्रेरित करते । उदारहणः उपाध्याय (1936) और अलतेकर (1959)। फलस्वरूप भारतीय संस्कृति बन गई हिन्दू ब्राह्मण संस्कृति। अक्सर इन दोनों लेखकों के पास आर्य नारी का वर्णन करने के लिए शब्द नहीं होते थे। ज्योतिबा फुले ने इस प्रकार का लेखन 'गैर ब्राह्मण' आंदोलन (तमिलनाडू और महाराष्ट्र) में अपनाया।

स्वतंत्रता के पश्चात लेखन में बहुत बदलाव नहीं देखा गया। तब लेखक केवल आर्थिक एवं राजनैतिक विषय पर लिखते। सामाजिक लेखन तो जैसे अदृश्य हो रहा था। प्रख्यात लेखक जैसे 'कोसाम्बी' और 'थापर' भी औरों से अलग नहीं थे। 1970 में आयोजित किए गए 'नारी आंदोलन' और 'दलित आंदोलन' ने ज्ञान प्रक्रिया को चुनौती दी।

1980-90 के दशक में कई किताबें महिलाओं द्वारा लिखी गईं। उनमें से सबसे प्रमुख हैं- 'वी आर मेकिंग हिस्टरी' जो तेलंगना आंदोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने लिखी और 'वी ऑलसो मेड हिस्टरी- 'आम्ही ही इतिहास घडवला' जो अंबेडकर आंदोलन में भाग लेने वाली महिलाओं ने लिखी है। उन्होंने मौखिक इतिहास की विधि अपनाई। सूसी थारू और के. ललिता ने मिलकर युगों पुराना साहित्य भारत के कोने-कोने से एकत्र किया । इस प्रयास से, जो महिला कई दशकों तक इतिहास के पन्नों में नहीं दिखीं, उनको अपना स्थान वापस मिल गया। आंबेडकर ने 3 अक्टूबर, 1954

को रेडियो प्रसारण में अपने दर्शन की घोषणा की थी। उन्होंने कहा कि वे भगवद् गीता में लिखे त्रिगुणा की संख्या का विरोध करते हैं। उन्होंने उसे जाति-भेदभाव का कारण बताया।

डॉ. आम्बेडकर ने कहा उनके दर्शन के तीन स्तंभ हैं स्वतंत्रता, समानता और बंधुता, और उन्होंने यह भी कहा है कि यह सीख उन्हें अपने गुरु बुद्ध से मिली है।

वे मानते हैं कि जाति भेद स्तर विन्यास का कारण हैं। वह मानते हैं कि जाति भेद को श्रम विभाजन का मुखौटा पहनाया गया है।

पहले नारियों को अपने वर्ण से बाहर विवाह करने की अनुमति नहीं मिलती थी। सबकी मान्यता थी कि ऐसा करने से उनका वर्ण 'पवित्र' रहेगा। यह भी माना जाता था कि उच्च जाति की स्त्री पवित्र है और दूसरी ओर दलित स्त्री किसी भी उच्च जाति के पुरुष के लिए उपलब्ध है। पवित्रता या यौनसुचिता स्त्री के वर्ण की पहचान है। दक्षिण भारत के कई हिस्सों में यदि कोई ब्राह्मण सड़क से जा रहा हो और अगर कोई अछूत उसी सड़क पर आ जाए तो उसे रास्ते में अपना पल्लू गिराना पड़ता है। वैसे ही महाराष्ट्र में यदि कोई स्त्री को केले के पत्ते पर धारण किया जाए तो उसे पवित्र माना जाता है।

देवदासी की प्रथा भी देश के कई हिस्सों में पाई जाती है। ज्योतिबा फुले ने महिलाओं के उत्थान का कार्य देवदासियों से शुरू किया था। डॉ. आंबेडकर भी, देवदासियों की सभा को संबोधित करते। कनकवल्ली में आयोजित सभा आज भी याद की जाती है। ऐसे ही एक भाषण में उन्होंने कहा कि 'पढ़ाई-लिखाई केवल मर्द नहीं बल्कि औरतों के लिए भी आवश्यक है। ऐसा करने से आनेवाली पीढ़ी को लाभ होगा। तुम जिस तरह साड़ी पहनते हो वह तुम्हारी जाति का प्रतिनिधित्व है, इसलिए यह जरूरी है कि तुम इसे बदलो।

सस्ते धातु के आभूषण भी तुम्हारे पति की रक्षा नहीं करते बल्कि तुम्हें दलित होने का ठप्पा देते हैं।

ऐसे ही कई प्रेरणादायक शब्द उन्होंने इस भाषण में कहे। इन शब्दों में इतना वजन था कि अगले ही दिन उन महिलाओं ने अपने आप को बदल दिया। इससे उनका आत्मविश्वास भी बढ़ा।

ज्योतिबा फुले और उनके कई अनुयायियों ने महिलाओं की शिक्षा के लिए बहुत प्रयास किये। शिक्षा केंद्र, हॉस्टल, पुस्तकालय आदि बनवाए गए।

नारी का उत्थान करने के लिए यह जरूरी था कि पुरानी पीढ़ी की महिलाएँ अपनी सोच बदलें और नई पीढ़ी को आगे बढ़ने दें। आंबेडकर अपने कई भाषणों में लोगों को यह बातें समझाते। वे सबको मुसलमान स्त्रियों की दुर्दशा के बारे में भी बताते रहते। उनकी धारणा यह थी कि हिन्दू और मुसलमान स्त्री की इस हालत के लिए उनका संगठित धर्म है।

दलित स्त्री को डॉ. आंबेडकर ने हिन्दू रीति-रिवाज, अंधविश्वास और हीन भावना के चंगुल से बाहर निकाला और उनका एक दल बनाया। इस दल का नाम था - 'समता सैनिक दल।'

इस दल के महाराष्ट्र के प्रतिभागियों ने व्यक्तिगत कानून एवं उनके राजनैतिक अधिकार में बदलाव लाने की मांग की।

कलाराम मंदिर, नासिक में दलित वर्ग का जाना माना था। यह गलत सीख देनेवाली मनुस्मृति को उन्होंने जलाना ही ठीक समझा। अब उनका आंदोलन अपने शिखर पर पहुँच गया था। लोगों ने

इसका खूब विरोध किया। परंतु, उन्होंने ऐसा करना जरूरी समझा क्योंकि मनुस्मृति पाठ स्त्री का स्थान समाज में निर्वासित कर रहा था। इतने प्रयास के बाद भी भेदभाव की भावना कई के मन में घर कर गई है। इसकी वजह हो सकती है कि मनु की प्रतिमा जयपुर के हाईकोर्ट के कैंपस में आज भी खड़ी है।

डॉ. आंबेडकर ने अपने तीन शब्दों से भारत के संविधान को आधार दिया जो थे- स्वतंत्रता, समानता और बंधुता। अब स्त्री देश की नागरिक पहले थी जो अपना हक माँग सकती थी, और बाद में किसी की बहू, बेटी या पत्नी थी।

अब डॉ. आंबेडकर के सामने कानूनी प्रणाली जैसे 'दयाभागा' और 'मिताक्षरा' से संबंधित समस्या खड़ी हो गई थी। इसमें बदलाव लाना धार्मिक स्वतंत्रता के बाद और भी कठिन हो गया था। उन्होंने यह ठान लिया कि वह इसे बदलेंगे। इस प्रयास में पंडित नेहरू ने भी कुछ हद तक उनका साथ दिया परंतु चुनाव सर पर होने के कारण वे ज्यादा कुछ न कर पाए।

आंबेडकर ने अपने कुछ साथियों के साथ अपना आंदोलन आगे बढ़ाया। उन्होंने संसद में विधि मंत्री का पद हासिल किया।

उन्होंने 'जन्म नियंत्रण' के विषय पर भी जोर दिया। उनका मानना था कि छोटे परिवार से स्त्री को अपने हक की स्वतंत्रता मिलेगी। आंबेडकर आंदोलन के अंतर्गत एक टोली थी जो 'गुंडों' के खिलाफ थी। इस टोली का नाम था 'कचहरी बाजार भगिनी मंडल'।

जोतिबा फुले ने नारी की स्थिति को सुधारने की पहल की थी और आंबेडकर ने उसी प्रयास को आगे बढ़ाया। दलित स्त्री के मन में छुपे उस विचार को निकाल दिया जो कहता कि वह किसी से हीन है। उन्होंने स्त्री और पुरुष को समाज में बराबर स्थान दिया। डॉ. आंबेडकर अपने कार्य में सफल रहे, उनकी दृष्टि, विचारधारा और पददलित वर्ग के प्रति दया इसका कारण है।

***

पीपल्स एज्यूकेशन सोसायटी के डॉ.आंबेडकर कॉलेज ऑफ कॉमर्स एवं इकोनोमिक्स के द्वारा प्रकाशित एवं ललिता धारा द्वारा संपादित पुस्तक "भारतरत्न डॉ.बाबासाहेब आंबेडकर एवं महिलाओं के सवाल" से साभार।

हिन्दू कोड बिल और बाबासाहेब का संघर्ष

इस देश के बहुसंख्यक समाज द्वारा प्रताड़ित बाबासाहेब डॉ. बी.आर.आंबेडकर ने सामाजिक बुराइयों के उपेक्षित प्रश्नों को जो काफी समय से टालते आ रहे थे प्रथम मंत्रीमंडल में ही संसदीय पटल पर रखा। हिन्दू कोड बिल उनमें से एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। जिसका सीधा संबंध इस देश की लगभग आधी जनसंख्या के चहुमुखी विकास से था। तथास्तु इस 'बिल' ने इस देश के महिला वर्ग को अपनी वास्तविक दशा का ज्ञान कराने में जहाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभायी वहीं उन्हें अपने अधिकारों की प्राप्ति हेतु भी सजग करने को प्रेरित किया लेकिन जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व जब इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा प्रगतिशील नीतियों का अवलम्बन किया गया तो संगठित पार्टी ही दो भागों में विभाजित हो गयी थी। उसी प्रकार इस देश के राजनीतिज्ञ उस समय दो भागों में विभाजित हो गये थे। हिन्दू कोड बिल के समर्थन में जवाहरलाल नेहरू और अखिल भारतीय महिला कांग्रेस थी तथा विरोध में तत्कालीन राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल तथा अनन्त शयनम अय्यंगर थे। बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर अपने द्वारा स्वयं संशोधित हिन्दू कोड बिल के प्रारूप द्वारा हिन्दुओं का एक साँझा वैयक्तिक कानून का निर्माण करके कमजोर वर्ग का हित चिन्तन करना चाहते थे। जुझारू सामाजिक मनीषी होने के कारण उन्होंने इस बिल को पारित करने हेतु अपनी मान प्रतिष्ठा को भी दाँव पर लगा दिया और अन्ततोगत्वा मंत्री मंडल से भी त्यागपत्र दे दिया।

प्रस्तुत प्रकाशित प्रश्नोत्तरी उदभट् विद्वान माननीय सोहनलाल शास्त्री विद्यावाचस्पति, बी.ए. के द्वारा प्रेषित है, जो बाबा साहेब के अंग-संग 1947-56 तक रहे हैं और हिन्दू कोड बिल के कार्यान्वयन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हमारे द्वारा प्राप्त प्रश्नोत्तरी में उन्हीं का उत्तर श्रेष्ठ एवं युक्तियुक्त तथा ज्ञानवर्धक है जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रश्न 1. यद्यपि हिन्दू कोड बिल का ध्येय हिन्दुओं को एक साँझा वैयक्तिक कानून प्रदान करना था, परन्तु विवाह, तलाक, गोद लेना तथा पिता की सम्पत्ति में पुत्र के साथ पुत्री का भी भागीदार होना कुछ ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष थे, जिन्होंने सामाजिक दृष्टि से भारतीय महिलाओं को सुदृढ़ ही नहीं किया वरन् भविष्य की नारी अभ्युत्थान हेतु सही पृष्ठभूमि भी तैयार की। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?

उत्तर - निःसंदेह कहा जा सकता है कि हिन्दू कोड बिल ने पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में पुत्रों के साथ पुत्रियों को जायदाद में समान हकदार बनाकर नारी जाति के साथ बहुत ही न्याय और सहानुभूति का प्रदर्शन किया है। संसार भर की सभ्य जातियों में बौद्ध, मुस्लिम और ईसाइयों की मुख्य रूप से गणना की जाती है। मुस्लिम पर्सनल लॉ (वैयक्तिक कानून) में पुत्रों की भाँति पिता की सम्पत्ति में पुत्रियों का भी अधिकार है। यह दूसरी बात है कि मुस्लिम पर्सनल लॉ में पुत्री का अंश भाग पुत्र की अपेक्षा कुछ कम है। इसी भाँति पर्सनल लॉ में भी पुत्र-पुत्री के समान अधिकार हैं। यहाँ तक कि यदि किसी ईसाई राजा की प्रथम संतान पुत्री है, तो उनमें ज्येष्ठ पुत्री ही पिता के मरणोपरान्त

राज्य सिंहासन पर आसीन होती है। इंग्लैण्ड तथा यूरोप के कई ईसाई राज्यों की बागडोर उनकी ज्येष्ठ पुत्रियों के ही हाथ में है।

दूसरी ओर हिन्दू समाज में पुत्री को पिता की सम्पत्ति में अंश भाग नहीं मिल सकता था। मीमांसाकार ने तथा अन्य स्मृतिकारों और निबन्धकारों (धर्मशास्त्रियों) ने पुत्री को पिता की सम्पत्ति का अधिकारी न ठहराने में तीन-चार दोष बताए हैं।

1. पुत्री, गाय, भैंस, भेड, बकरी की भाँति स्त्री दूसरों को बेची जा सकती है।
2. पुत्री विवाह के पश्चात् पिता के गोत्र में से निकलकर पति के गोत्र में जा मिलती है।
3. पिता की मृत्यु का क्रियाकाण्ड जिसका पिण्डदान, श्राद्धतर्पण आदि करने का अधिकार केवल पुत्रों को ही है, पुत्रियों को नहीं है। अतः जिसे धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार पुत्री ऐसा कर्मकाण्ड नहीं कर सकती। अतः उसे मृतपिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकार पाने का अधिकार नहीं दिया गया है।

उपरोक्त शास्त्रीय फतवे या व्यवस्थाएँ सिद्ध कर रही हैं कि पुत्री का दर्जा पुत्र के समान नहीं है। बल्कि पशुओं की तरह उनका विक्रय भी धर्मसंगत रहा है।

क्या यह घोर अन्याय नहीं था कि एक ही पिता के वीर्य बिन्दु तथा एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाली संतानों में इतना भेदभाव रखा जाए कि पुत्री को पशुओं की कोटी में रखकर उन्हें बेचा भी जा सके ? क्या इस मामले में हिन्दु समाज मुस्लिम और ईसाई समाज की दृष्टि में निन्दनीय और पुत्रियों पर अन्याय करनेवाला समाज नहीं माना जाएगा?

यह दशा तो थी पुत्रियों की उत्तराधिकार न पाने की। अब बेचारी बेसहारा हिन्दू विधवा की करुण कहानी भी नृशंसात्मक थी। पति के मर जाने पर विधवा को उत्तराधिकार का पात्र ठहराना तो एक ओर, उसे पति की मृत लाश के साथ चिता में बैठ कर जीते जी मर जाना विधवा का श्रेष्ठ और परम उत्तम धर्म बताया गया था और इसके परिणामस्वरूप लाखों विधवाओं को जबरन मृत पतियों की चिता में धकेला जाता रहा था।

हिन्दू धर्मानुसार अगर किसी कारण जीवित विधवा मृत पति की धधकती ज्वाला में भस्म होने का पुण्य प्राप्त नहीं कर सकें, तो उसे अपना सिर मुण्डवा कर सदा मैले वस्त्र धारण करने की धर्म आज्ञा थी। उसके लिए धर्मादेश था कि वह घर के पिछवाड़े किसी अन्धेरी कोठरी में भूमि पर सोएं, बासी बची खुची रोटी खाकर पेट की आग शान्त करें और परिवार के किसी भी शुभावसर अर्थात मंगलकार्य विवाह-शादी, जन्म महोत्सव में कदापि सम्मिलित न हो, क्योंकि हिन्दू धर्म की फिलॉसोफी में वह अपने पिछले जन्मों के पापों के कारण एक अभागिन प्राणी है। तभी तो उसे विधवापन भोगने का अभिशाप मिला है। किसी भी सधवा स्त्री को ऐसी अभागिन का मुँह देखना अपशगुन माना गया था। समय-समय पर इन अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिए सम्राट अकबर, लार्ड-विलियम बैन्टिंग, राजा राम मोहनराय आदि महानुभावों ने यत्न किए और विधवा को एक मानव प्राणी माना जाने लगा, किन्तु मृत पति की सम्पत्ति में उसे उत्तराधिकारी नहीं माना जाता था। अतः वह बेचारी मृत पति की लाखों रुपयों की छोड़ी सम्पत्ति में केवल भरण पोषण की ही अधिकारिणी मानी गई थी, किन्तु उसके देवर, जेठ, सास, ससुर, पुत्र-वधुएं और स्वयं पुत्र भी उस निरीह विधवा का पालन पोषण नहीं करते थे और ऐसे में उसे घर छोड़कर तीर्थ स्थानों, मठों मन्दिरों में जाकर भीख मांग कर जीवन-यापन करना पड़ता था।

हिन्दू कोड बिल ने मृत पिता की सम्पत्ति में पुत्रियों को पुत्रों के समान अधिकार देकर और मृत पति की विधवा को सम्पत्ति में पुत्र-पुत्रियों की तरह अंशदान का समान उत्तराधिकारी बनाने का ऐसा श्रेष्ठ पुण्य का काम किया है, जिससे पुत्री और विधवा को हिन्दू समाज के पर्सनल लॉ में बहुत ही न्यायपूर्ण और सभ्य संसार की दृष्टि में ऊँचा स्थान मिला है।

अब भारत की नारी पुरुषों की भाँति हिन्दू समाज में समान स्थान प्राप्त कर चुकी है और वह भी पुरुषों की मानिन्द समाज के हर स्तर में आदरणीय बन चुकी है। ये क्रांतिकारी कदम उठाने का श्रेय हिन्दू कोड और उसके प्रणेता बाबासाहेब आम्बेडकर को ही दिया जा सकता है। डॉक्टर साहेब ने ऐसा पर्सनल लॉ बनाकर हिन्दू नारी की भी भारतीय अछूतों और पिछड़े वर्गों की भाँति ही अनुपम सेवा की है और सचमुच एक महान राष्ट्र पुरुष की भूमिका निभाई है।

प्रश्न 2. क्या हिन्दुओं के रूढ़िवादी वर्ग द्वारा हिन्दू कोड बिल की निन्दा करना एवं राष्ट्रीय नेताओं तथा विशेष रूप से इस बिल के उद्‌बोधक बाबासाहेब डॉ. बी.आर.आंबेडकर की कटु आलोचना किया जाना उचित था? कृपया इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करें?

उत्तर- कोई भी पुरानी रूढ़ियां या रस्म-रिवाज अथवा धारणा, जो समाज के हित में अनर्थकारी सिद्ध हो रही हों और जो जन-जीवन में धर्म का स्थान प्राप्त कर चुकी हों, उन्हें मिटाने वाले निष्ठावान् समाज सुधारकों को रूढ़िवादी पोंगापन्थियों द्वारा किये विरोध का सामना करना पडता है। यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि पुराने विचारों के बने दुर्ग या गढ़ को भटियामेट करने वाले सुधारकों को बड़ी कठिनाइयों, आलोचनाओं और अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में यदि बाबासाहेब डॉ. आम्बेडकर तथा उनका साथ देनेवाले राष्ट्रीय नेताओं की कठोर आलोचनाएं हुई हैं, तो यह कोई आश्चर्यजनक बातें नहीं हैं। रोमन कैथोलिक चर्च ने प्रोटेस्टेन्ट चर्च के प्रवर्तक ईसा, इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद का अपनी विचारधारा फैलाने में कितना घोर विरोध हुआ। भगवान बुद्ध तथा उनके अनुयायी भिक्खुओं का पुरानी ब्राह्मणी परम्पराओं को मिटाने पर घोर विरोध और आलोचनाएं हुई।क्या सती की कुप्रथा को मिटाने के लिए राजा राममोहन राय को कम कष्ट सहने पड़े थे? विधवा को अग्निज्वाला में से निकाल कर आनन्दी बाई से पुनर्विवाह करने पर महाराष्ट्रीयन समाज सुधारक आगरकर को उसके अपने चितपावन समाज ने ही नहीं, अपितु उसके अपने माता-पिता ने भी उसे घर से निकाल दिया। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरपूर है कि बंदी को मिटाने वालों पर घोर अत्याचार हुए हैं। बाबासाहेब डॉ. आंबेडकर का विरोध करनेवाले कट्टरपन्थी ब्राह्मण विद्वान, साधु सन्यासी और मण्डलेश्वर इस लिए भी थे, क्योंकि भारत के इतिहास में एक अछूत सुधारक विद्वान (आंबेडकर) ब्राह्मणों के पूर्वज धर्मशास्त्रों के प्रणेता ऋषि-मुनियों को चुनौती दे रहा था और हिन्दुओं के आदि विधान-निर्माता (Law Giver) मनु महाराज का स्थान ग्रहण कर रहा था। इतना कड़वा घूँट ब्राह्मणी धर्म ध्वजियों के गले के नीचे उतरना महा कठिन हो रहा था। ऐसे रूढ़िवादी पण्डे पुरोहितों के लिए यह एक अद्‌भुत, विस्मयकारी और कमरतोड़ अनहोनी बात होने जा रही थी कि द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) का पर्सनल लॉ (वैयक्तिक विधि) जो ब्राह्मण ऋषि-मुनियों की ही एक मात्र ईजारादारी रही है, उस ईजारादारी को समाप्त करने वाला एक पापयोनि, अन्त्यज, अस्पृश्य, अन्तवासी, चाण्डाल, पंचम, अवर्णिकि और नीच समझा जाने वाला व्यक्ति (आंबेडकर) मनु महाराज, याज्ञवलक्य, नारद, गौतम, कात्यायन, हारीत, अत्रि, वसिष्ठ, आश्वलायन, गोभल आदि द्विज ऋषि-मुनियों का स्थान लीन

रहा है। रूढ़िवादी कट्टर पुरातन धर्माचार्यों की दृष्टि में यह एक घोर अनर्थ होने जा रहा था। गंगा का प्रवाह समुद्र की ओर से हटकर हिमालय की ओर जा रहा था।

बाबासाहेब की परम्परावादियों द्वारा आलोचना का सबसे बड़ा कारण यही था।

अगर मुझसे पूछा जाय तो मैं कहूँगा कि भारतीय इतिहास का यह एक अनुभव उदाहरण है कि एक अस्पृश्य समझा जानेवाला व्यक्ति उस चातुर्वर्ण के दुर्ग को भस्मसात् करने जा रहा था, जिसका निर्माण और पुनर्रक्षण गत साढ़े तीन हजार वर्षों से हिन्दुओं के स्वार्थी, धूर्त तथा पाखण्डी शिल्पियों (ऋषि-मुनियों) ने केवल ब्राह्मण वर्ग का महत्व बनाए रखने के लिए किया है।

मैं समझता हूँ कि हिन्दू कोड बिल के सम्बंध में जो कठोर आलोचनाएँ बाबासाहेब की हुई हैं, वह होनी स्वाभाविक ही थीं। यद्यपि वह निराधार, पापमयी, अधर्ममयी और सामाजिक संगठन का ताना-बाना तोड़ने के लिए ही थीं और हम ऐसे विरोधियों की बुद्धि पर दया किए बिना नहीं रह सकते। दूसरी ओर बीसवीं शताब्दी के महान्यायवादी राष्ट्र उन्नायक डॉ. बाबासाहब आंबेडकर की कर्तव्य निष्ठा की जितनी भी प्रशंसा करें, वह थोड़ी है।

प्रश्न 3. उस समय की सरकार के प्रतिक्रियावादी एवं प्रगतिशील वर्ग के बीच समन्वय के अभाव के कारण वह बिल पारित नहीं हो पाया था, आपने इस घटना पर कैसा अनुभव किया?

उत्तर- किसी भी ऐसे व्यक्ति या समूह को, जो बिल के हिमायती थे, इस बिल के भारत की प्रथम गठित सरकार द्वारा पारित न किए जाने का हार्दिक खेद होना अनिवार्य था। मै तो पूरी लगन और ईमानदारी से हिन्दू कोड को पारित हुआ देखना चाहता था। अतः मुझे इस प्रकार की असफलता से अथाह दुःख हुआ था। संसद सदस्यों के प्रगतिशील वर्ग को भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का सहयोग प्राप्त था, किन्तु प्रतिक्रियावादी टोला भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेला था। उस टोले के प्रमुख सहायक लोकसभा के पुराणपन्थी, कट्टर ब्राह्मण लोकसभा अध्यक्ष स्वयं थे। वह टोला खुलकर प्रधानमंत्री के सामने आने की जुर्रत नहीं रखता था, किन्तु वह भी कृतप्रतिज्ञ था कि येनकेन प्रकारेण इस बिल को पारित नहीं होने देना है। प्रधानमंत्री ने बाबासाहेब डॉ.आंबेडकर को वचन दे रखा था कि वह इसी प्रथम गठित सरकार में ही इस बिल को अवश्य पारित कराएंगे। प्रगतिशील ग्रुप और प्रतिक्रियावादी ग्रुप दोनों एक दूसरे के इरादे को भली-भाँति जानते थे, किन्तु खुलकर आमने सामने नहीं आते थे।

सरदार पटेल और जवाहरलाल नेहरू ही कांग्रेस के दो स्तम्भ थे, किन्तु उनकी नीति या विचारधारा में काफी अन्तर था। प्रतिक्रियावादी दल ने सरदार पटेल का आश्रय लिया ताकि बिल पारित न हो सके। सरदार पटेल ने उनसे कहा कि बिल संसद में प्रस्तुत किया जा चुका है। अब तो गाड़ी स्टेशन से चल पड़ी है। इसे वापस स्टेशन पर नहीं लाया जा सकता। हाँ! इसमें गतिरोध या गति मन्दता ला सकता हूँ। प्रत्येक कांग्रेस सदस्य को खुली छूट होगी कि वह हिन्दू कोड बिल की प्रत्येक धारा के पक्ष या विपक्ष में अपना मत दे सके। सरदार की ऐसी तसल्ली भी प्रतिक्रियावादियों के काम न आ सकी और हिन्दू कोड बिल की गाड़ी तो एक्सप्रेस (तूफ़ान मेल) तीव्र गति से चलती रही। यद्यपि लोकसभा के अध्यक्ष ने इस गाड़ी को रास्ते में बार-बार रुकवाने के लिए बनावटी तौर पर खतरे की चेन खिंचवाने का भरसक प्रयास किया। जो समय इस बिल पर विचार करने के लिए निर्धारित होता था, लोकसभा का अध्यक्ष वह समय विरोधी पक्ष या विरोधी पक्ष के किसी एजेन्ट सदस्य

को देकर समय ही समाप्त करवा दिया करते थे। किन्तु दूसरी ओर प्रथम गठित सरकार के महाभारत का 'भीम'- 'भीमराव आंबेडकर' भी इस बिल को पारित कराने की भीष्म प्रतिज्ञा कर चुका था। परिणामतः हिन्दू कोड बिल की चार धारा पर वाद-विवाद आरम्भ हो गया। अब प्रतिक्रियावादियों के हौसले पस्त होने लगे। उन्हें कुछ नहीं सूझता था कि कोड बिल पर कैसे ब्रेक लगाई जाए। पुराणों में अनेक ऐसी कथाएँ मिलती हैं कि जब बड़े-बड़े तपस्वी महारथियों को भी किसी मामले में सफलता मिलती नहीं दिखाई पड़ती थीं, तो वे सब मिलकर अपने देवाधि देव विष्णु महाराज के दरबार में कर प्रार्थी होते थे और वहाँ जाकर त्राहिअस्मान त्राहिअस्मान् (हमें बचाईये हमें बचाईये) का आर्तघोष करके अपने कष्ट निवारण करते थे। भारत की प्रतिक्रियावादी संसद सदस्यों की टोली के भगवान विष्णु थे, उस समय की प्रजातांत्रिक सरकार के राष्ट्रपति, जो सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक विचारों में अति परम्परावादी, कट्टरपन्थी और भारत के प्रगतिशील प्रधानमंत्री के आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक विचारों के शत प्रतिशत प्रतिकूल और विरोधी थे। जब प्रतिक्रियावादी टोले ने उनके सामने दण्डवत प्रणाम करके त्राहिअस्मान-त्राहिअस्मान की दुहाई दी और उनसे कहा कि आप हिन्दू कोड बिल के तूफानमेल को ब्रेक लगाइये। यह गाड़ी चार स्टेशन बड़ी तीव्रगति से पार कर चुकी है। ऐसा न हो कि यह अपने गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुँच जाए। भारत के प्रथम पुरुष (राष्ट्रपति) दिवंगत बाबू राजेन्द्र प्रसाद ने प्रधानमंत्री को कह दिया या तो हिन्दू कोडबिल पर संसद में बहस बन्द करवाइए नहीं तो मेरा राष्ट्रपति पद से इस्तीफा ले लीजिए। साथ ही इन्होंने अच्छे वकील होने के रूप में फतवा दे दिया कि इस प्रथम गठित सरकार के सदस्य भारत का संविधान पारित कराने के लिए निर्वाचित हुए हैं, इन्हें अन्य ऐसे प्रगतिशील कानून बनाने का अधिकार दूसरे निर्वाचन के पश्चात बनी सरकार में ही प्राप्त हो सकता है।

प्रधानमंत्री ने इस चुनौती को स्वीकार करना कांग्रेस के संगठन में दरार पड़ने के भय से उचित नहीं समझा और हिन्दू कोड बिल की पारित हुई चार धाराएं भी रद्द कर दी गईं। इस प्रकार कोड बिल पर विचार करना स्थगित हो गया। इस बिल को पुनः प्रस्तुत करने के लिए संसद के दूसरे चुनाव के पश्चात् बनी संसद में रखना तय हो गया।

कहना पड़ेगा कि प्रगतिशील ग्रुप की हार और प्रतिक्रियावादी ग्रुप की विजय हो गई। बाबा साहेब आम्बेडकर ने सरकार को अपना त्यागपत्र देते हुए त्याग के कारणों में सबसे बड़ा गम्भीर कारण यह बताया था कि प्रधानमंत्री जवाहरलाल ने हिन्दू कोड बिल पारित कराने के वायदे को पूरा नहीं किया और इस सामाजिक विधान की नैय्या को मंझधार में ही छोड़ गए और प्रतिक्रियावादियों के सामने हथियार डाल दिये। डॉक्टर साहेब प्रायः कहा करते थे कि भारत का संविधान पारित कराने में मुझे अधिक प्रसन्नता नहीं हुई, क्योंकि इसमें अनेकों संशोधन हो सकते हैं और इसमें मेरी इच्छानुसार कई प्रावधान हो सकते हैं, किन्तु हिन्दू कोड एक ऐसा संविधान है, जो मेरे अन्तःकरण की सही आवाज है। मैं अपने विधिमंत्री रहते ही इसे पारित कराऊँगा और हिन्दू समाज के चार हजार वर्षों के सामाजिक अन्याय और अत्याचार से समाज को मुक्त कराकर उसे एक सुसंगठित बनाने वाले सूत्र (पर्सनल) में बांध जाऊंगा।

किन्तु बड़े शोक का विषय है कि डॉक्टर साहेब की यह हार्दिक इच्छा मंत्रीकाल में पूरी न हो सकी। सारा जीवन संघर्षरत रहने वाले एक सच्चे राष्ट्रनायक के हृदय पर यह एक गहरी गम्भीर चोट थी।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू कोड बिल उनके विधि मंत्री रहने की अवधि में पारित नहीं हो सका, किन्तु दूसरे निर्वाचन के पश्चात् वह संसद के सदस्य नहीं चुने जा सके। तथापि विधिमंत्री पाटस्कर (एक महाराष्ट्रीयन ब्राह्मण) ने दूसरी बार गठित सरकार में बाबासाहेब द्वारा ड्राफ्ट हिन्दू कोड जिसे बाबासाहेब अम्बेडकर ने तैयार किया था, को टुकड़े-टुकड़े करके पारित कराया, किन्तु ऐसा तभी हो पाया जबकि पाटस्कर हर रात को 26 अलीपुर रोड में डॉक्टर साहेब से इस संबंध में कि उन्हें संसद में क्या करना और क्या कहना चाहिए, पर पूरा परामर्श लेते रहे। पुराणपंथी जिस धर्म संकट में पड़े थे कि उनकी वैयक्तिक विधि को बनाने का श्रेय एक अछूत को नहीं मिलना चाहिए, और यह कार्य एक ब्राह्मण द्वारा ही संपादित होना चाहिए, वह टल गया। ब्राह्मणवाद रूपी जहरीला साँप इस कोड की लाठी से कुचला गया, किन्तु उस पर प्रहार करने वाला एक ब्राह्मण ही बना भले ही उस लाठी को जिसके प्रहार से वह साँप मारा गया था, उसको घड़ने वाला और प्रहार का दाँव सिखाने वाला एक अछूत गुरू ही था।

ऐसा होने पर मुझे ब्राह्मणों और सर्व कट्टरपंथियों, हिन्दुओं की हार्दिक संकीर्णता, जन्म-जाति दर्प और झूठे अभिमान पर रोना जरूर आया और मैंने महसूस किया कि इस देश का कल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक चातुर्वर्ण व्यवस्था के विषैले सर्प का सिर नहीं कुचला जाता, जब तक इस व्यवस्था के प्रचारकों के मुँह में फौलादी ताले नहीं लगा दिये जाते। जब तक इस में सर्व रोगों की जननी, नफरत के कृमि पैदा करने वाली संस्कृति के पोषक ग्रन्थों की होली नहीं जलाई जाती, तब तक इस देश का वास्तविक कल्याण और इस देश के निवासियों की सामाजिक एवं मानसिक मुक्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न 4. क्या हिन्दू कोड बिल समय से आगे था?

उत्तर- हिन्दू कोड बिल समय से आगे नहीं वरन् समय से बहुत ही पीछे आया। हमारे विचार से यह कानून या विधान सती की रस्म के उन्मूलन के समय से ही बन जाना चाहिए था।

भारत में लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष मुसलमान शासकों का राज रहा। हिन्दुओं के अगुआ नेताओं (ब्राह्मणों) ने मुसलमान शासनकाल में मुसलमानों में विधवा विवाह, पुत्री को सम्पत्ति में अधिकार देना, विवाह विच्छेद (तलाक), समान धर्मियों में सामाजिक और धार्मिक समानता, ऊँच-नीचता के व्यवहार का प्रचनलन न होना, अपनी आँखों से मुस्लिम समाज में देखा। इसी प्रकार ईसाई शासनकाल में भी उपरोक्त सब बातों को हर रोज के जीवन में व्यवहृत होते देखा। किन्तु हाय रे भारतवासियों का दुर्भाग्य! इन्होंने इन शासकों की सैकड़ों बरसों की गुलामी में भी उनके सामाजिक संगठनों के नियमों को नहीं अपनाया और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए वर्ण व्यवस्था, जात-पाँत, विधवा विवाह का निषेध, तलाक को अधार्मिक ठहराया। पुत्रों की भाँति पुत्रियों को सम्पत्ति में अंशदान स्वीकार नहीं किया। आज छह सौ वर्षों की दासता के पश्चात् इस सामाजिक सुधारों को हिन्दू कोड बिल के रूप में स्वीकार किया। क्या इसे हम इस समय के बहुत पीछे का विधान मानने में सही नहीं है?

'हिन्दू कोड बिल और डॉ. आम्बेडकर'
सोहनलाल शास्त्री की पुस्तक से साभार

***

जाति निर्मूलन और नारी मुक्ति

-चैत्रा रेडकर

भारत में महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों की जब भी बात आती है तब डॉ. बाबासाहब आंबेडकर का नाम स्वाभाविक रूप से अहम् बन जाता है। महिलाओं को धर्म और परंपरा ने जो-जो अधिकार परिवार के भीतर और बाहर नकारे थे उनमें से बहुत सारे अधिकारों का अनुभव लेने का संवैधानिक अवकाश डॉ. आंबेडकर द्वारा निर्मित संविधान और हिंदू कोड बिल की वजह से प्राप्त हुए। महिलाओं के संवैधानिक एवम् वैधानिक अधिकारों के दायरे को और भी विस्तृत करने का काम सत्तर के दशक में उभरे नारी मुक्ति आंदोलनों ने किया। आज नारी मुक्ति आंदोलन जिस मुकाम पर पहुंचे हैं उस मुकाम पर यह जरूरी है कि नारी मुक्ति की बातें, वैधानिक अधिकार या फिर उससे जुड़े संविधान संशोधन के मुद्दों तक ही सीमित न रहें। औपचारिक वैधानिक साधनों के मायने, उनका सामर्थ्य तथा उनकी मर्यादाएं हम आज अच्छी तरह से समझ चुके हैं। राज्य संस्था से जूझते-जूझते हम इस कदर बिखर गये हैं कि सत्तर के दशक का ना तो हममें जोश है ना ही वह सामर्थ्य हममें बचा है। इस कड़वे सच को हम जितना जल्दी मान लें उतना अच्छा है, क्योंकि परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान ही भविष्य की योजनाओं को आकार देने में सहायक होता है।

सच बात तो यह है कि हम अस्सी के दशक में आये सांप्रदायिकता के तूफान का सामना नहीं कर पाए। हम बिखर गये। सांप्रदायिक शक्तियों ने हमारे मुद्दे इस तरह तोड़-मरोड़ दिए कि हम या तो सेक्युलर और नॉन-सेक्युलर की परिभाषा में ही उलझ गए या फिर धार्मिक स्वतंत्रता और समानता के आपसी रिश्ते को लेकर संजिदा हो गए। नब्बे के दशक में जब दलित महिलाओं ने अपने अलग चूल्हे जलाये तब उनके सवालों के जवाब भी हमारे पास नहीं थे। हमने सत्तर के दशक में मथुरा, रमीजाबी और माया त्यागी के मुद्दे जरूर उठाये थे, लेकिन केवल आदिवासी स्त्रियों के मुद्दे उठाने से उनके शोषण की समझ क्या गहरी हो सकती है? क्या हम लिंगभेद और जाति के आपसी रिश्ते को बारीकी से समझ पाए थे? कहीं पर जाति के मुद्दे के विभिन्न पहलुओं की समझ का अधूरापन और कहीं पर उसका संपूर्ण अभाव हमें अपनी दलित बहनों से जोड न सका। नारी आंदोलनों में नब्बे के दशक में आये अलगाववाद के बीज कहीं न कहीं इस अधूरी समझ से भी जुड़े हुए थे। नब्बे के दशक के अंत में महिला आरक्षण के मुद्दे ने नारी मुक्ति का मामला और भी पेचीदा बना दिया। सभी राजनैतिक दैलों के अंदर अब तक निदृष्ट रहे जातीय अंतर्विरोध उभरकर बाहर आ गए। महिला आरक्षण के अंतर्गत ओ.बी.सी. और मुस्लिम महिलाओं को अलग से आरक्षण मिलना चाहिए या नहीं मिलना चाहिए इस मुद्दे पर बहस एक दशक से अधिक समय निकल जाने पर भी चल रही है और नतीजा शून्य है।

अस्सी के दशक का सांप्रदायिकता का भंवर, नब्बे के दशक की शुरूआत में हमारी ही दलित बहनों ने उठाए हुए सवाल और दशक के अंत में आया हुआ महिला आरक्षण का मुद्दा, इन सभी चुनौतियों का सामना करने के लिए अगर हमें खुद को सक्षम बनाना है तो 'नारी' इस जमात की

प्रकृति को अधिक बारीकी से समझना होगा। नारी की अस्मिता और अस्तित्व गठन में पुरुष सत्ता के साथ-साथ जाति व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था तथा धर्म व्यवस्था ने जो भूमिका निभाई है उसे अधिक गंभीरता से पहचानना होगा। डॉ. आंबेडकर का कहना है कि 'नारी जाति का प्रवेशद्वार है' अपने आप में ही इस संबंध को स्पष्ट करने में एक महत्वपूर्ण विधान है।

डॉ. आंबेडकरने जगह-जगह पर जाति प्रथा और नारी की परतंत्रता के रिश्ते को सुस्पष्ट किया है। 1916 में अमरिका की कोलंबिया युनिवर्सिटी में आयोजित मानववंशशास्त्र की गोष्ठी में डॉ. आंबेडकर ने 'कास्ट इन इंडिया' नामक निबंध प्रस्तुत किया था। इस निबंध में उन्होंने जातिप्रथा का उद्‌भव और उसके दृढीकरण के बारे में चर्चा की है।

उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि जाति को दृढ़ और नियंत्रित करने के लिए ही स्त्री पर बंधन लादे गए। सतीप्रथा, पुनर्विवाह पर पाबंदी और बाल-विवाह जैसी प्रथाओं से एक तरफ स्त्रियों को बंदी बनाया गया और दूसरी तरफ जाति का भी दृढ़ीकरण कर दिया गया। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जाति निर्मूलन की कोशिशें नारीमुक्ति के बगैर अधूरी हैं और नारी मुक्ति की चेष्टा जाति निर्मूलन के सिवाय असफल है। दिसंबर 1927 में जब बाबासाहब ने महाड में पानी के लिए आंदोलन किया तब भी उन्होंने यह बात दोहराई। 25 दिसंबर 1927 को दिए गए भाषण में डॉ. आंबेडकर कहते हैं (रोटी बंदी (साथ खाना खाने पर पाबंदी) लोटी बंदी (पानी के लेन-देन पर पाबंदी) व भेटी बंदी (मिलने-जुलने पर पाबंदी) इन सारी पाबंदियों का उद्‌भव एक बेटी बंदी से हुआ है। बेटी बंदी (अपनी बेटी को दूसरी जाति में ब्याहने पर पाबंदी) को तोड़ दिया तो बाकी सारी पाबंदियाँ अपने आप उठ जाएंगी। बेटी बंदी की पाबंदी तोड़ने में ही छुआछूत का वास्तविक निर्मूलन है। इसी से समता आयेगी। मनुस्मृति दहन की प्रासंगिकता भी इस उपलक्ष्य में महत्वपूर्ण है। मनुस्मृति ऐसी संहिता है जिस में तथाकथित उच्च वर्ण के पुरुषों के अधिकारों को संरक्षित करने हेतु तथाकथित निम्न वर्ण के पुरुष और सभी स्त्रियों पर अमानवीय पाबंदियाँ निर्धारित की हैं। उच्च कहलाए जानेवाले वर्णों के पुरुषों को सभी वर्णों की स्त्रियों के साथ यौन संबंध रखने का अधिकार है। ऐसे संबंधों से उपजी संतति को समाज में निचला ही सही लेकिन कुछ स्थान भी है। किन्तु उच्च कहलाए जानेवाले वर्णों की स्त्रियों को या निचले वर्ण के पुरुषों को यह अधिकार नहीं है, उल्टा ऐसे संबंधों के लिए कड़ी सजा है। ऐसे संबंधों से उपजी संतति को चांडाल कहा गया है। बाबा साहब आंबेडकर ने मनुस्मृति दहन से जाति व्यवस्था और पुरुष सत्ता के इसी अन्योन्याश्रयी संबंधों को रेखांकित किया और दोनों व्यवस्थाओं द्वारा हो रहे शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी।

आज भी ऑनर कीलिंग के नाम पर पराई जाति के लड़के के साथ प्रेम संबंध रखनेवाली लड़कियों की हत्या से जाति और पुरुष सत्ता के बीच का संबंध स्पष्ट होता है और डॉ. आंबेडकर के विचारों की प्रासंगिकता भी स्पष्ट हो जाती है। इस प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए अगर हम नारी आंदोलनों का पुनर्गठन करते हैं तो समता के विषय में हमारी प्रतिबद्धता और भी गहरी और विस्तृत हो जाएगी। नारी आंदोलन में डिफेन्स के नाम पर आये अलगाववाद का निराकरण हो जाएगा। पुरुष सत्ता और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध लड़ने के लिए हमारी ताकत और भी मजबूत हो जायेगी।

***

डॉ. आंबेडकर और महिला संगठन

- सुजाता पारमिता

डॉ. आंबेडकर के संघर्षों का केन्द्र हमेशा स्त्रियां और शूद्र लोग ही रहे हैं। उनके सभी आन्दोलन जो समता और बुनियादी हकों के लिए लड़े गए उसमें स्त्रियों की भागीदारी बराबर की रही। महाड के चवदार तालाब पर दलितों के लिए पानी के सवाल पर और नासिक के कालाराम मंदिर में दलितों के प्रवेश को लेकर किये गए आंदोलन इसका प्रमाण है, जहां स्त्रियां भी भारी संख्या में शामिल रहीं।

डॉ. आंबेडकर के जीवन पर महिला संगठनों और उनके संघर्षों का गहरा असर हुआ। जब वे 1913-1917 के दौरान अमेरिका स्थित कोलंबिया युनिवर्सिटी में शोध कर रहे थे 1908 में नोर्थ अमेरिका की एक कपड़ा मिल में महिला श्रमिकों ने अपने शोषण के विरोध में बड़ी हड़ताल की, तब वे अपनी जायज मांगों के समर्थन में संगठित हुईं और उसके बाद ही 1909 में अमेरिका और कई पश्चिमी देशों में महिला संगठन अस्तित्व में आये और उनके संघर्षों ने पूरी दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। 1912 के बाद से सभी महिला संगठनों ने युद्ध के विरोध में शांति के लिए अपनी आवाज बुलंद कर अपनी भूमिका को बड़ा बनाया। संवेदनशील डॉ. आंबेडकर इस बदलते माहौल में महिला संगठनों की प्रभावी भूमिका को करीब से देख-समझ रहे थे, जिसका असर उनके आगे आनेवाले संघर्षों पर भी साफ दिखाई दिया। 20 जुलाई 1942 को नागपुर के मोहन पार्क में आयोजित पहले अखिल भारतीय दलित महिला अधिवेशन में लगभग 25000 दलित महिलाएं उपस्थित थीं। इस अधिवेशन की अध्यक्षता स्वयं डॉ. आंबेडकर ने की। देश ने पहली बार दलित महिला नेतृत्व को देखा जिसने इस अधिवेशन को ऐतिहासिक बना दिया। इसी अधिवेशन में दलित महिलाओं ने न केवल दलित महिला संगठन की आवश्यकता और महत्व को स्वीकारा बल्कि उसके लिए सामूहिक रूप से धन जमा करने के लिए भी प्रस्ताव पारित किया जो आगे चलकर समय-समय पर उनके संघर्षों के लिए काम आ सके। इसके अलावा 7 अन्य प्रस्ताव भी इसी अधिवेशन में पारित किये गए जिसमें बीड़ी और कपड़ा मिलों में काम करनेवाली महिला श्रमिकों के शोषण के विरोध में, कारखानों और मिलों में बेहतर सुविधाओं के लिए और शिक्षा के अधिकार के साथ-साथ राजनैतिक भागीदारी की भी मांग रखी गयी, लेकिन इस अधिवेशन में पारित किया जानेवाला सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्त्रियों के लिए तलाक का अधिकार जिसे 25000 दलित महिलाओं ने स्वतंत्रता पूर्व निर्विरोध पारित किया।

इस अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ. आंबेडकर ने महिला संगठनों में अपनी गहरी आस्था जताते हुए कहा, "मैं महिला संगठनों का समर्थक हूं और मानता हूं कि समाज से धार्मिक कुरीतियां और अंधविश्वास खत्म करने में उनकी भूमिका अहम है। वे सामाजिक स्थिति के बदलाव में महत्वपूर्ण काम कर सकती है, अगर इसके लिए उन्हें सहमत किया जाए, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूं क्योंकि इसका मुझे अनुभव है। मैं किसी भी समाज की प्रगति का आकलन उस समाज में महिलाओं की स्थिति से ही निर्धारित करता हूं।" इसी अधिवेशन के दौरान डॉ. आंबेडकर को वाइसरॉय की काउंसिल में श्रम सदस्य की हैसियत से सम्मिलित किये जाने की सूचना मिली जो किसी भी भारतीय के लिए उस समय बड़े सम्मान की बात थी। अपने तीन वर्ष के कार्यकाल में डॉ.आंबेडकर ने भारत में पहली बार श्रम कानून को मानवीय रूप देने का काम किया, उसे मानवाधिकारों से जोड़ा। इससे पूर्व भारत में श्रमिकों के अधिकारों या उनके कल्याण के लिए कोई निर्धारित नीति या परंपरा नहीं थी। दलित श्रमिक का दर्जा दास या गुलाम का ही था, जिसे श्रम के बदले में, पैसे के बजाय अनाज भीख में दिया जाता रहा। ब्रिटिश राज में कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को भी

विशेष सुविधा या न्यायोचित वेतन का प्रावधान नहीं था। डॉ. आंबेडकर ने महिला श्रमिकों के लिए कई नए कानून और योजनाएं बनाईं, जिसमें काम के घंटे निर्धारित करना, समान वेतन का प्रावधान, प्रसूति के दौरान 21 दिनों की छुट्टियां तथा सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन का प्रावधान शामिल था, लेकिन श्रम कानूनों में सबसे क्रांतिकारी कदम, श्रमिकों के लिए जीवन बीमा और स्वास्थ्य सेवा योजना का निर्माण करना था।

स्वतंत्र भारत में डॉ. आंबेडकर को संविधान सभा का अध्यक्ष बनाकर संविधान निर्माण की जिम्मेदारी सौंपी गयी। संविधान के जरिए डॉ. आंबेडकर ने भारत को लोकतंत्र और भारतीय शासन व्यवस्था को समाजवादी रूप में ढालकर पूंजीवादी मान्यताओं के पैरों में बेड़ियां डालने का काम किया, जिससे देश की बहुसंख्यक गरीब जनता के लिए सामाजिक न्याय का मार्ग प्रशस्त हो सके। डॉ. आंबेडकर ने सभी भारतीयों को जाति, धर्म और जिन्सियत के आधार पर चली आ रही पांच हजार साल पुरानी संस्कृति को ध्वस्त करके समता का अधिकार दिया। हर स्तर पर भयानक असमानता के दलदल में फंसे भारतीय समाज के लिए यहां समता का अधिकार स्वतंत्रता के कुछ समय पहले तक अकल्पनीय था। समता के इस अधिकार ने भारतीय संविधान को दुनिया का संविधान होने का गौरव दिया। लेकिन संविधान निर्माण के दौरान ही हिन्दू कोड बिल को लेकर डॉ. आंबेडकर और सरकार में शामिल अधिकांश मंत्रियों और संसद सदस्यों के बीच गहरे मतभेद उभरे। देश भर के कई महिला संगठनों ने डॉ. आंबेडकर का समर्थन किया। लेकिन हिन्दु कोड बिल संसद में पराजित हो गया, जिसका अपमान सहन करना डॉ. आंबेडकर के लिए नामुमकिन था। अंततः यही उनकी अकाल मृत्यु का कारण भी बना।

भले ही हिन्दु कोड बिल डॉ. आंबेडकर के जीवन काल में पारित न हो सका, लेकिन बाद में स्त्रियों का संपत्ति में अधिकार और पहले दलित महिला अधिवेशन में पारित कई प्रस्ताव टुकड़ों में भारतीय कानून में शामिल किए गए, जिन्होंने भारतीय स्त्रियों के अधिकारों को मूर्त रूप देने का काम किया। इतिहास गवाह है कि दुनिया में जहां कहीं सामाजिक न्याय और मानवाधिकार के ईमानदार आंदोलन चले, उसकी सोच सारी सीमाएं सभी चुनौतियों से जूझती दूसरे छोर तक पहुंची है, जिसका प्रभाव सदियों तक जिन्दा रहा है।

डॉ. आंबेडकर का आंदोलन एक ऐसा आंदोलन था जिसने सामाजिक न्याय की अवधारणा में स्त्रियों के अधिकारों को प्राथमिकता देकर उसे बड़ा बनाया। स्त्री नेतृत्व को राजनैतिक भागीदारी के समान अवसर देने के उनके विचार ने धीरे-धीरे विश्व के सबसे पिछड़े क्षेत्र दक्षिण पूर्वी एशिया के लगभग सभी देशों पर अपना प्रभाव छोड़ा, जिसका असर बाद के वर्षों में दिखाई दिया। जब श्रीलंका में श्रीमाओ भंडारनायके पहली राष्ट्रपति बनी उसके बाद भारत में श्रीमती इंदिरा गांधी दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में सर्व सम्मति से प्रधानमंत्री चुनी गयीं। भारत के दो पड़ोसी इस्लामिक मुल्कों में भी महिलाओं ने ही राजनैतिक सत्ता की बागडोर संभाली। बांग्लादेश में बेगम खालिदा जिया, शेख हसीना और पाकिस्तान में बेनजीर भुट्टो प्रधानमंत्री बनी।

बर्मा में जब भी लोकतंत्र बहाल होगा वहां भी आनसान सुकी ही राष्ट्र प्रमुख बनाई जाएगीं। डॉ. आंबेडकर ने स्त्रियों को सशक्त और देश के विकास में सार्थक भूमिका निभाने की दिशा में पहल की। डॉ. आंबेडकर के प्रयासों से ही देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री दलित स्त्री सुश्री मायावती बनी, जो आंबेडकर के आंदोलन से पहले असंभव था।

वर्षों पहले महात्मा गांधी ने अपने एक वक्तव्य में कहा था कि जिस दिन देश की राष्ट्रपति एक सफाई कर्मचारी की बेटी बनेगी, उस दिन भारत में सही मायने में लोकतंत्र स्थापित होगा। लेकिन डॉ. आंबेडकर के लोकतंत्र के मायने महात्मा गांधी के लोकतंत्र से बिलकुल अलग थे। आंबेडकर सभी भारतीय स्त्रियों को निर्भीक, स्वावलंबी और सशक्त देखना चाहते थे। उस कठपुतली की तरह नहीं जिसकी डोर किसके हाथों में है यह दिखाई ही न दे।

कहानी

वसंता

- मूल अंग्रेजी : ललिता धारा
हिन्दी अनुवाद : मनोज सिसोदिया

वसंता..... मेरी बड़ी बहन। हम चारों में सबसे बड़ी। जैसा नाम वैसे ही गुण.... वसंत ऋतु जैसी चहकती, चमकती हंसती और हंसाती। जो एक बार उसे मिल लेता कभी भुला नहीं पाता। वसंता-अट्ठाइस साल की कच्ची उम्र में हमें छोड़ गई..... या यूं कहो कि औरत थी इसलिए जाति भेद और सामाजिक बंधनों की चक्की में पिस गई।

रुढ़िवादी तमिल ब्राह्मणों के घर पैदा हुई थी वसंता। पिता नारायण सेन्ट्रल गवर्नमेंट में क्लर्क थे.... माँ (जो कि बहुत सुंदर थी) घर सम्हालती थी, लक्ष्मी नाम था उसका। वसंता का जन्म हुआ था 1938 में, दो साल बाद छोटे भाई अंबि का आगमन हुआ..... तीसरी संतान, राजा सात सालों बाद पैदा हुई.... मैं सबसे छोटी थी, राजा के जन्म के सात साल बाद मैं पैदा हुई थी। वसंता मुझसे 16 साल बड़ी थी।

बैंगलोर के बेहतरीन मिशनरी स्कूल में हमें शिक्षा दी गई। ब्राह्मण होने के बावजूद वसंता ने एस.एस.सी. की परीक्षा बहुत अच्छे गुणों से पास कर ली, फिर भी उसे कॉलेज जाना नसीब नहीं हुआ। मैं सभी बच्चों को कॉलेज नहीं पढ़ा सकता, इतना रुपया नहीं है मेरे पास, पिता ने कहा था। नतीजा यह हुआ कि लड़कों को कॉलेज भेजा गया, लड़की को नहीं।

एस.एस.सी. के बाद वसंता ने पोस्ट ऑफिस में नौकरी ले ली। फ्रेंच और इंग्लिश की ट्युशन भी देने लगी- परिवार की जिम्मेदारी अपने सिर लेने को तैयार हो गई। छोटे भाइयों की पढ़ाई का भार उसके नाजुक कंधों पर आ गया जिसे वसंता ने हंसी-खुशी स्वीकार भी किया। खूबसूरत होने के साथ-साथ वसंता अकलमंद भी थी। अंग्रेजी भाषा पर अच्छा काबू था, पकड़ थी। शेक्सपीयर और वुडहाउस सभी को एक समान इज्जत से पढ़ती थी। कर्नाटिक गायकी और वीणावादन सीखना भी शुरू किया और बहुत ही कम समय में बहुत अच्छी सफलता पाई थी वसंता ने।

जब वसंता पोस्ट ऑफिस में गुलामी कर रही थी अंबि, कॉलेज जाने लगा, इंजीनियरिंग करना चाहता था वह। घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी इसलिए अंबि को भी पढ़ाई के साथ-साथ पोस्ट ऑफिस में नौकरी लेनी पड़ी और अपनी आक्का के साथ वह भी काम पर लग गया, दिन में कॉलेज रात में नौकरी (छुट्टियों में दिन में भी काम करना। तभी अपनी आक्का से बातों के साथ-साथ टिफिन का खाना बाँट लेते)।

वसंता अपने भाइयों के लिए बहुत से सपने देखा करती थी। पिता को अपनी जिम्मेदारियों का अहसास नहीं था। माँ को पिता को कोसने से फुर्सत नहीं थी। वसंता धीरे-धीरे अपने भाई बहनों के लिए माँ-बाप सब कुछ बन गई।

तब मेरी उम्र आठ साल की थी। मेरा होना या न होना कोई मायने नहीं रखता था, एक कहानी बन रही थी जिसे कागज पर लिखने के लिए आज मुझे अतीत मे झांकना पड़ रहा है।

वसंता जवान हो गई। कली पर भंवरे मंडराते हैं वैसे पुरुष उसके आस-पास चक्कर काटने लगे थे...वसंता भी कुछ पुरुष मित्रों के साथ आने-जाने लगी थी, कभी नाटक, सिनेमा, कभी होटलों में खाना खाने.... वह सब जिसकी एक मध्यमवर्गीय परिवार की बेटी को छूट नहीं देती थी। क्योंकि पचास का दशक था और बैंगलोर छोटा शहर था। माँ वसंता से सिर्फ पन्द्रह साल बड़ी थी और वसंता को छूट लेते हुए देखकर उस पर बरसने लगी थी-गाली गलौज, मार-पीट। हो सकता है जो वह खुद नहीं कर पाई थी, अपनी बेटी को करता हुआ नहीं देख पाई।

माँ-लक्ष्मी-अच्छे खानदान के, डाक्टर की संतान थी, उसे माँ का प्यार नहीं मिला था पर पिता का प्यार खूब मिला था। सुंदरता ने उसका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ा दिया था, उसका अहम् बहुत भारी था। गांव में बसे मेरे पिता के साथ अपनी शादी से माँ खुश नहीं थी और इस बात को छुपाने की उसने कभी कोशिश भी नहीं की। नारायण- मेरे पिता लक्ष्मी की हरकतों से परेशान रहते तो बदला लेते बिस्तर में, रात को बिस्तर युद्ध का मैदान बन जाता। अपनी मर्दानगी दिखाने का यही एक तरीका था नारायण के पास ।

लक्ष्मी अपने जीवन के अनुभवों के आधार पर वसंता के जीवन में शारीरिक संबंधों को नहीं सह पाई। वसंता एक नये रूप में सामने आई, उसने साज-सिंगार करना छोड़ दिया, यहां तक कि रंगीन कपड़े भी छोड़कर सिर्फ सफेद कपड़े पहनने शुरू कर दिये। माँ को खुश करने का और साथ ही सजा देने का एक नया ही तरीका इजाद कर लिया था।

पर कपड़ों से सौंदर्य नहीं छुपता, न ही स्वभाव। वसंता ने एक साथी पा लिया और वह इंतजार करने लगी कि कब उसकी शादी हो लेकिन पता यह चला कि लड़का सिर्फ दोस्ती चाहता था.. "शादी वहीं करूंगा जहां मां चाहेगी" कहा था उसने। वसंता उसके मन पसंद दहेज नहीं ला सकती थी।

इस आघात से निकलने के लिए वसंता ने सारी चीजों का सहारा लिया, काम, संगीत, भाई-बहनों की फिक्र आदि। उसने हर तरीके से अपने आप को व्यस्त रखना चाहा। वीणा सिखाने वाली मामी का प्यार उसे भरपूर मिला, जिस मेजर साहब के बच्चों को ट्यूशन पढ़ाती थी उन्होंने और उनकी पत्नी ने भी वसंता को सम्मान दिया। बस घर में ही उसकी इज्जत दो कौड़ी की रही।

वसंता जीना चाहती थी, जानती भी थी ...विशु केरल के नये साल का पहला दिन होता और वसंता सब के लिये नये कपड़े लाती, घर सजाती, रंगोली बनाती, मिठाईयाँ भी बनाती। शाम को अनाज और दाल, फूल और फलों से सजावट करके उनके बीच में एक आइना रखती। अगली सुबह उठकर सब अपना मुँह उस आइने में देख आते, यही रिवाज था। बाद में हम नये कपड़े पहनते और खुशियाँ मनाते।

माता-पिता अपनी-अपनी अपेक्षाओं के साथ एक दूसरे से विवाह बंधन में जुड़े थे, कोई भी एक साथी दूसरे की अपेक्षाएँ पूरी नहीं कर पाया। विवाहित जीवन कड़वाहट भरा हो गया, नारायण पहला मौका मिलते ही हाथ उठाता और पुरुष होने का प्रमाण दे देता।

माँ के साथ अनबन होने के बाद भी वसंता माँ का पक्ष लेती और कभी-कभी माँ के लिये उठा हाथ उस पर आ पड़ता।

माँ वसंता को बोझ समझती थी, क्योंकि वह बेटी के लिए अच्छा वर भी नहीं ढूँढ पा रही थी। पढ़ा-लिखा ब्राह्मण वर महंगा मिलता है। माँ का पक्ष लेती थी इसलिए पिता को वह कभी पसंद नहीं आई । उसके जीवन में बस एक ही सुनहरी किरण थी, भाइयों का प्यार और वह भी अपने भाइयों को बेहद चाहती थी।

अब वसंता को मिरगी के दौरे पड़ने लगे थे। समाज की अव्यवस्था को देखकर या हो सकता है माँ-बाप का रूखा व्यवहार देखकर वह एक दिन अचानक ऑफिस में गिर पड़ी , शरीर ऐंठ गया, तन गया, मुँह से झाग निकला, दाँत बजने लगे। कुछ पल बाद ठीक हो गई।।

दौरे उसके जीवन का हिस्सा बन गये। दिन में कभी भी फिट आ जाती और वसंता इसी चिंता में रहती कि अब फिट आई! तभी उसके जीवन में एक नया अध्याय शुरू हुआ-

त्रिवेन्द्रम से दूर का रिश्तेदार हरी हमारे घर रहने आया । हरी संगीतकार था और बैंगलोर में किस्मत आजमाने आया था। उसकी आवाज में बहुत ही मिठास थी। वसंता और हरी एक दूसरे को चाहने लगे- पहली नजर का प्यार था... दुनिया को भूल गये, घंटों एक दूसरे की बाँहों में स्वर्ग का आनंद लेते...वसंता की पसंद का गाना था लता का गाया हुआ, "यह जिंदगी उसी की है...". हरी को पसंद था "मेरा नाम राजू

घराना अनाम...." उन्होंने शादी का फैसला किया और एक स्टूडियो में जाकर साथ-साथ तस्वीर खिंचवा ली, तब घर आकर अपना फैसला सुनाया।

परिवार के सारे लोग (जिन्होंने कभी पलटकर पूछा नहीं था कि रोटी है या नहीं) अचानक जाग उठे, अनपढ़, बेकार संगीतकार से शादी असंभव!! और तो और, भाइयों ने भी यही कहा, क्योंकि परिवार की इज्जत का सवाल था। हरी को नापसंद कर के वह तस्वीर फाड़ दी गई जिसमें हरी और वसंता साथ खड़े थे। किसी ने यह नहीं जाना कि उस तस्वीर के साथ वसंता का सपना भी खत्म हो गया, वसंता की आत्मा, जीने की तमन्ना सब एक साथ खत्म हो गये! वसंता ने जलकर मर जाने की कोशिश की पर उसे बचा लिया गया.... उसे न अपनी मर्जी से जीने की इजाजत थी, न अपनी मर्जी से मरने की।

वसंता के लिए जीवन बोझ बन गया। बैंगलोर मेन्टल हॉस्पिटल में उसे छःमहीने रखा गया... यह बात और है कि NIMHANS में उसने सभी का दिल जीत लिया था... विश्व प्रसिद्ध न्यूरो सर्जन डॉ. मणि और डॉ वर्मा जो वसंता का इलाज कर रहे थे, वे भी काफी प्रभावित थे.. पता चला वसंता को ब्रेन ट्यूमर है और ऑपरेशन का फैसला किया गया... बारह घंटे लंबा ऑपरेशन!! ऑपरेशन थियेटर में जाने तक वसंता डॉक्टर्स और नर्स के साथ मजाक करती रही- ऑपरेशन कामयाब नहीं हुआ।

वसंता हॉस्पिटल से बाहर आई तो शरीर का कुछ हिस्सा लकवा से ग्रस्त था- पार्शियल पेरालिसिस! आँखों की रोशनी भी कम हो गई थी- अब वह पढ़ नहीं सकती थी- पर फिर भी माँ की कोफ्त और पिता की नाराज़गी के बावजूद वह जिंदा रही- अपने भाईयों को पढ़ाने का एक ही ध्येय था। अंबि को इंजीनियर देखने का सपना था उसका।

उसे बुरे-बुरे सपने आने लगे- एक विशाल मंदिर बन रहा है, गोपुरम तैयार होने को है कि मंदिर ढह जाता है... हर बार यही होता है- वसंता सोचने लगी कहीं इसका मतलब यह तो नहीं कि अंबि की पढ़ाई पूरी नहीं होगी) उसका दाहिना अंग पूरी तरह लकवाग्रस्त हो गया, आँखें और कमज़ोर!!तभी हमारे मकान के ऊपर रहनेवाले एडवोकेट के साथ वसंता का मेलजोल बढ़ा, दोनों एक दूसरे का सम्मान करते थे, वसंता सोचने लगी कि कब उससे ब्याह के बारे में पूछा जाय, वह दिन कभी नहीं आया!

माँ-बाप से परेशान, पुरुषों से तिरस्कृत, समाज के रीति-रिवाजों में बंधी वसंता एक से मकाम पर आ गई जहाँ से कोई राह नहीं थी.....

ऐसे वक्त में पिता की ममता जाग उठी.. वसंता को अपने साथ अंबरनाथ ले गये। दोनों एक दूसरे का सहारा बन गये... अंबि और राजा जब भी अंबरनाथ जाते वसंता को उसके प्रिय लेखक वुडहाउस की कहानियाँ पढ़कर सुनाते और वसंता खिलखिलाकर हँस पड़ती। पिता और वसंता में अच्छी निभ गई। वे खाना पकाते, खिलाते, वसंता के बालों में कंघी भी कर देते!! रविवार के दिन हाथ में हाथ लेकर गेट-वे घुमाने ले जाते, वसंता समुद्र के ठंडे पानी में हाथ डालकर अपनी ऊँगलियों से पानी को स्पर्श करती, चेहरा चमक उठता! उसे शांति मिल गई थी।

एक रात मिरगी के भयानक दौरे रात भर पड़ते रहे, सुबह वसंता उठकर पिता के पास गई और कहा, "मुझे कोई पुकार रहा है.. मैं जा रही हूँ":- और वसंता नहीं रही!!

अंबि के जीवन में आक्का की खास जगह थी। वसंता के जाते ही वह अकेला हो गया। तीस साल हो गये हैं, वह दादा बनने वाला है पर आज भी किसी से खुलकर नहीं मिल पाता है।

राजा को आक्का की मौत ने हिलाकर रख दिया था, वह कभी नहीं मान पाया कि आक्का मर चुकी है... वसंता को ढूँढता ही रहा वह.. तीस साल हो गये हैं और वह आज भी वसंता को ढूँढ रहा है।

*****

लोहिया साहित्य - 38
रामनोहर लोहिया

RAM L

जाति-नीति

आज हिन्दुस्तान की सभी पार्टियाँ ऊँची जाति की हैं। सभी मुँह से तो कहती हैं कि जाति-प्रथा का नाश करो, बराबरी का हिन्दुस्तान कायम करो, पर कायम करो योग्यता के आधार पर। यह योग्यता के आधार की बात सुनने में बड़ी अच्छी लगती है। पर योग्य कौन है ? 5000 वर्ष से चलती आयी योग्यता कुछ खास जातियों में आ गयी है। परम्परा के बाद में एक धंधे की विशिष्टता इन खास जातियों में आ गयी है। सहसे ऊऊँचा काम ब्राह्मण, कायस्थ चलाते हैं तथा बनिया व्यापार चलाते हैं। योग्यता का आधार तो इन जातियों के लिए ही वरदान बन गया है। बलवान के हाथ में ही हथियार दिया जा रहा है। इस आधार पर पिछड़ी जातियाँ पिछड़ी ही रह जाती है। इस तरह योग्यता का सिध्दांत तो जाति-प्रथा को और मजबूत बनाता है।

इसलिए अयोग्यता के आधार पर पिछड़ी जातियों को ऊँचे स्थान पर बिठाओ। दूसरी पार्टियाँ कहती है कि योग्यता के अवसर दो। पर सोशलिस्ट पार्टी कहती है कि जब अवसर दो तब योग्यता आएगी। पर कुछ लोग गलती से मुझे शत्रु समझ बैठे हैं। मैं द्विजों का दुश्मन नहीं। मैं उन्हीं में से उनका दोस्त हूँ। लोग समझते है मैं उनका नाश करना चाहता हूँ। मैं तो चाहता हूँ कि भारत के लोग इतनी शक्ति पैदा करें कि वे क्रुश्चेव व आइसन होवर को मिटा सकें। इन दोनों के सामने हम सभी हरिजन हैं। मैं तो देश के बाहर के इन ब्राह्मणों को हटाना चाहता हूँ।

ऊँच-नीच दुनिया भर में किसी नकिसी रूप में मौजूद है। लेकिन जाति के रूप में केवल हमारे यहाँ ही ऊँच नीच का भान मौजूद है। हमारे यहाँ इसको जमा दिया गया है।

जातियाँ कैसे बनी ? इसका ठीक जवाब नहीं दिया गया है। विद्वान लोग इस विषय पर पूरा अध्ययन नहीं कर पाये हैं। विद्वता कितनी कम है कि अभी तक पूरा जवाब नहीं मिला है। पहला अन्दाजा है कि धन्धे पर जाति बन गयी। समझलो जैसे कोई लुहार है। हम भी कभी लुहार रहे होंगे। हमारे पुरखे लोहे का व्यापार करते होंगे। धन्धों पर जातियाँ बनी। मेहनत के धन्धे नीचे बनते गये। दिमाग के धन्धे ऊँचे बनते गयें। दिमाग के धन्धे दो तरह के होते हैं, अच्छे और बुरे। दिमाग के दोनों अच्छे या बुरे धन्धे ऊँचे होते गये।

दूसरा जवाब बार-बार मेरे दिमाग में आता है। कोई जाति ऊँची और राजा रही होगी। उसी जाति का राजा हार गया होगा। हारने वाले दो तरह के होते हैं - एक जो हार मान लेते हैं। जीतने वाला राजा नम्बर एक होता था और हारने वाला दो नम्बर का। अंग्रेजी जमाने में जितनी रियासतें थीं उनके राजा ऐसे ही दो नम्बर के राजा थे। ये चापलूस होते हैं तथा जीतने वाले राजा से सन्धि कर किसी तरह जिन्दा रहते हैं दूसरे प्रकार के हारने वाले अपनी हार मानते ही नहीं। हमेशा अपनी हेकड़ी में तने रहते हैं। टूट जाते हैं और टूटते चले जाते हैं पर झुकने का नाम नहीं लेते वे हमेशा अपनी बगावत जारी रखते हैं। तेलुगु में लम्बाड़ा जाति हैं। वे वास्तव में राजस्थान के हैं। वह जाति राजा रही होगी। राजस्थान के गाड़िया-लुहार किसी जमाने में राजा थे। हार गये, हार मानी नहीं। ऐसे हारने वाले अपने प्रण के पक्के घूमते रहेंगे। कहीं बसेंगे नहीं। फिर जीतने वाला राजा कैसे दबाएगा। गिरते-गिरते ये नीचे चले गये। पहले हालत गिरी। फिर सदियों

बाद मन भी गिर गया। शुरुआत प्रण से हुई? दिमाग ऊँचा रहा। पर अंत मन के गिरने तक पहुँच गया ऐसी मन की गिरावट पासी, चमार, भङ्गी, डोम में आ गयी। ये लोग जल्दी से मन की गिरावट दूर करें। हीन भाव को खतम करें। पासी, चमार, डोम हो सकता है इनमें से कोई देश के राजा होंगे। ऐसे लोगों को नये राजाओं ने हजारों सालों में दबा कर नीचे ठेल दिया।

बनिया जाति भी दो भागों में बँटती गयी। अधिक आमदनी के सेठ थोक व्यापार वाले जनेऊधारी ऊँचे बनते गये। पंडितों, पुरोहितों ने पैसे वाले को सेठ, अग्रवाल, बना दिया और बाकी को कलवार, तेली बना दिया। थोक व्यापार वाले सेठ बन गये। फुटकर वाले बनिया, कलवार रह गये। इस तरह हम देखते हैं कि कालचक्र बड़ा विचित्र है, कब किसको गिराता है कब चढ़ाता है पता नहीं।

इसलिए आप लोग हरिजन, शुद्र वगैरह कोई यह न समझो कि हम छोटी जाति के हैं। हो सकता है, संभव है आप राजा रहे होंगे। अपने हीन भाव को खतम करो। आज आप पर दोहरी मार है, पेट की मार और मन की मार। मन की मार तो आप जल्दी ही खतम कर दो। अब हिन्दुस्तान में जाति को मिटाना है। बिना इसको मिटाए कुछ नहीं होगा।

इस सिलसिले में एक जबरदस्त भूल हो रही है। देश के अखबारों में विद्वानों ने लिखा है, किताबों में प्रचार किया गया है कि जैसे-जैसे देश का आधुनिकीकरणहोगा जाति-प्रथा मिटती चली जाएगी। ऐसी गलती मार्क्स मे भी की थी। मार्क्स जर्मन जीति का था। उसने लिखा है कि लोग रेल में एक साथ सफर करेंगे और विद्या पढ़ेंगे तो जाति धीरे-धीरे खतम हो जाएगी। पर हुआ उलटा ही। योरप की पढ़ाई के बाद और रेल सफर के बाद भी जाति और मजबूत हुई। योरप की पढ़ाई करने कौन गया पिछले 150से 200 वर्षों में जनेऊधारी ही विलायत रढ़ने गये। पर लौटने पर वे बदले नहीं। उन्होंने उलटे अपनी एक अलग जाति बना ली। वे विलायत फिरते ऊँचे बनिया-बाँभन-ठाकुर बन गये। मार्क्स जैसा विद्वान भी भारत के बारे में गलती कर बैठा।

फिर जाति कैसे मिटेगी। हिन्दुस्तान को एक बड़ा हथियार मिल गया है। बालिग मताधिकार आ गया है। हर 21 वर्ष का आदमी वोट दे सकता है। 30 या 40 साल बाद इसके नतीजे निकलेंगे। अभी ऊँची जाति वाले धोखा धड़ी से बाजी मार ले जाते हैं। कुछ दिन बाद पिछड़ी जीतियाँ चेत जाएँगी। तब जाति प्रथा मिटेगी। बालिग मताधिकार और जाति प्रथा एक साथ तो नहीं चल सकते। एक को मरना पड़ेगा। हो सकता है चतुर ऊँचे लोग बालिग मताधिकार को ही खतम करने की साजिश करें। राजेन्द्र बाबू और विनोबा तो बालिग मताधिकार के खिलाफ खुले आम बोल चुके हैं। पंडित नेहरू सीधे नहीं टेढे ढंग से बोल चुके हैं। कहते हैं बालिग मताधिकार में बड़ा खर्च होता है। चुनाव बड़े खर्चीले होते हैं जिससे धनी लोग ही चुनाव जीत जाते हैं। इसलिए बालिग मताधिकार के सीधे चुनाव को खतम करना अच्छा होगा। यह मुझको मालूम है। हमारे ऐसे गरीब पैसे के बिना चुनाव नहीं लड़ पाते। फिर भी बालिग मताधिकार के खतम करने की बात करना पाप है। विनोबा जैसे ऋषिमुनि ही ऐसा पाप करते है। वे कहते हैं पहले गाँव के सरपंच चुनों। फिर गाँव के पंच दिल्ली के पंच को चुनेंगे। कैसी खतरनाक बात है। 4 लाख वोटर हैं। 4000 पंच गाँव के होंगे। इस तरह ४लाख वोटरों का अधिकार छीन कर 4000 पंचो को देना चाहते हैं। तब तो इन 4000 पंचो के बीच पैसा खूब रंग दिखलाएगा। इन 4000 पंचो को घूस देने आसान

होगा। 5000 वर्ष की जाति-प्रथा को मिटाना आसान नहीं। अगर बालिग मताधिकार टिक गया तो जाति-प्रथा टूट कर ही रहेगी।

जाति तोड़ने की बात सभी करते है। दूसरे लोग, देश की दूरसी पार्टियाँ नारा लगाती हैं- जाति तोड़ो और बराबरी का हिन्दुस्तान कायम करो। जो योग्य है, लायक हैं-वह अपसरी पर बैठे। सुनने में बात अच्छी लगती है। प्रजा, कम्युनिस्ट, कांग्रेस सभी इसका राग गाते है। इसका नतीजा खराब होगा। हिन्दुस्तान के गरीब और योरप केगरीब में बहुत बड़ा फ़रक़ है। हिन्दुस्तान का गरीब केवल गरीब ही नहीं वह नींची जाति का भी है। योरप में गरीब नींची जाति का नहीं। इस 5000 वर्ष के कोढ़ को मिटाने का एक तरीका है। यह पिछड़ी जातियाँ लगभग 85% है पर केवल 10%जगहों पर ही उन्हें पद मिला है। इन नालायकों में से जो अच्छे हैं उनको 60% जगहों पर बिठाओ। आज तो लगभग 20लाख के अन्दर ही योग्यता भरी है। योग्यता का इन्जेक्शन सभी में घुसाओ। नालायकों को मौका दो तब लायक बन जाएँगे। देश की दूसरी पार्टियाँ कहती हैं योग्यता को मौका दो। हम कहते हैं पहले मौका दो तब योग्यता आएगी। इस तरह बराबरी का हिन्दुस्तान कायम होगा।

पर यह सब इतना आसान नहीं। हरिजनों और पिछड़े लोगों में दो कमजोरियाँ है। पहला नतीजा इस ६०फीसदी से यह होगा कि आपका मन खुश हो जाएगा। पर आप अपनी कमजोरी दूर करो। केवल खुश होने से काम नहीं चलेगा। दूसरी कमजोरी यह है कि इन दबी जातियों का कोई थोड़ा पैसा पा जाता है तो ऊँची जातियों की नकल करने लगता है। अहीरिन भी ठकुराइन बनकर परदा करने लगती है। फिर ऊँची जाति की बुराइयों का नकल करने में लगे रहते हैं ऐसे लोग। यह बहुत बड़ा बुरा काम है। आप में से पढ़े सिखे या धनी लोग ऐसी नकल करने लगे तो उनसे घृणा करो।

एक दूसरी खतरनाक संभावना है। छोटी जाति के छोटी तबीयत के लोग कहीं जलन न फैलाने लगे। यह स्वाभविक भी है। इसी जलन का इस्तेमाल किया गया था हिन्दु-मुसलमान के मामले में। इन्होंने हिन्दुस्तान को चौपट कर दिया। इस जलन के सहारे खराब लोग उठे और नेता बन बैठे। आपमें से किसी को उठने के लिए जलन का इस्तेमाल मत करो। डॉ. अम्बेडकर भी इस जलन के शिकार थे। मैं उनको किसी हद तक अच्छा कहता हूँ, बुरा नहीं।

चमार के अन्दर डा. अम्बेडकर को देख कर मुझको सहारा मिलता है। पर राष्ट्रीय लड़ाई के समय वे अंग्रेजों के साथ चले गये। उस जलन को हम समझते है। जब मैं गाँव की चमारहटी में जाता हूँ- और सोचता हूँ अगर मैं भंगी होता, तो हो सकता है, तब मुझमें भी जलन होती। आप लोग डा.अम्बेडकर की तेजस्विता और बुध्दि सीखो। जगजीवन राम की चापलूसी मत सीखना। जगजीवन राम से एक बात सीखो। अपनी जाति का नहीं, सारे हिन्दुस्तान का नेता बनो। डा. अम्बेडकर की सबसे बड़ी गलती यह थी कि वह केवल हरिजनों के ही नेता बने। एक छोटे दायरे में ही बन्द रहे। वह सारे हिन्दुस्तान का नेता नहीं बन सके। अगर डा. अम्बेडकर सारे भारत का नेता बनने की कोशिश किये होते तो नतीजा कुछ दूसरा ही हुआ होता।

तीसरी कमजोरी यह है कि पिछड़ी जातियों में कुछ बड़ी जातियाँ (संख्या के हिसाब से) ही

सामने चली आती हैं। वे अन्य जातियों को छोड़ देती हैं , अहीर और हरिजन ही आगे आते हैं। अहीर लगभग 3 करोड़ हैं। चमार लगभग सवा तीन करोड़ हैं। बाभन सवा तीन करोड़ और ठाकुर लगभग तीन करोड़ हैं। इस तरह अहीर और चमार मिल कर बाभन और ठाकुर के बराबर हैं। और यही दो प्रमुख अहीर और तमार आते हैं द्रिजों की लडाई में आगे। यह बुरा है। इन दोनों को अपने दयरे से बाहर आना होगा और सैकड़ो अन्य पासी, धोबी, नाई, कुरमी, तेली आदि जातियों को सामने लाना होगा। सबका नेता बनना होगा। हमारे भाषण से अहीर और चमार को तो ताकत मिलती है। पर नाई, धोबी आदि सैकड़ों जातियाँ बिखरी हैं। इनकी उपैक्षा हो जाती है। यह ठीक नहीं। खुद सोशलिस्ट पार्टी इस कमजोरी का शिकार है।जब चुनाव का मौका आता है तो झट लोग अहीर या चमारों में से किसी को खड़ा करना चाहते हैं।जीतने की लालच, अधिक मत की चाह नके मन को हिला देती है। जल्दी से किसी को पकड़ते हैं कि वोट ज्यादा मिले। यह अच्छा नहीं। हमें सभी पिछड़ी जातियों में से योग्यता के आधार पर नेता पैदा करना होगा।लोग कहते है कि पैसे की कमी है। पर कमजोरी अपनी है। हम गरीब के दिल को छूने की कोशिश नहीं करते। अगर हम उनका दिल छू सकें तो पैसे की कमी नहीं होगी।

अब सोशलिस्ट पार्टी की जाति-नीति को सफाई के साथ समझना चाहिए। सोशलिस्ट पार्टी मन की लड़ाई और पेट की लड़ाई साथ-साथ चलाना चाहती है। आज छोटी जाति के खेत मजूरों पर दो तरफा मार पड़ती है। एक तरफ उनका पेट कटता है दूसरी ओर उनके मन में ही भावना पैदा की जाति है कि तुम छोटी जाति के हो।कुछ लोग कहते हैं कि सिद्धान्त की बात है कि सोशलिस्ट पार्टी को अमीर, गरीब की लड़ाई चलानी चाहिए। आर्थिक समता होने पर सामाजिक समता अपने आप हो जाएगी। लेकिन बगैर सामाजिक समता के आर्थिक समता का भी होना असम्भव है। दोनों चीजें एक साथ जुड़ी हैं।लोग कहते है कि अमीर के खिलाफ सभी गरीब की एक पलटन खड़ा करो। इसके पीछे एक स्वार्थ छिपा है। गरीब बाभन, बनिया, ठाकुर और गरीब तेली, तमोली, हरिजन, शुद्र आदि की पलटन बनाओ तो पलटन के नेता कौन होंगे। साफ बात है नेता बाभन-ठाकुर होंगे, क्योंकि उनके कुल में गत चार-पाँच हजार वर्षों से नेता बनने का संस्कार चला आ रहा है। त्याग-तपस्या, पढ़ने लिखने की योग्यता आदि नेतागिरी की क्षमता जितनी बाभन, बनिया, ठाकुर में है उतनी कुर्मी, पासी, तेली, कुम्हार, धुनिया, जुलाहा आदि में नहीं हो सकती। आज ये सभी छोटी जाति के लोग जिनकी तादाद बाभन, बनिया, ठाकुर से ज्यादा है राजनीति के बाहर हैं, इन्हे अन्दर लाना होगा। इन लोगों में से नेता पैदा करना होगा। जब हरिजन और शुद्र की बात करते हैं तो कुछ लोगो को फायदा होजाता है। वे हैं अहीर और चमार । पिछड़ी जातियों में अकेले अहीर और चमार की तायदाद अधिक जरूर है लेकिन तेली, कुम्हार, पासी, मोमिन, जुलाहा आदि जो सभी मिला कर करोड़ों में और अहीर और चमार से भी ज्यादा हो जाते है उनकी तरफ लोगों का ध्यान नहीं जाता। उधर भी सोशलिस्ट पार्टी को ध्यान देना है इनमें से भी नेता बनाने की कोशिश होनी चहिए। मुझे खुशी और घमण्ड भी हुआ कि बिहार राज्य में पार्टी के अन्दर पार्टी की लड़ाकू नीति के नमूना राम एकबाल बाबू हैं जो छोटी जातियों में से आते है। वे पढ़े लिखे नहीं हैं इस माने में कि अंग्रेजी नहीं जानते। एक गाँव में उन्हें लोगों ने मारने पीटने के लिए ललकारा। छोटी जातियों पर गाँव के बड़ी जाति वाले अन्याय कर रहे थे। राम एकबाल बाबू ने उनके खिलाफ आवाज उठायी। राम एकबाल बाबू ने उतावली भीड़ से कहा - मारो पीटो -लेकिन मारपीट से मेरी बात नहीं मरेगी, मारपीट के बल पर गरीबों की बात नहीं दबायी जा सकती। किसी

को मारो मत बल्कि उसकी मार सह लो। हो सकता है इस काम में देर लगे लेकिन धीरज रखो। धीरज तोड़ने के कारण ही हिन्दुस्तान का समाजवादी आन्दोलन चौपट हुआ।

जब हम हरिजन और शूद्र को उठाने की बात करते है तो इनमें से कौन लोग पहले उठेंगे। जो कुछ अच्छे खाते पीते पढ़े लिखे हैं वे पहले आगे आयेंगे। ऐसे मौको पर गरीब बाभन, बनिया, ठाकुर को जलन हो सकती है। एतराज कर सकते हैं। लेकिन मन और पेट की लड़ाई साथ-साथ चलाने में ऐसा होगा ही। सोशलिस्ट पार्टी की हुकूमत में ऐसे तेली, चमार, पासी, कुर्मी, मोमीन, जुलाहा, मंत्री बने जिनके पास जमीन नहीं है, गरीब हैं, खेत मजूर हैं लेकिन बीच के दौरान ऐसी स्थिति आ सकती है कुछ ऐसे अच्छे खाते पीते पढ़े लिखे तेली, तमोली को स्थान देना पड़े तो इसके लिए जलन नहीं होनी चाहिए।

आज औरतों का नेतृत्व नहीं हो रहा है। बेपढ़ी लिखी औरतों में से नेता तैयार करना होगा ऐसी जाति नीति से कुछ लोगों को द्वेष हो जाया करता है, कुछ लोगों को मेरे प्रति भी - मैं किसी जाति का दुश्मन नहीं हूँ। कभी किसी के स्वार्थ पर वक्ती धक्का लगने पर वे बेखबर हो जाते हैं। कहीं ऐसा न हो जाय कि बड़े लोग इकट्ठा होने लगे कि सोशलिस्ट पार्टी तो छोटी जाति की पार्टी हो गयी तो मैं बड़ी जाति के लोगों को सलाह दूँगा कि वे सोशलिस्ट आन्दोलन बढ़ाने के लिए सलाहकार का काम करें, अफसर बनने का नहीं। यह उनके स्वार्थ की भी बात है। सलाहकार के रूप में भी वे इतिहास में बहुत ऊँचा उठ सकते हैं। रोटी और मान मर्यादा के हिसाब से आज छोटी जाति के लोग पिसते रहते हैं।

आज सबसे बड़ी गड़बड़ी यह है कि कुर्ता-पैजामा वाला छोटी जात का ब्राह्मण, ठाकुर गलालगोट और चूड़ीदार की ओर निहारता है, टकटकी लगाये देखता है। मैं अब गरीब ब्राह्मण, ठकुरों से कहूँगा कि दिल्ली, लखनऊ के सामंतों की ओर से मुँह फेर लो और देश के करोड़ों तेली, तमोली, हरिजन, पासी, कुर्मी, अहीर की ओर निहारो। जात की चक्की की भूख अथाह है। यह छोट-जात को पीस कर बड़े जाति को पीसना शुरू करती है। जिस दिन देश के गरीब ब्राह्मण, ठाकुर, सैयद का एका हिन्दुस्तान के करोड़ों कुर्मी, भर, विन्द, कोयरी, अहीर, जुलाहा, पासी, चमार, भंगी, नाई आदि के साथ होजाएगा, उस दिन उस एके से एक ऐसी बारूद बनेगी कि जिससे दिल्ली और लखनऊ की गन्दगियाँ और कूड़ा जल कर राख हो जाएगा और नया हिन्दुस्तान बनना शुरू होगा।

कम्युनिस्टों ने यह जरूर अच्छा किया कि एक अल्पसंख्यक जाति वाले को केरल सरकार का मुख्य मंत्री बनाया। ऐसा करके उन्होंने ऊँची जाति वालों के बिलगाव को खतम किया। लेकिन जब हम उनकी जाति-नीति की ओर नज़र डालते हैं, तो कांग्रेसियों से कोई फर्क नहीं दिखता। दर असल जाति के मामले में कम्युनिस्टों का एक सिद्धान्त है। वे सर्वहारा की तानाशाही की बात करते हैं। लेकिन उसके साथ यह भी बात करते हैं कि कम्यूनिस्ट सर्वहारा क्रान्ति के वानगार्ड है। वे अगुआहैं। यदि इस सिद्धान्त का विश्लेषण किया जाय तो साफ अर्थ निकलता है कि समाज के अन्दर कुछ लोग ऐसे हैं जो अगुआ हैं। कम्युनिस्टों का अगुआ का यह सिद्धान्त हिन्दू धर्म के द्विज सिद्धान्त काही रूप है। इनका कहना है कि संगठन करने के लिए योग्यता चाहिए। ऐसीहालत में ऊँची जाति वाले तो बहुत आगे रहेंगे क्योंकि कई हजार वर्षों से इन्हें मौका मिलता आया है। यही कारण है कि कम्युनिस्ट जाति प्रथा का नाश करने में नाकामियाब साबित हुए हैं। दरअसल यदि जाति प्रथा को खतम करना है और ऊँची-नीची जातियों के बीच समता

अनुशासनहीनता है। लड़कों के बीच सरकारी मन्त्रियों की हिम्मत नहीं ऐसी बात करने की। उसी तरह से जो लड़के अपने घर के सामने उतरने के लिए चेन खींचते हैं और गाड़ी रोकते हैं तो यह अनुशासनहीनता है लेकिन तीसरे दर्जे के डब्बे में जहाँ लोग बोरे की तरह ठूँस दिये जाते हैं, सरकार खुद कानून तोड़ती है। तीसरे दर्जे की भीड़ को कानूनी बनाने के लिए जंजीर खींचना और उसके लिए दण्ड झेलना स्वार्थ नहीं बल्कि सामूहिक स्वार्थ है। इसे अनुशासनहीनता नहीं कह सकते। उसी तरह से क्लास मे अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई करने में मास्टर को रोकना, ताली पीटना हर्गिज अनुशासन हीनता नहीं कही जा सकती।

लोकराज लोकबोली में ही चल सकता है। लोकशाही हिफाजत अंग्रेजियत से हर्गिज नहीं हो सकती। कचहरी में जब वकील मजिस्टर जब अंग्रजी बोलने लगे या जज साहब अंग्रेजी में फैसला करने लगे तो मुकदमा लड़ने वाले एसे किसान निकले जो बोल उठे कि जज साहब आपके माँ बाप हिन्दुस्तानी थे या अंग्रेज। जिस प्रकार आजादी की लड़ाई में देश के अन्दर अंग्रेजों के प्रति जो घृणा फैलायी गयी उसी तरह से आज जरूरत है इन काले साहबों के प्रति घृणा की भावना सारे देश में फैलायी जाए। इस तरह से 59 में अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन को भी प्राथमिकता देनी है। आज देश के 1 फी सदी लोग 99 फी सदी लोगों को अपने अन्दर दबा कर अपना मनमानी राज चलाने के लिए अंग्रेजी भाषा को अपना हथियार बनाए हैं। इस हथियार को समूल नष्ट करना होगा।

भाषा-नीति के सिलसिले में हमें विषयज्ञान और भाषाज्ञान के फ़रक को समझना होगा। आज अपने देश में भाषा ज्ञान के लिए बच्चों का सत्यानाश किया जा रहा है। हमारे विद्यार्थी सारी उमर भाषाज्ञान के चक्कर में पड़े रहते हैं। विषयज्ञान से बिलकुल दूर रह जाते हैं। हिन्दुस्तान में बच्चे को ४ भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं। (1) मातृभाषा, (2) अंग्रेजी, (3) हिन्दी और (4) संस्कृत या तेलुगु, तमिल, जर्मन या फ्रेन्च बच्चों के दिमाग पर इतना भाषाओं का बोझ पड़ता है। उनके दिमाग का कचूमर निकल जाता है। यह राष्ट्र द्रोह है। 4 भाषाओं और तीन लिपियों का बोझ है।

रूस ने स्पुटनिक का आविष्कार कैसे किया ? स्पुटनिक शुद्ध गणित है। हम लोग केवल फलित गणित या ज्योतिष में पड़े रहते हैं। जापान के वैज्ञानिक को नोबल प्राइज मिला जो एक अक्षर अंग्रेजी नहीं जानता। इससे साफ है कि विज्ञान के लिए भाषा पर अधिकार की जरूरत नहीं। विज्ञान के लिए गणित, गुणा-भाग, प्रतीक और चिह्नों पर अधिकार की जरूरत है। रूसी भाषा 30 या 40 वर्ष पहले हिन्दी या तमिल के समकक्ष थी। तभी से रूसियों ने अपनी भाषा में विज्ञान सीखना शुरू कर दिया। और अपनी भाषा के सहारे स्पुटनिक तक पहुँच गये हैं। रूसी भाषा का विज्ञान अंग्रेजी भाषा के विज्ञान से 10 वर्ष आगे बढ़ गया है। पर हमारे देश के पढ़े लिखे लोग के दिमाग पर अंग्रेजी का भूत सवार है। वे कहते हैं बिना अंग्रेजी के हम विज्ञान में पिछड़ जएँगे। रूसी लोग ज्ञान सीखते रहे। भारत के लोग उच्चारण और भाषाज्ञान में पड़े रहे।

हमारे देश के देशी दैनिकों की हालत दयनीय है। भारत में खबर अंग्रेजी टाइप में इधर-उधर भेजी जाती है। टेलीप्रिन्टर, टेलीग्राम, ट्रान्समीटर सब अंग्रेजी भाषा में चलते हैं। देशी पत्रों को खबर अंग्रेजी में मिलती है। उन्हें अनुवाद करके छापना पड़ता है। इसलिए देशी पत्रों को अधिक समय और पैसा लगाना पड़ता है। यह जबरदस्त पक्षपात है। अगर दूरमुद्रक (टेलीप्रिन्टर) देशी भाषा में हो तो भारत के

अंग्रेजी दैनिक पत्र सात दिन में बन्द हो जाएँगे।

अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन को तीन मंजिलों से हो कर गुजरना होगा। जैसे लोगों से कहा जाए कि वे राजी खुशी से अंग्रेजी में सामाजिक व्यवहार बन्द करें। लोग अपने अंग्रेजी नामपट को बदल कर देशी भाषा में लिखें। जब इच्छा बलवती हो जाए तथा जनमत अनुकूल हो जाए तब दूसरे स्टेज पर अंग्रेजी दैनिक जलाओ। तीसरा स्टेज होगा जब अन्त में सरकार को नोटिस दे कर कानून तोड़ो। ट्रान्समीटर सर्विस और टेलिप्रिन्टर को तोड़ो। पहली स्टेज में विद्यार्थी आते हैं। विद्यार्थियों को समझाओ कि अगर भूगोल, इतिहास, केमिस्ट्री को मास्टर अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाना चाहता है तो वे कक्षा में ताली पीटें और पढ़ना बन्द कर दें।

आज सरकार की एक खास शिक्षा नीति है। लाखों विद्यार्थी अंग्रेजी के कारण फेल हो जाते हैं और उनकी पढ़ाई रूक जाती है। सरकारी लोग नहीं चाहते कि उच्च शिक्षा सबको मिलें। शिक्षा को सीमित रखो। गरीब लोग पढ़ने न पावें। अंग्रेजी के द्वारा शिक्षा को एक तंग दायरे में बन्द रखो। यही सरकारी नीति है।

हिन्दुस्तान से अंग्रेजों को गये 12 साल हो गये लेकिन अंग्रेजी आज भी देश में कायम है। बुनियादी बात यह है कि गत 1500 वर्षों से हिन्दुस्तान की संस्कृति में आजीब फूट चली आ रही है। एक तरफ तो कुछ लोगों की सामन्ती भाषा, सामन्ती भूषा, सामन्ती भोजन और सामन्ती भवन रहा है, तो दूसरी तरफ, करोड़ों लोगों की लोक भाषा, लोक भूषा, लोक भोजन और लोक भवन रहे हैं। पन्द्रह सौ वर्षों से हिन्दुस्तान कुछ सामन्त लोगों का शिकार रहा है। 1500 वर्षों से इस सामन्ती भाषा का राज चला आ रहा है। उदाहरण के लिए किसी जमाने में संस्कृत सामन्ती भाषा, प्राकृत-अपभ्रंश और पाली लोक भाषा, अरबी और फ़ारसी सामन्ती भाषा, हिन्दी, उर्दू, तेलुगु, तमिल, बंगाली लोक भाषा रही हैं। आज अंग्रेजी सामन्ती भाषा है, और हिन्दी, हिन्दुस्तानी, तमिल, तेलुगु, मराठी, बंगाली वगैरह लोक भाषाएँ। आज देश में पाँच-दस लाख गलालंगोट और चूड़ीदार पैजामा वाले चालीस करोड़ की छाती पर मूँग दल रहे हैं।

अंग्रेजियत और बाबूगिरी के नशे में ये लोग कितने मतान्ध हो गये हैं, उसकी एक झाँकी इस घटना से मिलती है। अभी हाल में उज्जैन में कालीदास जयन्ती मनायी गयी थी। राष्ट्रपति ने उसका उद्घाटन किया। जयन्ती अंग्रेजी में मनायी गयी। कालीदास की जयन्ती पर संस्कृत या प्राकृत भाषा का प्रयोग हो, तो कुछ हद तक बात समझ में आती है। यों होना तो सब काम हिन्दुस्तानी में ही चाहिए, लेकिन कालीदास की जयन्ती अंग्रेजी में मनायी जाए और उनके विरोध में एक विदेशी श्री वरान्निकोव को दुःख हो, यह हमारे लिए शर्म की बात है। और विचित्र बात हुई कि राष्ट्रपति की गाड़ी के इञ्जिन का नाम विक्रमादित्य रखा गया। जो इञ्जिन अगुवानी कर रहा था उसका नाम कालिदास रखा और एक तीसरे, कहीं जरूरत पड़े तो ऐसे इञ्जिन का नाम मेघदूत रखा गया था। शोभा और रस्म के अर्थ में गद्दी पर विक्रमादित्य की जगह राष्ट्रपति को रखा जा सकता है। लेकिन श्री राजेन्द्र प्रसाद के वाहन का नाम विक्रमादित्य हो इतना जंगलीपन और असभ्यता तो कुँजड़े भी नहीं दिखा सकते। गाड़ी पर बैठे श्री राजेन्द्र प्रसाद और इञ्जिन का नाम हो कालीदास और विक्रमादित्य! इङ्गलिस्तान में यदि कोइ ऐलिजाबेथ और शेक्सपियर के नाम के साथ ऐसा खिलवाड़ करे तो न मालूम क्या हो जाए। लेकिन ऐसी बातों पर हमारे देश की जनता में गरमी

पैदा नहीं होती, न गुस्सा ही पैदा होता है। कालीदास जयन्ती में अंग्रेजी इस्तेमाल करने वालों को विदेशी कूँजड़ा की संज्ञा देनी चाहिए। जब मौजूदा शासकों के इञ्जिन का नाम कालीदास और विक्रमादित्य रखा जाने लगे, तो यही कहना होगा कि विदेशी कूँजड़े आज हिन्दुस्तान हथियाए हुए हैं।

सरकारी दफ्तरों, संस्थाओं, कचहरियों, विद्यालयों आदि सार्वजनिक स्थानों में अंग्रेजी और काले साहबों की चली है कि हम अपने देश में बेगाने और बेदखल हो गये हैं। ऐसा लगता है कि पाँच-दस लाख गलालंगोट और चूड़ीदार पैजामा वाले घर और कमरों के भीतर हैं और बाकी चालीस करोड़ चौखट के बाहर पड़े हैं।

आज देश में तीन का ही आदर है, 1. सरकार सम्मानित नेता और मंत्री, 2. बड़े सरकारी अफसर और 3. करोड़पति। बाकी जनता का तो कचहरियों दफ्तरों आदि स्थानों में हर जगह निरादर होता है। ऐसी दुर्भावना दूर भगाने के लिए जनता के दिल में गरमी पैदा करनी होनी चाहिए।

+

दाम-नीति

देश में नेहरू-नम्बूदरी नाच चल रहा है। चावल गेहूँ का दाम फुदकता है। चावल काटते समय 6आना सेर, पर साल भर में फुदक कर 12 आना सेर तक पहुँच जाता है। गोदाम में कुछ अनाज सूखता है। कुछ चूहे खाते हैं। इस तरह मन के पीछे तीन सेर का नुकसान होता है। 16 आना प्रति मन या दो पैसा फ़ी सेर नुकसान होता है। ढुलाई का खर्च और बीच का कुछ फायदा जोड़ कर एक आना फी सेर हुआ। इस तरह कुल लगभग 7 आना होगा। साल भर में 6आना से 7 आना सेर तक दाम ऊँचा जाना चाहिए। पर यह 6आना से 12 आना तक जाता है। केरल जाने से पहले मैं इसको नेहरू नाच कहता था। मैं जानता हूँ कि कम्युनिस्ट राष्ट्रीयता के विरोधी और नागरिक अधिकारों को खतम करने वाले हैं। फिर भी मैं वहाँ गया सोच कर कि अगर दाम-नीति में कुछ सुधार हुआ होगा तो लौट कर तारीफ करूँगा। पर वहाँ भी वही नाच था जो कि नेहरू राज में। इसलिए मैंने इसको नेहरू- नम्बूदरी नाच कहा है। इस नाच के जरिये सालाना 4 आना फी सेर लूट होरही है। देश का करोड़ों रुपया इस नाच के द्वारा लूटा जा रहा है। दामों के इस नाच को बन्द करना होगा। देश की एकता की बात बहुत होती है। देश तो एक है लेकिन गेहूँ के दाम अनेक हैं इसका जम कर इलाज करना होगा।

चैत में फ़सल कट रही है। अनाज का दाम गिर रहा है। दो तीन महीने बाद फिर बढ़ेगा। गेहूँ का दाम थिरकता है, फुदकता है। 6 आने सेर से दस बारह आनने सेर तक नाचता है। इसी तरह गन्ना और जूट आदि के दामों का भी नाच होता है। आपने कथाकली, भारत नाट्यम, मणीपुरी आदि तरह तरह के नाम सुना होगा। लेकिन दामों का यह नेहरू-नम्बूदरी नाच अनोखा है। इसलिए मैंने दामों के इस नाच को नेहरू-नम्बूदरी नाच कहा है। फ़सल कचने के वक्त जो अनाज का दाम रहे उससे दूसरी फ़सल कचने तक साल भर में कभी भी एकआना सेर से अधिक दाम नहीं बढ़ने चाहिए। जब जिस इलाक़े में अनाज के दामों की यह बढ़ोतरी एक आना सेर से ज्यादा होने लगे मज़दूरों, किसानों, छोटे दुकानदारों, विद्यार्थियों, पल्लेदारों, कुलियों का संगठन बना कर आन्दोलन किया जाए, प्रदर्शन, सभाएँ, जुलुस निकाले जाएँ।

साढ़े तान महिने पहले उत्तर प्रदेश के अन्दर गोरखपुर जिले में सोशलिस्ट पार्टी ने गन्ने के दाम का आन्दोलन चलाया था। उस आन्दोसन में फेंकू और चन्द्रशेखर पुलिस की गोली से मारे गये। कहा जाता है कि इसके अलावा दो तीन और लोग स्थान पर ही मर गये। जिनकी लाश पुलिस ने सरदार नगर चीनी मिल की भट्टी में फेंकवा दिया। मैं उस गाँव गया था। फेंकू का लड़का आज भी सोशलिस्ट पार्टी का कार्यकर्ता है। फेंकू की औरत पैर पकड़ कर रोने लगी। मन में दुःख होता है कि हम लोग फेंकू और चन्द्रशेखर जैसे लोगों को नहीं बचा पाते। ये लोग क्यों मरे ? गन्ना का दाम बढ़वाने के लिए। सोशलिस्ट पार्टी ने कहा था गन्ने का दाम एक रुपया पाँच आने मन करो और चीनी का दाम चालीस रुपये मन से 27--28 रु. मन करो। आज चीनी जब 40 रुपये मन बिकती है तो गन्ने की कीमत घट कर १ रु. सात आने मन हो गयी। करोड़पतियों और मिल के मालिकों के साथ यह दोस्ती ! और सही बोली बोलने वालों पर पुलिस की यह बर्बता !59 में दामों के आन्दोलन को आखरी हद तक पहुँचाना है। दामों की लूट में तीन डाकू है। पहला सरकारी सेठ, जिसका नेहरू सेठ है, दूसरा करोड़पति सेठ, जिसका सरदार बिड़ला सेठ है। और तीसरा गाँवो में रहने बाले बड़े बड़े किसान जो हजार-पाँच सौ एकड़ की खेती करते हैं। आज बहुत बड़ी चर्चा चल रही है कि सरकार थोक गल्ले का व्यापार अपने हाथ में लेगी। सोशलिस्ट पार्टी बहुत पहले इसकी माँग की थी लेकिन एक शर्त के साथ कि यदि सरकार गल्ले का व्यापार अपने हाथ में से तो उसे भी एक आना सेर तक बढोत्तरी का सिद्धान्त मानना पड़े नहीं ते इससे क्या फायदा ? सरकारी नियंत्रण में भी यदि दामों का नाच चलता रहा तो तीन लुटेरों का हिस्सा केवल सरकारी लुटेरा ही लेता रहेगा। इस राज के थोक व्यापार से कोई लाभ नहीं जब कि नेहरू-नम्बूदरी नाच को बन्द न किया जाए। जब तक कि 4 आना सेर वाली4 आने सेर वाली लूट बन्द न हो, यह राज द्वारा थोक व्यापारबेकार है। इस 4 आना सेर में ढाई आना नेहरू सेठ और सरकार, एक आना बिड़ला सेठ और बड़े व्यापारी तथा बड़े किसान दो पैसा पाते हैं। छोटे किसान फसल काटते ही अनाज बेच देते हैं। पर बड़े किसान रख सेते हैं और महँगाई आने पर बेचते हैं। इस राज के थोक व्यापार में यह खतरा है कि कहीं बिड़ला सेठ और बड़े किसान को एक तरफ कर सारी की सारी लूट नेहरू सेठ की जेब में न चली जाए। तब तो थोक व्यापार के साष्ट्रीय करण का कोई लाभ नहीं।

बड़े-बड़े शहरों में भी दाम आन्दोलन के लिए लोगों को तैयार करना है। सभी तबके के लोगों को मिलाकर कमेटियों का निर्माण करना है। महँगी और ग़रीबी से हिन्दुस्तान की ज्यादातर औरते अपनी आँसू से आटा गूँधती हैं। ऐसी दशा में 59 में दामों का आन्दोलन ठीक से चला और कमेटियों तथा संगठनों का निर्माण हुआ तो सन् 60 में बड़े बड़े शहरों में से 60-70 हजार की भीड़ निकल सकती है। सरकारी गल्ला गोदामों पर छह आने सातआने सेर के उचित दाम पर गल्ला खरीदने के लिए हठ करना डाक डालना नहीं है। हिंसक भीड़ ले चलना आसान है, अहिंसक भीड़ ले चलना कठिन है।इसे ध्यान में रखना -हथियार की बात सोचना नहीं। हथियार के इस्तेमाल से गुण्डा पार्टी गद्दी पर बैठ सकती है। आज की गद्दी पर डाकू लोग बैठे हैं, सिविल नाफ़रमानी करने वाले डाकू नहीं हो सकते। दाम-नीति पर दाम कमेटीबननी चाहिए। जो सोशलिस्ट पार्टी के मेम्बर न भी हों और हमारी दाम-नीति को मानते हैं ऐसे सभी लोग दाम कमेटी के मेम्बर बन सकते हैं।

लोग करते हैं कि लोक-कल्याणकारी दाम कमेटी कहीं संतुक्त मोर्चा के दल-दल में न फँस जाए। इस पर हमें सफाई से सोचना चाहिए और संभावनाओं पर सोच विचार कर तैयार रहना चाहिए।

पहले यह देखना है कि सि श्रेणी के लोग इस कमेटी में आना पसन्द करेंगे। पहले ऐसे लोग आएँगे जो 100 फी सदी सोशलिस्ट पार्टी के कार्य-क्रम को मंजूर करते हैं, जो जेल जाने को तैयार नहीं, जो राजनीति में नहीं, अलग हैं, पर पार्टी को पूरा मानते हैं। उनका कोई कारण है जिससे वे राजनीति से अलग रहते हैं। रोजी रोटी का सवाल है इसलिए वे अलग हैं। ऐसे लोगों में भी दो श्रेणी है। पहली ऐसी जिनके लोग जेल जाना नहीं चाहते पर साथ ही अफसर बनने की भूख भी उनमें नहीं। दूसरे ऐसे लोग जो जेल नहीं जाना चाहते किसी पार्टी में नहीं है। वे हमारे मित्र रहना चाहते हैं। पर उनमें एम. एल. ए बनने की भूख है ऐसे लोग कमेटी में आएँगे।

दूसरी श्रेणी के सोग ऐसे हैं जो सोशलिस्ट पार्टी की नीति को कभी यहाँ, कभी वहाँ मानते हैं। वे हमारी नीति को पूर्ण नहीं मानते। वे आधा चौथाई मानते हैं। ये जहाँ जिस नीति को मानते हैं इनको उसी जगह इकट्ठा किया जाए। ऐसे लोग दाम नीति में आसानी से आ सकते हैं।

तीसरी श्रेणी में देश की छोटी-मोटी पार्टियाँ आती हैं। हमारी पार्टी भी छोटी है। ऐसी पार्टियाँ बहुत हैं। आर. एस. पी., सेन्टर सोशलिस्ट पार्टी वगैरह। उनमें अभिमान है, मान है। 50 तरह के कारण है जिससे वे हमारे साथ नहीं आते। ऐसे लोगों के साथ बराबरी का व्यवहार करना चाहिए। आत्मसम्मान को बिना ठेस लगाए उनको साथ लाना होगा। उनको तोड़ते समय उनके मान की रक्षा, समता की भावना से उनहें शामिल करना होगा। वे भी दाम नीति में आ सकते हैं।

चौथे दायरे में काँग्रेसी, कम्युनिस्ट और प्रजा पार्टी वाले आते हैं। मेरा अन्दाजा उनमें से कोई आएगा नहीं पर संभावना हमेशा है। असंभव नहीं। शायद काँग्रेस और जनसंघ के लोग आवें। ये दोनों बड़ी पार्टी हैं। बड़ी पार्टी के लोगों के आने की जल्दी संभावना हैं। कम्युनिस्टों की सदस्यता केवल 1.5 लाख है। उनको तोड़ना मुशकिल है। बड़ी संस्था के आखरी कोनो और किनारे को सदस्य जोर से नहीं चिपके रहते। इसलिए उनको तोड़ना आसान है।

प्रजा वालों का आना प्रायः असंभव है। पर क्या पता क्या हो। कहीं पर दामनीति की कमेटी और आन्दोलन सशक्त हो, सफल होने लगे तो शायद प्रजा वाले आएँ। अपनी लोक प्रियता खोने के डर से वे आ सकते हैं। ऐसा उत्तर प्रदेश में हुआ है। 15 दिसम्बर से 25 जनवरी तक हमने हड़ताल चलायी। प्रजा वालों ने 25 दिसम्बर से 25 जनवरी तक हड़ताल तोड़क का काम किया। लगभग 1000 आदमी की सभा में गेंदा सिंह बोलते हैं- समय से पहले हड़ताल कर दिया। सब मिल कर संयुक्त हो फरवरी में हड़ताल की जावेगी, अभी पहल करने से हमारी शक्ति क्षीण हो जाएगी। अभी हड़ताल खतम करो। शक्ति बचाओ। तब फरवरी में सब मिल कर एक साथ करेंगे। बाद में जब मिल बन्द करने का समय आया तो कुछ देर के लिए वे मिली-जुली कुश्ती भी लड़े। पर हमारी लड़ाई में फेंकू और चन्द्रशेखर शहीद हुए। तीन अन्य को शायद भट्टी में झोंक दिया गया।

अगर प्रजा वाले ऐसी कमेटी में आएँ तब क्या होगा! हमारे अन्दर कम कमजोर दिल के हैं जो मिनिस्टर और विधायक बनने के फेर में रहते हैं ऐसे लोग जोर लगाएँगे और सवाल उठाएँगे कि अब एका और आगे बढ़ाओ, मिलो आदि आदि। इस वातावरण में दो संभावनाएँ है (1) अपनी पार्टी के कमजोर

दिलवालों को मौका मिलेगा और वे प्रजा वालों से एका का सवाल खड़ा करेंगे (2) प्रजा, जनसंघ आदि के क्रान्तिकारी तत्व टूट कर हमसे आ मिलेंगे।

हम तो पार्टी का विस्तार चाहते हैं। हमको बड़ा कटु अनुभव हुआ है। पार्टी को पवित्र बनाओ और छोटा बनाओ ऐसी प्रवृत्तियाँ उमड़ आती है। पर जब तक पार्टी बड़ी नहीं होती तब तक टूटेगी। इस सिलसिले में तीन कड़ियाँ है (1) अखंड अन्याय (2) अखंड सत्याग्रह (3)अखंड टूट। इसलिए पार्टी का दरवाजा हमेशा खुला रखना होगा दोनों के लिए आने वालों और जाने वालों के लिए भी। विस्तार में ही जीवन पवित्र होता है।

खेत के दायरे में हम किसान तथा खेत मजदूर दोनों की बात करते हैं। इस दयरे में भी ज्यादा ग़रीब मज़दूर हैं जो ज्यादातर शूद्र, हरिजन आदि हैं। उन पर दोहरी मार है गरीबी की भी और छोटी जाति की भी। हमारी माँग है कि गरीब किसान जिसके पास ज्यादा से ज्यादा 10 बीघा जमीन है उससे लगान न लिया जाए। सरकार खुद कहती है 10 बीघे की जमीन पर नफ़ा नहीं होता। 15 वर्ष पहले कॉंग्रेसी भी करते थे कि बिना नफ़ा वाली जमीन पर मालगुजारी माफ़ होनी चाहिए। वे अपनी बात भूल गये। पर आपको जनता को भी उसे याद दिलानी चाहिए। इसके साथ मज़दूर की मज़दूरी बढ़ाओ। श्रमदान, नहर की खुदाई, तालाब की खुदाई तभी होगी जब जमीन की मिलकियत बदलेगी लगान अलाभ कर खेती की माफी होगी तथा मज़दूरी बढ़ेगी। तभी सही रचना होगी। इसलिए यह सब किये बिना खेती का नाम लेना बेकार है। जड़ में नहीं जाते। ऊपर-ऊपर बात करते हैं।

इस तरह से हम देखते हैं कि यहाँ ग़रीब पेट की मार और मन की मार दोनों से दब रहा है। इस सिलसिले में पंडित-सेठ का रिश्ता भी समझ लेना चाहिए जो एक दूसरे की रक्षा करता है। एक जेब की रक्षा करता है तो दूसरा आत्मा की। जेब और आत्मा के ठेके दारों की साँठ-गाँठ है। बाँभन ने बनिया को दो भागों में बाँट दिया थोक-व्यापारी को सेठ बना दिया, छोटा बनिया पिछड़ गया। ऊँची जाति के भी दो टुकड़े हो गये। बाँभन भी अंग्रेजी पढ़ा लिखा, कंठलंगोट वाला धोती कुर्ता वाले बाँभन से अलग हो गया। जाति की चक्की की भूख अथाह है। वह छोटी जातियों को पीस कर ऊँची जाति वालों को भी पीसने लगती है। जब तक गाँधी जी जीवित थे तो बिड़ला सेठ बंद गलेका कोट पहनता था पर अब अंग्रजी कोट, टाई पहनने लगा। लोकशाही में सामंती भाषा या भूषा हटनी चाहिए।

किसी ने प्रश्न किया क्या पुतला हटने से गरीबों को रोटी मिलेगी ? मैं पूछता हूँ क्यों नहीं हटने से रोटी मिलेगी ? आप क्यों भूल जाते हैं कि ग़रीब पेटकी मार और मन की मार दोनों का शिकार है। आज कलकत्ते की लालसड़क पर लगभग 100 विदेशी पुतले हैं। ये भारत के मन के गिराते हैं। हिन्दु और ईसाई धर्म लगभग 60% तो पुतले पर क़ायम है। बाकी 40फ़ी सदी शास्त्र, रामायण, गीता, महाभारत जैसे पुराणों पर आधारित है। अब हम देखते हैं कि पुतले का कितना जबरदस्त असर हमारे दिमाग पर पड़ता है। पुतले से तो दिमाग का कचूमर निकल जाता है। पेट की मार दूर करने के लिए दिमाग को आज़ाद, ऊँचा और अभिमानी बनाना होगा। पुतले का संबन्ध रोटी की लड़ाई से है।

किसान और मजूर दोनों गरीब हैं। उन्नीस बीस का फर्क जरूर है क्योंकि असली डाकू कलकत्ते

बम्बई में रहते हैं। इसलिए ये ग़रीब अपस में बी लड़ लेते हैं। खेत मज़दूर सोचता है मेहनत उसकी, खलिहान किसान का, किसान सोचता है खेत तो अपना है, मज़दूर मज़दूरी बढ़ाना चाहता है। जहाँ पर काग्रेस किसान को हथियाए हैं, वहाँ पर कम्युनिस्ट खेत मज़दूर को भड़काते हैं, और जहाँ काँग्रेस मज़दूर को हथियाए हैं, कम्युनिस्ट किसान को भड़काते है। सोशलिस्ट पार्टी दो जीभ की बोली नहीं बोलती। एक तरफ तो सोशलिस्ट पार्टी कहती है कि अलाभकर जोतों से लगान बन्द करो। सरकार ने साढ़े छः एकड़ को अलाभकर जोत यानी बिना नफ़े की खेती माना है। दूसरी तरफ खेत मजदूरों की मज़दूरी बढ़ाने की भी बात कहती है।

आजकल हमारे प्रधान मंत्री साहबसहयोगी खेती की बड़ी चर्चा करते हैं और उस चर्चे को सुन कर कम्युनिस्ट तथा प्रजा पार्टी वाले उछस कर काँग्रेस के पास दौड़ते है। आज से कुछ वर्ष पहले आबाड़ी में काँग्रेस ने जब समाजबादी ढाँचे वाला प्रस्ताव पास किया था तब भी प्रजा सोशलिस्टों ने बड़ा शोर मचाया कि अब नेहरू खुद समाजवाद ला रहे हैं, चलो काँग्रेक में मिला जाए लेकिन क्या हुआ आबाडी प्रस्ताव का उसी तरह आज शोर है नागपुर के पंचायती खेती के प्रस्ताव का। लेकिन आज तक वह प्रस्ताव अपनी पूरी शक्ल में हिन्दुस्तान के किसी अखबार में नहीं छपा -उस प्रस्ताव पर जो बहसे हुई वह तो खूब विस्तार के साथ छपीं लेकिन मूल प्रस्ताव हिन्दुस्तान के अखबारों ने नहीं छापा। सहयोगी खेती हो अच्छा है, लेकिन अभी तो उसका रूप ही नहीं बन पाया और न कभी वह होगी। जनता को कहना चाहिए कि तुम सहयोगी खेती चलाओ लेकिन उसमें अपने रिश्तेदारों को भरती करके नौकरों का जाल मत बिछाओ। यब हात साफ होनी चाहिए कि सहयोगी खेती हथियार न बनें लोगों को नौकरी देने का। पालतू हाथी जंगली हाथी पकड़ने के लिए छोड़ा जाता है। आज नेहरू साहब पढ़े लिखे लोगों की फौज पालतू हाथी की तरह रखे हैं। आज इनकी दुकान में सबसे बड़ा सामान यहीं बेचा जाता है लोगों की आत्मा की खरीद होती है।

शब्दानुक्रमणिका

अंग्रेज / अंग्रेजी : 1,3,7,8,9.
अग्रवाल : 2
अपभ्रंश : 10
अम्बेडकर (डॉ.) : 3
अरबी : 10
अल्पसंख्यक : 5
अहीरन / अहीर : 3,4.
आइसन होबर : 1
इंग्लिस्तान : 10
इतिहास : 5,6,7,8,9.
इन्कलाब : 8
ईसाई : 14
उज्जैन : 10
उत्तर प्रदेश : 7,8,13.
उर्दू : 10
एलिजाबेथ : 10
कथकली : 11
कन्नौज : 7
कम्युनिस्ट : 3,5,11,13,14.
कलकत्ता : 6,14.
कायस्थ : 1
कालिदास : 10
कांग्रेस / कांग्रेसी : 3,13,14.
क्रान्ति : 5
कुम्हार / कुर्मी : 4,5.
कुरचेव : 1
केरल : 11
गाडिया लुहार : 1
गीता : 14
गेंदासिंह : 13
गोरखपुर : 11
चमार / चमारहटी : 2,3,4,5.
चन्द्रशेखर : 11,13.
ज्योतिष : 9
जगजीवनराम : 3
जनसंघ : 13
जर्मन / जर्मनी : 2,8,9.
जातिप्रथा : 2,3
जुलाहा : 4,5,7.
ठकुराइन / ठाकुर : 2,3,4,5.
डोम : 2
तमिल : 9,10
तमोली : 4,5.
तेली : 2,4,5.
तेलुगु : 1,9,10.
धर्म : 14
धुनिया / धोबी : 4
नम्बूदरी : 11
नाई : 4
नागपूर : 14
नेहरू : 2,8,11,14.
नेहरू - नम्बूदरी नाच : 11,12.
नेहरू राज : 11
नोबल प्राइज : 9
प्राकृत : 10
प्रजा / प्रजापार्टी : 3,13,14.
फ़ारसी : 10
फ्रेंच : 8,9.
बंगला / बंगाल / बंगाली : 7,8,10.
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय : 6
बनिया / बाँभन : 1,2,4,5,14.
बालिग मताधिकार : 2
बिहार : 7,8.
बिड़ला / : 7,11,12,14.
ब्राह्मण : 1
भंगी : 2,3.
भारत : 9
भरत नाट्यम् : 11

भाषा : 9,10.
मणिपुरी : 11
मद्रासी : 9
मध्य प्रदेश : 8
मार्क्स : 2
मातृभाषा : 9
मुम्बई : 14
मुसलमान : 7
मेघदूत : 10
मैनकाइन्ड : 8
मोमिन : 4,5,7.
योरप : 2,3.
राजस्थान : 1,8.
राजगोपालाचारी : 8
राजेन्द्र प्रसाद : 2,10.
राम एक्बाल बाबू : 4
रियासतें : 1,
रूस / रूसी / रूसी भाषा : 1,8,9.
लम्बाड़ा : 1
लोक बोली / लोक भाषा : 7,8.
लोक राज / लोक शाही : 7,8.
वरान्निकोव : 10
वानगार्ड : 5
विक्रमादित्य : 10
विनोबा : 2
शूद्र : 2,4,5,7,13.
शेक्सपियर : 10
शेख़ : 7
संस्कृत : 9,10.
समाजवाद / समाजवादी : 5,14.
समता : 5
सर्वहारा : 5
सहयोगी खेती : 14,15.
सामंती : 7,10,14.
सुनित चटर्जी : 7
सैय्यद : 7
सोशलिस्ट पार्टी : 1,4,11,12,13,14.
स्पुटनिक : 8,9.
हरिजन : 1,2,4,5,7,13.
हिन्दी : 7,9,10.
हिन्दू / हिन्दू धर्म : 5,14.
हिन्दू-मुसलमान : 3
हिन्दुस्तान / हिन्दुस्तानी : 1,2,3,5,7,8,9, 12,14.

11/1.सिविल नाफ़रमानी	36.00
11/2.सिविल नाफ़रमानी	36.00
12. जाति प्रथा	43.00
13: भाषा	43.00
14/1.हिन्दुस्तान, चीन और तिब्बत	36.00
14/2.हिन्दुस्तान, चीन और तिब्बत	36.00
15. 1960 की सिविल नाफ़रमानी	43.00
16. FOREIGN POLICY (1956)	43.00
17. DEMOCRACY IN INDIA	43.00
18/1. 1957 चुनाव के बाद	43.00
18/2. 1957 चुनाव के बाद	36.00
19. 1957 चुनाव और संगठन	43.00
20/1.संगठन और सिद्धान्तों का फ़र्क़	43.00
20/2.संगठन और सिद्धान्तों का फ़र्क़	36.00
21. पाकिस्तान में फौजी शासन	43.00
22. सरकार से सहयोग और समाजवादी एकता	36.00
23. संगठन के स्तर + अन्न समस्या	43.00
24. कृष्णा और गोदावरी के इलाके में	43.00
25. हिन्दुस्तान की खेती	43.00
26. उत्तर प्रदेश और बिहार का एक दौरा	43.00
27/1.केरल	36.00
27/2. केरल	36.00
28/1. SPEECHES AT A SEMINAR	36.00
28/2. SPEECHES AT A SEMINAR	36.00
29. DESPAIR & HOPE	36.00

बी–114, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली –110017
फोनः 91–11–26691219 / 20, फैक्सः 91–11–26691221
ई–मेल–jagori@jagori.org, training@jagori.org
वेबसाइटः www.jagori.org